

प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलाएँ

डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन



भारतीय ज्ञानपीठ

विषयानुक्रम

- प्रावेशिक** 15-19
इतिहास की उपयोगिता, पूर्वपीठिका।
- महावीर-युग (600-500 ईसा पूर्व)** 20-42
महावीर के स्वजन-परिजन। महाराज चेटक। सेनापति सिंहभद्र। महारानी मृगावती। महासती चन्दना। कण्डप्रद्योत और शिवादेवी। राजर्षि उदात्मन और महाराणी प्रभावती। श्रेणिक बिम्बसार। महारानी चेलना। मन्त्रीश्वर अभय। कुणिक अजातशत्रु। महाराज उदायी। महावीरभक्त अम्य लल्लालीन नरेश। महाराज जीवन्धर। दस प्रसिद्ध उपासक। सुदर्शन सेत। धन्ना-शालिभद्र। जम्बुकुमार।
- नन्द-मौर्य युग (लगभग 500-200 ई. पू.)** 43-66
नन्दवंशी नरेश। सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और मन्त्रीश्वर चाणक्य। बिन्दुसार अमित्रघात। अशोक महान्। करुण कुणाल। सम्राट् सम्प्रति। शालिशुक मौर्य।
- खारवेल-विक्रम युग (लगभग ई. पू. 200—सन् ईसवी 200)** 67-85
सम्राट् खारवेल। यवनराज मिनेण्डर। रानी उर्विला। महाराज आषाढसेन। वीर विक्रमादित्य। सातवाहनवंशी राजे। नहपान। भद्रचष्टनवंशी क्षत्रप। मथुरा के शक-क्षत्रप। कुषाणनरेश। सुदूर दक्षिण के जैन।
- गंग-कदम्ब-पल्लव-चालुक्य** 86-112
मैसूर का गंगवंश—वंशसंस्थापक दहिग और माधव, तदंगल माधव, अविनीतगंग, दुर्विनीतगंग, मुष्करगंग, शिवमार प्रथम, श्रीपुरुष मुत्तरस, शिवमार द्वि. सैगोत, राचमल्ल सत्यवाक्य प्र., एरेयगंग नीति मार्य प्र. रणविक्रम, राचमल्ल सत्यवाक्य द्वि., एयरप्प एरेयगंग नीतिमार्ग द्वि., सत्यवाक्य महेन्द्रान्तक, राचमल्ल सत्यवाक्य तृ., ब्रूतुम द्वि. गंग गांगेय, गंगराज मरुलदेव, गंग नरेश मारसिंह, अन्तिम गंगराजे, वीरमार्तण्ड चामुण्डराय, वीरांगना साविथम्बे, पेम्डे हासम। कदम्ब-वंश—काकुत्स्थदर्शन,

मृगेशवर्मन, रविवर्मन, हरिवर्मन, युवराज देववर्मन । पल्लववंश । वातापी के पश्चिमी चालुक्य । बेंगि के पूर्वी चालुक्य—अम्मराज, विमलादित्य, महारानी ~~पुण्डरीक~~ ~~देवी~~ ~~आचार्य श्री तुलसीदासजी की मूर्ति~~

राष्ट्रकूट-चोल-उत्तरवर्ती चालुक्य—कलचुरि

113-150

राष्ट्रकूट वंश—गोविन्द तृतीय जगत्सुंग, सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम, वीर बर्कियरस, कृष्ण द्वितीय, इन्द्र तृतीय, धर्मात्मा रानी जन्निकयब्बे, राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय, महामात्य भरत और मन्त्री नन्न, खोड्डिम नित्यवर्ष, इन्द्र चतुर्थ । उत्तरवर्ती चोल-नरेश—कोलुसुंग चोल, अलिगैमान चेर, कल्दाणी के चालुक्य, तैलप द्वितीय, महासती अलिमब्बे, सत्याश्रय इरिववेडेग, जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल, सोमेश्वर प्रथम, त्रैलोक्यमल्ल, सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल, विक्रमादित्य षष्ठ, चाण्डरायरस, चाकिराज, हरिकेसरी-देव, शान्तिनाथ दण्डाधिप, महारानी मातलदेवी, प्रतिकण्ठ सिंगय्य, विण्णय बम्मिसेट्टि, कालियक्का, योगेश्वर दण्डनायक । विण्णय कलचुरि—सेनापति रेचिमय्य, सोविदेव कदम्ब, बोप्पदेवकदम्ब, शंकर सामन्त ।

होयसल राजवंश

151-184

वंशसंस्थापक सल, विनायादित्य द्वितीय, बल्लाल प्रथम, विष्णुवर्धन होयसल, महारानी शान्तलदेवी, माचिकब्बे, राजकुमारी हरियब्बरसि, सेनापति गंगराज, दण्डनायक बोप्प, जक्कणब्बे दण्डनायककीर्ति, दण्डनायक एचिराज, बूचण सामन्त, दण्डनायक बलदेवण, दण्डनाथ पुणिसमय्य, मारियाने और भरत, विष्णु दण्डाधिनाथ, मादिराज, नोलम्बिसेट्टि, मल्लिसेट्टि और चट्टिकब्बे, नरसिंह प्रथम होयसल, मारि और गोविन्द सेट्टि, महाप्रधान देवराज, सेनापति हुल्लराज, दण्डनायक पार्श्वदेव, दण्डनायक शान्तिग्रण्ण, ईश्वर चम्पू, माचियक्के, जक्कले, सामन्त गोव, शिवराज और सोमय, सामन्त बिट्टिदेव, सामन्त बाचिदेव, हेग्गडे जकय्य और जक्कब्बे, सामन्त सोम, होयसल बल्लाल द्वितीय, माचिराज, नागदेव, दण्डनायक भरत और बाहुबलि, बूचिराज, महादेव दण्डनायक, रामदेव विभु, नरसिंह सचियाधीश, हरियण्ण हेग्गडे, कम्भट माचय्य, अमृत दण्डनायक, मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि, धर्मात्मा आचलदेवी, महासति हय्यले, ईचण और सोवलदेवी, सोविसेट्टि, देविसेट्टि, मारिसेट्टि, कामिसेट्टि, भरतिसेट्टि एवं राजसेट्टि, आदिगकुण्ड, सोमेश्वर होयसल, होयसल नरसिंह तृतीय, रामनाथ होयसल, होयसल बल्लाल तृतीय, सेनापति सातण्ण, नलप्रभु देविसेट्टि, माधव दण्डनायक, सोमय दण्डनायक, केलेय दण्डनायक ।

उत्तरवर्ती गंगराजे—ब्रह्मदेव केर्मानडि भुजबलगंग, सामन्त, नोकय्य, महारानी बाचलदेवी, नम्बियगंग, सिंगण दण्डनायक, गंगराज एककलरस, सुगमयव्वरसि, कनकियव्वरसि, चडियव्वरसि, शान्तियक्के। हुमच्च के सान्तरराजे—जिन्दत्तराय, तौलपुरुष-विक्रम सान्तर, वीरदेव सान्तर, रानी चागलदेवी, पट्टणसामि नोकय्य, तैलपदेव द्वि. भुजबल-सान्तर, नम्बि-सान्तर, विक्रम-सान्तर, तैल तृ. सान्तर, महिलारत्न चट्टलदेवी, विक्रम-सान्तर द्वि., विदुषी पम्पादेवी, बाचलदेवी, काम-सान्तर, अलियादेवी, वीर सान्तर। सौन्दति के रहराजे—पृथ्वीराम रट्ट, पतवर्म्म, शान्तिवर्म्म, कार्तवीर्य चतुर्द्ध, लक्ष्मीदेव। कोंकण के शिलाहार राजे—रट्टराज शिलाहार, बल्लालदेव शिलाहार, भोज प्र. शिलाहार, गण्डरादित्य, विजयादित्य शिलाहार, भोज द्वि. शिलाहार, बाचलदेवी, गोंकिरस, महासामन्त निम्बदेव, सेनापति येन्ना, मन्त्री चडिय, सान्तर कालद, आवक बालुदेव, चौघोरे कामगावुण्ड, महामात्य बाहुबलि। गंगधारा के चालुक्य। नागरखण्ड के कदम्बरराजे। कोंगाल्वराजे—राजेन्द्रघोल कोंगाल्व, रानी पोचव्वरसि, राजेन्द्र कोंगाल्व, राजेन्द्र पृथ्वीकोंगाल्व अट्टरादित्य। चंगाल्ववंश—राजेन्द्रघोल-नम्बि चंगाल्व। अलुपवंश। बंगवाडि का बंगयंश—रानी विट्ठलादेवी और कामिराम बंगनरेन्द्र। बारवाल के ककातीय नरेश। देवगिरि के यादव नरेश—सुरान तृ. सामन्त कूथिराज, दण्डेश माधव, तिरियम गौडि। निरुपलवशी राजे—गणपत मारस और बाचले, मल्लिसेट्टि। अन्य विशिष्टजन—भुपाल गोल्लाचार्य, पाश्र्वदेव, खधरकन्दर्प सेनमार, धर्मात्मा चिक्कलारि, राजकुमारी उदयाम्बिका और वीराम्बिका, वोदण्णगौड, भावकोत्तम चक्रेश्वर, कसुविसेट्टि।

उत्तर भारत (लगभग 200 ई.-1250 ई.)

216-258

नागवकाटक युग। गुप्तकाल—महाराजाधिराज रामगुप्त, दण्डनायक आमकारदेव, चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्न, अश्वपति सुभटपुत्र सञ्जल, आविका शामाह्या, आवक भद्र, वलभीनरेश भटार्क, हूणनरेश तोरमाण, आवक नाथशर्मा, राजषि देवगुप्त। कन्नौज के मोखरि और वर्धन—सम्राट् हर्षवर्धन। कन्नौजनरेश यशोवर्मन। कन्नौज का आयुधवंश। गुर्जर-प्रतिहार नरेश—वत्सराज, नागभट द्वितीय 'आम', मिहिरभोज। सौधर के चाहमान—सोमेश्वर चौहान, श्रेष्ठि लोलार्क, अन्य चौहानवंश। दिल्ली के तोमर—अनंगपाल तृतीय, नडलसाहु, मदनपाल तोमर। धारा के परमार राजे—पण्डितप्रवर आशाधर। ग्वालियर के कच्छपघातराजे—बज्रदामन कच्छपघात, विक्रमसिंह कच्छपघात, श्रेष्ठि दाहड। बयाना के

यादव । अलवर के बड़गूजर । श्रावस्ती के ध्वजवंशी राजे । अयोध्या के श्रीवास्तव राजे । अवध आदि के भर राजे । मेवाड़ के गुहिलोत्त राजा । हथूण्डी के राठौड़ राजे । अर्थग्य का भूषण सेठ । सिन्ध देश । बंगाल । कलिंगदेश—राजा हिमशीतल, उद्योतकेसरी ललाटेन्दु । महाकोसल के कलचुरि राजे । जेजाकभुक्ति के चन्देलवंशी राजे—श्रेष्ठि पाहिल, ठाकुर देवधर, श्रेष्ठि पाणिधर, श्रेष्ठि महीपति, श्रेष्ठि बीबतसाह और सेठानी पद्मावती, साहु साल्हे, रत्नपाल, पाड़ाशाह (भैंसाशाह) । गुजरात-सौराष्ट्र—वनराज चावड़ा, मन्त्रीवर विमलशाह, जयसिंह सिद्धराज, सम्राट् कुमारपाल सोलंकी, पं. सालिवाहन ठाकुर, सेनापति सज्जन, मन्त्रीश्वर वस्तुपाल, तेजपाल, जगडूशाह, शाहसमरा और सालिंग ।

मध्यकाल : पूर्वार्ध (लगभग 1200-1550 ई.)

259-298

दिल्ली सल्तनत—बीसल साहु, सेठ पूरणचन्द्र, पेथडशाह, सेठ दिवराय, ठाकुर करु, गुरु और धार, ब्राह्मण रथपति, समराशाह, साहु बाघू, सा. महीपाल, सा. सागिया, सा. हेमराज, दिउडासाहु, सा. खील्हा, गढ़ासाव, दीवान दीपग और सं. कुलचन्द्र, चौ. देवराज, चौ. टोडरमल्ल, सं. साधारण, वैद्य रेखा । मालवा के सुल्तान—संधपति होलिचन्द्र, मन्त्रीश्वर मण्डन, संग्रामसिंह सोनी, गुजरात के सुल्तान, सं. मण्डलिक, सं. सहसा । महासार-नरेश राजनाथदेव । चन्द्रवाड के चौहाननरेश और उनके जैन मन्त्री । ग्वालियर के सोमर नरेश—मन्त्रीश्वर कुशराज, महाराज डूंगरसिंह और कीर्तिसिंह, सं. काला, श्रीचन्द-हरिचन्द, सा. लापू, महापण्डित रङ्गू, ब्र. खेल्हा, सा. कमलसिंह, सा. पद्मसिंह । राजस्थान-मेवाड़ राज्य—राणी जयतल्लदेवी और समरसिंह, सा. रत्नसिंह, रणधम्भीर के राजा हम्मीरदेव, साह जीजा, महाराणा कुम्भा, सेठ धन्नाशाह-रतनाशाह, शाह जीवरज पापड़ीवाल, राजा साँगा, तोलाशाह, कर्माशाह, आशाशाह और उसकी जननी, दीवान बच्छराज । विजयनगर साम्राज्य—हरिहर प्र., बुक्का प्र., हरिहर द्वि., देवराय प्र. और महारानी भीमादेवी और देवराय द्वि., बैचप दण्डाधिनायक, इरुगदण्डनाथ, इरुगप दण्डेश, राजकुमारी देवमति, गोपचमूष, गोपमहाप्रभु, भव्य मायण्ण, गोपगौड़, कम्पनगौड़ और नागण वोडेयर, राजा कुलशेखर आलुपेन्द्र, वीर पाण्ड्य भैरवस, कृष्णदेवराय, संगीतपुर के सालुवेन्द्र और इन्दिगरस, मन्त्री पद्मनाभ, वेन्न बोम्मरस, सेनापति मंगरस, चवुडि सेट्टि, रानी काललदेवी, वीरय्यनायक, गेरुसप्पेनरेश, योजण श्रेष्ठि, अम्बुवण श्रेष्ठि ।

मध्यकाल : उत्तरार्ध (लगभग 1556-1756 ई.)

299-321

मुगल सम्राट्—अकबर महान्, वंशज, राजा चारमल, साहु टोडर, हर्षचन्द्र

सेठ, राजकुमार शिवाभिराम, मन्जी खीमसी, साह रनवीरसिंह, माणिक सुराणा, कवि परिमल, सं. ईंगर, महामात्य नानू, कर्मचन्द्र बच्छावत, हीरानन्द मुकीम, सबलसिंह मोठिया, वर्धमान कुँअरजी, सा. बन्दीदास, ताराचन्द्र सा., दीवान धन्नाराय, ब्र. गुलाल, पं. बनारसीदास, तिहुना साहु, वीरजी होरा, हेमराज पाटनी, सं. ऋषभदास, सं. रतनसी, सं. भगवानदास, सा. गागा, मोहनदास भौसा, अरुणमणि, सं. आसकरण, वर्धमान नवलखा, साह हीरानन्द, वादिराज सोगानी, दीवान ताराचन्द्र, शान्तिदास जौहरी, सं. संग्रामसिंह, कुँअरपाल-सोनपाल, जगतूसेठ घराणा, सेठ घासीराम, ला. केसरीसिंह।

उत्तर मध्यकाल के राजपूत राज्य

322-347

मेवाड़राज्य—भारमल कावडिया, वीर ताराचन्द्र, मेवाड़ोदहारक भाणशाह जीवाशाह, अक्षयराज, सं. दयालदास, कोठारी, भीमसी, मेहता मेधराज। मारवाड़ जोधपुर राज्य—मेहता महाराजजी, रायचन्द्र, अचलोजी, जयमल, नैगसी और सुन्दरदास, नैगसी के वंशज। जोधपुर के भण्डारी—भाना, रघुनाथ, खिमसी, विजय, अनूपसिंह, सोमसिंह, सूरतराम, रतनसिंह। ईंगरपुर-वासवाड़ा-प्रतापगढ़। कोटाद्वारा। जैसलमेर के भाटी। वीरमपुर के रावल। आमेर (जयपुर) राज्य—सं. मल्लिदास, कल्याणदास, बल्लूशाह, दिगमलदास, दीवान रामचन्द्र छाबड़ा, फतहचन्द्र, किशनचन्द्र, राव जगराम पाण्ड्या, राव कृपाराम, फतहराम, भगतराम, विजयराम, किशोरदास महाजन, ताराचन्द्र बिलाता, नैनसुख छाबड़ा, श्रीचन्द्र, कनीराम वैद, केसरीसिंह कासलीवाल, दीलतराम कासलीवाल। दक्षिण भारत के राज्य—विजयनगर के उत्तरवर्ती राजे, बल्लभराज महाअरसु, बोम्भण श्रेष्ठ सत्यकराणिक देवरस। कारकल के भैररस राजे। वेनूर का अजिलवंश। मैसूर के ओडेयर राजे। चामराज-देवराज-कृष्णराज।

आधुनिक युग देशी राज्य (लगभग 1757-1947 ई.)

348-369

मैसूर—देवराज अरसु, महारानी रम्भा, देवचन्द्र पण्डित, कुमार वीरप्प। उदयपुर—अगरचन्द्र बच्छावत, देवीचन्द्र ब., शेरसिंह ब., गोकुलचन्द्र ब., पन्नालाल ब., सोमचन्द्र गाँधी, सतीदास, शिवदास, मालदास डबोड़ीवाल, मेहता नाथजी, लक्ष्मीचन्द्र, जोरावरसिंह, जयानसिंह, चन्नसिंह। जोधपुर—राव सूरतराम, सवाईराम, सरदारमल, ज्ञानमल, नवलमल, रामदास, धैरसिंह, गंगाराम, भण्डारी लक्ष्मीचन्द्र, पृथ्वीराज, बहादुरमल, किशनमल, सिंघवी इन्द्रराज, धनराज। बीकानेर—महाराज अपूपसिंह, अमरचन्द्र सुराना। जैसलमेर—मेहता स्वरूपसिंह, सालिम सिंह।

जयपुर—दीवान रतनचन्द साह, आरतराम, बालचन्द छाबड़ा, नैनसुख खिन्दूका, नन्दलालगोधा, जयचन्द साह, मोतीराम गोधा, भीबचन्द छा., जयचन्द छा., अमरचन्द सोगानी, जीवराज संधी, मोहनराम संधी, श्योजीलाल पाटनी, गंगाराम महाजन, भागचन्द, भगताराम बगड़ा, राधाश्यामजीराय, जगदीशराय, सदासुख कासलीवाल, सं. धर्मदास, सदासुख छाबड़ा, अमरचन्द पाटनी, रायचन्द छाबड़ा, श्योजीलाल छाबड़ा, बखतराम, मन्नालाल, कृपाराम, लिखमीचन्द्र छाबड़ा, नोनदराम खिन्दूका, लिखमीचन्द्र गोधा, संधी झूंधाराम, हुकुमचन्द, विरधीचन्द, दीवान चम्पाराम, अमोलकचन्द खिन्दूका, सम्पतराम, मानकचन्द ओसवाल, मुंशी प्यारेलाल कासलीवाल। भरतपुर—संघई फतहचन्द। सागवाड़ा के महासक्ल।

आधुनिक युग : अँगरेजों द्वारा शासित प्रदेश

370-391

जगतसेठ शुगनचन्द—शाह मानिकचन्द (हुगली)। कटक के मंजु चौधरी और भवानीदास चौधरी, राजा बच्छराज नाहटा (लखनऊ), राजा हरसुखराय और राजा सुगनचन्द (दिल्ली), चौधरी हिरदेसहाय और सिंघई सम्रासिंह (चन्देरी), बा. शंकरलाल (आरा), साहु होरीलाल (प्रयाग), सालिगराम खज्रांची (दिल्ली), मयुरा के सेठ, राजा लक्ष्मणदास, राजा शिवप्रसाद, रायबद्रीदास (कलकत्ता), डिण्डी कालेराय, पं. प्रभुदास (आरा), सेठ मूलचन्द सोनी (अजमेर), सेठ विनोदीराम सेठी (झालरापाटन), सेठ माणिकचन्द जे. पी. (बम्बई), राजा चन्दैया हेग्गडे (धर्मस्थल मैसूर), रा. ब. द्वारकादास (नहटौर), ला. गिरधर लाल खज्रांची (दिल्ली), ला. ईश्वरीप्रसाद खज्रांची (दिल्ली), गुरु गोपालदास बरैया (आगरा), सेठ मथुरादास ठडैया (ललितपुर), सर सेठ हुक्मचन्द (इन्दौर), बाबू देवकुमार (आरा), साहु चण्डीप्रसाद (धामपुर), ला. मुन्नेलाल कायजी (लखनऊ), रा. ब. सुल्तानसिंह (दिल्ली), दीवान बहादुर ए. बी. लहै (बम्बई), ला. जम्नूप्रसाद (सहारनपुर), राजा बहादुरसिंह सिंधी (कलकत्ता), महिताराम मगनबेन, जे. पी. (बम्बई), सर मोतीसागर (दिल्ली), रा. सा. प्यारेलाल (दिल्ली), कर्णचन्द माहर (कलकत्ता), जगमन्दरलाल जैनी (सहारनपुर-इन्दौर), सेठ बालचन्द दोसी (शोलापुर), राजा ध्यानचन्द (हैदराबाद-बम्बई), सर फूलचन्द गोधा, साहु सलेखचन्द (नजीबाबाद) के वंशज।

उपसंहार

392-396

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

397-400

प्रावेशिक

इतिहास की उपयोगिता

सुप्रसिद्ध पुराणेतिहासकार भगवन्जिनसेनाचार्य के अनुसार 'इति इह आसीत्'—यहाँ ऐसा हुआ—इस प्रकार अतीत में घटित घटनाओं का क्रमबद्ध प्रामाणिक विवरण इतिहास, इतिवृत्त या ऐतिहास कहलाता है। वह 'महापुरुषसम्बन्धी' तथा 'महम्महदाश्रयात्' होता है, अर्थात् महापुरुषसम्बन्धक उत्तरेखनीय एवं चिरस्मरणीय व्यक्तियों से सम्बन्धित होता है और उन्हीं के महत्त्वपूर्ण चरित्रों का कार्यकलापों पर आधारित होता है। इसी के साथ वह 'महाभ्युदयसाधनम्' भी होता है, अर्थात् जो उसे पढ़ते, सुनते और सुनते हैं, उनके महान् अभ्युदय रूप लौकिक उत्कर्ष का भी कारण होता है।

वस्तुतः अतीत की कहानी मानव की स्पृहणीय निधि है। अपने पूर्वजों का चरित्र और उनकी उपलब्धियों को जानने की मनुष्य में स्वाभाविक जिज्ञासा एवं लालसा होती है। महाराज परीक्षित के मुख से महाभारतकार कहलाते हैं—

‘न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत्’

मैं अपने पूर्व पुरुषों के महत् चरित्र को सुनते हुए अघाता नहीं, इच्छा होती है कि सुनता ही रहूँ, सुनता ही रहूँ। एक बात और भी है, जैसा कि एक नीतिकार ने कहा है—

स्वजातिपूर्वजानां तु यो न जानाति सम्भवम्।

स भवेत् पुंश्चलीपुत्रसदृशः पितृवेदकः॥

जो व्यक्ति अपने पूर्वजों के इतिहास से अनभिज्ञ है वह उस कुलदापुत्र के समान है जो यह नहीं जानता कि उसका पिता कौन है।

इसके अतिरिक्त, अपने पूर्व पुरुषों के गुणों एवं कार्यकलापों को जानकर मनुष्य स्वयं को गौरवान्वित अनुभव करता है, उनसे प्रेरणा और स्फूर्ति प्राप्त करता है, और सबक भी लेता है—उनके द्वारा की गयी गलतियों को दुहराने से बचता है। इस प्रकार अतीत के पृष्ठों का सदुपयोग वर्तमान के सन्दर्भ में करके लाभान्वित हुआ जा सकता है। प्रत्येक व्यक्ति, संस्था, समाज या जाति अपने अतीत के आदर्शों

को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हुए ही फलती-फूलती है और प्रगतिपथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होती जाती है। अतीत से सर्वथा कटकर वर्तमान का मूल्य नगण्य रह जाता है। भावी के बीज भी तो वर्तमान में ही रोपे जाते हैं। महाकवि 'दिनकर' के शब्दों में इतिहासकार का यही उद्देश्य होता है कि—

प्रियदर्शन इतिहास कण्ठ में

आज ध्वनित हो काव्य बने।

वर्तमान की चित्रपटों पर

भूतकाल सम्भाव्य बने ॥

वर्तमान के सन्दर्भ में ही अतीत का मूल्य है। भूतकाल में जो कुछ आदर्श और अनुकरणीय है उसे वर्तमान में सम्भाव्य बनाने में ही इतिहास की यथार्थ उपयोगिता है। इसी हेतु इतिहासकार भी यह प्रयत्न करता है कि वह—

इतिहासप्रदीपेन मोहावरणघातिना।

सर्वलोकधृतं गर्भं यथावत्सम्प्रकाशयेत्।

—इतिहासरूपी दीपक द्वारा अतीत सम्बन्धी अज्ञान एवं भ्रान्तियों के अन्धकार को दूर करके बीती हुई घटनाओं और तथ्यावलि को निष्पक्ष दृष्टि से यथावत् प्रकाशित कर दे। किन्तु इतिहासकार की भी अपनी सीमाएँ और अक्षमताएँ हैं। उसे महाकवि मैथिलीशरण की इस उक्ति से सन्तोष करना पड़ता है कि—

प्राचीन पुरुषों के गुणों को जोत कर सकता नहीं।

सम्पूर्ण सागर नीर जो घट मध्य रह सकता कहीं?

तथापि अपनी बुद्धि, शक्ति और साधनों के अनुसार वह प्रयत्न करता है। उसे यह आशा भी रहती है कि आगे आनेवाला इतिहासकार उसके कार्य से प्रेरणा लेकर प्रकृत विषय को और अधिक विकसित, विस्तृत, संशोधित और परिमार्जित करेगा।

इस विषय में दो मत नहीं हैं कि किसी व्यक्ति, समाज या जाति की मान-मर्यादा उसके इतिहासबद्ध पूर्व-वृत्तान्त पर बहुत कुछ निर्भर करती है। जैन परम्परा की इतिहास सम्बन्धी अनभिज्ञता उसके विषय में प्रचलित अनेक भ्रान्तियों का मूल कारण है। स्वयं जैनों को अपने इतिहास में जैसा चाहिए, वैसी अभिरुचि नहीं रही। इतिहास ज्ञान के बिना यदि जातीय जीवन में चेतना, स्फूर्ति, स्वाभिमान और आशा का तिरोभाव हो जाता है, तो इतिहास का सम्यक्ज्ञान सोतों को जगा देता है—

क्रिस्मए अजमले माझी को न मुहम्मिल समझी।

क्रौमें जाग जाती हैं अक्सर इन अफ़सानों से ॥

—रवी

अस्तु, उक्त इतिहास-ज्ञान तथा उसके प्रति रुचि के अभाव की अतिशय पूर्ति करने के उद्देश्य से आगामी पृष्ठों में पूर्वपीठिका के रूप में महावीर-पूर्वयुग के ऐतिहासिक का संकेत करके द्वितीयादि परिच्छेदों में महावीर युग से लेकर वर्तमान शताब्दों के प्रायः मध्य पर्यन्त हुए प्रमुख प्रभावक जैन स्त्री-पुरुषों का संक्षिप्त ऐतिहासिक परिचय देने का प्रयत्न किया जा रहा है। यों—

अपने मुँह से क्या बताएँ हम कि क्या ये लोग थे,
नफ़सकुश नेकी के पुतले थे मुजस्सिम योग थे।
तेरी तरकश के धनी थे रत्नमगह में फंद थे;
इस शुजाअत पर यह तुराँ है, सरापा धंद थे।

—बर्क देहलवी

पूर्वपीठिका

जैनों के परम्परागत विश्वास के अनुसार वर्तमान कल्पकाल के अवसर्पिणी विभाग के प्रथम तीन युगों में भोगभूमि की स्थिति थी। मनुष्य जीवन की वह सर्वथा प्रकृत्याश्रित आदिम अवस्था थी। न कोई संस्कृति थी, न सभ्यता, न ही कोई व्यवस्था थी और न नियम। जीवन अत्यन्त सरल, एकाकी, स्वतन्त्र, स्वच्छन्द और प्राकृतिक था। जो घोड़ी-बहुत आवश्यकताएँ थीं उनकी पूर्ति कल्पवृक्षों से स्वतः सहज हो जाया करती थी। मनुष्य शान्त एवं निर्दोष था। कोई संघर्ष या द्वन्द्व नहीं था। आधुनिक भूतत्त्व एवं नृसत्त्व प्रभृति विज्ञानसम्मत, आदिम युगीन प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय युगों (प्राइमरी, सेकेंडरी एवं टर्शियरी इपैक्स) की वस्तुस्थिति के साथ उक्त जैन मान्यता का अद्भुत सादृश्य है। वैज्ञानिकों के उक्त तीनों युग करोड़ों-लाखों वर्षों के अति दीर्घकालीन थे, तो जैन मान्यता का प्रथम युग प्रायः असंख्य वर्षों का था, दूसरा उससे आधा सम्भाव्य था, और तीसरा दूसरे से भी आधा था, तथापि अनगिनत वर्षों का था। इस अनुमानातीत सुदीर्घ काल में मानवता प्रायः सुषुप्त पड़ी रही, अतएव उसका कोई इतिहास भी नहीं है। वह अनाम युग था।

तीसरे काल के अन्तिम भाग में चिरनिद्रित मनुष्य ने अँगड़ाई लेना आरम्भ किया। भोगभूमि का अवसान होने लगा। कालचक्र के प्रभाव से होनेवाले परिवर्तनों को देखकर लोग शक्ति और मयनीत होने लगे। उनके मन में नाना प्रश्न उठने लगे। जिज्ञासा करघट लेने लगी। अतएव उन्होंने स्वयं को कुलों (जनों, समूहों या कबीलों) में गठित करना प्रारम्भ किया। सामाजिक जीवन की नींव पड़ी। बल, दुष्टि आदि विशिष्ट जिन व्यक्तियों ने इस कार्य में उनका मार्गदर्शन, नेतृत्व और समाधान किया वे 'कुलकर' कहलाये। वे आवश्यकतानुसार अनुशासन भी रखते थे और व्यवस्था भी देते थे, अतः उन्हें 'भनू' नाम भी दिया जाता है। उनकी सन्तति होने के कारण ही इस देश के निवासी मानव कहलाये। उक्त तीसरे युग के अन्त के

लगभग ऐसे क्रमशः चौदह कुलकर या मनु हुए, जिनमें सर्वप्रथम का नाम प्रतिश्रुति था और अन्तिम का नाभिराय। इन कुलकरों ने अपने-अपने समय की परिस्थितियों में अपने कुलों या जनों का संरक्षण, समाधान और मार्गदर्शन किया। सामाजिक जीवन प्रारम्भ हो रहा था। कर्मयुग सम्मुख था। यहीं से सनातन युग प्रारम्भ हुआ।

अन्तिम कुलकर नाभिराय के नाम पर ही इस महादेश का सर्वप्राचीन ज्ञात नाम 'अजनाभ' प्रसिद्ध हुआ। वह अपनी चिरसंगिनी मरुदेवी के साथ जिस स्थान में निवास करते थे वहीं कालान्तर में अयोध्या नगरी बसी। भारतवर्ष की यह आद्यनगरी थी। इन नाभिराय और मरुदेवी के पुत्र आदिनाथ ऋषभदेव हुए, जो जैन परम्परा के प्रथम तीर्थंकर थे और जैनैतर हिन्दुओं के विश्वासानुसार भगवान् विष्णु के एक प्रारम्भिक अवतार थे। वयस्क होते ही कुलों की व्यवस्था उन्होंने अपने हाथ में ले ली, और अपने कुशल नेतृत्व में शनैः-शनैः कर्म-प्रधान जीवन (कर्मभूमि) और मानवी सभ्यता का उ् नमः किया। अनुश्रुति है कि इन आदिपुरुष प्रजापति पुरुदेव ने ही जनता को खेती करना, आग जलाना, आग में अन्न भूतना और पकाना, ईख का रस निकालना और उसका भोज्य पदार्थ के रूप में उपयोग करना, मिट्टी के बरतन बनाना, कपड़ा बुनना, घर-मकान बनाना, ग्राम-नगर बसाना इत्यादि कर्म सर्वप्रथम सिखाये थे। उन्होंने लोगों को असि-मसि-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-विद्या संज्ञक षट्कर्मों द्वारा जीविकोपार्जन करने की तथा पुरुषों की बहतर और स्त्रियों की चौसठ कलाओं की युगानुरूप शिक्षा दी। अपनी पुत्री ब्राह्मी के लिए अक्षर-ज्ञान एवं ब्राह्मी लिपि का आविष्कार किया और दूसरी पुत्री सुन्दरी के लिए अंकज्ञान एवं गणित का। पुत्रों को राजकाज की शिक्षा दी, और सुज्ञासन की दृष्टि से देश को उनके मध्य विभाजित किया। इस प्रकार चिरकाल तक लौकिक क्षेत्र में जनता का मार्गदर्शन करने के पश्चात् उन्होंने धर्मतीर्थ की स्थापना के लिए उपयुक्त क्षमता प्राप्त करने के उद्देश्य से समस्त वैभव का परित्याग करके, निर्ग्रन्थ वनविहारी हो दुर्धर तपश्चरण किया। अन्ततः केवलज्ञान प्राप्त कर अर्हन्त जिन हुए और अहिंसा एवं निवृत्ति-प्रधान मानवधर्म की स्थापना करके आदि तीर्थंकर कहलाये।

इस घटना के साथ धर्म और कर्म प्रधान चौथा युग प्रारम्भ हुआ जिसमें ऋषभदेव को आदि लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकर, बारह चक्रवर्ती, नव नारायण, नव प्रतिनारायण और नव बलभद्र ऐसे त्रेसठ शलाका-पुरुष हुए, तथा तीर्थंकरों के माता-पिता, दश कामदेव, नव नारद, ग्यारह रुद्र, बारह प्रसिद्ध पुरुष, सौलह सतियों, आदि अन्य अनेक प्रसिद्ध पुराण-पुरुषों एवं महिलारत्नों ने जन्म लिया। इनमें से ऋषभ-पुत्र भरत चक्रवर्ती, जिनके नाम पर यह देश भारतवर्ष कहलाया, बाहुबलि, वेन, वसु, राम, कृष्ण, अरष्टिनेमि, पंचपाण्डव, ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती, तीर्थंकर पार्श्व, महाराज करकण्डु आदि कई की ऐतिहासिकता वर्तमान इतिहास में प्रायः स्वीकृत है। तथापि यह अधिकांशतः अनुश्रुतिगम्य इतिहास (प्रोटो हिस्टरी) का

युग है। उसके पात्रों का चरित्र आदि इतिवृत्त यहाँ देना अभीष्ट नहीं है। प्रथमानुयोगाधारित पञ्चचरित्र, वाग्यसंग्रह, वसुदेवाहिंसी, पद्मपुराण, हरिवंशपुराण, आदिपुराण, उत्तरपुराण, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र प्रभृति विभिन्न पुराण-ग्रन्थों एवं पौराणिक चरित्र-काव्यों में वह विस्तार के साथ निबद्ध है। केवल इतना संकेत अलग होगा कि अयोध्यापति रामचन्द्र और समायण की घटनाएँ बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के तीर्थकाल में हुई और महाभारत में वर्णित पाण्डव-कौरव युद्ध 22वें तीर्थंकर मेमिनाथ के समय में हुआ—स्वयं कृष्ण इन्हीं मेमिनाथ (अरिष्टनेमि) के चचेरे भाई थे, तथा यह कि तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ का सुनिश्चित समय ईसापूर्व 877-777 है। पार्श्व के निर्वाण के 250 वर्ष पश्चात् महावीर का निर्वाण हुआ था।

ईसा पूर्व 527 में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण के प्रायः साथ ही साथ उक्त चौथा काल, अर्थात् पुराण पुरुषों का पुराण युग भी समाप्त हो जाता है। आधुनिक दृष्टि से शुद्ध इतिहास-काल का प्रारम्भ उसके कुछ पूर्व ही हो चुका होता है। चौथे काल में धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष, चारों ही पुरुषार्थों की प्रवृत्ति थी; जबकि मोक्ष पुरुषार्थ पर अधिक बल था, उसकी प्राप्ति लक्ष्य था। अतएव चौथे काल में, जो अभी से चल रहा है, धर्म-अर्थ-काम रूप त्रिवर्ग का महत्त्व है। मोक्षाभिलाषी और मोक्ष पुरुषार्थ के साधक, तपस्वी, त्यागी, साधु आदि इस बीच में भी होते रहे हैं, वर्तमान में भी देख पड़ते हैं और आगे भी यदा-कदा होते रहेंगे, किन्तु उनकी संख्या अति विरल है, और मोक्ष-प्राप्ति इस काल में सम्भव भी नहीं है। अतएव यह युग सामान्य दुनियाँ की सदगृहस्थों का ही प्रधानतया युग है और वह अपनी सुख-शान्ति एवं मनुष्य जीवन की सार्थकता के लिए शक्ति-भर त्रिवर्ग का साधन करते हैं। उन्हीं में जो आदर्श हैं, अनुकरणीय, उल्लेखनीय या स्मरणीय हैं, ऐसे ही इतिहास-सिद्ध स्त्री-पुरुषों का परिचय आगे के परिच्छेदों में दिया जा रहा है। और इस इतिवृत्त का प्रारम्भ छठी शताब्दी ईसा पूर्व के प्रारम्भ में अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर के प्रायः जन्मकाल से किया जा रहा है।

महावीर-युग (600-500 ईसा पूर्व)

महावीर :- महावीर जी का जन्मस्थान कुण्डलपुर था।

समग्र जैन इतिहास की प्रधान धुरी तथा सर्वाधिक स्पष्ट पथचिह्न वर्धमान महावीर (599-527 ई. पू.) का व्यक्तित्व और जीवनचरित है। उनके पूर्व का पुरातन या पुराण युग महावीर-पूर्व युग है तो उनके उपरान्त का महावीर-उत्तर काल। वह अन्तिम पुराण पुरुष थे तो प्रायः प्रथम शुद्ध ऐतिहासिक व्यक्ति भी थे। इतना ही नहीं, मत ढाई सहस्र वर्ष में जितने जैन ऐतिहासिक व्यक्ति हुए हैं उनका महत्त्व इसीलिए है कि वे तीर्थंकर महावीर के अनुयायी थे, भक्त और उपासक थे, तथा उनसे सम्बन्धित एवं उनके द्वारा पोषित जैन संस्कृति के संरक्षक, पोषक और प्रभावक थे। उक्त ईसा पूर्व छठी शताब्दी में तो जितने और जो जैन इतिहासोक्त स्त्री-पुरुष हुए वे सब प्रायः साक्षात् रूप में भगवान् महावीर से सम्बन्धित थे। कुछ उनके आत्मीयजन, कुटुम्बीजन या परिवार के सदस्य थे, कुछ माते-रिश्तेदार आदि सम्बन्धी थे, अन्य अनेक उनके शिष्य, अनुयायी, उपासक, भक्त सुश्रावक थे अथवा उनके व्यक्तित्व से प्रभावित थे।

महावीर के स्वजन-परिजन

वर्धमान महावीर का जन्मस्थान कुण्डलपुर (कुण्डपुर, कुण्डनगर, कुण्डग्राम, वसुकुण्ड या क्षत्रियकुण्ड) पूर्वी भारत के विदेह देश के अन्तर्गत महानगरी वैशाली से नालिदूर स्थित था। वैशाली की पहचान वर्तमान बिहार राज्य के मुजफ्फरपुर जिले में स्थित बसाढ़ नामक स्थान से की गयी है। उक्त काल में वैशाली भारतवर्ष की सर्वप्रधान महानगरियों में से एक थी, अत्यन्त धनजन सम्पन्न थी, और शक्तिशाली वज्जिगण-संघ की राजधानी थी। उक्त गणसंघ में लिच्छवि, जातुक, विदेह, मल्ल आदि अनेक स्वाधीनता-प्रेमी गण सम्मिलित थे। इन्हीं गणों में से एक जातुकवंशी ब्राह्मण क्षत्रियों का गण था, जिसका केन्द्र उपर्युक्त कुण्डग्राम था। कुण्डग्राम के स्वामी और अपने गण के मुखिया राजा सवार्थ थे जिनकी धर्मपत्नी का नाम श्रीमती या। यह इण्डी श्रमणों के उपासक थे और तीर्थंकर पार्श्व (877-777 ई. पूर्व) की परम्परा

के अनुयायी थे। वे अपने आर्हत-चैत्यों में अर्हत्तों की उपासना करते थे, तथा शील-सदाचार सम्पन्न थे। इनके पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजा सिद्धार्थ थे जो एक प्रबुद्ध धार्मिक महानुभाव एवं कृशल जननेता थे। इनका जातुक वंश एवं गण उस समय इतना प्रसिद्ध था कि विशाल एवं शक्तिशाली गणतन्त्रात्मक वज्जिसंघ के अध्यक्ष वैशाली के अधिपति, लिच्छविसिरोमणि महाराज चेटक ने अपनी पुत्री (मतान्तर से भगिनी) प्रियंकारिणी विशला अपरनाम विदेहदत्ता का पाणिग्रहण राजा सिद्धार्थ के साथ कर दिया। सिद्धार्थ और विशलादेवी की युगल जोड़ी आदर्श समझी जाती थी। दोनों ही धीर, क्षीर, सुशिक्षित, प्रबुद्ध, धार्मिक वृत्ति के, उदारराशय एवं सुप्रतिष्ठित दम्पती थे, और कुलपरम्परा के अनुसार जैनधर्म के अनुयायी तथा भगवान् पार्श्वनाथ के उपासक थे। ये सौभाग्यसम्पन्न पुण्यशील दम्पती ही वर्धमान महावीर के जनक-जननी थे। यह एक विचित्र किन्तु प्रशंसनीय बात है कि उस बहुपत्नीवादी सामन्त युग के राजन्य वर्ग के सम्मान्त सदस्य होते हुए भी भगवान् के पितामह तथा पिता, सर्वार्थ और सिद्धार्थ दोनों एकपत्नीव्रत के पालक थे। राजा सिद्धार्थ के अनुज सुपाश्व तथा ज्येष्ठ पुत्र नन्दिवर्धन का भगवान् के प्रति सहज स्नेह था। सिद्धार्थ की बहन कलिंग नरेश महाराज जितशत्रु के साथ विवाही थीं, जिनकी अत्यन्त लावण्यवती, सुशील एवं गुणागरी राजकुमारी यशोदा के साथ महावीर के विवाह सम्बन्ध की बात चली थी—मतान्तर से वह राजकुमारी यशोदा जिसके साथ महावीर के विवाह की बात चली बतायी जाती है, वसन्तपुर के महासामन्त समरवीर की पुत्री थी। महावीर की एक बहन भी थी जिसका पुत्र राजकुमार जामालि आगे चलकर भगवान् का शिष्य हुआ और विद्रोही हो गया कहा जाता है।

महाराज चेटक

विशाल एवं शक्तिशाली गणतन्त्रात्मक वज्जिसंघ के अध्यक्ष तथा वैशाली गणतन्त्रागरी के अधिपति, और भगवान् महावीर के मातामह, महाराज चेटक अपने सम्वत् के सम्पूर्ण भारतवर्ष के सर्वप्रधान सत्ताधीशों में से थे। वह ब्राह्म्य क्षत्रियों की लिच्छवि जाति में उत्पन्न हुए थे। लिच्छविगण का केन्द्र भी वैशाली ही थी। कुछ ग्रन्थों में उन्हें इक्ष्वाकुवंशी और कुछ में हैहयवंशी भी लिखा है। वस्तुतः हैहयवंश भी मूलतः इक्ष्वाकुवंश की ही एक शाखा थी, और वेदवाह्य श्रमणों के उपासक होने के कारण जिन प्रशाखाओं की ब्राह्म्य क्षत्रियों में गणना होने लगी थी उन्हीं में से एक लिच्छवि जाति थी। राजा के और यशोमती के पुत्र इन महाराज चेटक की ब्रह्मदेवी का नाम सुभद्रा था। दोनों ही परम श्रद्धालु जिनभक्त थे। मागध में राजगृह के निकट जब उसका शिविर पड़ा हुआ था तो उसमें जिनायतन भी था। रणक्षेत्र में भी वह इष्टदेव की पूजा-अर्चना करना नहीं भूलते थे। अहिंसा धर्म के अनुयायी होते हुए भी बड़े पराक्रमी और वीर योद्धा थे। कहा जाता है कि अनेक शत्रुओं को

चेटी या दास बना लेने के कारण ही वह चेटक कहलाने लगे थे। जिस संघ के वह अधिनायक थे उसमें अनेक गण सम्मिलित थे तथा संघ की व्यवस्था एवं प्रशासन के हेतु उसके 'राजा' उपाधिधारी 7707 सदस्य थे, जिनका अधिषेक वैशाली की सुप्रसिद्ध राजपुष्करिणी पर होता था। अपने वीर्य, शौर्य, बुद्धि, सदाचार एवं सुसंगठन के लिए वैशाली के लिच्छवि सर्वत्र प्रसिद्ध थे। स्वयं महात्मा गौतम बुद्ध ने भी अनेक बार उनके उक्त गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। जब चहुँ ओर अनेक राजतन्त्रीय स्वेच्छाचारी नरेश शक्ति-संचर्धन की होड़ में लगे थे, महाराज चेटक ने अपनी बुद्धि, साहस, वीरता, सौजन्य एवं राजनीतिपटुत्व के बल पर उन सबके बीच वैशाली गणसंघ को धन, वैभव, शक्ति, संगठन, अनेक दृष्टियों से उक्त नरेशों की ईर्ष्या का पात्र बना दिया था। इतिहास-विदित तथ्य है कि मगध सम्राट् कुणिक अजातशत्रु और उसके अमात्य वर्षकार को वैशाली की शक्ति में सेंधें लगाने और दरारें डालने में क्या-क्या पापड़ नहीं बलने पड़े। कुटिल कूटनीति, षड्यन्त्र एवं अति हीन उपायों का सहारा लेकर ही वह उसे पराजित करने में समर्थ हो सका था, वह भी तब जबकि सम्भवतया महाराज चेटक संन्यस्त या स्वर्गस्थ हो चुके थे, अथवा अत्यन्त वृद्ध हो गये थे। महाराज चेटक की प्रसिद्धि केवल एक श्रेष्ठ राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और महान् योद्धा के रूप में ही नहीं थी, वरन् वह अत्यन्त न्यायप्रिय भी थे। अपनी सत्ता, कुटुम्ब और प्राणों पर संकट आ पड़ने पर भी उन्होंने अन्तिम श्वास तक न्याय का पक्ष लिया, अन्याय के सम्मुख सिर न झुकाया। अपनी शरण में आये हल्ल एवं विहल्ल नामक राजकुमारों को उन्होंने न केवल अभय दिया और उनकी रक्षा की, वरन् उनके न्याययुक्त पक्ष का बड़ी निभीकता के साथ समर्थन किया।

सेनापति सिंहभद्र

चेटक के दश पुत्र थे, जिनके नाम सिंहभद्र, दत्तभद्र, धन, सुदत्त, उपेन्द्र, सुकुम्भोज, अकम्पन, सुपतंग, प्रभञ्जन और प्रभात थे। ये सब वीर योद्धा, यशस्वी और धार्मिक थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध सिंह या सिंहभद्र हैं जो लिच्छवियों के प्रधान सेनापति थे, बड़े कुशल सेनानी, निभीक योद्धा, साथ ही प्रबुद्ध जिज्ञासु थे। भगवान् महावीर के वह अग्र्य भक्त थे। बौद्ध साहित्य में भी वैशाली के इन प्रख्यात सिंह सेनापति के उल्लेख आते हैं और उनसे भी यह लगता है कि यद्यपि वह भगवान् बुद्ध का भी आदर करते थे, उनके दर्शनार्थ जाते भी थे, उनका आतिथ्य भी करते थे, तथापि महावीर के ही अनुयायी थे।

महाराज चेटक की सात पुत्रियाँ थीं जो उस काल के विभिन्न प्रतिष्ठित राजवंशों में विवाही गयी थीं। त्रिशला देवी तो ज्ञातुकवंशी राजा सिद्धार्थ से विवाही थीं और स्वयं भगवान् महावीर की माता थीं। चेल्लणा मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार की पद्महिषी और सम्राट् कुणिक अजातशत्रु की जननी थी। भगवान् महावीर के

आयिकासंघ की वह अग्रणी थी। तीसरी पुत्री प्रभावती सिन्धु-सीवीर नरेश उदयन के साथ, चौथी मृगावती वत्सनरेश शतानीक के साथ और पाँचवीं शिवावती अवन्ति नरेश चण्डप्रद्योत के साथ विवाही गयी थीं। ज्येष्ठा और चन्दना कौमार्यकाल में ही दीक्षित हो आर्यिका बन गयी थीं। अंगदेश के शासक दधिवाहन की पत्नी पद्मावती भी चेटक की पुत्री रही बतायी जाती है और उसकी पुत्री वसुमति अपरनाम चन्दना थी, ऐसा एक मत है। किन्तु अन्यत्र दधिवाहन की रानी का धारिणी नाम प्राप्त होता है। इस प्रकार उस काल के प्रायः महत्वपूर्ण एवं शक्तिशाली नरेश महाराज चेटक थे और वे भगवान् महावीर के निकट सम्बन्धी थे। ये सब इतिहास प्रसिद्ध नरेश हैं। उन सबका ही कुलधर्म जैनधर्म नहीं था, सब ही ने उसे पूर्णतया अपनाया भी नहीं, तथापि भगवान् महावीर के प्रति उन सभी का समादर भाव था और वे सब ही भगवान् के व्यक्तित्व एवं उपदेशों से प्रभावित थे। जहाँतक उनकी सहादेवियों, चेटक-पुत्रियों का प्रश्न है, वे सब ही भगवान् की अनन्य भक्त थीं, आदर्श-चरित्र की सुश्राविकाएँ थीं। प्रायः उन सबकी ही गणना सर्वकालीन सुप्रसिद्ध सौलह सतियों में है। उनमें से जिनका विवाह हुआ वे सब ही पति-परायणा, शीलगुण-विभूषित एवं धार्मिक वृत्ति की थीं।

महाराणी मृगावती

शतानीक की मृत्यु के पश्चात् चण्डप्रद्योत ने जब वत्सदेश पर आक्रमण किया तो राजमाता मृगावती ने बड़ी धीरता, वीरता एवं बुद्धिमत्ता के साथ अपने राज्य, पुत्र एवं सतीत्व की रक्षा की थी। उसका यह राजकुमार ही लोक-कथाओं तथा भास के नाटकों का नायक, प्रद्योत पुत्री वासवदत्ता का रोमांचक प्रेमी, गजविद्या-विशारद, अपनी हस्तिकान्त वीणा पर प्रियकान्त स्वरों का अप्रतिम साधक, कौशाम्ब्यनरेश उदयन था, और वह भी भगवान् महावीर का समादर करता था। उसकी प्रिया, प्रद्योतवृहिता वासवदत्ता भी उनकी उपासिका थी। अपने पुत्र के जीवन, स्थिति और राज्य की निष्कण्टक करके तथा मन्त्री युगन्धर के हाथों में सौंपकर राजमाता मृगावती ने जिनदीक्षा लेकर शेष जीवन तपस्विनी आर्यिका के रूप में व्यतीत किया। उसके मन्त्री युगन्धर का पुत्र ही वत्सराज्य का सुप्रसिद्ध महामन्त्री योगन्धरायण हुआ।

महासती चन्दना

चन्दना (चन्दनवाला अपरनाम वसुमति) की करुण कथा वर्तमान युग में भी अनेक सहृदय कवियों एवं जैनजैन कथाकारों के उपन्यासों का प्रिय विषय बनी हुई है। इस महासती के जनक-जननी के विषय में कुछ मतभेद है, किन्तु उसके नाम, जीवन की घटनाओं एवं प्रेरक पुण्यचरित्र के सम्बन्ध में मतैक्य है। उस 'वज्रादपि काकोराणि मृदूनि कुसुमादपि', चन्दन रस-जैसी कोमल किन्तु चन्दन काष्ठ-जैसी

कठोर, अतीव सुन्दरी, कौमलांगी तथापि वीर बाला का कौमार्यकाल में आलस्यियों द्वारा अपहरण हुआ। अनेक मर्यान्तक कष्टों के बीच से गुजरते हुए अन्ततः अनाम, अजाति, अज्ञात-कुल क्रीतदासी के रूप में भरे बाजार उसका विक्रय हुआ। क्रय करनेवाले कौशाम्बी के धनदत्त के सेठ के स्नेह और कृपा का भोजन बनी तो सेठ-पत्नी मूला के विषम डाह और अमानुषिक अत्याचारों की शिकार हुई। अन्त में जब वह मुँड़े सिर, जीर्ण-शीर्ण अल्प वस्त्रों में, लौह शृङ्खलाओं से बँधी, कई दिन की भूखी-प्यासी, एक सूप में अध-उबले उड़द के कुल बाँकले लिये, रोती-बिलखती, जीवन के कटु सत्थों की जुगली करती हवेली के द्वार पर खड़ी थी कि भगवान् महावीर के अति दुर्लभ दर्शन प्राप्त हो गये। दुस्साध्य अभिग्रह (आखड़ी) लेकर वह महातपस्वी साधु पूरे छह मास से निराहार विचार रहा था। अपने अभिग्रह की पूर्ति उस बाला की उपयुक्त वस्तुस्थिति में होती दीख पड़ी, और महामुनि उसके सम्मुख आ खड़े हुए। चन्दना की दशा अनिर्वचनीय थी, महादरिद्रो अनायास चिन्तामणि-रत्न पा गया, भक्त की भगवान् मिल गये, वह धन्य हो गयी। हर्ष-विषाद मिश्रित अद्भुत मुद्रा से उसने वह अति तुच्छ भोज्य प्रभु को समर्पित कर दिया, उनके सुदीर्घ अनशन व्रत का पारणा हुआ, प्रंचाश्चर्य की दृष्टि हुई, लय का ठट्ठा अनुराग हो गया। दूसरी दृश्य को देख विस्मयाभिभूत था। और चन्दना—जसका तो उद्धार हो गया। साथ ही समाज की कोढ़ उस घृणित दास-दासी प्रथा का भी उच्छेद हो गया। गुणों के सम्मुख जाति, कुल आभिजात्य आदि की महत्ता भी समाप्त हो गयी। चन्दना तो पहले से ही भगवान् की भक्त थी अब उनकी शिष्या और अनुयायिनी भी बन गयी। यथास्तमय वही महावीर के संघ की प्रथम साध्वी और उनके आर्थिक संघ की जिसमें 35,000 आर्थिकार्थी थीं, प्रधान बनी।

चण्डप्रद्योत और शिवादेवी

पुणिक का पुत्र अवन्ति-नरेश प्रद्योत अपनी प्रचण्डता के कारण चण्डप्रद्योत कहलाता था, वैसे उसका मूलनाम महासेन प्रद्योत था। वह अत्यन्त मानी, युद्धप्रिय और निरंकुश शासक था। अंग, वत्स, सिन्धुसौवीर आदि कई राज्यों पर, सम्बन्धों की भी अवहेलना करके, उसने प्रचण्ड आक्रमण किये थे। अन्त में भगवान् महावीर के प्रभाव से ही उसकी मनोवृत्ति में कुछ सौम्यता आयी थी। अपने तपस्या काल में ही भगवान् एकदा प्रद्योत की राजधानी उज्जयिनी में पधारे थे और नगर के बाह्य भाग में स्थित अतिमुक्तक नामक श्मशान में जब वह कायोत्सर्ग से स्थित थे तो स्थाणु रुद्र ने उनपर घोर उपसर्ग किये थे, जिनसे महावीर तनिक भी विचलित नहीं हुए थे। महारानी शिवादेवी तो उनकी मौसी भी थी और अनन्य भक्त भी। महानगरी उज्जयिनी में जब देवी प्रकोप से आग लग गयी थी तो इन महासती शिवादेवी के सतीत्व के प्रभाव से उनके द्वारा छिड़के गये जल से ही वह शान्त हो पायी थी।

जिस दिन भगवान् महावीर का निवांण हुआ उसी दिन अवन्ति में प्रद्योत के पुत्र एवं उत्तराधिकारी पालक का राज्याभिषेक हुआ था।

राजर्षि उदायन और महाराणी प्रभावती

भगवान् महावीर के परम भक्त उपासक नरेशों में सिन्धु-साँवीर देश के शक्तिशाली एवं लोकप्रिय महाराजाधिराज उदायन का पर्याप्त उच्च स्थान है। उनके राज्य में सोलह बड़े-बड़े जनपद थे, 369 नगर तथा उतनी ही खनिज पदार्थों की बड़ी-बड़ी खदानें थीं। इस छत्र-मुकुटधारी नरेश और अनेक छोटे भूपति, सामन्त-सरदार, सेठ-साहूकार एवं सार्थवाह उनकी सेवा में रत रहते थे। राजधानी रोरुक नगर अपरनाम वीतभयपत्तन एक विशाल, सुन्दर एवं वैभवपूर्ण महानगर तथा भारत के पश्चिमी तट का महत्वपूर्ण बन्दरगाह था। उसका नाम 'वीतभय' इसीलिए प्रसिद्ध हुआ कि महाराज उदायन के उदार एवं न्याय-नीति-पूर्ण सुशासन में प्रजा सर्व प्रकार के भय से मुक्त हो सुख और शान्ति का उपभोग करती थी। इतने प्रतापी और महान् नरेश होते हुए भी महाराज उदायन अत्यन्त निरभिमानी, विनयशील, साधुसेवी और धर्मानुरागी थे। उनकी महाराज्ञी प्रभावती उनके उपयुक्त ही सर्वगुण सम्पन्न आदर्श पत्नी थी। अभीचकुमार नाम का इनके एक पुत्र था और केशिकुमार नामक अपने भ्रातृजे से भी महाराज पूज्यत्व स्नेह करते थे। कहा जाता है कि महारानी की उत्कट धर्मनिष्ठा से प्रभावित होकर महाराज ऐसे धर्मरसिक बन गये थे कि उन्होंने राजधानी में एक अत्यन्त मनोरम जिनायतन का निर्माण कराकर उसमें स्वयं भगवान् महावीर की एक देहाकार सुवर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। यह भी कहा जाता है कि उन्होंने भगवान् के कुमारकाश की एक चन्दमकाष्ठ निर्मित प्रतिमा भी बनवायी थी, जिसे बाद में 'जीवन्त स्वामी' कहा जाने लगा और जिसे एक आक्रमण में अवन्तिनरेश चण्डप्रद्योत छत्र से अपहृत करके ले गया था, तथा मालव देश की विद्रिशा नगरी में जिसका सर्वप्रथम संसमारोह रथ-यात्रोत्सव किया गया था। महाराज उदायन और महाराज्ञी प्रभावती की यह उत्कट इच्छा थी कि भगवान् उनके राज्य और नगर में भी पधारे। अस्तु, भगवान् का समयसरण वहाँ पहुँचा और नगर के बाहर मृगधन-उद्यान में प्रभु विराजे। समाचार पते ही राजा और रानी पूरे परिवार, प्राण्णदों एवं प्रजाजन के साथ हर्षोत्फुल्ल हो भगवान् के दर्शनार्थ पधारे और उन्होंने उनके उपदेशामृत का पान किया। भगवान् के साक्षात् सम्पर्क से वह राजदम्पती इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने श्रावक के बारह व्रत धारण किये। धर्मध्यान तथा साधुओं की सेवा, वैवाच्य आदि में उन्हें विशेष आनन्द आता था। निर्विचिकित्ता अंग के धारण में महाराज उदायन आदर्श माने जाते हैं—बिना किसी प्रकार की मनोग्लानि के वह विषम एवं रोगग्रस्त साधुओं की ही नहीं, सामान्य दीन-दुखी रोगियों की भी सहृदयतापूर्वक सेवा-परिचर्या करते थे। शीघ्र ही संसार से विरक्त होकर उन्होंने मुनि

दीक्षा लेने का विचार किया। युवराज अभीषेकुमार को राज्यभार लेने के लिए कहा तो उसने अस्वीकार कर दिया और उसके स्थान पर ही दीक्षा लेने की बात कही। अतएव मानजे केशिकुमार को राज्य देकर राजर्षि उदायन पत्नी और पुत्र सहित संसार त्यागकर मुनि हो गये।

श्रेणिक बिम्बसार

भगवान् महावीर के अनन्य भक्तों और उनके धर्मतीर्थ के प्रभावकों में मगधनरेश श्रेणिक बिम्बसार का स्थान सर्वोपरि है। भगवान् का जन्म और अभिनिष्क्रमण तो विदेह देशस्थ जन्मभूमि कुण्डलपुर में हुए, किन्तु उनकी साधना और तपस्या काल का अधिक भाग मगध के विभिन्न स्थानों में ही व्यतीत हुआ। वहीं द्वादशवर्षीय साधना के उपरान्त जृम्भिक ग्राम के बाहर, ऋजुपालिका नदी के तटवर्ती एवं गृहपति श्वामाक के करषण (कृषि-क्षेत्र) के निकटस्थ वैद्यावृत्त्य चैत्योद्यान के ईशान कोण में शालवृक्ष के नीचे एक शिला पर सन्ध्याकाल में उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हुई थी। तदनन्तर मगधदेश में ही स्थित मध्यमा पावा में सोमिल ब्राह्मण के महापन्न में सम्मिलित गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति आदि प्रख्यात ब्राह्मणचार्यों पर भगवान् के सम्पर्क का अद्भुत प्रभाव पड़ा। अपने सैकड़ों-सहस्रों शिष्य परिवारों सहित वे भगवान् के अनुगामी हुए। मगधराज की राजधानी राजगृह के विपुलाचल पर्वत पर ही भगवान् का इतिहास विश्रुत सर्वप्रथम सार्वजनिक उपदेश हुआ, उनके धर्मचक्र का प्रवर्तन हुआ और जयघोष के साथ वीर-शासन का प्रारम्भ हुआ। अगामी तीस वर्षों के तीर्थंकर काल में भी सर्वाधिक बार भगवान् का समवसरण राजगृह में ही आया। भगवान् का निर्वाण भी अन्ततः मगध राज्य में स्थित उक्त, मध्यमापावा या पावापुरी में ही हुआ माना जाता है। मगध के साथ भगवान् महावीर और उनके तीर्थंकरत्व की इतनी निकटता एवं घनिष्टता का प्रधान कारण अवश्य ही मगधाधिपति महाराज श्रेणिक और उनके प्रायः सम्पूर्ण परिवार की भगवान् के प्रति अनन्य भक्ति, श्रद्धा और प्रेम थी।

पूर्वकाल में मगध पर महाभारतकालीन बृहद्रथ के वंशजों का राज्य था, जिसका अन्त एक राज्यक्रान्ति में हुआ और मगध के सिंहासन पर काशी के नाम (उरग) वंश का शिशुनाग नामक एक वीर पुरुष आसीन हुआ। एक पत से शिशुनाग के पूर्वजों का मूल-निवास वाहीक प्रदेश था, इसलिए कहीं-कहीं इसे वाहीक कुल भी कहा गया है। शिशुनाग का पुत्र शैशुनाक था—यह वंश भी इतिहास में शैशुनाक नाम से ही अधिक प्रसिद्ध रहा है। हिन्दू पुराणों के अनुसार शैशुनाक का ही पुत्र उपरोक्त श्रेणिक था, किन्तु बौद्ध ग्रन्थों में श्रेणिक के पिता का नाम भट्टि और जैन परम्परा में प्रसेनजित तथा उपश्रेणिक पाया जाता है। उस समय मगध एक साधारण-सा ही राज्य था और उसकी राजधानी राजगृह अधरनाम गिरिखज तथा

पंचशैलपुर भी सामान्य नगर था। श्रेणिक के कुमारकाल में ही उसके पिता ने किसी कारण कृपित होकर उसे राज्य से निर्वासित कर दिया था और द्वितीय पुत्र को, जिसका नाम चिलाति-पुत्र था, अपना उत्तराधिकार सौंप दिया था। अपने निर्वासन काल में श्रेणिक ने देश-देशान्तरों का भ्रमण करके अनुभव प्राप्त किया। जब वह सुदूर दक्षिण देशस्थ कांचीपुर में प्रवासित था तो उसने वहाँ नन्दश्री नामक एक रूप-गुण सम्पन्न विदुषी ब्राह्मण-कन्या से विवाह कर लिया, जिसका पुत्र सुप्रसिद्ध अभय राजकुमार हुआ। उसी काल में श्रेणिक कतिपय जैनतर श्रमण साधुओं के सम्पर्क में आया, उनका भक्त हो गया और जैनधर्म से विद्वेष करने लगा, यद्यपि उसका पितृकुल तीर्थंकर पार्श्व की जैन परम्परा का अनुयायी था। श्रेणिक का भाई चिलातिपुत्र राज-काज से विरक्त रहता था और अन्ततः उसने वैभारपर्वत पर दत्त नामक जैन मुनि से दीक्षा ले ली। परिणामस्वरूप श्रेणिक को बुलाया गया और मगध के सिंहासन पर आसीन किया गया। राज्य हस्तगत करते ही श्रेणिक ने राजधानी का पुनर्निर्माण किया, शासन की सुव्यवस्था की, अपनी राज्य-शक्ति को संगठित किया और उसका सर्वतोमुखी विकास एवं विस्तार करने में वह जुट गया। इन कार्यों में उसे अपने अत्यन्त चतुर पुत्र अभयकुमार से बड़ी सहायता मिली। श्रेणिक की महत्त्वाकांक्षा का आभास पाकर उसके पड़ोसी वज्जिसंघ के अध्यक्ष वैशाली नरेश चेटक तथा कोसलाधिपति प्रसेनजित् की संयुक्त सेनाओं ने मगध पर आक्रमण कर दिया। अवसर के पारखी श्रेणिक ने तुरन्त सन्धि कर ली। चेटक की सैन्य-शक्ति को चेटक की पुत्री चेलना और कोसल की राजकुमारी कोशलदेवी (प्रसेनजित् की बहन) के साथ विवाह करके उन दोनों शक्तिशाली पड़ोसी राज्यों को स्थायी मैत्री के सूत्र में बाँध लिया। उसने भद्र की राजकुमारी खेमा के साथ भी विवाह किया। चेटक-सुता चेलना उसकी पट्टमहिषी रही। किन्हीं ग्रन्थों में श्रेणिक की दस पत्नियाँ होने का उल्लेख मिलता है। अभयकुमार, कृणिक (अज्ञातशत्रु), वारिषेण, मेघकुमार, नन्दिषेण, अक्रूर, हल्ल, विहल्ल, जितशत्रु, वन्तिकुमार आदि उसके ग्यारह पुत्रों और दस पौत्रों के होने का उल्लेख मिलता है।

विवाह सम्बन्धों द्वारा अपनी स्थिति सुदृढ़ करके श्रेणिक ने एक ओर तो काशी जनपद को अपने राज्य में मिलाया और दूसरी ओर अंगधिपति दधिवाहन को पराजित करके उनके पूरे देश एवं राजधानी चम्पापुर पर अधिकार कर लिया और वहाँ राजकुमार कृणिक को अपना राज्य-प्रतिनिधि नियुक्त कर दिया। एक सीमान्त-देशीय मित्र राजा की सहायताय श्रेणिक ने सेठ-पुत्र वीर जम्बुकुमार को भेजा था जिसने अत्यन्त पराक्रमपूर्वक उक्त अभियान को सफल बनाया था। पारस्य (ईरान) के शाह के साथ भी श्रेणिक ने राजनीतिक आदान-प्रदान किया प्रतीत होता है। अपने लगभग पचास वर्ष के राज्यकाल में इस महत्त्वाकांक्षी, प्रतापी एवं यशस्वी नरेश ने छोटे से मगध राज्य को बढ़ाकर उस काल के प्रायः सर्वाधिक शक्तिशाली

महाराज्य का रूप दे दिया था। इतना ही नहीं, भारतवर्ष के प्रथम ऐतिहासिक साम्राज्य (मगध साम्राज्य) की सुदृढ़ नींव जमा दी थी। वह कुशल शासक भी था। उसके राज्य में न किसी प्रकार की अनीति थी और न किसी प्रकार का भय था। प्रजा भली प्रकार सुखानुभव करती थी। देश की समृद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धिगत करने की ओर भी उसका पूरा ध्यान था। विभिन्न व्यवसायों, व्यापारों एवं उद्योगों का उसके आश्रय एवं संरक्षण से विविध श्रेणियों एवं निगमों में संगठन हुआ, इसी कारण उसे 'श्रेणिक' नाम प्राप्त हुआ बताया जाता है। सर्वप्रकार की आन्तरिक स्वातन्त्र्य-सत्ता से युक्त इन जनतन्त्रात्मक संस्थाओं द्वारा उसने साम्राज्य के उद्योग-धन्धा, व्यवसाय और व्यापार का भारी प्रोत्साहन दिया। बीसियों कोट्यधीश श्रेष्ठ और सार्थवाह उसके राज्य के वैभव की अभिवृद्धि में संलग्न थे। उपर्युक्त श्रेणियों ही आगे चलकर वर्तमान जातियों के रूप में धीरे-धीरे परिणत हो गयीं। सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार जनपदों का पालक एवं पिता कहा गया है। वह दयाशील एवं मर्यादाशील था, साथ ही बड़ा दानवीर और भारी निर्माता भी था। राजधानी के पुनर्निर्माण एवं उसे सर्वप्रकार सुन्दर बनाने के अतिरिक्त उसने सिद्धाचल-सम्पेदशिखर पर जैन निधिघकाएँ तथा अन्यत्र अनेक जिनायतन, स्तूप, चैत्यादि भी निर्माण कराये बताये जाते हैं। राजगृह नगर में तो भीतर-बाहर अनेक उत्तुंग जिनायतन उसने बनवाये थे। नगर के प्राचीन अवशेषों में उसके समय की मूर्तियाँ आदि भी मिली बतायी जाती हैं। अन्य धर्मों के प्रति भी वह सहिष्णु था। गौतम बुद्ध गृह त्याग करने के उपरान्त जब सर्वप्रथम राजगृह आये थे तो श्रेणिक ने स्नेहपूर्वक उस तरुण क्षत्रिय कुमार को तप-मार्ग से विरत करने का प्रयत्न किया था। प्रारम्भ में श्रेणिक जैनधर्म विरोधी और विशेषकर जैनमुनि विद्वेषी हो गया था। एकदा यमधर नामक मुनिराज पर उसने भयंकर उपसर्ग किये, कहा जाता है। अनाथी नामक जैनमुनि के उपदेश से उसमें कुछ सौम्यता आयी, किन्तु मुख्यतया यह उसकी प्रिय पत्नी एवं अग्रमहिषी महारानी चेलना का सुप्रभाव था कि श्रेणिक जैनधर्म और भगवान् महावीर का अनन्य भक्त हो गया। चेलना स्वयं महावीर की पौसी (या ममेरी बहन) थी। वह अत्यन्त पति-परायणा, विदुषी और धर्मात्मा थी। तीर्थंकर महावीर का प्रथम समवसरण श्रेणिक की राजधानी के ही एक महत्त्वपूर्ण भाग विपुलाचल पर जुड़ा था और वहीं ईसा पूर्व 557 की श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के प्रातःकाल, अभिजित नक्षत्र में, भगवान् की सर्वप्रथम सार्वजनिक धर्मदेशना हुई थी। महाराज श्रेणिक सपरिवार एवं सपरिकर उक्त समवसरण सभा में उपस्थित हुआ था, श्रावकोत्तम कहलाया था और भगवान् के श्रावक-संघ का नेता बना था, जिसमें एक-डेढ़ लाख पुरुष श्रावक सम्मिलित थे। कहा जाता है कि राजगृह में भगवान् का समवसरण दो सौ बार आया था और इन समवसरणों में श्रेणिक ने गौतम गणधर के माध्यम से भगवान् से एक-एक करके साठ हजार प्रश्न किये थे, और उन्होंने उन सबका समाधान किया था। उक्त प्रश्नों

के उत्तरों के आधार पर ही विपुल जैन साहित्य की रचना हुई। महाराज्ञी चेलना श्राविका-संघ की नेत्री हुई। उस संघ में लगभग तीन लाख श्राविकाएँ रहों, बतावी जाती हैं। चेलना ने स्वयं श्राविका के व्रत लिये थे और अपनी दसों सपत्नियों सहित आर्यिका संघ की अग्रणी महासती चन्दना के निकट धर्म का अध्ययन किया था। उनके पुत्र, पुत्रवधुएँ, पौत्र-पौत्रियाँ, आदि भी सब भगवान् के उपासक हुए। इस प्रकार श्रेणिक का प्रायः सम्पूर्ण परिवार ही महावीर का परम भक्त था। अनगिनत प्रजाजनों ने भी राजपरिवार का अनुकरण किया। अतः इसमें क्या आश्चर्य है जो महाराज श्रेणिक का नाम जैन इतिहास में स्वर्णाक्षरों में अंकित है।

लगभग पचास वर्ष राज्य सुख भोगने के उपरान्त महाराज श्रेणिक ने महारानी चेलना से उत्पन्न राजकुमार कुणिक अपरनाम अज्ञातशत्रु की राजपाट सौंपकर एकान्त में धर्मध्यानपूर्वक श्रेष्ठ जीवन बिताने का निश्चय किया। राज्यसत्ता हस्तगत होने पर कुणिक ने गौतम बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त के, जो स्वयं एक स्वतन्त्र धर्माचार्य बनने का स्वप्न देखता था, बहकाने से अपने पिता श्रेणिक को बन्दीगृह में डाल दिया। माता चेलना के भर्त्सना करने पर उसे पश्चात्ताप हुआ और वह पिता को बन्धनमुक्त करने एवं उससे क्षमा माँगने के लिए बन्दीगृह में गया। श्रेणिक उससे अत्यधिक स्नेह करता था, परन्तु उसे इस प्रकार आता देखकर वह समझा कि कुणिक उसकी हत्या करने आया है, अतएव बन्दीगृह की दीवारों से सिर फोड़कर (मतान्तर से अँगूठी में छिपा विष भक्षण कर) श्रेणिक ने आत्मघात कर लिया। इस प्रकार इस महान् प्रतापी एवं धर्मात्मा मरेश तथा मगध के प्रथम ऐतिहासिक सम्राट् का दुखान्त हुआ।

मन्त्रीश्वर अभय

श्रेणिक बिम्बसार के सुशासन, उत्तम राज्य व्यवस्था, स्पृहणीय न्यायशासन, समृद्धि, वैभव एवं सजनयिक उत्कर्ष का श्रेष्ठ अनेक अंशों में उनके इतिहास-विश्रुत बुद्धिनिधान मन्त्रीश्वर अभयकुमार की है, जो द्रविड़देशीय ब्राह्मण पत्नी नन्दश्री से उत्पन्न स्वयं उनके ही ज्येष्ठ पुत्र थे। एक मत के अनुसार अभय की जननी नन्दा या नन्दश्री दक्षिण देश के वेण्यस्तट नामक नगर के धनावह नामक श्रेष्ठि की पुत्री थी। कुछ भी हो, अभय राजकुमार की ऐतिहासिकता में कोई सन्देह नहीं है। दिगम्बर एवं श्वेताम्बर दोनों परम्पराओं में ही नहीं, प्राचीन बौद्ध आगम मज्झिमनिकाय में भी निर्गन्धनातपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र-महावीर) के एक परम भक्त के रूप में उनका उल्लेख हुआ है, और यह भी कि एक बार उन्होंने शाक्यपुत्र गौतम बुद्ध का भी आदर-सत्कार किया था। इस तथ्य से राजकुमार अभय की उदारता, सौजन्य एवं परधर्मसहिष्णुता का भी परिचय मिलता है। जैन इतिहास में तो भगवान् महावीर के परम भक्त, एक धर्मात्मा, शीलवान्, संयमी श्रावक होने के अतिरिक्त एक अत्यन्त

मेधावी, अद्भुत प्रत्युत्पन्नमति, न्यायशास्त्र दक्ष, विचक्षण बुद्धि, कूटनीति विशारद, राजनीति पटु, प्रजावत्सल, अति कुशल प्रशासक एवं आदर्श राज्यमन्त्री के रूप में उनकी ख्याति है। जब-जब राज्य पर कोई संकट आया, चाहे वह अचानक के चण्डप्रद्योत-जैसे प्रतिद्वन्द्वी का प्रचण्ड आक्रमण था, अथवा अन्य कोई बाह्य या आन्तरिक दुर्घटना, अभयकुमार ने अपने बुद्धि-बल से अपने राज्य के धन, जन और प्रतिष्ठा की, तुरन्त और सफल रक्षा की। वेध बदलकर समय-असमय प्रजाजनों के बीच विचारकर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करना, उनके सम्तोष-असन्तोष को जानना, न्यायविषयक जाँच अपने ढंग से करना जिससे कि किसी के प्रति अन्याय न होने पावे, शान्ति-सुरक्षा बनाये रखना, राजमहलों के एवं बाहर के विग्रहों को शान्त करना, षड्यन्त्रों को विफल करना, इत्यादि से सम्बन्धित मन्त्रीराज अभय के विषय में अनगिनत रोचक प्रसंग एवं कहानियाँ लोक प्रचलित हैं तथा विविध प्राचीन जैन साहित्य में भी उपलब्ध हैं। आज भी दीपावली के अवसर पर पूजन करने के उपरान्त अनेक जैनीजन अपनी बहियों में लिखते हैं—“श्री गौतम स्वामी तणी लब्धि होयजो, श्री धन्ना-शालिभद्रजी तणी ऋद्धि होयजो, श्री अभयकुमारजी तणी बुद्धि होयजो” इत्यादि।

इस प्रकार जैन परम्परा में लौकिक क्षेत्र में अपने बुद्धि बल से कठिन मुत्तियाँ की क्षणमात्र में सुलझाने में मगधराज क्षेपिक के इन बुद्धिनिधान मन्त्रीश्वर अभयकुमार को आदर्श एवं अद्वितीय समझा जाता है और उन जैसी बुद्धि की प्राप्ति की भावना पायी जाती है।

सुदक्ष राजनीतिज्ञ के नाते प्रायः सभी तत्कालीन राज्यों, यहाँ तक कि पारस्य (ईरान) जैसे सुदूर विदेशों में भी अभय राजकुमार के मित्र थे। इनमें पारस्य देश के राजकुमार आर्द्रक (सम्भवतया अर्देशिर) का, जिसके नाम का भारतीयकरण आर्द्रकुमार हुआ, विशेष रूप से उल्लेख मिलता है।

इतने बड़े राज्य का शक्ति-सम्पन्न महामन्त्री तथा स्वयं महाराज का ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी अभय राजकुमार को राज्य-लिप्ता छू भी नहीं गयी थी। वह अत्यन्त धार्मिक वृत्ति के व्यक्ति थे। पिता ने इन्हें अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता तो स्पष्ट इनकार कर दिया, और माता-पिता एवं स्वजन-परिजनों की अनुमति लेकर महावीर प्रभु की शरण में जाकर मुनि-दीक्षा ले ली। मुनिरूप में उन्होंने विदेशों में विहार करके प्रभु के उपदेश को फैलाया, ऐसा भी प्रतीत होता है। जब मुनि अभयकुमार पारस्य देश पहुँचे तो इनका परम मित्र राजकुमार आर्द्रक इनके दर्शनार्थ आया और इन्हीं के रंग में रँग गया। इन्हीं के साथ वह भारत आया, भगवान् के दर्शन किये और उनका शिष्य बनकर जैन मुनि हो गया। मतान्तर से अभय ने आर्द्रक की प्रार्थना पर उसके पास भारत से सुवर्ण की एक जिन-प्रतिमा भेजी थी जिसे पाकर आर्द्रक भारत के लिए वैरागी होकर चल पड़ा। परिजनों के द्वारा रोक

रखने के प्रयत्नों को विफल कर वह भारत आ गया। मार्ग में अनजाने ही वसन्तपुर की एक श्रेष्ठि-कन्या उसपर अनुरक्त हो गयी। किन्तु यह अपने गन्तव्य प्रभु की शरण में पहुँच ही गया।

महाराज श्रेणिक के अन्य पुत्रों में से कुणिक के अतिरिक्त मेघकुमार, नन्दिषेण और वारिषेण के चरित विशेष प्रसिद्ध हैं। सर्वप्रकार के देवदुर्लभ वैभव में पले वे भी विषयभोगों में मग्न थे, कि भगवान् के दर्शन और उपदेशों के प्रभाव से सब कुछ त्यागकर इन सुकुमार राजकुमारों ने कठोर तप-संयम का मार्ग प्रायः दौवनारम्भ में ही अपना लिया था। उनके श्रद्धान एवं शील की दृढ़ता अनुकरणीय मानी जाती है।

कुणिक अजातशत्रु

कुणिक महारानी चेलना से उत्पन्न श्रेणिक के पुत्रों में ज्येष्ठ था। प्रारम्भ से ही बड़ बड़ा चतुर, महत्वाकांक्षी और राजनीति-पटु था, किन्तु माता और पिता दोनों का ही विशेष लाड़ला होने के कारण कुछ उद्धत एवं स्वेच्छाचारी स्वभाव का था। पिता श्रेणिक ने स्वयं उसे विजित अंगदेश का शासक बनाया था जहाँ लगभग आठ वर्ष पर्वन्त प्रायः एकछत्र शासन करने के पश्चात् श्रेणिक ने अपने जीवनकाल में ही राज्य से अवकाश लेकर कुणिक का राज्याभिषेक कर दिया था। किन्तु उसने उसी पिता के साथ दुर्व्यवहार किया और जब उसका परिमार्जन करने के लिए वह चला तो भ्रमवश श्रेणिक ने आत्महत्या कर ली। इस घटना से कुणिक को भारी अनुताप हुआ और वह मूर्च्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा, सचेत होने पर भी रुदन करता रहा। राजगृह से उसका मन उछट गया और वह वापस चम्पा चला गया। क्योंकि अभयकुमार, वारिषेण, मेघकुमार, नन्दिषेण आदि कई भाई पहले ही मुनि दीक्षा ले चुके थे और हल्ल, विहल्ल आदि जो बचे थे उससे बहुत छोटे थे और अनुभवीहीन किशोर ही थे। कुछ कालोपरान्त स्वस्थचित होकर कुणिक राजगृह वापस आया और उसने राज्य की बागडोर सँभाली तथा लगभग तीस वर्ष तक भगघ पर राज्य किया। इस अवधि में उसने छल-बल-कौशल से अपने राज्य का अत्यधिक विस्तार किया। कोसलनरेश प्रसेनजित् के राज्य पर आक्रमण करके उसे पराजित किया, उसकी राजकुमारी के साथ विवाह किया और उसके राज्य के पर्याप्त भाग को अपने राज्य में मिला लिया। दूसरी ओर अपने कूटनीतिज्ञ मन्त्री वस्सकार (वर्षकार) की धूर्तता के सहारे वैशाली के लिच्छवियों में अन्तर्विग्रह उत्पन्न कराकर उन्हें भी पराजित किया और उनके राज्य के एक बड़े भाग को भी अपने अधिकार में कर लिया। इस अभियान में वह अपने भोले दो भाइयों, राजकुमारों, हल्ल और विहल्ल, को भी शतरंज की मोटी बनाने से न चूका। महाराज श्रेणिक ने इन कुमारों पर प्रसन्न होकर उनमें से एक को संचनक नामक प्रसिद्ध गजराज तथा दूसरे को

देवदिम्भ नामक बहुमूल्य मणिहार दे दिया था। कुणिक के उक्त दोनों वस्तुओं के हस्तगत करने के उपक्रम में दोनों कुमारों को वैशाली भागकर अपने मातामह के वंश की शरण लेने को बाध्य होना पड़ा। अब उसने लिच्छवियों से माँग की कि वे कुमारों को हाथी तथा रत्नहार सहित उसके सुपुर्द कर दें। स्वाभिमानी लिच्छवियों ने शरणागतों को उसे देने से स्पष्ट इनकार कर दिया। अतएव कुणिक ने वैशाली पर भीषण आक्रमण कर दिया, किन्तु उसे पराजित होकर लौटना पड़ा। तब उसके मन्त्री दर्षकार ने धूर्तता और छल से वैशाली में रहकर लिच्छवियों में फूट डलवा दी, उन्हें आलसी और मूर्ख बना दिया और अन्त में कुणिक से आक्रमण करवाकर वैशाली का पतन कराया। अजात-शत्रु बड़ा युद्धप्रिय था। उसका प्रायः सारा जीवन युद्धों में ही बीता। महाशिलाकण्टक और रथमूसल नामक विध्वंसक युद्ध-यन्त्रों का भी उसने आविष्कार एवं उपयोग किया था। शासन-कार्य में भी वह निपुण था। गंगा और सोन के संगम पर उसने एक विशाल सुदृढ़ दुर्ग बनवाया जहाँ कालान्तर में पाटलिपुत्र नगर बसा। अजातशत्रु ने तो वहाँ अपना मुख्य स्कन्धाधार (सैनिक छावनी) ही रखा था। उद्योग-धन्यों व्यवसाय-व्यापार के सम्बन्ध में उसने पिता (श्रेणिक) की नीति को अपनाया और अपने राज्य की समृद्धि को बढ़ाया ही। अजातशत्रु ने आठ राजकन्याओं के साथ विवाह करके अपनी स्थिति और सुदृढ़ कर ली थी। इसमें सन्देह नहीं है कि वह अपने कुलधर्म जैनधर्म का ही अनुयायी था और भगवान् महावीर का उपासक था। उसने श्रावक के व्रत भी धारण किये थे। जीवन की सन्ध्या में उसे अपने पूर्व जीवन के कार्यों पर पश्चात्ताप भी था। यों वह भगवान् बुद्ध का भी आदर करता था, किन्तु बौद्ध साहित्य में उसकी बड़ी ही निन्दा की गयी है और उसे पितृहन्ता भी कहा गया है, जबकि जैन अनुश्रुतियों में उसकी प्रशंसा ही पायी जाती है। उसने तीर्थंकरों की प्रतिमाओं के अतिरिक्त स्वयं अपनी भी मूर्ति बनवायी प्रतीत होती है। भगवान् महावीर का निर्वाण भी कुणिक अजातशत्रु के ही शासनकाल में हुआ था। उक्त निर्वाणोत्सव में मगधनरेश की उपस्थिति के संकेत भी मिलते हैं।

महाराज उदायी

कुणिक के पश्चात् उसका पुत्र उदयिन (उदायी, अजउदयी, या उदयीभट) सिंहासन पर बैठा—छठी शती ईसा पूर्व के अन्त के लगभग। वह भी राज्य प्राप्त करने के पूर्व पिता कुणिक की भाँति चम्पा (अंग देश) का प्रान्तीय शासक रहा था। जैन साहित्य में उसका वर्णन एक महान् जैन नरेश के रूप में हुआ है। वह कुणिक की पट्टरानी पद्मावती से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र था, सुशिक्षित, सुयोग्य और वीर राजकुमार था। शासन-भार सँभालने पर सुयोग्य शासक भी सिद्ध हुआ। उसी ने सुप्रसिद्ध पाटलिपुत्र नगर की, जिसे कुसुमपुर भी कहते थे, और जिसके भग्नावशेष

वर्तमान बिहार राज्य की राजधानी पटना नगर के आस-पास प्राप्त हुए हैं, वसावा था और वहीं राजगृह से अपनी राजधानी स्थानान्तरित कर दी थी। तभी से वृद्धिगत विशाल मगध साम्राज्य की राजधानी उक्त पाटलिपुत्र नगर ही शताब्दियों तक बना रहा। इस राजा ने मगध के एकमात्र अर्वाक्ष्य प्रतिद्वन्द्वी अवन्ति महाराज्य को जीतकर उसके बहुभाग को भी अपने साम्राज्य में मिला लिया। सम्राट् उदायी भी परम-जैन-भक्त था। अन्त में एक-शत्रु ने छल से उसकी हत्या कर दी। उदायी के उपरान्त अनुसुद्ध, गुण्ड, नागदशक या दशक आदि कतिपय नरेश क्रमशः गद्दी पर बैठे। वे कुल-परम्परा के अनुसार प्रायः जैनधर्म के ही अनुयायी थे, किन्तु उनके शासनकाल अल्पकालीन एवं गौण महत्त्व के रहे।

महावीर-भक्त अन्य तत्कालीन नरेश

कलिंग-नरेश जितशत्रु और चम्पा-नरेश दधिवहन का उल्लेख हो चुका है। दोनों सपरिवार भगवान् महावीर के परम भक्त, सुधावक एवं अपने समय के प्रतिष्ठित नरेश थे। कोसलाधिपति महाराज प्रसेनजित् महावीर और गौतम बुद्ध का भी नहीं पकड़ति गीशाल आदि अन्य तत्कालीन श्रमण एवं ब्राह्मण धर्माचार्यों का भी समान रूप से आदर करते थे। उनको रानी मल्लिकादेवी भी वैसी ही उदार थी। उन्होंने राजधानी श्रावस्ती में विभिन्न धर्मों की तत्त्व-धर्मा के लिए एक विशाल सभाभवन बनवाया था। मिथिला और वाराणसी के तत्कालीन शासकों का नाम भी जितशत्रु था, और उन दोनों ने, जब-जब महावीर उनके नगर में पधारे, उनकी सेवा और भक्ति बड़ी श्रद्धा के साथ की थी। कोल्लाग-सन्निवेश के स्वामी-कूलनृप ने, जो सम्भवतया भगवान् का सगोत्रीय ही था, उनको प्रथम आहारदान देकर पारणा करायी थी। वसन्तपुर के राजा-समरवीर पावा के हस्तिपाल और पुण्यपाल, कलाशपुर के राजा विजयसेन और राजकुमार ऐमत्त, वाराणसी की राजपुत्री मृण्डिका, श्रीशाम्बी-नरेश उदयन, दशार्ण देश के राजा दशरथ, सोदनपुर के विद्रराज, कपिलवस्तु के शाक्य-वण्य (गौतम बुद्ध के चाचा), मथुरा के उद्वितीव्य और अवन्ति पुत्र तथा उनका राज्य-सेठ, पांचालनरेश जय, हस्तिनापुर के भूपति शिबिराज तथा वहाँ का नगरसेठ पोत्तलि, पोत्तननगर के राजर्षि प्रसन्नचन्द्र इत्यादि राज्ञे-महाराज्ञे भगवान् महावीर के भक्त, प्रती अथवा अव्रती धावक बने थे। इनके अतिरिक्त एक विशेष उल्लेखनीय नाम है—हेमांगद-नरेश जीवन्धर का।

महाराज जीवन्धर

दक्षिण भारत के वर्तमान कर्णाटक (मैसूर) राज्य के एक भाग का नाम हेमांगद देश था। उसकी राजधानी का नाम राजपुरी था और उस काल में सत्यन्धर नामक जैनधर्म-भक्त राजा वहाँ राज्य करता था। उसकी अतिप्रिय एवं लावण्यवती रानी

का नाम विजया था। उन्हीं के पुत्र जीवन्धर थे। इनका रोचक, रोमांचक एवं साहित्यिक चरित्र जैन साहित्यकारों में अत्यन्त लोकप्रिय रहा है। संस्कृत, अपभ्रंश और हिन्दी में ही नहीं, तमिल और कन्नड में भी उत्तम काव्य कृतियाँ इस विषय पर रची गयीं; यथा तमिल का जीवक-चिन्तामणि, कन्नड का जीवन्धर चम्पू एवं जीवन्धर-सांगत्या, संस्कृत के क्षत्र-चूडामणि, गद्यचिन्तामणि, जीवन्धर-चरित, आदि। पिता सत्यन्धर सत्त्वलक्ष्मी, वैज्ञानिक कर्मों के दृष्टि से अत्यधिक पंडित थे, किन्तु राजकाज में कोरे थे, अतएव दुष्ट मन्त्री काष्ठांगार के षड्यन्त्र का शिकार हुए, राज्य भी गया और प्राण भी गये। उसके पूर्व ही यह आसन्नसंकट देख गर्भवती विजयारानी को स्वनिर्मित मयूरचन्द्र में बैठकर आकाशमार्ग से बाहर भेज चुके थे। दूर एक श्मशान में चन्द्र उतरा, वहाँ जीवन्धर का जन्म हुआ। अनेक संकटों को झेलते हुए रानी ने पुत्र के लालन-पालन, सुरक्षा एवं उचित शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था की। किशोर अवस्था से ही विभिन्न स्थानों में भ्रमण तथा अनेक साहित्यिक कार्य कुमार जीवन्धर ने किये। वयस्क होने पर दुष्ट काष्ठांगार से लोहा लिया, उसे दण्डित किया और अपना राज्य पुनः प्राप्त किया। वहाँ अपने राज्य का सुशासन, प्रजा का पालन और भोगोपभोगों का रसास्वादन करने के पश्चात् भगवान् महावीर का सम्पर्क मिला तो सब कुछ तृणवत् छोड़ उनके शिष्य मुनि हो गये।

दश प्रसिद्ध उपासक

उपासक-दशांग-सूत्र में भगवान् महावीर के दस सर्वश्रेष्ठ साक्षात् उपासकों एवं परम भक्तों का वर्णन प्राप्त होता है, जो सब सद्-गृहस्थ थे और गृहस्थावस्था में रहते हुए ही धर्म का उत्तम पालन करते थे। उनके नाम हैं—आनन्द, कामदेव, चूलिनी-पिता, सुरादेव, चुल्लशतक, गृहपति कुण्डकोलिक, सहाल-पुत्र, महाशतक, नन्दिनी-पिता और सालिही-पिता।

गृहपति आनन्द वाणिज्यग्राम का प्रधान धनाधीश था। वह नगरश्रेष्ठि ही नहीं, जनपद तथा राज्यश्रेष्ठि भी था। स्वयं वाणिज्यग्राम व्यापार की देश में विश्रुत मण्डी थी। एक वाणिज्यग्राम बिहार के विदेह प्रान्त में वैशाली के निकट भी था, किन्तु क्योंकि आनन्द-श्रावक के विवरण से स्पष्ट है कि भगवान् महावीर उज्जयिनी से चलकर सीधे वाणिज्यग्राम पहुँचे थे। वहाँ के राजा का नाम जितशत्रु था। यह स्थान वर्तमान मालवा (या मध्य प्रदेश) में ही कहीं स्थित होना चाहिए। सम्भवतया यह उस काल में अवन्तिनरेश के किसी उपराजा के अधिकार में रहा होगा। आनन्द की रूपवती पत्नी का नाम शिवानन्दा था। इन दम्पती का जिनधर्म से कोई परिचय नहीं था। कहा जाता है कि वह धनपति बारह करोड़ सोनइयों (स्वर्ण मुद्राओं) का स्वामी था—एक सोनइया 16 (सोलह) माशे स्वर्णमान का होता था। इसमें से चार करोड़ मुद्राएँ उसके कोषागार में सदा सुरक्षित रहती थीं, चार करोड़ व्याज पर उधार लगी

हुई थीं और चार करोड़ व्यापार-व्यवसाय में लगी थीं। इसके अतिरिक्त उसके चार गोकुल थे जिनमें से प्रत्येक में दस-हजार गौएँ थीं, पाँच सौ हलों की खेती होती थी, पाँच सौ शकट (गाड़ियाँ) देश-देशान्तर में व्यापारार्थ माल दौया करती थीं, और नाना फल-फूलों से भरे अनेक बाग-बगीचे थे। उसका मान-सम्मान एवं लोक-प्रतिष्ठा उसके अनुरूप ही थी। जब भगवान् महावीर इस ओर पधारे और उनका समवसरण उस नगर के बाहर दुतिपलाश नामक चैत्योद्यान में लगा तो राजा और प्रजा भगवान् के दर्शनार्थ उस ओर उमड़ चले। गृहपति आनन्द और उसकी भार्या ने भी यह समाचार जाना। उत्सुकता, जिज्ञासा एवं शिष्टाचार के नाते यह दम्पती भी भगवान् के समवसरण में जा उपस्थित हुए। भगवान् के सद्गुणों के प्रभाव से अनेक व्यक्तियों ने व्रत, चरित्र, संयम और त्याग अंगीकार किये। सपत्नीक आनन्द भी भगवान् के व्यक्तित्व एवं वाणी के सुखदायी तेज से प्रभावित हो उनका परम भक्त बन गया। किन्तु जब श्रावक के व्रतों के ग्रहण करने का प्रश्न आया तो और सब व्रत तो तुरन्त ले लिये, परिग्रह का मोह परिग्रह-परिमाण में बाधक हो रहा था। शंका-समाधान में जब उन्हें यह स्पष्ट हुआ कि स्वेच्छापूर्वक शक्तितः किया गया त्याग ही सच्चा त्याग है, और यह कि श्रावक का परिग्रह-परिमाण तीन कोटि का है—आवश्यकता-भर परिग्रह रखकर शेष का परित्याग उत्तम कोटि का है, वर्तमान में जितना परिग्रह है उससे जितना अधिक उपार्जित हो उसका त्याग मध्यम कोटि का और श्रेष्ठ है उसके दुगुने, त्रीनुरो अतिशय कहीं भी अधिक स्थिर करके शेष का त्याग जघन्य कोटि का है, तो विचारशील आनन्द श्रावक ने मध्यम कोटि का परिग्रह-परिमाण अंगीकार किया। उनकी भार्या शिवानन्दा ने भी श्राविका के व्रत ग्रहण किये। श्रेष्ठि दम्पती ने स्वस्थान पर आकर भगवान् के आदर्श उपासक बनने के प्रयास में सहर्ष चित्त दिया। दूसरे दिन से ही नवीन-नवीन समस्याएँ सामने आने लगीं। गोकुलों से गायों का दुहा दूध सहस्रों घड़ों में भरकर आया। पहले तो आवश्यकता से जितना अधिक होता था, बेच दिया जाता था। किन्तु अब तो सेंट नवीन उपार्जन का त्याग कर चुका था, अतः सेवकों को आदेश दिया कि आज वे दूध बेचा नहीं जाएगा, जिन लोगों के यहाँ बाल-बच्चे हैं या अन्य रोगादि कारण से दूध की आवश्यकता है उनमें बिना मूल्य वितरित कर दिया जाया करे। इसी प्रकार फल, शाक, अन्न, दान्य आदि के विविध उत्पादन अभावग्रस्त जनता में वितरित किये जाने लगे। उधार में लगी पूँजी का जो लाखों रुपया ब्याज में आता था वह भी जिन्हें व्यापार आदि किसी कार्य के लिए आवश्यकता होती, बिना ब्याज लिये दे दिया जाने लगा। पशुधन में बच्चे (बछड़े, बछियाँ आदि) होने से जो वृद्धि होती उनकी मर्यादा से अधिक पशुओं को और जरूरतमन्दों को दे दिया जाने लगा। व्यापार आदि के अतिरिक्त आय होती तो उसे सार्वजनिक लाभ के कार्यों, पाठशाला, धर्मशाला, अनाथालय, चिकित्सालय, कुएँ-बावड़ी, धर्मायतन आदि के निर्माण एवं

संचालन में व्यय किया जाने लगा। गृहपति आनन्द श्रावक के इस परिग्रह-परिभाष्य व्रत के आदर्श-पालन के फलस्वरूप जनपद के सभी निवासी अभावमुक्त हो सुख-शान्ति का उपभोग करने लगे। आनन्द ने सर्वत्र आनन्द ही आनन्द का विस्तार कर दिया। और उस महावीर के उपासक सद्गृहस्थ की विनू-विगन्त-व्यापी क्रीति गत दवाई सहस्र वर्षों में अनगिनत धनसम्पन्न जैन श्रावकों को प्रेरणा देती रही है।

पलाशपुर में शय्यालपुत्र (सदालपुत्र) जाति से शूद्र और कर्म से कम्भकार (कुम्हार) था। उसकी पत्नी का नाम अग्निमित्रा थी। वह तीन-कोटि स्वर्ण का धनी था। नगर के बाहर मिट्टी के बरतनों का विक्रय करने की उसकी पाँच सौ बड़ी-बड़ी दुकानें चलती थीं। वह मकखलिपुत्र-गोशाल के आजीविक सम्प्रदाय का अनुयायी था। भगवान् महावीर के दर्शन करके और उपदेश सुनकर वह भी सपत्नीक उनका दृढ़ श्रद्धालु उपासक और व्रती-श्रावक बन गया। इसी प्रकार चम्पापुर में श्रावक कम्भदेव अपर नाम कुलपति और उसकी भार्या श्राविका भद्रा, जिनकी तैसिवत अठारह-कोटि मुद्राओं की थी, वाराणसी में चौबीस-कोटि मुद्राओं का धनी श्रावक चूलिनिपिता और उसकी पत्नी श्राविका श्यामा, काशी में ही श्रावक सुरादेव और उसकी सहधर्मिणी धन्या, आलम्पिका नगरी में श्रावक चुल्लशतक जिसकी पत्नी शकुला नाम्नी थी, काम्पिल्य नगर (कम्पिला) में गृहपति कुण्ड-कोलित अपनी भार्या पुष्या सहित, राजगृह का श्रावक महाशतक धर्मपत्नी विजया सहित, और श्रावस्ती के सेठ नन्दिनीपिता एवं सालिहि-पिता, जिनकी पत्नियाँ क्रमशः अश्विनी और फाल्गुणी नाम की थीं, महावीर के परम श्रद्धालु व्रती श्रावक-श्राविका बने थे। श्रावस्ती का ही धनाधीश अनाश्रपिण्डक, जिसकी पुत्रवधू त्रिशाखा भगवान् बुद्ध की भक्त थी और उनके लिए उसने राजकुमार जेत से स्वर्णमुद्राएँ बिछाकर उसका जेतवन नामक प्रसिद्ध उद्यान खरीदकर उसमें जेतवन विहार बनवाया था, स्वयं भगवान् महावीर का उपासक रहा बताया जाता है। चार अन्य नाम विशेष उल्लेखनीय हैं—सुदर्शन सेठ, धन्नासेठ, श्रेष्ठिपुत्र शालिभद्र और जम्बुकुमार।

सुदर्शन सेठ

इस नाम के कई व्यक्तियों के उस युग में होने का पता चलता है। एक सुदर्शन सेठ ही मगध की राजधानी-राजगृह के प्रसिद्ध श्रेष्ठिपुत्र थे, जो भगवान् महावीर के परम भक्त और बड़े दृढ़ श्रद्धालु धर्मात्मा श्रावक थे। अर्जुनमाली नामक एक व्यक्ति यक्षावेष्ट होकर नगर के बाह्य भाग में बड़ा उपद्रव मचा रहा था, जिसे देख पाता, मार डालता था। उधर से रास्ता चलना बन्द हो गया। भगवान् का समवसरण आया तब ही उस भूत के भय से लोग वहाँ नहीं जा रहे थे। स्वयं राजा श्रेणिक ने सुनाही करा दी थी। किन्तु दृढ़-निश्चयी एवं प्रभुभक्त सुदर्शनसेठ किसी के रोके-न रुके और भगवान् के दर्शनार्थ चल दिये। मार्ग में अर्जुनमाली मिला, और

इनपर प्रहार करने के लिए डपटी, किन्तु इनका स्पर्श होत ही था उसने शरीर से निकलकर भाग गया। अर्जुनमाली अपने देश में आ गया। सेठ के चरणों में गिर पड़ा और इन्हीं के साथ प्रभु-दर्शन करके कृतार्थ हुआ। दीक्षा लेकर उसने आत्म-कल्याण किया। एक सुदर्शनसेठ सम्पा का प्रसिद्ध धनी रहा बताया जाता है जो एक-पत्नी-व्रती, ब्रह्मचर्याश्रित का दृढ़ पालक, परदाराविरत एवं स्वदार-सन्तोषी था। उसके मित्र पुरोहित की पत्नी उसपर आसक्त हुई, किन्तु विफल प्रयत्न होने पर उसने वहाँ की एक रानी को सेठ पर डोरे डालने के लिए प्रेरित किया। रानी के छलबल भी विफल हुए तो सेठ पर दूरे अपवाद लगाकर उसे शूली का दण्ड दिये जाने का आदेश दिलाया गया। किन्तु सुदर्शनसेठ के पुण्य के प्रभाव से शूली भी सिंहासन बन गयी। कुछ ग्रन्थों में इन घटनाओं का सम्बन्ध पाटलिपुत्र नगर से जोड़ा जाता है। वर्तमान घटना के गुलजारवाग भोइल्ले में आज भी धर्मात्मा सुदर्शनसेठ का स्मारक है, जहाँ वार्षिक मेला भी लगता है। एक सुदर्शनसेठ को वैशाखी के निकटस्थ चाणैजग्राम का प्रसिद्ध व्यापारी बताया गया है, जिसने भगवान् महावीर के संभवसरण में कालचक्र के विषय में प्रश्न किये थे और समाधान होने पर मुनि-दीक्षा ले ली थी। सम्भव है कि उपर्युक्त चारों व्यक्ति अभिन्न हों। एक सुदर्शन सेठ के विभिन्न प्रसंगों की अनुश्रुतियों में ऐसा रूप दे दिया गया कि वे भिन्न-भिन्न प्रतीत होने लगे। यह भी सम्भव है कि इस नाम के उस काल में एकाधिक व्यक्ति भी रहे हों। किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि महावीर युग में पूर्वी भारत (वर्तमान बिहार प्रान्त) में सुदर्शनसेठ नाम का एक अनन्य महावीर-भक्त, सदाचारी एवं धर्मात्मा था, जिसकी प्रसिद्धि विभिन्न साहित्यिक अनुश्रुतियों के माध्यम से आज तक चली आयी है।

धन्ना-शालिभद्र

धन्ना और शालिभद्र दो विभिन्न व्यक्ति थे। धन्नाजी शालिभद्र की बहनोई एवं परम मित्र थे। दोनों ही धनाढ्य थे, सर्वसुखी थे, और दोनों के ही जीवन में प्रायः एक साथ धार्मिक क्रान्ति आयी। दोनों का संयुक्त नाम जैन परम्परा में अखि-तिद्धिदायक मंगल स्मरण के रूप में प्रचलित हो गया, यह उनके पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके धार्मिक महत्त्व का ही सूचक है। राजगृह के धनकुबेर गोभद्र की भार्या भद्रा की कुक्षि से शालिभद्र का जन्म हुआ था। इनकी बहन का नाम सुभद्रा था जो धन्ना जी के साथ विवाहित थी। वयस्क होने पर कुमार शालिभद्र का विवाह अनुपम सुन्दरी बत्तीस कन्याओं के साथ किया गया। पिता की मृत्यु हो गयी थी, माता के अपिभावकात्वं में ही सब कार्य चलता था। सेवकों, सेविकाओं, विविध कर्मचारियों की भीड़ थी। अनुमानातीत धन-सम्पत्ति तथा नित्य की आय थी। सुकीर्ण कुमार सतखने महल के अपने कक्ष से कभी बाहर भी न निकलते और

न नीचे उतरते, अपनी सुन्दरी पत्नियों के साथ भोग-विलास में मग्न रहते। एकदा दूर देश के कुछ व्यापारी सोलह बहुमूल्य रत्न-कम्बल बेचने के लिए राजगृह आये। एक-एक कम्बल का मूल्य सवा लाख सोनइया (स्वर्ण मुद्रा) था। नगर में किसी का भी, यहाँ तक कि महाराज श्रेणिक का भी साहस इतने मूल्यवान कम्बलों को खरीदने का न हुआ। हताश व्यापारी एक पनघट पर खड़े नगर के दारिद्र्य की चर्चा कर रहे थे कि वहीं शालिभद्र की कुछ सेविकाएँ पानी भर रही थीं। उन्होंने व्यापारियों से कहा कि हमारे सेठ के यहाँ जाओ तो सब माल बिक जायेगा। व्यापारियों को विश्वास न हुआ, किन्तु वे गये और जब शालिभद्र की माता सेठानी भद्रा ने बिना चूँचरा किये मुँह-माँगे दामों पर वे रत्न-कम्बल खरीद लिये और तत्काल प्रत्येक के दो-दो टुकड़े करके, एक-एक टुकड़ा अपनी प्रत्येक पुत्र-वधू को पाँव पोंछने के लिए

प्राप्त किया। जिस वस्त्रादि का सेठ-वधुएँ एक बार उपयोग कर लेती थीं उसे दोबारा अपने उपयोग में न लातीं और वह सेवक-सेविकाओं आदि को दे दिया जाता था। अतएव दूसरे दिन वे रत्न-कम्बल भी इसी प्रकार बँट गये और उनमें से एक हवेली की मेहतरानी को मिला। वही मेहतरानी राजमहल में भी जाती थी। एक दिन वह रत्न-कम्बल ओढ़कर वहाँ चली गयी और सबकी चर्चा का विषय बन गयी। महाराज श्रेणिक ने जब पूरा वृत्तान्त सुना तो आश्चर्यचकित हो गये और शालिभद्र को बुला भेजा। सेठानी भद्रा ने महाराज की सेवा में निवेदन भेजा कि उसका पुत्र अत्यन्त कोमल है, सूर्य का ताप व प्रकाश वह सहन नहीं कर सकता, घर के भीतर मणिदीपकों के प्रकाश में ही सदा रहता है, महाराज स्वयं उसके घर को पवित्र करने का अनुग्रह करें। महाराज गये। शालिभद्र बुलाये गये। माता ने कहा—महाराज हमारे स्वाधी हैं, प्रभु हैं। इन्हें उचित सम्मानपूर्वक प्रणाम किया जाए। कुम्हार ने माता की आज्ञा का पालन तो किया, किन्तु मन में एक खटक हो गयी कि यह अपार वैभव और धन-सम्पत्ति किस काम की, यदि हमसे भी कोई बड़ा है और हमें उसके सामने झुकना है? विचार करते रहे और अन्त में इस निर्णय पर पहुँचे कि सब परित्याग करके वीर प्रभु की शरण में जाया जाए और मुनि-दीक्षा ली जाए। माता ने बहुत समझाया, पत्नियों ने बहुतेरी अनुनय-विनय की, किन्तु शालिभद्र का निश्चय अडिग रहा। इतना संशोधन कर लिया कि धन-सम्पत्ति से तो विशेष मोह नहीं है, कभी उसका कोई अभाव अतएव कोई मूल्य ही नहीं समझा, किन्तु प्रिय पत्नियों में जो प्रेम और आसक्ति है वही सबसे बड़ी बाधा बनी हुई है, और इसका उपाय यह है कि एक-एक दिन एक-एक करके उक्त पत्नियों से आसक्ति हटायी जाए।

उधर उनके बहनीई धन्नाजी भी बड़े धनाढ्य थे और अपनी पत्नी के साथ सांसारिक सुखों और वैभव का उपभोग करते थे। प्रारम्भ में इनके पिता अच्छे धनी थे, किन्तु व्यापार में धाटा आने से स्थिति दुर्बल हो गयी थी। धन्नाजी बाल्यावस्था

से ही बड़े चपल, चतुर और दृढ़ निश्चयी थे। इनके तीन अन्य भाई थे जो इनसे ईर्ष्या करते और लड़ते-दागड़ते रहते थे। जो कुछ सम्पत्ति थी उसका बँटवारा हुआ और धन्नाजी ने अपनी बुद्धि और सूझ-बूझ के बल पर अपनी स्थिति शनैः-शनैः राजधानी के प्रमुख धनपतियों में बना ली। किसी प्रकार का कोई अभाव न था। एकदा अपने महल के एक ऊपर के खन में स्थित पुष्पवाटिका में बैठे वह स्नान कर रहे थे, पत्नी सुभद्रा पास में खड़ी थी। उसे नीचे मार्ग पर जाते हुए एक साधु दिखाई पड़े और यह ध्यान आया कि उसका अत्यन्त सुकुमार भाई शालिभद्र जो साधु बनने जा रहा है, कैसे साधु-जीवन के कष्ट सह पाएगा। इस दुःखद विचार से उसकी आँखों में आँसू आ गये और दो-एक धन्नाजी के शरीर पर गिरे। तप्त अश्रु-बिन्दु के अनुभव से उन्होंने मुख उठाकर पत्नी की ओर देखा और कारण पूछा। समस्त वृत्तान्त सुनकर धन्नाजी बोले—बात तो ठीक है। जीवन क्षणभंगुर है, शरीर नाशवान् है, लक्ष्मी चंचला है और आत्म-कल्याण का मार्ग मुनि-दीक्षा ही है। समय भी उसके लिए वर्तमान से अधिक उत्तम कोई नहीं होता। तुरन्त-निर्णयी और दृढ़-निश्चयी धन्नाजी पत्नी से विदा हो स्वसुरालय पहुँचे। बाहर से ही साते शालिभद्र को पुकारा कि शुभकार्क में इतना विलम्ब क्यों, छोड़ना है तो सब एकदम छोड़ो, चलो दोनों प्रभु की शरण में चलते हैं। और दोनों धर्मवीर चल दिये। समवसरण में उपस्थित हो मुनि-दीक्षा ले ली। इन्हीं युगल धर्मवीरों की स्मृति में आज भी जैन गृहस्थ यह मानना करते हैं कि “धन्ना-शालिभद्रजी तणी ऋद्धि होय जो।”

जम्बुकुमार

महाराज श्रेणिक की राजधानी राजगृही के प्रसिद्ध सेठ ऋषभदत्त (मतान्तर से अर्हदास) के इकलौते पुत्र थे। माता का नाम धारिणीदेवी या जिनदासी था। कहीं-कहीं इनके पिता को चम्पानगर का कोटवाधीश बताया है। माता-पिता ने कुमार के लालन-पालन एवं समुचित शिक्षा-दीक्षा की उत्तम व्यवस्था प्रारम्भ से कर दी थी। अतएव किशोरावस्था तक पहुँचते-पहुँचते जम्बुकुमार सम्भ्रान्त भद्रोचित समस्त विद्याओं और कलाओं में निपुण हो गये। वणिक्-पुत्र होते हुए भी अस्त्र-शस्त्र एवं सैन्य-संचालन में भी उनकी ऐसी प्रसिद्धि हुई कि स्वयं महाराज श्रेणिक ने उस अल्पवय में ही कुमार जम्बु को एक सैनिक अभियान में भेजा। सीमान्तवर्ती एक मित्र राजा पर किसी शत्रु ने चढ़ाई की थी, और उक्त राजा ने महाराज श्रेणिक से सहायता की याचना की थी। जम्बुकुमार के कुशल नेतृत्व में वह अभियान सफल हुआ। विजयश्री प्राप्त करके वह राजगृह लौटे और महाराज द्वारा प्रशंसित एवं सम्मानित हुए। कुछ ही समय पश्चात् महाराज की मृत्यु हो गयी। तदनन्तर जम्बुकुमार ने राजकार्य में विशेष योग नहीं दिया प्रतीत होता और अपने पिता के व्यवसाय में ही योग दिया। भगवान् का उपदेश सुनने का उन्हें अवसर मिला था

और सुधर्मा स्वामी (गौतम गणधर के उत्तराधिकारी) का यह विशेष मान करते थे। उनकी बहुतों हुई धार्मिक मनोवृत्ति देखकर माता-पिता ने विभिन्न श्रेष्ठियों की रूप-गुण-सम्पन्न चार (मतान्तर से आठ) कन्याओं के साथ उनकी मैथनी कर दी। एक दिन गुरुमुख से धर्म-प्रवचन करते जब यह सबकुछ समाप्त हो चुका तो नगर-द्वार एकाएक गिर पड़ा और वह घात-बोला बचे। इस घटना से इनका निर्वेद और तीव्र हुआ और इन्होंने ब्रह्मचर्य व्रत ले लिया। माता-पिता ने बहुत समझाया। उक्त कन्याओं को तथा उनके अभिभावकों को भी स्थिति स्पष्ट कर दी। सबका मत यही रहा कि इन्हें विवाह-बन्धन में बाँध दिया जाए। जम्बु भी इसपर सहमत हो गये कि विवाह के दो दिन पश्चात् दीक्षा लेंगे। विवाह सम्पन्न हुआ, सुहामरात में सोलहों शृंगार से सुसज्जित उन अनिन्द्य सुन्दरी बधुओं ने कुमार को शिक्षाने और अपने निश्चय से चलाने का अधिक प्रयत्न किया। परस्पर पूरा शास्त्रार्थ चला, जो ज्ञान-वर्धक होने के साथ-साथ रोचक भी है। कुमार की माता भी पुत्र के सम्भाव्य वियोग और सदा विवाहिता पुत्र-बधुओं के तज्जनित दुःख के स्मरण से निद्रा को आँखों में समाये पुत्र की शयनकक्ष के बाहर अलिनन्द में शोकमग्न बैठी थी। किन्तु वह अकेली नहीं थी। उसके अनजाने एक अन्य व्यक्ति वहीं उपस्थित था। पोटनपुर-नरेश विद्रराज का पुत्र राजकुमार प्रभत कुमारगामी हो चोरी के व्यसन में पड़ गया था। शीघ्र ही चौर्यकला में वह एक विद्यासिद्ध अत्यन्त दक्ष चोर हो गया। विद्युच्चर नाम से प्रसिद्ध हुआ और पाँच सौ अन्य चोरों का सरदार बनकर बड़े-बड़े राजा-महाराजाओं और धनकुबेरों के यहाँ छापे मारने लगा। यही विद्युच्चर अपने सभी साथियों सहित आज श्रेष्ठि-पुत्र जम्बुकुमार के प्रासाद में घुसा था। अपने अपार धन के अतिरिक्त उक्त नवबधुओं के साथ जो भारी दहेज सम्पन्न होकर उसी दिन सेठ के घर आया था, दस्युराज के लिए अच्छा प्रतीतने था। घर के अन्य सब व्यक्तियों, सेवकों आदि को तो उसने बेहोश कर दिया था, किन्तु स्वयं कुमार, नवबधुओं और कुमार की माता पर उसका दश म चल पाया था। वह भी अपना चौर्यकर्म भूलकर कक्ष के भीतर हो रही विवाद-वार्ता को तन्मय होकर सुने रहा था। कुमार की माता का ध्यान उसकी ओर गया तो वह चौंक पड़ी और पूछा कि वह कौन है और यहाँ कैसे आया? विद्युच्चर ने अपना सब कृतान्त निष्कपट कह दिया। कुमार की वार्ता सुनकर उसे स्वयं अनुताप ही रहा था और अपने कर्म से विरक्ति हो रही थी। उसने सेठानी से कहा कि वह भी कुमार को अपने निश्चय से किरत करने का प्रयास करेगा। प्रातःकाल समीप था। कुमार का मातुल (मामा) बनकर उसने द्वार खुलवाया और कुमार को अपने विचार को स्थगित करने के लिए यथाशक्ति नाना प्रकार के तर्क और युक्तियाँ प्रस्तुत कीं। किन्तु विफल प्रयत्न हुआ। प्रातःकाल नित्यकर्मों से निपटकर और सबसे विदा लेकर जम्बुकुमार ने दीक्षार्थ वन की राह ली, परन्तु वह अकेले नहीं थे। पीछे-पीछे अपने पाँच सौ साथियों सहित

दस्युराज विद्युच्चर भी दीक्षा लेने के लिए दुष्ट संकल्प हो चल रहा था। कुमार की सम्पत्ति भव-विवाहिता पत्नियों उसी उद्देश्य से उनका अनुत्पन्न कर रही थी, और स्वयं कुमार के माता-पिता तथा उक्त वधुओं के माता-पिता भी उसी उद्देश्य से साथ चल रहे थे। कहते हैं कि जहाँ केवल एक दीक्षार्थी था, अब उसके सहित 527 स्त्री-पुरुष दीक्षार्थी थे, जिन्होंने गणनायक सुधर्मा स्वामी से जैनेश्वरी दीक्षा ली। भगवान् महावीर का निर्वाण होने के एक वर्ष पश्चात् यह घटना घटी बतायी जाती है और उस समय गौतम गणधर केवली हो चुके थे, अतएव सुधर्मा स्वामी ही तत्कालीन प्रधान संघाचार्य थे। ईसा पूर्व 503 में सुधर्मा स्वामी के निर्वाण की प्राप्ति होने पर जम्बुस्वामी ही महावीर के जैन संघ के नायक हुए, जिस पद पर वह अड़तीस वर्ष, अपने निर्वाण पर्यन्त बने रहे। जम्बु-स्वामी इस परम्परा के अन्तिम केवली थे। उनके पश्चात् कोई केवल-ज्ञानी नहीं हुआ। मथुरा का चौरासी नामक स्थान (पतान्तर से राजगृह का विपुलाचल) उनका निर्वाण-स्थान माना जाता है। मथुरा में ही उनके शिष्य विद्युच्चर तथा उसके पाँच सौ साधियों ने मुनि रूप में तपस्या करके सद्गति प्राप्त की थी, और वहाँ उनकी स्मृति में साधिक पाँच सौ स्तूप बनवाये गये थे।

उपर्युल्लिखित राजा-महाराजाओं, सामन्त-सरदारों, मन्त्रियों और सेनापतियों, धनकुबेर सेठों तथा विभिन्न वर्गीय महिलाओं के अतिरिक्त भी अनेक उल्लेखनीय स्त्री-पुरुष महावीर के भक्त अनुयायी बने थे, यथा देवानन्दा, रेवती, सुलभा और विदुषी जयन्ती-जैसी गृहिणियाँ, स्कन्धक, सोमल, अम्बड़-जैसे विद्वान् ब्राह्मण पण्डित, आत्मा के प्रति सदा जागरूक रहनेवाला शंख श्रावक, मेतार्य, और हरिकेशी-जैसी शूद्र। इतना ही नहीं, कम्भार सन्निवेश निवासी कृष्ण कुमार-जैसा अत्यन्त मद्यपायी नरपशु, अर्जुनमाली-जैसा भयंकर हत्यास विद्युच्चर, रोहिण्य, अंजनचोर, रूपसुर एवं स्वर्णसुर-जैसे कुख्यात दस्युराज, लुटेरे और मँजे हुए चोर तथा तत्प्रभृति अन्य अनेक पतित जन भगवान् का उपदेशामृत पान करके अपने जीवन में क्रान्ति लाने और उसे कुमार्ग से मोड़कर सन्मार्ग में लगाने में सफल हुए थे। उस पतितपावन ने न जाने कितने पतितों को पावन कर दिया था।

उपर्युक्त विवरणों में सम्भव है कि कहीं-कहीं अतिशयोक्ति का आभास लगे। उनकी आधारभूत विभिन्न साहित्यिक अनुश्रुतियों में कहीं-कहीं कुछ मतभेद भी लगते हैं। श्रेष्ठियों की धन-सम्पदा के वर्णन भी अत्युक्तिपूर्ण लग सकते हैं। किन्तु इस विषय में कोई सन्देह नहीं है कि उनमें से अधिकांश व्यक्ति सर्वथा ऐतिहासिक हैं। भारतवर्ष की धन-सम्पत्ति और उसके सेठों की समृद्धि एवं वैभव उस काल में तथा उसके भी सैकड़ों वर्ष पश्चात् तक विदेशों की ईर्ष्या एवं लुब्धता के पात्र रहे हैं। किसी श्रेष्ठि की हैसियत छप्पन, चौबीस, अठारह या बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं की यदि बतायी गयी है और वह अक्षरशः ठीक न भी हो, तो इस तथ्य में शंका नहीं है कि अनेक यथेष्ट वैभव-सम्पन्न एवं समस्त सम्भव लौकिक सुखों का उपभोग

करनेवाले स्त्री-पुरुष तीर्थंकर के उपदेश से प्रभावित होकर समस्त धन-सम्पत्ति को तिनके के समान क्षण-भर में परित्याग करके आत्म-साधना एवं स्व-पर-कल्याण के दुर्गम, दुष्कर एवं अत्यन्त कष्टकारक मार्ग पर निकल पड़ते थे। यदि गृही श्रावक-श्राविका के रूप में भी रहते तो अपनी स्वयं की इच्छाओं और आवश्यकताओं को सीमित करके तथा अपने परिग्रह का परिमाण करके, अपनी उत्पादन सामर्थ्य तनिक भी व्यर्थ किये बिना, शेष धन एवं आय को लोक सेवा में लगा देते थे। महावीर के साक्षात् भक्त श्रावक-श्राविकाएँ ही परवर्ती काल के जैन गृहस्थ स्त्री-पुरुषों के लिए, चाहे वे किसी वर्ण, जाति या वर्ग के, किसी व्यवसाय या वृत्ति में हों और किसी भी क्षेत्र या क्षेत्र में हों, प्रेरणा के सतत स्रोत तथा अनुकरणीय आदर्श बने रहे हैं।

नन्द-मौर्य युग

समयवर्षिक :- अवन्ति की स्थापना 300 ई. पू. का अनुमान है।
(लगभग 300-200 ई. पू.)

नन्दवंशी नरेश

महावीर निर्वाण संवत् 60 (ईसा पूर्व 467) में मगध महाराज्य की राजधानी पाटलिपुत्र में बिम्बसार श्रेणिक के वंश का अन्त हुआ और उसी शैशुनाक वंश की एक लघु शाखा में उत्पन्न ब्रात्यनन्दि नामक एक साहसी युवक ने सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। उसी वर्ष अवन्ति में प्रजापीड़क पालक के साथ ही साथ चण्डप्रद्योत के वंश का अन्त हो गया और उस राज्य का बहुभाग मगध-साम्राज्य में मिला लिया गया। अवन्ति की राजधानी उज्जयिनी भी प्रायः तभी से मगध-साम्राज्य की एक उपराजधानी बन गयी। इस सफलता के कारण ब्रात्यनन्दि अवन्ति-वर्मन भी कहलाने लगा। पटना के निकट पाटलिपुत्र के खँडहरों में उसकी एक मूर्ति भी मिली बतायी जाती है, जिसपर उसका नाम (वार्ता या ब्रात्यनन्दि) उत्कीर्ण रहा बताया जाता है। यह नाम उसके ब्रात्य क्षत्रिय एवं श्रमण तीर्थकरों का उपासक होने का समर्थक है।

ब्रात्यनन्दि अवन्तिवर्मन शैशुनाक का उत्तराधिकारी नन्दिवर्धन काकवर्ण कालाशोक (लगभग 449-407 ई. पू.) था जो इस वंश का प्रायः सर्वमहान् एवं प्रतापी नरेश था। महावीर नि. सं. 103 (ई. पू. 424) में उसने कलिंग देश की विजय की थी और उस राष्ट्र के इष्टदेवता 'कलिंग-जिन' (या अग्रजिन, अर्थात् आदि तीर्थकर ऋषभदेव) की प्रतिमा को वहाँ से ले आया था तथा उसे अपनी राजधानी पाटलिपुत्र में प्रतिष्ठित किया था। नन्दिवर्धन ने इक्ष्वाकुओं, शौरसेनों आदि अवशिष्ट पुरातन राज्यों को भी पराजित करके अपने साम्राज्य में मिला लिया और उक्त वंशों को समाप्त कर दिया था। दक्षिण भारत के नागरखण्ड प्रदेश को भी इसी नरेश ने विजय किया प्रतीत होता है। उसके समय के म. नि. सं. 84 (ई. पू. 443) के बड़ली शिलालेख से प्रतीत होता है कि उस काल में राजस्थान की माध्यमिका नामक प्रसिद्ध नगरी जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र थी और वहाँ महावीर के उपासकों की इतनी बहुलता थी कि कालगणना में वहाँ महावीर निर्वाण संवत् का व्यवहार होने लगा था।

भारतवर्ष में सन्-संवत्सों के प्रचलन का यह सर्वप्रथम शिलालेखीय साक्ष्य है।
मन्दिरवर्धन की हत्या किसी शत्रु द्वारा कलाहाराकर की गयी बताया जाती है।

उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी महानन्दिन भी अपने पिता के समान प्रतापी एवं शक्तिशाली नरेश था। उसने लगभग चत्वारिंश वर्ष राज्य किया। कुल परम्परानुसार वह स्वयं जैन धर्मानुयायी था तथा उसके अनेक मन्त्री और कर्मचारी भी जैन थे। मन्त्रियों में जो प्रधान थे उनके कुल में कई पीढ़ियों से राज्य मान्यत्व मिला आता था। उन्हीं के पुत्र कुमार स्थूलभद्र थे जो अत्यन्त सुशिक्षित, सुदर्शन, वीर और कला-प्रेमी थे। वह राजकाज में भी पिता को सहयोग देते थे, किन्तु राजधानी पाटलिपुत्र की कोषा नामक अनिन्द्य रूपवती एवं कलानिपुण वेश्या-पुत्री के प्रेम में सब कुछ भूल बैठे, वहाँ तक कि घर-बार छोड़कर उसी के विलास भवन में पड़े रहने लगे। पिता तथा अन्य परिजनों ने बहुतेरा प्रयत्न किया, किन्तु किसी की न चली। एकदा स्वयं ही अपनी स्थिति को भान हुआ, चित्त में वैराग्य उत्पन्न हुआ और वह अशान्ति के समस्त बन्धनों को तोड़कर चल पड़े तथा साधु हो गये। पूर्णतया इन्द्रिय विजय करने के उद्देश्य से गुरु की अनुमति लेकर उन्होंने उक्त कोषा मणिका के प्रासाद में ही चातुर्मास किया। परीक्षा में सफल हुए, और उनके चरित्र से प्रभावित होकर कोषा ने भी समस्त रागरोग और भोग-विलास का परित्याग कर दिया। वह भी एक सच्चरित्र साधवी स्त्री की भाँति अपना जीवन व्यतीत करने लगी। प्रायः उसी काल में, महाराज महानन्दिन के शासन काल के अन्तिम वर्षों में, वह अनुश्रुति-प्रसिद्ध द्वादश-वर्षीय भयंकर दुर्मिश पड़ा था जिसकी पूर्व सूचना का आभास पाकर तत्कालीन संघाचार्य अन्तिम श्रुत-केवली भद्रबाहु कई सहस्र शिष्यों के साथ दक्षिणापथ की विहार कर गये थे। सम्भवतया यह राजा भी उनका भक्त एवं शिष्य होने के कारण उन्हीं के साथ मुनि बनकर दक्षिण देश चला गया था। महावीर नि. सं. 162 (ई. पू. 365) में कर्णाटक देशस्थ श्रवणबेलगोल के कटवप्र पर्वत पर आचार्य भद्रबाहु ने काल किया था। उपर्युक्त दुर्मिश काल में ही जैन संघ में प्रथम बार फूट पड़ने के बीज पड़े। दुर्मिश की उपशान्ति के पश्चात् मगध या उत्तरी शाखा के आचार्य स्थूलभद्र हुए, और उन्हीं के नेतृत्व में श्वेताम्बर अनुश्रुति का पहला जैन मुनि सम्मेलन तथा परम्परागत श्रुतागम की वाचना पाटलिपुत्र नगर में हुई। प्रायः उसी काल में बौद्धों की द्वितीय संगीति भी पाटलिपुत्र में हुई। उसी काल में सिंधल द्वीप (लंका) के नरेश पाण्डुकाभय (ई. पू. 367-307) ने अपनी राजधानी अनुराधापुर में जैन मन्दिर और मठ बनवाये तथा दो जैन मुनियों का आदर-सत्कार किया था। महानन्दि के उपरान्त मगध में फिर एक घरेलू राज्य-क्रान्ति हुई। उसके राज्यकाल के अन्तिम वर्षों में देश भीषण दुष्काल से पीड़ित रहा था और उस संकटकाल में राज्य शासन भी अव्यवस्थित हो गया था। स्वयं कुछ राजा राज्य का परित्याग कर मुनि हो गया था और विदेश चला गया था। इन परिस्थितियों का लाभ

उठाकर एक साहसी एवं चतुर युवक महापद्म ने राज्य सिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। इस नये राजा के अन्य नाम सद्योयसिद्धि और उग्रसेन (यूनानी लेखकों का एग्रेस) प्राप्त होते हैं। कभी-कभी भ्रम से उसे धननन्द, धनानन्द या घनानन्द भी कहा जाता है, किन्तु यह नाम उसका नहीं, उसके ज्येष्ठ पुत्र युवराज हिरण्यपुत्र (या हरिपुत्र) का अपरनाम रहा प्रतीत होता है। महापद्मनन्द के जन्म के विषय में विभिन्न किंवदन्तियाँ हैं। कुछ लोग उसे पूर्व-राजा का दासी-पुत्र अथवा नौबत-पुत्र कहते हैं तो कुछ उसे दिवाकीर्ति नामक नाविल (नाई) के सम्बन्ध से राजा की एक रानी द्वारा उत्पन्न हुआ बताते हैं। ब्राह्मणों के साहित्य में उसे शुद्र या शुद्रजात कहा है, किन्तु जैन साहित्य में सर्वत्र उसे और उसके वंशजों को क्षत्रिय कहा है। इसमें संदेह नहीं है कि वह राज्यवंश से ही सम्बन्धित था, यद्यपि महाराज महानन्दिन का न्यायपूर्वक उत्तराधिकारी नहीं था। सिंहासन को उसने छल-बल-कौशल से ही हस्तगत किया था। इतिहास में ब्राह्मणनन्द से महानन्द पर्यन्त राजे पूर्वनन्द कहलाते हैं और महापद्म तथा उसके वंशज उत्तरनन्द या नवनन्द। महापद्म के आठ पुत्र थे, और क्योंकि अपने अन्तिम वर्षों में उसने राज्य कार्य अपने उन घनानन्द आदि पुत्रों को ही प्रायः सौंप दिया था, इसलिए भी इस वंश के लिए 'नवनन्द' नाम प्रयुक्त होता है।

महापद्मनन्द चतुर राजनीतिज्ञ, कुशल शासक और सफल विजेता था। उसने शीघ्र ही शासन को सुव्यवस्थित कर लिया, साम्राज्य की स्थिति सुदृढ़ और सीमाओं को सुरक्षित कर लिया, और दक्षिणपथ पर आक्रमण करके उस दिशा में भी अनेक प्रदेशों पर अधिकार कर लिया। तमिल भाषा के प्राचीन संगम साहित्य, अन्य दक्षिणी अनुश्रुतियों तथा 'नवनन्द देहरा' प्रभृति नामों से दक्षिण भारत में नन्दों के प्रवेश एवं अधिकार का समर्थन होता है। मगध का यह नन्द राजा अब बहुभाग भारत का एकछत्र सम्राट् था। उसने 'सर्वक्षेत्रान्तक एकराट्' विरुद्ध भी धारण किया था। उत्तर-पश्चिम में पंचनद पर्यन्त प्रायः सभरत प्रदेश तथा दक्षिण में कुन्तल-जैसे विशाल भूभाग उसके साम्राज्य के अंग थे। पाटलिपुत्र उसकी प्रधान राजधानी थी और राज्याभिनी उप-राजधानी थी। यूनानी सम्राट् अलक्षेन्द्र (सिकन्दर महान) के साथ आनेवाले लेखकों का कथन है कि व्यास नदी के उस पार पूर्व की ओर का सम्पूर्ण प्रदेश पाटलिपुत्रा (पाटलिपुत्र) के इस अत्यन्त शक्तिशाली नन्दराजा के अधीन था। उसके पास विपुल सैन्य शक्ति थी और उसके कौशाम्बर अपरिमित धन से भरे थे। नन्दराज के बल का इतना आतंक था कि सर्वप्रकार प्रयत्न करने पर भी सिकन्दर (ई. पू. 326) अपनी विश्वविजयी सेना को नन्द के साम्राज्य की सीमा में प्रवेश करने के लिए तत्पर न कर सका, और भारत विजय का अपना स्वप्न पूरा किये बिना ही उसे वापस स्वदेश लौट जाना पड़ा। नन्दराज का धन-वैभवं देश-विदेश की ईर्ष्या का प्रायः था, तो उसका अतुल्य बल सबके हृदय में भय का संचार करता था। दुर्भिक्ष

के परिणाम से प्रभावित होकर उसने गंगा नदी से कृषि की सिंचाई के लिए एक नहर निकाली थी जो भारतवर्ष की सम्भवतया सर्वप्रथम नहर थी। राजधानी के निकट गंगा के गर्भ में उसका विशाल कोषागार था। उसने पाँच स्तूप भी निर्माण कराये थे, जिनके भीतर विपुल धनराशि, सुरक्षित रखी गयी थी। तौलने के बाँटों व मापों आदि के व्यवस्थीकरण का श्रेय भी इसी नन्द सम्राट् को है। वह दानी भी बड़ा था। एक विद्वान् संघ-ब्राह्मण की अध्यक्षता में उसका दान-विभाग संचालित होता था और उसकी दानशाला में विभिन्न याचकों को विपुल द्रव्य दान दिया जाता था। नन्दीश्वर विधान के उपरान्त कार्तिकी अष्टाहिका नामक जैन पर्व के अन्तिम दिन (कार्तिकी पूर्णिमा को) सर्वाधिक दान किया जाता था। उसका प्रधान मन्त्री शकटाल था। राजा का कोषभाजन होने पर उसने अपने पुत्र से ही अपनी हत्या करा ली थी। उसके पश्चात् स्वामिभक्त राक्षस प्रधानामात्य हुआ। महापद्म विद्वानों का भी आदर करता था। अनेक विद्वान् उसके दरबार में आश्रय पाते थे। शास्त्रार्थों में भी वह रस लेता था। पूर्वजन्तों की भौति सम्राट् महापद्म और उसके पुत्र एवं अन्य परिजन भी जैनधर्म के अनुयायी थे, इस विषय में विद्वानों को प्रायः कोई सन्देह नहीं है। लगभग चौत्तीस वर्ष राज्य करने के उपरान्त ई. पू. 329 के लगभग महापद्म ने राज्यकार्य से प्रायः अवकाश ले लिया था और राज्याधिकार घननन्द आदि आठों पुत्रों को संयुक्त रूप में सौंप दिया था, जिनमें से एक पुत्र का नाम भी नाम से उसी के चलता था। सम्भव है कि राजा प्रतिमाधारी व्रती श्रावक के रूप में रहने लगा हो। इस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रथम घटना, यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् का पश्चिमोत्तर भारत पर आक्रमण था, जिसके अनेक अच्छे और बुरे परिणाम हुए। इन यूनानियों को सीमान्त के गान्धार, तक्षशिला आदि नगरों के निकटवर्ती अन्य प्रदेशों में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध में यत्र-तत्र अनेकों नग्न (दिगम्बर) निर्गन्ध साधु मिले थे जिनका उन्होंने जिम्नोसोफ्रिस्ट, जिम्नेटाइ, जेनोइ आदि नामों से उल्लेख किया है। इस विषय में प्रायः मतभेद नहीं है कि इन शब्दों से आशय तत्कालीन एवं तत्प्रदेशीय दिगम्बर जैन मुनियों का है। सिन्धु-घाटी में ऐसे ही कुछ साधुओं का उन्होंने औरैटाई और वैरेटाइ शब्दों से उल्लेख किया है। ये दोनों शब्द भी जैन हैं। औरैटाई से अभिप्राय आरातीय का है जो प्राचीन काल में जैन मुनियों के एक वर्ग के लिए प्रयुक्त होता था और वैरेटाइ का भारतीय रूप 'व्रात्य' (व्रतधारी) है, जो ब्राह्मण विरोधी श्रमणोपासक के लिए प्रयुक्त होता था। उपर्युक्त जैन साधुओं में से कुछ के 'हिलोवाई' (वनवासी) नाम दिया गया है और उन्हें सर्वथा निस्पृह, दिगम्बर, अपरिग्रही, पाणितल-भोजी, शुद्ध शाकाहारी, ज्ञानी-ध्यानी-तपस्वी सूचित किया गया है। ऐसे ही मण्डन एवं कल्याण नामक दो मुनियों से स्वयं सम्राट् सिकन्दर ने भी साक्षात्कार एवं चर्चा-वार्ता की थी। सम्राट् के आग्रह पर कल्याण मुनि तो उसके साथ वायुल भी गये थे जहाँ उन्होंने समाधिमरण किया था। यूनानी लेखकों

ने ऐल्लक, कुल्लक, ब्रह्मचारी, प्रभृति खण्ड या अल्पवरवधारी व्रती श्रावकों का भी उल्लेख किया है। उन यूनानी लेखकों ने तीर्थंकर आदिनाथ और उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती से सम्बन्धित लोक-प्रचलित अनुश्रुतियों का भी उल्लेख किया है। नन्द उज्जसेन, चन्द्रगुप्त मौर्य, अमित्रघात, बिन्दुसार आदि के सम्बन्ध में उनके वृत्तान्त जैन अनुश्रुति से जितने समर्थित होते हैं, उतने अन्य किसी अनुश्रुति से नहीं। महत्त्वपूर्ण घटनाओं की जो कोई तिथि आदि उन्होंने दी हैं वे भी विद्वानों के मतानुसार उन्हें जैनों से ही प्राप्त हुई थीं। जैन विचार का प्रभाव एवं प्रसार भी इतना व्यापक था कि यूनानी लेखकों ने हिंसक यज्ञों का कहीं कोई उल्लेख नहीं किया और यह प्रकट किया है कि ब्राह्मण साधु और पण्डित भी शाकाहारी थे। दूसरी महान् घटना इस काल की वह राज्य क्रान्ति थी जिसमें नन्दवंश प्रायः समाप्त हो गया और उसके स्थान में मौर्य वंश स्थापित हुआ।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य और मन्त्रीश्वर चाणक्य

आधुनिक दृष्टि से भारतवर्ष के शुद्ध व्यवस्थित राजनीतिक इतिहास का जो प्राचीन युग है, उसके प्रकाशमान नक्षत्रों में प्रायः सर्वाधिक तेजपूर्ण नाम चन्द्रगुप्त और चाणक्य हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्तिम पाद के प्रारम्भ के लगभग जिस महान् राज्यक्रान्ति ने शक्तिशाली नन्दवंश का उच्छेद करके उसके स्थान में मौर्य वंश की स्थापना की थी, और उसके परिणामस्वरूप थोड़े ही समय में मगध साम्राज्य को प्रथम ऐतिहासिक भारतीय साम्राज्य बनाकर अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया था, उसके प्रधान नायक ये ही दोनों गुरु-शिष्य थे। एक यदि राजनीति विद्या-विचक्षण एवं नीति-विशारद ब्राह्मण पण्डित था तो दूसरा परम पराक्रमी एवं तेजस्वी क्षत्रिय वीर था। इस विरल मणि-कांचन संयोग को सुगन्धित करनेवाला अन्य दुर्लभ सुयोग यह था कि वह दोनों ही अपने-अपने कुल की परम्परा तथा व्यक्तिगत आस्था की दृष्टि से जैनधर्म के प्रबुद्ध अनुयायी थे।

प्राचीन यूनानी लेखकों के वृत्तान्तों, शिलालेखीय एवं उत्तरवर्ती साहित्यिक आधारों और प्राचीन भारतीय अनुश्रुति की ब्राह्मण एवं बौद्ध धाराओं से यह तो पता चल जाता है कि मगध के नन्द राजा के बरताव से कुपित होकर ब्राह्मण चाणक्य ने नन्दवंश का नाश करने की प्रतिज्ञा की थी, वीर चन्द्रगुप्त के सहयोग से युद्ध नीति का आश्रय लेकर वह सफल मनोरथ हुआ था, और यह कि उन दोनों के प्रयत्नों से साम्राज्य विस्तृत, सबल और सुदृढ़ हुआ, शासन-व्यवस्था उत्तम हुई तथा राष्ट्र सुखी, समृद्ध, सुप्रतिष्ठित एवं समुन्नत हुआ था। गत सार्ध एक सौ वर्षों की शोध-खोज ने यह तथ्य भी प्रायः निर्विवाद सिद्ध कर दिया है कि भारतवर्ष के प्रायः सभी महान् ऐतिहासिक सम्राटों की भाँति सर्व-धर्म-सहिष्णु एवं अति उदारप्राय होते हुए भी व्यक्तिगतरूप से चन्द्रगुप्त मौर्य जैनधर्म का अनुयायी था। तथापि मगध की

राजनीति में अवतीर्ण होने के पूर्व चाणक्य और चन्द्रगुप्त कौन थे, क्या थे, उनका व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन क्या था और उन दोनों का अन्त क्या और कैसे हुआ, इन तथ्यों पर उपर्युक्त ऐतिहासिक साधन कोई प्रकाश नहीं डालते।

चाणक्य के नाम से प्रचलित 'अर्थशास्त्र' विश्वविश्रुत ग्रन्थ है, किन्तु उस ग्रन्थ के तथा स्वयं चाणक्य के विषय में भी तत्कालीन यूनानी लेखक सर्वथा मौन हैं। पाटलिपुत्र के दरबार में कई वर्ष पर्यन्त रहनेवाला यूनानी राजदूत मेगस्थनीज भी उनका कोई उल्लेख नहीं करता। अर्थशास्त्र का जो उपलब्ध संस्करण है वह चाणक्य के समय से कई सौ वर्ष बाद का सर्वाप्त, प्रक्षिप्त, त्रुटित एवं विकृत संस्करण है। बहुत बाद के लिखे हुए मुद्राराक्षस नाटक, कथा-सरित्-सागर, प्रभृति कथा-ग्रन्थों के अनुसार चाणक्य के अपरनाम विष्णुगुप्त और कौटिल्य थे। वह कूटिल कूटनीति का उपासक, अत्यन्त क्रोधी, मानी और दरिद्र वेदानुयायी ब्राह्मण था। इन्हीं कथाओं में चन्द्रगुप्त को मुरा नामक शूद्रा दासी से उत्पन्न स्वयं राजा मन्द का पुत्र बताया है। बौद्ध साहित्य में उसे मोरिया नामक ब्राह्मणविध जाति का युवक सूचित किया है। लौभाग्य से जैन साहित्य में, कई विभिन्न दासों से, इन दोनों ऐतिहासिक विभूतियों का अद्य से अन्त तक सटीक इतिवृत्त प्राप्त हो जाता है, जो अन्य ऐतिहासिक साधनों से भी अनेक वंशों में समर्पित होता है, अथवा बाधित नहीं होता।

अस्तु, चाणक्य का जन्म ईसा पूर्व 375 के लगभग सोल्ल विषय के अन्तर्गत चणय नाम के ग्राम में हुआ था। इस स्थान की स्थिति अज्ञात है। कहीं-कहीं उसे कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) और कहीं-कहीं तक्षशिला का निवासी भी बताया है। उसकी माता का नाम ज्योत्स्वरी और पिता का चणक था। चणक का पुत्र होने से उसका नाम चाणक्य हुआ। यह लोग जाति-वर्ण की अपेक्षा ब्राह्मण थे, किन्तु धर्म की दृष्टि से धर्मभोर जैन श्रावक थे। इसमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है, आज भी कर्णाटक आदि में अनेक ब्राह्मण कुल-परम्परा से जैन धर्मानुयायी हैं। शिशु चाणक्य के मुँह में जन्म से ही दाँत थे, यह देखकर घर के लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ। प्रायः सभी कोई जैन साधु चणक के घर पधारे तो उसने नवजात शिशु को गुरु घरणों में डालकर उनसे इस अद्भुत बाल का उल्लेख किया। देख-सुनकर साधु ने कहा कि यह बालक बड़ा होने पर एक शक्तिशाली मरेश होगा। ब्राह्मण चणक श्रावकोचित सन्तोषी वृत्ति का धार्मिक व्यक्ति था। वैसी ही उसकी सहधर्मिणी थी। राज्य वैभव को वे लोग पाप और पाप का कारण समझते थे, अतएव चणक ने शिशु के दाँत उखाड़ डाले। इस पर साधुओं ने भविष्यवाणी की कि अब यह बालक स्वयं तो राजा नहीं होगा, किन्तु किसी अन्य व्यक्ति के उपलब्ध या माध्यम से राज्य-शक्ति का उपभोग और संचालन करेगा। वयः प्राप्त होने पर तत्कालीन ज्ञान-केन्द्र तक्षशिला तथा उसके आसपास निवास करनेवाले आचार्यों के निकट चाणक्य ने उह अंग, चतुरानुयोग, दर्शन, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र ऐसे चौदह विद्यास्थानों का अध्ययन किया और

अपने अध्ववसाय से योग्य समय में समस्त विद्याओं एवं शास्त्रों में वह पारंगत हो गया। यशोमति नाम की एक श्यामा सुन्दरी के साथ उसका विवाह भी हो गया। और वह ब्राह्मणोचित शिक्षावृत्ति से आपेक्षिक दरिद्रता के साथ जीवन-यापन करने लगा। एक बार उसकी पत्नी अपने भाई के विवाह में सम्मिलित होने के लिए अपने मायके गयी। वहाँ उसकी निराभरण एवं अति साधारण वेश-भूषा देखकर उसकी और उसके पति की दरिद्रता का उसकी सम्पन्न बहनों, बहनोइयों तथा अन्य लोगों ने उपहास किया, जिससे वह बड़ी दुखी हुई। स्वाभिमानी चाणक्य ने जब यह वृत्तान्त सुना तो उसे बड़ी आत्मग्लानि हुई और धनोपार्जन का दृढ़ निश्चय करके वह परदेश के लिए घर से निकल पड़ा। महाराज सर्वार्थसिद्धि महापद्मनन्द विद्वानों का बड़ा आदर करता है और उन्हें पुष्कल दानादि से सन्तुष्ट करता है, यह बात जब चाणक्य ने स्थान-स्थान में सुनी तो वह पाटलिपुत्र जा पहुँचा। वहाँ उसने राजसभा के समस्त पण्डितों को शारवार्थ में पराजित करके महाराज के दान-विभाग (दाणरग) के अध्यक्ष का पद प्राप्त कर लिया, जिसे संघ-ब्राह्मण भी कहते थे। किन्तु उसकी कुरूपता, अभिमानी प्रकृति एवं उद्धत स्वभाव के कारण युवराज सिद्धपुत्र हिरण्यगुप्त धननन्द चाणक्य से रुष्ट हो गया और उसने उसका अपमान किया। कोई कहते हैं कि चाणक्य का यह अपमान महाराज नन्द और युवराज की उपस्थिति में दानशाला की परिचारिका द्वारा उनकी प्रथम भेंट के अवसर पर ही किया गया था। जो हो, अपमान से क्रुध्य और कुपित चाणक्य ने भरी सभा में वह भी प्रतिज्ञा की कि, "जिस प्रकार उग्रवायु का प्रचण्ड वेग अनेक शाखा समूह सहित विशाल एवं उत्तुंग वृक्षों को जड़ से उखाड़ फेंकता है, उसी प्रकार हे नन्द ! मैं तेरा, तेरे पुत्रों, भृत्यों, मित्रादि का समस्त वैभव सहित समूल नाश करूँगा।"

क्रोध से तप्टायमान चाणक्य ने पाटलिपुत्र का तत्काल परित्याग कर दिया। इस समय उसे उस भविष्यवाणी का स्मरण हुआ जो उसके जन्मकाल में जैन मुनियों ने की थी कि वह बड़ा होकर किसी अन्य व्यक्ति के मिस मनुष्यों पर शासन करेगा (एताहे वि बिंबान्तरियो राया भविस्सई सि)। अतएव परित्राजक के भेष में अब चाणक्य एक ऐसे व्यक्ति की खोज में फिरने लगा जो एक बड़ा राजा होने के सर्वथा उपयुक्त हो।

तराई प्रदेश में नन्द के साम्राज्य के ही भीतर पिप्पलीवन के मोरियों का गणतन्त्र था। यह लोग श्रमणोपासक ब्राह्म क्षत्रिय थे। स्वयं महावीर के एक गणधर मोरियपुत्र इसी जाति के थे और इस जाति में जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। इनका एक पूरा ग्राम मयूरपोषकों का ही था। मुनि, आर्यिका, ऐलक, शुल्लक आदि समस्त जैन साधु-साध्वियाँ मयूरपिच्छधारी होते थी और उस काल में उनकी संख्या सहस्रों में थी। अतएव मयूरपोषक एवं मयूर-पिच्छी निर्माण का व्यवसाय पर्याप्त महत्त्वपूर्ण था। बौद्ध ग्रन्थ महावंश की प्राचीन टीका के अनुसार कोसल के युवराज विद्भुभ के

अत्याचारों से पीड़ित होकर शाक्य प्रवेश से भाने हुए मौर्य जाति के कुछ लोगों ने यह मयूरग्राम या नगर बसाया था। तबसे वृक्षों के मध्य स्वच्छ जलाशय के निकट केंकाध्वनि से गुंजायमान यह एक अत्यन्त रमणीक स्थान था और उस बस्ती के घर मयूरकृति तथा मोरपंखी रंगों से चित्र-विचित्रित थे। इस उल्लेख से भी जैन अनुश्रुतियों का ही समर्थन होता है। शूद्रादासी मुरा के नाम से मौर्य शब्द की व्युत्पत्ति की बात बहुत बाद की मनगढ़न्त है। घूमते-घूमते चाणक्य एक बार इसी ग्राम में आ पहुँचा और उसके मौर्यवंशी मयहर (मुखिया) के घर ठहरा। मुखिया की इकलौती लाड़ली पुत्री गर्भवती थी और उसी समय उसे चन्द्रपान का विलक्षण दोहला उत्पन्न हुआ, जिसके कारण घर के लोग चिन्तित थे। किसी की समझ में नहीं आ रहा था कि दोहला कैसे शान्त किया जाए। चाणक्य ने आश्वासन दिया कि वह गर्भिणी को चन्द्रपान कराके उसका दोहला शान्त कर देगा, किन्तु शर्त यह है कि उत्पन्न होनेवाले शिशु पर, यदि वह पुत्र हुआ तो, चाणक्य का अधिकार होगा और वह जब चाहेगा उसे अपने साथ ले जाएगा। अन्य चारा न देखकर शर्त मान ली गयी और चाणक्य ने एक थाली में जल (अथवा क्षीर-दूध) भरकर और उसमें आकाशगामी पूर्णचन्द्र की प्रतिबिम्बित करके गर्भिणी को इस चतुराई से पिला दिया कि उसे विश्वास हो गया कि उसने चन्द्रपान कर लिया है। दोहला शान्त हो गया। परिज्ञानकेपक्षे चाणक्य अन्यत्र के लिए प्रस्थान कर गया। कुछ मास पश्चात् मुखिया की पुत्री ने एक चन्द्रोपम सुदर्शन, सुलक्षण एवं तेजस्वी पुत्र को जन्म दिया। उक्त विचित्र दोहले के कारण उसका नाम चन्द्रगुप्त रखा गया (चंद्रगुप्तों से नाम कये) और चाणक्य से की गयी प्रतिज्ञा के अनुसार उसे परिव्राजक का पुत्र कहा जाने लगा। सम्भवतया उसके अपने पिता की किसी युद्ध आदि में वीरगति प्राप्त हो चुकी थी। नन्द द्वारा चाणक्य का अपमान और चन्द्रगुप्त का जन्म आदि घटनाएँ ईसा पूर्व 345 के लगभग हुई प्रतीत होती हैं।

विशाल साम्राज्य के स्वामी शक्तिशाली नन्दों को जड़ से उखाड़ फेंकना कोई हँसी-खेल नहीं था। चाणक्य इस बात की अच्छी तरह जानता था, किन्तु वह अपनी धुन का भी पक्का था, अतएव धैर्य के साथ अपनी तैयारी में संलग्न हो गया। अगले कई वर्ष उसने धातु विद्या की सिद्धि एवं स्वर्ण आदि धन एकत्र करने में व्यतीत किये बताये जाते हैं। आठ-दस वर्ष पश्चात् पुनः चाणक्य उसी मयूरग्राम में अकस्मात् आ निकला। वह ग्राम के बाहर थकान मिटाने के लिए एक वृक्ष की छाया में बैठ गया और उसने देखा कि सामने मैदान में कुछ बालक खेल रहे हैं। एक सुन्दर चपल तेजस्वी बालक राजा बना हुआ था और अन्य सबपर शासन कर रहा था। कुछ देर तो चाणक्य मुग्ध हुआ बालकों के उस कौतुक को देखता रहा, विशेषकर बाल राजा के अभिनय ने उसे अत्यधिक आकृष्ट किया। समीप जाकर ध्यान से देखा तो उसे उस बालक में सामुद्रिक शास्त्र के अनुसार एक चक्रवर्ती सम्राट् के सभी लक्षण दीख

पड़े। और अधिक परीक्षा करने के लिए उसने बाल राजा के सम्मुख याचक बनकर शिक्षा माँगी। बालक ने तत्परता से कहा 'बोलो क्या चाहते हो, जो चाहो अभी मिलेगा'। चाणक्य ने कहा, 'मैं गोदान चाहता हूँ, किन्तु मुझे भय है कि तुम मेरी माँग पूरी न कर सकोगे, अन्य लोग इसका विरोध करेंगे।' बाल राजा ने तुरन्त तैश के साथ प्रत्युत्तर दिया, 'यह आप क्या कहते हैं? राजा के सामने से कोई याचक बिना इच्छित दान लिये चला जाए, यह कैसे हो सकता है? पृथ्वी कीरों के ही उपभोग के लिए है (वीर भोज्या पुहइ)।' बालक के इस उत्तर से उसकी राज्योचित उदारता, अन्य सदगुणों एवं व्यक्तित्व का चाणक्य पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि वह उसके साथियों से उसका परिचय प्राप्त करने का लोभ संवरण न कर सका। बालकों ने जब उसे बताया कि वह ग्राम-मयेहर मौरिय का दौहित्र है, नाम चन्द्रगुप्त है और एक परिव्राजक का पुत्र कहलाता है, तो चाणक्य को यह समझने में देर न लगी कि यह वही बालक है जिसकी माता का दोहला उसने युक्ति से शान्त किया था। वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और बालक के अभिभावकों से मिलकर, उन्हें उनके वचन का स्मरण कराके बालक को अपने साथ लेकर उस स्थान से पलायन कर गया। उसने प्रतिज्ञा की कि इस चन्द्रगुप्त को ही राजा बनाकर वह अपने स्वप्नों को साकार करेगा।

कई वर्ष तक उसने चन्द्रगुप्त को विविध अस्त्र-शस्त्रों के संचालन, युद्ध-विद्या, राजनीति तथा अन्य उपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं शास्त्रों की समुचित शिक्षा दी। धन का उसे अब कोई अभाव भी नहीं। धीरे-धीरे उसके लिए बहुत से युवक वीर साथी भी जुटा दिये। ई. पू. 326 में भारतभूमि पर जब यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् ने आक्रमण किया तो उससे स्वदेश-भक्त चाणक्य का हृदय बहुत दुखी हुआ, किन्तु विश्व-विजयी सिकन्दर की प्रसिद्धि से भी वह प्रभावित हुआ। उसने शिष्य चन्द्रगुप्त को सलाह दी कि वह यूनानियों की सैनिक पद्धति, सैन्य-संचालन और युद्ध कौशल का उनके बीच कुछ दिनों रहकर प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करे। यूनानी शिविर में रहते हुए चन्द्रगुप्त पर गुप्तचर होने का सम्वेद किया गया और उसे बन्दी बनाकर सम्राट् के सम्मुख उपस्थित किया गया। किन्तु उसकी निर्भीकता एवं तेजस्विता से सिकन्दर इतना प्रसन्न हुआ कि उसने उसे मुक्त ही नहीं कर दिया, बरन् पुरस्कृत भी किया। सिकन्दर के सैन्य देश की सीमान्त के बाहर निकलते ही चन्द्रगुप्त ने पंजाब के वाहीकों को उभाड़कर यूनानी सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर दिया, यूनानियों द्वारा अधिकृत प्रदेश के बहुभाग को स्वतन्त्र कर लिया, और ई. पू. 323 के लगभग चाणक्य के पक्ष-प्रदर्शन में मगध-राज्य की सीमा पर अपना एक छोटा-सा स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में भी सफल हो गया।

ई. पू. 321 के लगभग चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने एक छोटे से सैन्यदल के साथ छद्मवेष में नन्दों की राजधानी पाटलिपुत्र में प्रवेश किया और दुर्ग पर आक्रमण कर दिया। चाणक्य के कूट कौशल के बावजूद नन्दों की असीम सैन्यशक्ति के

सम्मुख ये बुरी तरह पराजित हुए और जैसे-तैसे प्राण बचाकर भाग निकले। नन्द की सेना ने इनका दूर तक पीछा किया। दो बार ये पकड़े जाने से बाल-बाल बचे। चाणक्य की तुरत-बुद्धि और चन्द्रगुप्त के साहस तथा गुरु के प्रति अटूट विश्वास ने ही इनकी रक्षा की। इस भाग-दौड़ में एक बार चन्द्रगुप्त भूख से मरणासन्न हो गया था। उस अवसर पर भी चाणक्य ने ही उसकी प्राणरक्षा की। एक दिन रात्रि के समय किसी गाँव में एक बृद्धा के झोंपड़े के बाहर लड़े हुए इन दोनों ने उस बृद्धा द्वारा अपने पुत्रों को डौटने के मिस यह कहते सुना कि चाणक्य अधीर एवं मूर्ख है। उसने सीमावर्ती प्रान्तों को हस्तगत किये बिना ही एकदम साम्राज्य के केन्द्र पर धावा बोलकर भारी भूल की है। बृद्धापुत्र धाली में परोसी गरम-गरम खिचड़ी (या दलिया) खाने बैठे थे और एकदम उसके बीच में हाथ डालकर उन्होंने अपने हाथ जला लिये थे। बृद्धा चाणक्य का दृष्टान्त देकर उन्हें इस मूर्खता के लिए बरज रही थी और कह रही थी कि पहले किनारे-किनारे से खाना प्रारम्भ किया जाएगा तो शनैः-शनैः बीच के भाग पर भी बिना हाथ जलाये सहज ही पहुँचा जा सकता है। चाणक्य को अपनी भूल मालूम हो गयी, और उन दोनों ने अब नवीन उत्साह एवं कौशल के साथ तैयारी आरम्भ कर दी। विन्ध्य अटवी में पूर्व-संचित अपने विपुल धन की सहायता से उन्होंने सुदृढ़ सैन्य संग्रह करना शुरू कर दिया। पश्चिमोत्तर प्रदेश के यवन, काम्बोज, पारसीक, खस आदि तथा अन्य सीमान्तों की पुलात, शबर आदि म्लेच्छ जातियों की भी एक बलवान् सेना बनायी। बाह्यिक उनके अधीन थे ही, पंजाब के मल्ल (मालव) गणतन्त्र को भी अपना सहायक बनाया और हिमयतकूट अथवा गोकर्ण (नेपाल) के किरात वंश के ग्यारहवें राजा पंचम उपनाम पर्वत या पर्वतेश्वर को भी विजित साम्राज्य का आधा भाग दे देने का प्रलोभन देकर अपनी ओर मिला लिया। अब चन्द्रगुप्त और चाणक्य ने नन्द साम्राज्य के सीमावर्ती प्रदेशों पर अधिकार करना शुरू किया। एक के पश्चात् एक ग्राम, नगर, दुर्ग और गढ़ छल-बल-कौशल से जैसे भी बना वे हस्तगत करते चले। विजित प्रदेशों एवं स्थानों को सुसंगठित एवं व्यवस्थित करते हुए तथा अपनी शक्ति में उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए अन्ततः वे राजधानी पाटलिपुत्र तक जा पहुँचे।

नगर का घेरा डाल दिया गया और उसपर अनवरत भीषण आक्रमण किये गये और उसके भीतर फूट एवं षड्यन्त्र भी रचाये गये। चन्द्रगुप्त के पराक्रम, रणकौशल एवं सैन्य-संचालन-पटुता, चाणक्य की कूटनीति एवं सदैव सजग मृद्ध-दृष्टि तथा पर्वत की दुस्ताहसपूर्ण बर्बरयुद्ध प्रियता, तीनों का संयोग था। नन्द भी वीरता के साथ डटकर लड़े, किन्तु एक-एक करके सभी नन्दकुमार लड़ते-लड़ते वीरगति को प्राप्त हुए। अन्ततः बृद्ध महाराज महापद्मनन्द ने हताश होकर धर्मद्वार के निकट हथियार डाल दिये और आत्मसमर्पण कर दिया। अर्थशास्त्र में गिसे ब्राह्मणद्वार और निदानकथा-जातक में महाद्वार कहा है, सम्भवतया यह धर्मद्वार नगर

प्राचीर का वही प्रमुख द्वार था। बृद्धनन्द ने चाणक्य को धर्म की दुहाई देकर याचना की कि उसे सपरिवार सुरक्षित अन्यत्र चला जाने दिया जाए। चाणक्य की अभीष्ट सिद्धि हो चुकी थी। उसकी भीषण प्रतिज्ञा की लगभग पचीस वर्ष के अथक प्रयत्न के उपरान्त प्रायः पूर्ति हो चुकी थी और वह क्षमा का महत्त्व भी जानता था, अतएव उसने नन्दराज को सपरिवार नगर एवं राज्य का परित्याग करके अन्यत्र चले जाने की अनुमति उदारतापूर्वक प्रदान कर दी और यह भी कह दिया कि जिस रथ में वह जाए उसमें जितना धन वह अपने साथ ले जा सके वह भी ले जाए। अस्तु नन्दराज ने अपनी दो पत्नियों और एक पुत्री के साथ कुछ धन लेकर रथ में सवार हो नगर का परित्याग किया। किन्तु जैसे ही नन्द का रथ गल्ले का हुआ नन्द-सुता दुरधरा अपरनाम सुप्रभा ने शत्रु सैन्य के नेता विजयी वीर चन्द्रगुप्त के सुदर्शन रूप को जो देखा तो प्रथम दृष्टि में ही वह उसपर मोहित हो गयी और प्रेमाकुल दृष्टि से पुनः-पुनः उसकी ओर देखने लगी। इधर चन्द्रगुप्त की वही दशा हुई और वह भी अपनी दृष्टि उस रूपसी राजनन्दिनी की ओर से न हटा सका। इन दोनों की दशा को लक्ष्य करके नन्दराज और चाणक्य दोनों ने ही उनके स्वयंवरित परिणय की सहर्ष स्वीकृति दे दी। तत्काल सुन्दरी सुप्रभा पिता के रथ से कूदकर चन्द्रगुप्त के रथ पर जा चढ़ी। किन्तु इस रथ पर उसका पग पड़ते ही उसके पहिये के नीचे आरे तड़ाक से टूट गये (नव आरगा भग्ना)। सबने सोचा कि यह अमंगल-सूचक अपशकुन है, किन्तु समस्त विद्याओं में पारंगत चाणक्य ने उन्हें सपझाया कि भय की कोई बात नहीं है, यह तो एक शुभ शकुन है और इसका अर्थ है कि इस नव-दम्पती की सन्तति नौ पीढ़ी तक राज्यभोग करेगी।

अब वीर चन्द्रगुप्त मौर्य नन्ददुहिता राजरानी सुप्रभा को अग्रमहिषी बनाकर मगध के राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ और नन्दों के धन-जनपूर्ण विशाल एवं शक्तिशाली साम्राज्य का अधिपति हुआ। इस प्रकार लगभग चार वर्षों के अनवरत युद्ध-प्रयत्नों एवं संघर्षों के फलस्वरूप ई. पू. 317 में पाटलिपुत्र में नन्दवंश का पतन और उसके स्थान में मौर्यवंश की स्थापना हुई। चन्द्रगुप्त को सम्राट घोषित करने के पूर्व चाणक्य ने नन्द के स्वामिभक्त मन्त्री राक्षस के षड्यन्त्रों को विफल किया और उसे चन्द्रगुप्त की सेवा में कार्य करने के लिए राजी कर लिया। उसने किरातराज पर्वतेश्वर को भी राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या के लिए भेजी गयी विषकन्या के प्रयोग से मरवा डाला और चन्द्रगुप्त का मार्ग सब ओर से निष्कण्टक कर दिया। अन्य पुराने योग्य मन्त्रियों, राजपुरुषों एवं कर्मचारियों को भी उसने साम-दाम-भय-भेद से नवीन सम्राट के पक्ष में कर लिया। वह स्वयं महाराज का प्रधानमन्त्री रहा। मन्त्रीश्वर चाणक्य के सहयोग से सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य ने साम्राज्य का विस्तार एवं सुसंगठन किया और उसके प्रशासन की सुचारु व्यवस्था की। इस नरेश के शासनकाल में राष्ट्र की शक्ति और समृद्धि की उत्तरोत्तर वृद्धि होती गयी। ई. पू.

612 में उसने अवन्ति को विजय करके उज्जयिनी को फिर से साम्राज्य की उपराजधानी बनाया। मगध से नन्दों का उच्छेद हो जाने पर भी उज्जयिनी में उनके कुछ वंशज या सम्बन्धी स्वतन्त्र बने रहे प्रतीत होते हैं। यह भी सम्भव है कि वृद्ध महापद्म नन्द को इसी नगर में रहने की अनुमति दे दी गयी हो और अब उसकी मृत्यु हो गयी हो। स्यात् वही कारण है कि कुछ जैन अनुश्रुतियों में नन्दवंश का अन्त महावीर नि. सं. 210 (ई. पू. 317) में और कुछ में म. नि. सं. 215 (ई. पू. 312) में हुआ कथन किया गया है।

उज्जयिनी पर अधिकार करने के पश्चात् चन्द्रगुप्त ने दक्षिण भारत की दिग्विजय के लिए प्रयास किया। मालवा से सुराष्ट्र होते हुए उसने महाराष्ट्र में प्रवेश किया। सुराष्ट्र में उसने गिरिनगर (उज्जयिन्त-गिरि) में भगवान् नेमिनाथ की वन्दना की और पर्वत की तलहटी में सुदर्शन नामक एक विशाल सरोवर का उस प्रान्त के अपने राज्यपाल वैश्य पुष्पगुप्त की देख-रेख में निर्माण कराया। उक्त सुदर्शन सरोवर के तट पर निर्ग्रन्थ मुनियों के निवास के लिए गुफाएँ (लेण) भी बनवायीं, जिनमें से प्रधान लेण चन्द्रगुफा के नाम से प्रसिद्ध हुई। महाराष्ट्र, कोंकण, कर्णाटक, आन्ध्र एवं तमिल देश पर्यन्त चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपनी विजय-वैजयन्ती फहरायी। प्राचीन तमिल साहित्य, दाक्षिणात्य अनुश्रुतियों एवं कलिपय शिलालेखों से मौर्यों का उक्त दक्षिणीय प्रदेशों पर अधिकार होना पाया जाता है। दक्षिण देश की इस विजय-यात्रा में एक अन्य प्रेरक कारण भी था। चन्द्रगुप्त का निज कुल मौरिय आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का भक्त था। पूर्वोक्त दुष्काल के समय इन आचार्य के ससंध दक्षिण देश को विहार कर जाने पर भी वे लोग उन्हीं की आम्नाय के अनुयायी रहे और मगध में रह जानेवाले स्थूलभद्र आदि साधुओं तथा उनकी परम्परा को उन्होंने मान्य नहीं किया। भद्रबाहु की शिष्य परम्परा में जो आचार्य इस बीच में हुए वह दक्षिण देश में ही रहे, तथापि उत्तरभारत (मगध आदि) के अनेक जैनीजन स्वयं को आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली का ही अनुयायी मानते और कहते रहे। चन्द्रगुप्त, चाणक्य आदि इसी आम्नाय के थे। अतएव आम्नाय-गुरु भद्रबाहु ने कर्णाटक देश के जिस कटवप्र अपरनाम कुमारीपर्वत पर समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था, पुण्य-तीर्थ के रूप में उसकी वन्दना करना तथा उक्त आचार्य की शिष्य परम्परा के मुनियों से धर्म-लाभ लेना और उनकी साता-सुविधा आदि की व्यवस्था करना ऐसे कारण थे जो सम्राट् की इस दक्षिण यात्रा में प्रेरक रहे प्रतीत होते हैं।

चन्द्रगुप्त मौर्य के शासनकाल की एक अन्य अति महत्त्वपूर्ण घटना ई. पू. 305 में मध्य एशिया के महाशक्तिशाली यूनानी सम्राट् सेल्युकस निकेतर द्वारा भारतवर्ष पर किया गया भारी आक्रमण था। चन्द्रगुप्त-जैसे मरेन्द्र और चाणक्य-जैसे मन्त्रीराज असावधान कैसे रह सकते थे? उनका गुप्तचर-विभाग भी सुगुप्त था। मौर्य सेना ने तुरन्त आगे बढ़कर आक्रमणकारी की गति को रोका। स्वयं सम्राट् चन्द्रगुप्त

ने सैन्य संचालन किया। वह यूनानियों को युद्ध प्रणाली से भलीभाँति परिचित था, उसके गुणों को भी जानता था और दोषों को भी। भीषण युद्ध हुआ। परिणामस्वरूप यूनानी सेना बुरी तरह पराजित हुई और स्वयं सम्राट् सेल्युकस बन्दी हुआ। उसकी याचना पर मौर्य सम्राट् ने सन्धि कर ली, जिसके अनुसार सम्पूर्ण पंजाब और सिन्ध पर ही नहीं, वरन् काबुल, हिरात, कन्दहार, बिलोचिस्तान, कम्बोज (बदख्शान) और फ़ामीर पर मौर्य सम्राट् का अधिकार हो गया और भारत के भौगोलिक सीमान्तों से भी यूनानी सत्ता तिरोहित हो गयी। सेल्युकस ने अपनी प्रिय पुत्री हेलन का विवाह भी मौर्य नरेश के युवराज के साथ कर दिया। प्रायः यह कहा जाता है कि यवन राजकुमारी का विवाह स्वयं चन्द्रगुप्त के साथ हुआ, किन्तु अधिक सम्भावना युवराज बिन्दुसार के साथ होने की है। मैत्री के प्रतीक-स्वरूप मौर्य सम्राट् ने भी यवनराज को पाँच सौ हाथी भेंट किये। इस प्रकार सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य ने अपने पराक्रम एवं राजनीतिक सूझ-बूझ से अपनी स्वभाव-सिद्ध प्राकृतिक सीमाओं से बद्ध प्रायः सम्पूर्ण भारत महादेश पर अपना एकछत्र आधिपत्य स्थापित कर लिया। इतनी पूर्णता के साथ समग्र भारतवर्ष पर आज पर्यन्त सम्भवतया अन्य किसी सम्राट् या एकसदृ राज्यसत्ता का, मुग़लों और अँगरेज़ों का भी अधिकार नहीं हुआ।

इसी युद्ध के परिणामस्वरूप यवनराज का मेघस्थनीज़ नामक यूनानी राजदूत पाटलिपुत्र की राजसभा में ई. पू. 303 में आया, कुछ समय वहाँ रहा, और उसने मौर्य साम्राज्य का विविध विवरण लिखा जो कि भारत के तत्कालीन इतिहास का बहुमूल्य साधन बना। उसने भारतवर्ष के भूगोल, राजनीतिक विभागों, प्राचीन अनुश्रुतियों, धार्मिक विश्वासों एवं रीतिरिवाजों, जनता के उच्च चरित्र एवं ईमानदारी, राजधानी की सुन्दरता, सुरक्षा एवं सुदृढ़ता, सम्राट् की दिनचर्या एवं वैयक्तिक चरित्र, उसकी न्यायप्रियता, राजनीतिक पटुता और प्रशासन कुशलता, विशाल चतुरंगिणी सेना जिसमें चार लाख वीर सैनिक, नौ हजार हाथी तथा सहस्रों अश्व, रथ आदि थे और जिसका अनुशासन अत्युत्तम था, प्रजा के दार्शनिक (या पण्डित), शिल्पी, व्यवसायी एवं व्यापारी, व्याध एवं पशुपालक, सिपाही, राज्यकर्मचारी, गुप्तचर व निरीक्षक, मन्त्री एवं अमात्य आदि, सात वर्गों का, सेना के विभिन्न विभागों का, राजधानी एवं अन्य महानगरियों के नागरिक प्रशासन के लिए छह विभिन्न समितियों का, इत्यादि अनेक उपयोगी बातों का वर्णन किया है। उसे यह देखकर आश्चर्य हुआ था कि भारतवर्ष में दास-प्रथा का अभाव है। उसने यह भी लिखा है कि भारतवासी लेखनकला का विशेष आश्रय नहीं लेते और अपने धर्मशास्त्रों, अनुश्रुतियों तथा अन्य दैनिक कार्यों में भी अधिकतर मौखिक परम्परा एवं स्मृति पर ही निर्भर रहते हैं। प्रजा की जन्म-मृत्यु गणना का विवरण, विदेशियों के गमनागमन की जानकारी, नाप-तौल एवं बाज़ार का नियन्त्रण, अतिथिशालाएँ, धर्मशालाएँ, राजघरें आदि का संरक्षण सभी की उत्तम व्यवस्था थी। देश का देशी एवं विदेशी व्यापार बहुत उन्नत

था। बड़े-बड़े सेठ और सार्ववाह थे, नाना प्रकार के उद्योग-धन्य थे, राजा और प्रजा दोनों ही अत्यन्त धन-वैभव सम्पन्न थे, विद्वानों का देश में आदर था। स्वयं सम्राट् श्रमणों एवं ब्राह्मणों को राज-प्रासाद में आमन्त्रित करके अथवा उसके पास जाकर आवश्यक परामर्श लेते थे। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण भारतवर्ष के रूप में चक्रवर्ती क्षेत्र की जो परिभाषा है वही समुद्र पर्यन्त, आसेतु-हिमाचल भूखण्ड इस मौर्य सम्राट् के अधीन था, जो विजित, अन्त और अपरान्त क्षेत्रों के भेद से तीन वर्गों में विभक्त था। जो भाग सीधे केन्द्रीय शासन के अन्तर्गत था वह विजित कहलाता था और अनेक चर्कों में विभाजित था। त्रिरत्न, चैत्यवृक्ष, दीक्षावृक्ष आदि जैन सांस्कृतिक प्रतीकों से युक्त कुछ सिक्के भी इस मौर्य सम्राट् के प्राप्त हुए हैं।

व्यक्तिगत रूप से सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य धार्मिक भी था और साधु-सन्तों का विशेष आदर करता था; जबकि ब्राह्मणीय साहित्य में उसे वृषल या शुद्र तथा दासी-पुत्र कहा है। जैन अनुश्रुतियों में उसे सर्वत्र शुद्ध क्षत्रिय-कुलोत्पन्न कहा है। ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों के प्राचीन सिद्धान्त-शास्त्र तिलोवपण्णसि में चन्द्रगुप्त को उन मुकुटबद्ध पाण्डलिक सम्राटों में अन्तिम कहा गया है जिन्होंने दीक्षा लेकर अन्तिम जीवन् जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया था। वह आचार्य भद्रबाहु-श्रुतकेवली की आम्नाय का उपासक था और उनका ही पदानुसरण करने का अभिलाषी था। अतएव लगभग पचीस वर्ष राज्यधीन करने के उपरान्त ईसापूर्व 298 में पुत्र बिन्दुसार को राज्यभार सौंपकर और उसे गुरु चाणक्य के ही अधिभावकत्व में छोड़ दक्षिण की ओर प्रयाण कर गया। मार्ग में सुराष्ट्र के गिरिनगर की जिस गुफा में उसने कुछ दिन निवास किया, वह तभी से चन्द्रगुफा कहलाने लगी। सम्भवतया यहीं उसने मुनि-दीक्षा ली थी। यहाँ से चलकर यह राजर्षि कर्णाटकदेशस्थ श्रवणबेलगोल पहुँचा जहाँ आचार्य भद्रबाहु दिवंगत हुए थे। उस स्थान के एक पर्वत पर मुनिराज चन्द्रगुप्त ने तपस्या की और वहीं कुछ वर्ष उपरान्त सल्लेखनापूर्वक देह त्याग किया। उनकी स्मृति में ही वह पर्वत चन्द्रगिरि नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी जिस गुफा में उन्होंने समाधिभरण किया था उसमें उनके चरण-चिह्न बने हैं और वह स्थान चन्द्रगुप्त-वसति के नाम से प्रसिद्ध रहता आया है। वहीं आस-पास लगभग डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन कई शिलालेख भी अंकित हैं जिनमें इस राजर्षि के जीवन की उक्त महान् अन्तिम घटना के उल्लेख प्राप्त होते हैं। मूलसंघी मुनियों का चन्द्रगुप्तगच्छ या चन्द्रगच्छ इन्हीं चन्द्रगुप्ताचार्य के नाम पर स्थापित हुआ माना जाता है। इस महान् जैन सम्राट् के समय में ही भारतवर्ष प्रथम बार तथा अन्तिम बार भी, यदि उसके स्वयं के पुत्र बिन्दुसार एवं पौत्र जशोक को छोड़ दें, अपनी राजनीतिक पूर्णता एवं साम्राज्यिक एकता को प्राप्त हुआ और मगध साम्राज्य के रूप में भारतीय साम्राज्य अपने चरमोत्कर्ष को पहुँचा था।

चाणक्य भी पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे और राजकार्य से विरत होकर

आत्म-कल्याण करने के इच्छुक थे। महागज चन्द्रगुप्त के अत्यन्त अनुरोधवश उन्होंने युवक सम्राट् बिन्दुसार का पथ-प्रदर्शन करने के लिए वह विचार स्वीकृत कर दिया, किन्तु दो-तीन वर्ष बाद ही वह भी मन्त्रिण्य का भार अपने शिष्य सधागुप्त को सौंपकर मुनिदीक्षा लेकर तपश्चरण के लिए चले गये थे। भगवती-आसथना आदि अत्यन्त प्राचीन जैन ग्रन्थों में मुनीश्वर चाणक्य की दुर्धर तपस्या और घोर उपसर्ग सहते हुए सल्लेखनापूर्वक देह-त्याग करने के वर्णन मिलते हैं। भारत के उस महान् मौर्य साम्राज्य के कुशल शिल्पी, नियामक और संचालक तथा राजनीति के विश्वविश्रुत ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' के मूल प्रणेता, नीति के आचार्य जैन मन्त्रीश्वर चाणक्य और उनके सुशिष्य जैन सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की अद्वितीय जोड़ी, जैन इतिहास की ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय इतिहास की अमर उपलब्धि है।

इन दोनों राजनीतिक विभूतियों की सर्वोपरि विशेषता यह थी कि उन्होंने व्यक्तिगत धार्मिक विश्वासों को राजनीति एवं प्रशासन से सर्वथा असम्बन्धित रखा। एक शस्त्रवीर क्षत्रिय था तो दूसरा शास्त्रवीर ब्राह्मण, और निजी धार्मिक आस्था की दृष्टि से दोनों ही परम जैन थे, ऐसे कि अन्तिम जीवन दोनों ने ही आदर्श निर्ग्रन्थ तपस्वी जैन मुनि के रूप में व्यतीत किया। तथापि एक विशाल साम्राज्य के सम्राट् एवं प्रधानामात्य के रूप में उनका समस्त लोकव्यवहार पूर्णतया व्यावहारिक, नीतिपूर्ण, असम्प्रदायिक एवं धर्मनिरपेक्ष था। साम्राज्य का उत्कर्ष और प्रतिष्ठा तथा प्रजा का हित और मंगल जैसे बने, सम्पादन करना ही उनका एक मात्र ध्येय था। यह आदर्श आधुनिक युग की राजनीति, जो शासकों और जन-नेताओं के लिए भी स्पृहणीय है—सहज साध्य नहीं है।

बिन्दुसार अमित्रघात

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के उनकी पट्टमहिषी नन्दसुता सुप्रभा से उत्पन्न ज्येष्ठ पुत्र युवराज बिन्दुसार अमित्रघात (यूनानी लेखकों के एमिट्रोचेटिस) ने पिता के जीवन में ही उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया था। सिंहसेन, भद्रसार आदि उसके कई अन्य नाम भी बताये जाते हैं। ई. पू. 298 में वह सिंहासनाख्य हुआ और लगभग पचीस वर्ष पर्यन्त विशाल एवं शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य का एकाधिपति बना रहा। प्रारम्भ में महामन्त्री चाणक्य ही उसके पथ-प्रदर्शक रहे। युवक सम्राट् उनका वयोचित आदर-सम्मान तो करता था, परन्तु उनके प्रभाव से असन्तुष्ट भी था। राज्यकार्य में तो आर्य चाणक्य अब कोई सक्रिय भाग प्रायः लेते नहीं थे, किन्तु उनके असीम अधिकार अब भी पूर्ववत् थे। बिन्दुसार का यह असन्तोष उनसे छिपा नहीं रहा, अतएव वह संसार का त्याग करके मुनि हो गये। जाने के पूर्व अमात्य पद का भार वह अपने प्रशासन-कुशल एवं सुयोग्य शिष्य सधागुप्त को सौंप गये थे। बिन्दुसार अब पूर्णतया स्वाधीन-स्वच्छन्द था, किन्तु चन्द्रगुप्त और चाणक्य के अभिभावकत्व

में जिसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी, वह निकम्मा था। अशक्त शासक नहीं हो सकता था। उसका शासनकाल शान्तिपूर्ण एवं सुव्यवस्थित ही रहा। मध्य एशिया आदि के यूनानी एवं भारतीय-यूनानी (यवन) नरेशों के साथ भी उसके राजनीतिक आदान-प्रदान हुए। सेल्युकस के उत्तराधिकारी अन्तियोकस सोतर ने उसके दरबार में ~~डेइबेक~~ ~~हामले~~ ~~राजदूत~~ भेजा था और मिस्रदेश के राजा टालेनी ने डायनिसयोनाम का दूत भेजा था। इन नरेशों के साथ उसका नानाविध मेटों और उपहारों का भी मैत्रीपूर्ण आदान-प्रदान हुआ था। बिन्दुसार ने कई यूनानी दार्शनिकों को भी भारत आने का निमन्त्रण दिया था। चन्द्रगुप्त ने दक्षिण विजय तो की थी, किन्तु उसे सुसंगठित एवं स्थायी करने का पर्याप्त अवसर उसे नहीं मिला था। अतएव बिन्दुसार ने दक्षिण यात्रा की। अपने माता-पिता की याँति वह भी जैनधर्म का अनुयायी था। कुलगुरु आचार्य भद्रबाहु के समाधिस्थान तथा त्वपिता मुनि चन्द्रगुप्त के दर्शन करने, अथवा सम्भव है उनके स्वर्गवास के उपरान्त उनकी तपःस्थली तथा समाधि का दर्शन करने के लिए उस ओर जाना उसके व्यक्तिगत उद्देश्य थे, और पूर्व-विजित प्रदेशों को भी विजय करके सागर से सागर पर्यन्त सम्पूर्ण दक्षिण भारत पर अधिकार करना उसके राजनीतिक लक्ष्य थे। दोनों में ही वह सफल हुआ। भद्रबाहु एवं चन्द्रगुप्त की तपोभूमि श्रवणबेलगोल में उसने कई जिन-मन्दिर आदि भी निर्माण कराये बताये जाते हैं। बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में इस प्रतापी मौर्य सम्राट् को क्षत्रिय मूर्धाभिषिक्त कहा है और तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने उसे सोलह राजधानियों एवं उनके मन्त्रियों का उच्छेद करनेवाला बताया है। पिता के साम्राज्य में उसने कुछ वृद्धि ही की थी। सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उनका निष्कण्टक आधिपत्य था। बिन्दुसार की कई (एक मत से सोलह) पत्नियाँ थीं, जिनमें एक सम्भवतया यवनराज सेल्युकस की दुहिता हेलेन थी, तथा अनेक पुत्र थे। किन्हीं के अनुसार उसके पुत्रों की संख्या एक सौ-एक थी। उसके अन्तिम दिनों में तक्षशिला के प्रान्तीय शासक के अत्याचारों के कारण वहाँ की प्रजा ने विद्रोह कर दिया था। सम्राट् के आदेश पर राजकुमार अशोक ने वहाँ जाकर बड़ी चतुराई और सूझ-बूझ के साथ विद्रोह का शमन किया और दोषी अधिकारी को दण्डित किया। ई. पू. 273 के लगभग इस द्वितीय मौर्य सम्राट् बिन्दुसार का देहान्त हुआ।

अशोक महान्

श्री अशोक, अशोकचन्द्र, अशोकवर्धन, चण्डाशोक आदि नामों से विभिन्न अनुश्रुतियों में उल्लेखित अशोक मौर्य की गणना आधुनिक इतिहासकार भारतवर्ष के ही नहीं, विश्व के सर्वमहान् सम्राटों में करते हैं। देवाना-प्रिय और प्रिय-दर्शी उसकी उपाधियाँ थीं, जो सम्भवतया उसके पिता तथा अन्य कई भारतीय नरेशों की थी रहीं। वह सम्राट् बिन्दुसार का ज्येष्ठ पुत्र नहीं था, किन्तु सुसीम, सुमन आदि

अनेक पुत्रों में सर्वाधिक योग्य एवं पराक्रमी था। पिता के शासनकाल में वह उज्जयिनी का शासक रहा था और उस समय उसने निकटस्थ विदिशा के एक जैन श्रेष्ठी की रूप-गुण-सम्पन्ना असन्ध्यमित्रा नाम्नी कन्या से विवाह कर लिया था, जिससे कुणाल नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ था। तक्षशिला के विद्रोह का सफलतापूर्वक दमन करके उसने उस प्रान्त का शासन-भार भी कुछ काल सँभाला था। इन्हीं सब कारणों से पूर्व सम्राट् ने अशोक को ही युवराज घोषित कर दिया था, अतएव पिता की मृत्यु होते ही अशोक ने राज्यसत्ता अपने हाथ में ले ली। उसके कई भाइयों ने विद्रोह किया, जिसका उसने दृढ़ता के साथ दमन किया। मन्थीर्ष और जनता भी उसके अनुकूल थी। तथापि पिता की मृत्यु के कई वर्ष पश्चात् ही वह विधिवत् सिंहासनारूढ़ हो सका। उसके एक शिलालेख में 256 संख्या का उल्लेख मिलता है जिसका विभिन्न विद्वान् विभिन्न अर्थ लगाते हैं। यह सम्भव है कि उक्त संख्या ततः प्रचलित महावीर निर्वाण संवत् का वह वर्ष हो जब अशोक का विधिवत् राज्याभिषेक हुआ था और जिसके अनुसार उक्त घटना की तिथि ई. पू. 271-270 आती है। अधिकांश विद्वान् भी उसके लिए ई. पू. 270-269 अनुमान लगाते हैं। बौद्ध अनुश्रुतियों का यह कथन कि अशोक ने अपने 99 भाइयों की हत्या करके अपना चण्डाशोक नाम सार्थक किया था, अतिशयोक्तिपूर्ण ही नहीं वरन् असत्य माना जाता है। यह ठीक है कि प्रारम्भ में वह उग्र प्रकृति का दृढ़-निश्चयी एवं कठोर शासक था तथा उसने अपने मार्ग के समस्त कण्टकों को निर्ममता के साथ उखाड़ फेंका था और अनुशासन को ढीला नहीं होने दिया था। कलिंग देश की विजय नन्दिवर्धन ने ई. पू. 424 के लगभग की थी। तभी से वह राज्य भगध के अधीन रहता आया था। नन्द-मौर्य संघर्ष के समय सम्भवतया कलिंग के राजे अर्धस्वतन्त्र-से हो गये थे, यद्यपि चन्द्रगुप्त एवं बिन्दुसार के समय में उन्हें सिर उठाने का साहस नहीं हुआ। बिन्दुसार की मृत्यु के उपरान्त होनेवाली अन्तःकलह का लाभ उठाकर उन्होंने अपनी स्वतन्त्रता घोषित कर दी प्रतीत होती है। इस समय कलिंग का राजा चण्डराय रहा प्रतीत होता है। ये राजे सम्भवतया महावीर-कालीन कलिंगनरेश जितशत्रु के वंशज थे। किन्हीं का अनुमान है कि जितशत्रु के वंश की समाप्ति पर वहाँ वैशालीनरेश चेटक के किसी वंशज ने अधिकार कर लिया था और उसी का वंश अब कलिंग में चल रहा था। जो ही, इसमें सन्देह नहीं है कि कलिंग के राज्यवंश में जैन धर्म की प्रवृत्ति थी और उक्त चण्डराय भी जैनधर्म का अनुयायी था। अस्तु, ई. पू. 262 के लगभग अपने राज्य के आठवें वर्ष में एक विशाल सेना लेकर अशोक ने कलिंग राज्य पर आक्रमण कर दिया, भीषण युद्ध हुआ, लाखों सैनिक मृत्यु के घाट उतार दिये गये, कलिंगराज पराजित हुआ, प्रचण्ड अशोक का दबदबा सर्वत्र बैठ गया। अब पचासों वर्ष तक मौर्य सम्राट् के विरुद्ध सिर उठाने का साहस किसी को भी नहीं हो सकता था। परन्तु इस भयंकर नरसंहार की देखकर अहिंसामूलक जैनधर्म के

संस्कारों में पले मौन अशोक की आत्मा तिलमिल उठी, भले ही वह 'प्रचण्ड' कहलाता था। उसने प्रतिज्ञा कर ली कि भविष्य में वह रक्तपातपूर्ण युद्धों से सर्वथा विरत रहेगा। उसकी अब वैसी आवश्यकता भी नहीं थी। सीमान्त प्रदेशों सहित सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उसका पूर्ण एकाधिपत्य था। शासन-व्यवस्था सुचारु थी। साम्राज्य में सर्वत्र शान्ति और समृद्धि थी। अब सम्राट् ने अपना ध्यान शान्तिपूर्ण कार्यों की ओर अधिकाधिक दिया। मनुष्यों और पशुओं के लिए विकित्सालय खुलवाये, पुराने राजपथों की मरम्मत और नवों का निर्माण कराया, सड़कों के किनारे छायादार वृक्ष लगवाये, विद्याभ्यास के लिए शालाएँ खोलवाई, अनेक नवीन उपयोगी कार्य किये। जनता के नैतिक चरित्र को उन्नत करने का भी उसने प्रयत्न किया और उनमें असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति पैदा करने के लिए एक ऐसे राष्ट्रधर्म का प्रचार किया जो व्यावहारिक एवं सर्वग्राह्य था। उसने श्रमणों और ब्राह्मणों दोनों ही वर्गों के विद्वानों का आदर किया, और उनका सत्संग किया। धर्मयात्राओं और धर्मोत्सवों की भी योजना की। विभिन्न स्थानों की यात्रा करके जैन, बौद्ध, आजीविक एवं ब्राह्मण तीर्थ और दर्शनीय स्थानों को देखा। जिसमें जहाँ जिस सुधार की आवश्यकता देखी, उसे प्रेरणा द्वारा अथवा राजाज्ञा द्वारा कराने का प्रयत्न किया। जीव-दया और व्यावहारिक अहिंसा को उसने अपना मूलमन्त्र बनाया। अपने मन्त्रव्यों का प्रचार करने के लिए प्रसिद्ध तीर्थस्थानों एवं केन्द्रों में उसने शिलाखण्डों एवं कलापूर्ण स्तम्भों पर अपनी विज्ञप्तियाँ उत्कीर्ण करायीं। ये अभिलेख उसने ई. पू. 255 के उपरान्त भिन्न-भिन्न समयों में अंकित कराये प्रतीत होते हैं। गंगा के निकट बराबर नाम की पहाड़ियों पर उसने आजीविक सम्प्रदाय के साधुओं के लिए लेणें बनवायीं, और गिरिनगर की तलहटी में अपने पिता चन्द्रगुप्त द्वारा निर्मापित सुदर्शन ताल का भी अपने यवन अधिकारी तुहषास्फ की देख-रेख में जीर्णोद्धार कराया। कश्मीर के श्रीनगर और नेपाल के ललितपट्टन नामक नगरों को बसाने का श्रेय भी अशोक को ही दिया जाता है। उसकी पुत्री चारुमित्रा एवं जामाता देवपाल नेपाल में ही जा बसे थे। सम्भवतया देवपाल की उसने नेपाल का शासन-भार सौंप दिया था। यह दम्पती जैन रहे प्रतीत होते हैं। नेपाल में उस काल में जैनधर्म प्रविष्ट हो चुका था। कर्णाटक के श्रवणबेलगोल में कुछ जिन-मन्दिरों का निर्माण भी अशोक ने कराया बताया जाता है।

सामान्यतया यह माना जाता है कि अशोक बौद्धधर्म का अनुयायी था और उस धर्म के प्रचार-प्रसार एवं उन्नति के लिए जो इस मौन सम्राट् ने किया वह कोई अन्य उसके पूर्व या पश्चात् नहीं कर सका। किन्तु बौद्ध साहित्य एवं परवर्ती काल की बौद्ध अनुश्रुतियों में अशोक से सम्बन्धित जो अनेक कथाएँ मिलती हैं उनमें से अधिकतर को अतिरंजित अथवा कपोलकल्पित माना जाता है। ब्राह्मण अनुश्रुतियाँ इस सम्राट् के विषय में मौन हैं और जैन अनुश्रुतियों में उसके जो उल्लेख या विवरण मिलते हैं उनसे बौद्ध अनुश्रुतियों का बहुत कम समर्थन होता है। अशोक के सम्बन्ध

में जो सबसे बड़ा ऐतिहासिक आधार है, वह वे शिलालेख हैं जो उसके नाम से प्रसिद्ध हो रहे हैं। मुख्यतया उन्हीं के आधार से सम्राट अशोक के व्यक्तिगत चरित्र, विचारों, धार्मिक विश्वासों, अन्य कार्यकलापों, राज्यकाल एवं प्रशासन आदि के इतिवृत्त का निर्माण और उसकी महत्ता का मूल्यांकन किया गया है। परन्तु ऐसे भी कई विद्वान् हैं जो इन सब शिलालेखों को केवल अशोक द्वारा ही लिखाये गये नहीं मानते, बल्कि उनमें से कुछ का श्रेय उसके पौत्र सम्प्रति को देते हैं। इन लेखों से अशोक को बौद्धधर्म का सर्वमहान् प्रतिपालक एवं भक्त चित्रित करनेवाली बौद्ध अनुश्रुतियों का भी विशेष समर्थन नहीं होता। वस्तुतः उक्त अभिलेखों के आधार पर अशोक के धर्म को लेकर विद्वानों में सर्वाधिक मतभेद है—कुछ उनसे यह निष्कर्ष निकालते हैं कि वह बौद्ध था और बौद्धधर्म के प्रचार के लिए ही उसने लेख अंकित कराये थे, तो कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार लेखों का भाव और तद्गत विचार बौद्धधर्म की अपेक्षा जैनधर्म के अधिक निकट हैं, और क्योंकि उसका कुलधर्म जैन था, अशोक स्वयं भी यदि पूरे जीवन-भर नहीं तो कम से कम उसके पूर्वार्ध में अवश्य जैन था। ऐसे ही विद्वान् हैं, और उनकी बहुलता होती जाती है, जो यह मानते हैं कि अशोक न मुख्यतया बौद्ध था और न जैन, वरन् एक नीतिपरायण प्रजापालक सम्राट् था जिसने अपनी प्रजा के नैतिक उत्कर्ष करने के हेतु एक नवीन सामन्वयात्मक, असाम्प्रदायिक एवं व्यावहारिक धर्म लोक के सम्मुख प्रस्तुत किया था। वस्तुतः वह भी व्यवहार एवं प्रशासन में अपने पूर्वजों की धर्म-निरपेक्ष नीति का ही अनुसर्ता था। यों उसने पशुवध का निवारण एवं मांसाहार का निषेध करने के लिए कड़े नियम बनाये थे। वर्ष के 56 दिनों में उसने प्राणिवध सर्वथा एवं सर्वत्र बन्द रखने की आज्ञा जारी की थी। वे दिन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में दिये गये पवित्र दिनों तथा जैन परम्परा के पर्व दिनों के साथ प्रायः पूरी तरह मेल खाते हैं। उपर्युक्त शिलालेखों में उसके द्वारा निर्ग्रन्थी (नग्न जैन मुनियों) का विशेष रूप से आदर करने के भी कई उल्लेख हैं। जबकि सामान्य श्रमण शब्द से सर्वप्रकार के जैन साधुओं का बोध होता ही था, जिनमें उस काल में मगध आदि उत्तरी प्रदेशों में बहुलता से पाये जानेवाले आचार्य स्थूलभद्र की परम्परा के खण्डवस्त्रधारी साधुओं का समावेश था। 'राजतरंगिणी' एवं 'आईने अकबरी' के अनुसार अशोक ने कश्मीर में जैनधर्म का प्रवेश किया था और इस कार्य में उसने अपने पूर्वजों चन्द्रगुप्त और बिन्दुसार का अनुकरण किया था। कहीं-कहीं अशोक के पुत्र जालोक को कश्मीर में जैनधर्म के प्रवेश का श्रेय दिया जाता है जो उसने सम्भवतया पिता की स्वीकृति से ही किया था।

ऐसा लगता है कि कलिंग-युद्ध के आस-पास अशोक ने तिष्यरक्षिता नाम की एक बौद्ध सुन्दरी से विवाह कर लिया था। अथेइ सम्राट् अपनी युवा बौद्ध पत्नी को प्रसन्न करने के लिए बौद्धधर्म में सम्भवतया कुछ विशेष दिलचस्पी लेने लगा

था। मथुरा के बौद्ध आचार्य उपगुप्त के भी सम्मेलन और प्रभाव में प्रभावित होकर उसी समय वह आया। कुछ ही समय पश्चात् पाटलिपुत्र में तीसरी बौद्ध संगीति भी हुई। सम्राट् ने बुद्ध-जन्मस्थान पर लगे राज्यकर को भी माफ़ कर दिया तथा अन्य भी कुछ कार्य बौद्धों के अनुकूल किये। अपने अन्तिम दिनों में वह राज्यकार्य से विरत होकर एक त्यागी गृहस्थ या द्रोणी श्रावक के रूप में रहने लगा प्रतीत होता है। उस काल में उसकी दानशीलता अतिशय को पहुँच गयी बतायी जाती है, और सम्भव है कि उसका अधिकतर लाभ बौद्धों को हुआ हो। इन्हीं सब कारणों से बौद्धों की अनुश्रुतियों में वह परम प्रभावक बौद्ध-नरेश के रूप में चित्रित किया गया प्रतीत होता है। ई. पू. 234 या 232 के लगभग अशोक मौर्य की मृत्यु हुई। इसमें सन्देह नहीं है कि उसकी गणना विश्व के सार्वकालीन महान् नरेशों में उचित ही की जाती है।

करुण कुणाल

सम्राट् अशोक की सम्भवतया प्रथम पत्नी विदिशा की श्रेष्ठिकन्या असन्ध्यमित्रा की कुक्षि से उत्पन्न राजकुमार कुणाल अपरनाम सुवश अत्यन्त सुन्दर, सुशिक्षित, सुसंस्कृत, कलारसिक, संगीत-विद्या-निपुण एवं भद्र-प्रकृति का पुरुष-पुंगव था। विशेषकर उसको कुणाल पक्षी सदृश आँखों ने उसके रूप को अत्यन्त आकर्षक बना दिया था। उसका वह देवोपम रूप और अप्रतिम आँखें ही उसका दुर्भाग्य बन गयीं। उसकी विमाता, सम्राट् की गुवा बौद्ध रानी तिष्यरक्षिता ने अपनी मर्यादा भूल कुमार को अपने वश में करने का भरसक प्रयत्न किया, किन्तु राजकुमार शीलवान् और सदाचारी था, अतः रानी अपनी कुचेष्टाओं में सफल न हो पायी। विफल-मनोरथ रानी ने प्रतिशोध की ज्वाला में दग्ध हो एक घृणित षड्यन्त्र रचा। सम्राट् ने राजकुमार को उज्जयिनी का प्रान्तीय शासक नियुक्त कर दिया था और उसने भी पिता की ही भाँति उसी प्रदेश की एक रूपगुण-सम्पन्ना श्रेष्ठिकन्या कंचनमाला से विवाह कर लिया था। वह एकपत्नीव्रती था और अपनी प्रिया से अत्यन्त प्रेम करता था। उसी से उसका सम्प्रति नाम का पुत्र उत्पन्न हुआ। इधर दुष्टा रानी का कुचक्र चला। उसने राजकुमार के नाम सम्राट् से एक आदेशपत्र लिखवाया, जिसमें राजकुमार को पुरस्कृत करने की बात कही गयी थी। रानी ने पत्र को राजमुद्रांकित करके अपने विश्वस्त भृत्य के हाथ राजकुमार के पास भिजवा दिया, किन्तु भेजने से पूर्व उसमें लिखे 'अधीयताम्' शब्द को 'अन्धीयताम्' कर दिया। वह जानती थी कि राजकुमार कुणाल अत्यन्त पितृभक्त एवं राज्यभक्त है। वही हुआ—कुमार ने पत्र देखते ही, सम्राट् पिता की आज्ञा शिरोधार्य करके अपनी दोनों आँखें फोड़ लीं। शीघ्र ही उसे विमाता के कुचक्र का पता भी लग गया। अन्य विपत्ति की भी आशंका थी, अतएव पत्नी और पुत्र को सुरक्षित स्थान में रख, भिखारी के भेष में वह

राजधानी पाटलिपुत्र के लिए चल पड़ा। वहाँ पहुँचकर वह सम्राट के महल के नीचे गाने लगा। गीत के बोलों में उसने अपना परिचय तथा अपने पर किये गये अत्याचार का भी संकेत कर दिया। अशोक पुत्र के मधुर कण्ठ को पहचानता था। उसने भिखारी गायकदेवी राजकुमार को तुरन्त अपने पास बुलवाया और पूरा वृत्तान्त जानकर दुष्टा तिष्यरक्षिता को जीते जी अग्नि में जलवा दिया। उसके साथियों और सहयोगियों को भी कठोर दण्ड दिया। अपने ज्येष्ठ पुत्र की दुर्दशा का कारण एक प्रकार से वह स्वयं ही बना था, इसलिए सम्राट को स्वयं भारी पश्चात्ताप हुआ। उसने पुत्र-वधू और पौत्र को भी बुला लिया और उन तीनों को अब अपने ही पास रखा। इतना ही नहीं, अन्य पुत्रों के होते हुए भी उसने कुणाल-पुत्र सम्प्रति को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर दिया। अशोक के जीवन के अन्तिम कई वर्षों में तो समस्त राज्यकार्य युवराज कुणाल ही करता था और उसकी मृत्यु के बाद वही साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु क्योंकि वह केवल छह या, उसका पुत्र सम्प्रति जो अब बचस्क हो चला था, पिता के नाम से राज्य-कार्य का संचालन करता था। कुणाल का कुलधर्म तो जैन था ही, उसकी माता और पत्नी भी परम जिन-भक्त थीं। स्वभावतः राजकुमार कुणाल एक उत्तम जैन था। उसकी करुण कहानी हेमचन्द्राचार्य आदि जैन कथाकारों का प्रिय विषय रही है।

सम्राट सम्प्रति

सम्राट सम्प्रति मौर्य जिसके अपरनाम इन्द्रपालित, संगत एवं विगताशोक भी थे, ई. पू. 230 के लगभग स्वतन्त्र रूप से सिंहासनासीन हुआ। इसके लगभग दस वर्ष पूर्व से ही राज्यकार्य का वस्तुतः संचालन वही कर रहा था। पहले वृद्ध पितामह अशोक के अन्तिम वर्षों में अपने पिता कुणाल के यौवराज्य काल में, तदनन्तर अशोक की मृत्यु के उपरान्त महाराज कुणाल के प्रतिनिधि के रूप में। ऐसा प्रतीत होता है कि अशोक की मृत्यु के कुछ पूर्व ही एक ऐसा पारस्परिक आन्तरिक समझौता हो गया था जिसके अनुसार सम्प्रति और उसके चचेरे भाई दशरथ के बीच साम्राज्य का विभाजन हो गया था। सम्राट का पद और उत्तराधिकार सम्प्रति को प्राप्त हुआ और उसकी इच्छानुसार उज्जयिनी प्रधान राजधानी बनी जहाँ से उसने साम्राज्य का आधिपत्य किया। दशरथ को साम्राज्य का पूर्वोत्तर भाग मिला, उसकी राजधानी पाटलिपुत्र रही और वह नाम के लिए साम्राज्य के अन्तर्गत एवं सम्राट सम्प्रति के अधीन, किन्तु वास्तव में प्रायः सर्वथा स्वतन्त्र शासक रहा। वही कारण है कि अशोक की मृत्यु के पश्चात् हम दशरथ को पाटलिपुत्र में और सम्प्रति को उज्जयिनी में राज्य करते पाते हैं। अशोक के तत्काल उत्तराधिकारियों में भी इन दोनों का नाम पाते हैं, किन्तु अधिकतर स्रोतों में अशोक महान् के उत्तराधिकारी के रूप में सम्राट सम्प्रति का ही नामोल्लेख है। अपने पितामह अशोक के समान ही सम्प्रति

एक महान् प्रजावत्सल, शान्तिप्रिय एवं प्रतापी सम्राट् था। साथ ही अपने पिता
 कुपाल और माता कंचनमाला से उसे दृढ़ धार्मिक संस्कार तथा भद्र एवं सौम्य
 परिणाम मिले थे। जैनसंघ की मगधी-शाखा के नेता आचार्य सुहस्ति सम्प्रति के
 धर्मगुरु थे। उनके उपदेश से इतने एक आदर्श जैन नरेश की भाँति जीवन व्यतीत
 करने का प्रयत्न किया। इसी समय जैनसंघ की इस शाखा ने भी मगध का परित्याग
 करके उज्जयिनी को अपना प्रधान केन्द्र बनाया, जहाँ उसे सम्राट-जैसे शक्तिशाली
 सम्राट् का साक्षात् एवं यथेच्छ आश्रय प्राप्त था, जबकि मगध पर आजीविक सम्प्रदाय
 के भक्त दशरथ मौर्य का शासन था। सम्प्रति का पारिवारिक जीवन भी सुखी था।
 उसके कई रानियाँ एवं अनेक पुत्र-पुत्रियाँ थीं। परिशिष्टपर्व, सम्प्रतिकथा, प्रभावकचरित
 आदि जैन ग्रन्थों में इस सम्राट् के बड़े प्रशंसनीय वर्णन प्राप्त होते हैं। बौद्ध
 अनुश्रुतियों में भी उसके उल्लेख प्राप्त होते हैं। जिनेन्द्र की भक्ति, जैन गुरुओं का
 सेवा-सम्मान, जैन स्मारकों का निर्माण और जैनधर्म की प्रस्तावना एवं प्रचार के लिए
 सम्राट् सम्प्रति ने जो अथक प्रयत्न किये, उनके लिए उसे श्रावकोत्तम श्रेणिक
 बिम्बिसार की कोटि में रखा जाता है और सर्वमहान् जैन नरेशों में उसकी गणना
 की जाती है। वास्तव में बौद्ध अनुश्रुति में बौद्धधर्म के लिए अशोक ने जितना कुछ
 किया बताया जाता है, जैन अनुश्रुति में जैनधर्म के लिए सम्प्रति ने उससे कुछ
 अधिक ही किया बताया जाता है। अनेक जैन तीर्थस्थानों की वन्दना, पुराने
 जिनायतनों एवं तीर्थों का जीर्णोद्धार, अनगिनत नवीन जिनमन्दिरों एवं मूर्तियों का
 विभिन्न स्थानों में निर्माण एवं प्रतिष्ठा, विदेशों में जैनधर्म के प्रचार के लिए साधु
 एवं गृहस्थ विद्वान् प्रचारकों को भेजना, धर्मोत्सवों का मनाना, साम्राज्य-भर में अहिंसा
 प्रधान जैनाचार का प्रसार करना, इत्यादि अनेक कार्यों का श्रेय इस सम्राट् को दिया
 जाता है। विन्सेण्ट स्मिथ के अनुसार सम्प्रति ने अरब, ईरान, आदि यवन देशों में
 भी जैन संस्कृति के केन्द्र या संस्थान स्थापित किये थे। आचार्य हेमचन्द्र के
 परिशिष्टपर्व प्रभृति जैन ग्रन्थों के आधार से प्रो. सत्यकेतु विद्यालंकार का कहना है
 कि "एक रात्रि में सम्प्रति के मन में यह विचार पैदा हुआ कि अनार्य देशों में भी
 जैनधर्म का प्रचार हो और जैन साधु स्वच्छन्द रीति से विचर सकें। इसके लिए उसने
 इन देशों में जैन साधुओं को धर्म प्रचार के लिए भेजा। साधु लोगों ने राजकीय प्रभाव
 से शीघ्र ही जनता को जैनधर्म और जैनाचार का अनुगामी बना लिया। इस कार्य
 के लिए सम्प्रति ने बहुत से लोकोपकारी कार्य भी किये। गरीबों को मुफ्त भोजन
 बाँटने के लिए दानशालाएँ खुलवायीं। इन लोकोपकारी कार्यों से भी जैनधर्म के प्रचार
 में बहुत सहायता मिली। सम्प्रति द्वारा अनार्य देशों में प्रचारक भेजे गये, इसके प्रमाण
 अन्य ग्रन्थों में भी मिलते हैं। सम्प्रति ने बहुत से जैन विहारों का भी निर्माण करवाया
 था। ये विहार अनार्य देशों में भी बनवाये गये थे।" प्रो. जयचन्द्र विद्यालंकार का
 कथन है कि, "चाहे चन्द्रगुप्त के चाहे सम्प्रति के समय में जैनधर्म की बुनियाद लमिल

भारत के नये राज्यों में भी जा जमी, इसमें सन्देह नहीं। उत्तर-पश्चिम के अन्तर्ग देशों में भी सम्प्रति के समय में जैन प्रचारक भेजे गये और वहाँ जैन साधुओं के लिए अनेक विहार स्थापित किये गये। अशोक और सम्प्रति दोनों के कार्य से भारतीय संस्कृति एक विश्व संस्कृति बन गयी और आर्यावर्त का प्रभाव भारत की सीमाओं के बाहर तक पहुँच गया। अशोक की तरह उसके इस पीते ने भी अनेक इमारतें बनवायीं। राजपूताने की कई जैन कलाकृतियाँ उसके समय की कही जाती हैं। जैन लेखकों के अनुसार सम्प्रति समूचे भारत का स्वामी था।¹ राजस्थान के अपने सर्वेक्षण में, अब से लगभग डेढ़ सौ वर्ष पूर्व, कर्नल जेम्स टाड को उस प्रदेश में कई ऐसे प्राचीन भग्नावशेष मिले थे जो सम्प्रति द्वारा बनवाये गये मन्दिरों के अनुमान किये गये। कमलमेर-दुर्ग के निकट एक ऐसे ही प्राचीन जैन मन्दिर के अवशेषों को देखकर कर्नल टाड ने कहा था, "भारतवर्ष के बहुत से देवार्चक और शैव लोगों की कारीगरी-बहुल मन्दिरावलि के साथ इस जैन मन्दिर की तुलना करने से उसकी अधिक विभिन्नता एवं सरल गठन तथा अनाडम्बरत्व दृष्टिगत होते हैं। मन्दिर की अत्यन्त प्राचीनता उसमें कारीगरी की अल्पता से ही प्रकट है। और इसी सूत्र से हम स्थिर कर सकते हैं कि जिस समय सम्राट् गुप्त के पञ्चम सम्प्रति इस देश के सर्वोपरि राजा थे (ईसा के जन्म के दो सौ वर्ष पूर्व) उस समय का बना हुआ यह मन्दिर है। किवदन्ती से ज्ञात होता है कि राजस्थान और सीराष्ट्र में जितने भी प्राचीन (जैन) मन्दिर विद्यमान हैं, उन सबके निर्माता सम्प्रति हैं। यह मन्दिर पर्वत के ऊपर बना हुआ है और यह पर्वत पृष्ठ ही इसकी भित्तिस्वरूप होने से यह काल के कराल दौड़ों से चूर-चूर न होकर अबतक खड़ा है। इसके पास ही जैनों का एक और पवित्र देवालय दिखाई देता है, किन्तु वह बिल्कुल दूसरी रीति से बनाया गया है।"

कई विद्वानों का यह भी मत है कि अशोक के नाम से प्रचलित शिलालेखों में से अनेक सम्प्रति द्वारा उत्कीर्ण कराये गये हो सकते हैं। अशोक को अपने इस पीत्र से अत्यधिक स्नेह था; अतएव जिन अभिलेखों में 'देवानांप्रियस्स प्रियदर्शिन् राजा' (देवता का प्रियदर्शिन् राजा) द्वारा उनके अंकित कराये जाने का उल्लेख है वे अशोक के न होकर सम्प्रति के हों, यह अधिक सम्भव है; क्योंकि 'देवानांप्रिय' तो अशोक की स्वयं की उपाधि थी, अतएव सम्प्रति ने अपने लिए 'देवानांप्रियस्स-प्रियदर्शिन्' उपाधि का प्रयोग किया। विशेषकर जो अभिलेख जीवहिंसा विषेध और धर्मोत्सावों से सम्बन्धित हैं उनका सम्बन्ध सम्प्रति से जोड़ा जाता है। जो हो, प्रियदर्शी राजा के नामांकित उक्त अभिलेखों के आधार पर उनके प्रसूता नरेश द्वारा धर्मराज्य के सर्वोच्च आदर्शों के अनुरूप एक सदाचारपूर्ण राज्य स्थापित करने के प्रयत्नों के लिए उस राजर्षि की तुलना गौरव के सर्वोच्च शिखर पर आसीन इजराइली सम्राट् दाऊद और सुलेमान के साथ और स्वधर्म की शुद्ध स्थानीय सम्प्रदाय की स्थिति से उठाकर विश्वधर्म बनाने के प्रयास के लिए ईसाई सम्राट् कान्स्टेन्टाइन के साथ की

जाती है। अपनी दार्शनिकता एवं पवित्र विचारों के लिए वह रोमन सम्राट् मार्कस ऑरेलियस का स्मरण दिलाता है तो साम्राज्य विस्तार एवं शासन प्रणाली की दृष्टि से शार्लमन का। उसकी सीधी सरल पुनरुक्तियों से पूर्ण प्रज्ञप्तियों में कामबेल की शैली ध्वनित होती है तो अन्य अनेक बातों में वह खलीफा उमर और अकबर महान् की याद दिलाता है। विश्व के सर्वकालीन महान् नरेन्द्रों की कोटि में इस प्रकार परिगणित यह भारतीय सम्राट्, चाहे वह अशोक हो या सम्प्रति, अथवा दादा-पोते दोनों ही संयुक्त या समानरूप से हों, भारतीय इतिहास के गौरव हैं और रहेंगे। जैनधर्म के साथ उन दोनों का ही निकट एवं घनिष्ठ सम्बन्ध था, और यदि हम सम्प्रति को जीवन-भर जैनधर्म का परम उत्साही भक्त रहा पाते हैं, तो अशोक को भी सर्वथा अजैन तो कह ही नहीं सकते।

जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्राट् सम्प्रति का शासनकाल पचास वर्ष रहा। तिब्बती तारानाथ 54 वर्ष बताता है। ऐसा लगता है कि उसने लगभग बत्तीस वर्ष स्वतन्त्र शासन किया और लगभग दस वर्ष पितामह तथा पिता के शासन में योग दिया था। ई. पू. 190 के लगभग साठ वर्ष की आयु में इस धर्मात्मा नरेश का देहान्त हो गया।

५१

शालिशुक मौर्य

सम्प्रति का ज्येष्ठ पुत्र शालिशुक उज्जयिनी में सम्प्रति का उत्तराधिकारी हुआ। वह भी अपने पिता एवं अधिकांश पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का अनुयायी था। उसने भी दूर-दूर तक जैनधर्म का प्रचार किया, बताया जाता है। वह पराक्रमी भी था। सौराष्ट्र एवं गुजरात प्रदेश सम्भवतया विद्रोही हो गया था। उसने उसे पुनः विजित किया। इसका शासन अपेक्षाकृत अल्पकालीन ही था। उसके पश्चात् आनेवाले नरेशों, वृषसेन, पुष्यधर्मन आदि और भी अल्पकालीन रहे। ई. पू. 164 के लगभग उज्जयिनी में 148 वर्ष शासन करने के उपरान्त वहाँ मौर्य वंश और मौर्यों के अधिकार का अन्त हुआ। मगध में उसके लगभग बीस वर्ष पूर्व ही दशरथ मौर्य के अन्तिम वंशज की हत्या करके उसका ब्राह्मण मन्त्री पुष्यमित्र शुंग राज्य हस्तगत कर चुका था। शुंगों की यह राज्यक्रान्ति ब्राह्मण-धर्म पुनरुद्धार की सूचक एवं प्रबल पोषक थी। इसके पश्चात् उत्तर भारत में जैनधर्म को सम्भवतया फिर कभी इसके पूर्व-जैसा राज्याश्रय प्राप्त नहीं हुआ।

खारवेल-विक्रम युग

(लगभग ई. पू. 200—सन् ईसवी 200)

सम्राट् खारवेल

कलिंग-चक्रवर्ती सम्राट् महामेघवाहन ऐल खारवेल दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व का सर्वाधिक शक्तिशाली, प्रतापी एवं दिग्विजयी नरेन्द्र था, साथ ही यह राजर्षि परमजिन-भक्त था। अपने समय में यदि उसने कलिंग देश को भारतवर्ष की सर्वोपरि राज्यशक्ति बना दिया, तो लोकहित और जैनधर्म की प्रशिक्षण के भी अनेक चिरस्मरणीय कार्य किये थे।

पूर्वी भारत में, उत्तर में गंगा नदी के मुहाने से लेकर दक्षिण में गोदावरी नदी के मुहाने तक विस्तृत बंगाल की खाड़ी का तटवर्ती भूभाग जंगम, कलिंग और कोसल नाम के तीन भागों में विभक्त था, अतएव कभी-कभी त्रिकलिंग भी कहलाता था, और सामान्यतया संयुक्त रूप से कलिंग कहलाता था। वर्तमान में उसे ही उड़ीसा कहते हैं।

जैनधर्म के साथ कलिंग देश का अत्यन्त प्राचीन सम्बन्ध रहा है। प्रथम तीर्थंकर आदिजिन ऋषभदेव का यहाँ समवसरण आया था। तभी से देश में उनकी पूजा प्रचलित हुई। अठारहवें तीर्थंकर अरनाथ का प्रथम पारणा जिस रायपुर में हुआ था, उसकी पहचान महाभारत में उल्लेखित कलिंग देश की राजधानी राजपुर से की जाती है। तीर्थंकर पार्श्व का सम्पर्क भी कलिंग देश से पर्याप्त रहा था। स्वयं भगवान् महावीर का पदार्पण वहाँ हुआ था। तत्कालीन कलिंग नरेश जितशत्रु के साथ राजा सिद्धार्थ की छोटी बहन यशोदया विवाही थी और उन्हीं की पुत्री राजकुमारी यशोदा के साथ महावीर के विवाह की बात चली थी। जितशत्रु इस प्रकार महावीर के फूफा थे और भगवान् के जन्मोत्सव के अवसर पर भी कुण्डलपुर पधारे थे। उनके समय में ही भगवान् का समवसरण कलिंग के कुमारी-पर्वत पर आया था और तभी जितशत्रु ने मुनिदीक्षा ले ली थी तथा भगवान् के जीवनकाल में ही उन्हें केवलज्ञान भी प्राप्त हो गया था। यह जितशत्रु हरिवंश में उत्पन्न हुए

वे। नन्दिवर्धन के कलिंग पर आक्रमण के समय उनका ही एक वंशज कलिंग नरेश था। इससे पता चलता है कि वंश सम्पन्न हो गया लगता है तथा उसी की किसी अन्य शाखा का उस देश पर अधिकार हो गया प्रतीत होता है। इस नवीन वंश के राजा चण्डराय के समय में अशोक पौर्य का कलिंग पर इतिहास-प्रसिद्ध विध्वंसकारी आक्रमण हुआ था। तदनन्तर सम्भवतया चेतिराज ने नये वंश की स्थापना की थी। कलिंग के इस तृतीय राज्यवंश के संस्थापक चेतिसज के पुत्र या पौत्र क्षेमराज ने सम्राट् सम्प्रति के शासन काल में कलिंग को पुनः स्वतन्त्र कर लिया। कुछ विद्वानों के मतानुसार कलिंग के ये राजे हैहयवंशी थे। खारवेल स्वयं को ऐल, चैत्र, चेति या चेदिवंशी कहता है। यों चेदि भी हैहयवंश की ही शाखा थी और स्वयं हैहयवंश हरिवंश की शाखा थी। जो हो, कम से कम भगवान् पार्श्वनाथ के समय से ही कलिंग देश के राजागण जैनधर्म के अनुयायी रहते आये थे। सम्भवतया यही कारण है कि बौधायनसूत्र, महामारत, आदित्यपुराण आदि ब्राह्मणीय ग्रन्थों में कलिंग देश को अनार्य देश कहा है। वहाँ के निवासियों को वेदबाह्य, वज्रविरोधी एवं धर्म-कर्म-विहीन कहा है तथा आर्य देश के द्विजों को उस देश में जाने का निषेध किया है, और यदि वहाँ गये तो उन्हें धर्मभ्रष्ट, जातिच्युत एवं पतित हो जाने का भय दिखाया है। इसके विपरीत जैन साहित्य में कलिंग की 25% आर्य देशों में गणना की गयी है और उसे धर्म-क्षेत्र सूचित किया है।

उपरोक्त क्षेमराज का पुत्र वृद्धिराज या और वृद्धिराज का पुत्र भिक्षुराज खारवेल था। वृद्धिराज की मृत्यु अपने पिता के जीवन काल में ही हो गयी थी, अतएव क्षेमराज का उत्तराधिकारी उसका पौत्र खारवेल हुआ। खारवेल का जन्म ईसा पूर्व 190 के लगभग हुआ प्रतीत होता है, पन्द्रह वर्ष की आयु में उसे युवराज-पद प्राप्त हुआ और चौबीस वर्ष की आयु में उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके राज्यकाल के तेरह-चौदह वर्ष का विशद वर्णन उसके स्वयं के शिलालेख में प्राप्त है, जिसके (ई. पू. 152 के) उपरान्त यह नरेश कितने वर्ष और जीवित रहा तथा उसने क्या-क्या किया, यह जानने का कोई साधन उपलब्ध नहीं है। सम्राट् खारवेल का यह विश्वविश्रुत शिलालेख वर्तमान उड़ीसा राज्य के पुरी जिले में भुवनेश्वर से तीन मील की दूरी पर स्थित खण्डगिरि-पर्वत के उदयगिरि नामक उत्तरी भाग पर बने हुए दधीगुम्फा नाम के एक विशाल एवं प्राचीन कृत्रिम गुहामन्दिर के मुख एवं छत पर सत्रह पंक्तियों में लगभग चौरासी वर्गफीट के विस्तार में उत्कीर्ण है। लेख की लिपि ब्राह्मी है और भाषा अर्धमागधी तथा जैन प्राकृत मिश्रित अपभ्रंश है। स्वस्तिक, नन्धावर्त, अशोकवृक्ष, मुकुट आदि विविध जैन सांस्कृतिक मंगल-प्रतीकों से युक्त इस ऐतिहासिक अभिलेख का भाव इस प्रकार है—अरहन्तों और सर्व सिद्धों को नमस्कार करके चैत्र (चेति) राजवंश की प्रतिष्ठा के प्रसारक, प्रशस्त एवं शुभ लक्षणों से युक्त,

चारों दिशाओं के आधारस्तम्भ, अनेक गुणों से विभूषित, कलिंगदेश के अधिपति, महाराज महामेघवाहन गेल (आर्य) खारवेलश्री द्वारा यह लेख अंकित कराया गया, जिन्होंने अपने कान्त प्रतापी पिंगलवर्ण (स्वर्णाभ) किशोर शरीर द्वारा पन्द्रह वर्ष पर्यन्त कुमार क्रीड़ाएँ कीं। तदनन्तर लेखन, मुद्रा, चित्रकला, गणित, व्यवहार, धर्म, राजनीति और शासन-व्यवस्था आदि सरस्त विद्याओं में पारंगत होकर नौ वर्ष तक युवराज-पद से शासन किया। आयु का चौबीसवाँ वर्ष समाप्त होने पर पूरे यौवनकाल में उस उत्तरोत्तर बुद्धिमान महान् विजेता का कलिंग के तृतीय राज्यवंश में जीवन के लिए महाराज्याभिषेक हुआ। सिंहासनासीन होते ही अपने राज्य के प्रथम वर्ष में उसने आँधी-तूफान आदि दैवी प्रकोपों से नष्ट हुए राजधानी कलिंगनगर के गोपुर (नगर द्वार), प्राकार, प्रासादों आदि का जीर्णोद्धार कराया, शीतल जल के जलाशयों, स्नानागारों, निर्झरों आदि के बाँध बँधवाये तथा उद्यानों (बाग-बगीचों) का पुनः निर्माण कराया और अपने पैतीस लाख प्रजाजनों को रंजयमान किया, सुखी किया। दूसरे वर्ष में शातकर्णि (दक्षिणापथ का सातवाहनवंशी नरेश शातकर्णि प्रथम) की पराजय करके घुड़सवार, हाथी, पैदल और रथों की अपनी विशाल सेना पश्चिम दिशा में भेजी, तथा कृष्णवेणा (कृष्णा) नदी के तट पर पहुँचकर मूषिकों (अस्सिकों) की राजधानी का विध्वंस कराया। तीसरे वर्ष में गन्धर्व-विद्याविशारद इस नृपति ने नृत्य-संगीत-वादित्र के प्रदर्शनों तथा अनेक (जिनेन्द्र मगवान के रथयात्रा आदि) उत्सवों एवं (नाटक-खेल आदि) समारोहों के आयोजनों द्वारा अपने राज्य के नागरिकों का प्रभूत मनोरंजन किया। चौथे वर्ष में उसने पूर्ववर्ती कलिंग युवराजों के आवास के लिए निर्मित उस विद्याधर-निवास में जो इस समय तक ज्यों का त्यों था, तनिक भी जीर्ण-शीर्ण नहीं हुआ था, निवास करते हुए उन रट्टिक और भोजक राजाओं से रत्नों की भेंट लेकर अपने चरणों में नमस्कार कराया जिनके कि राजमुकुट एवं राजछत्र उसने नष्ट कर दिये थे, अर्थात् जिन्हें पराजित करके उसने अपने अधीन कर लिया था। पाँचवें वर्ष में यह नरेन्द्र उस नगर की राजधानी (तोशल्लि या कलिंगनगर) तक निकलवा लाया, जिसे कि नन्दराज (नन्दिवर्धन) ने महावीर निर्वाण संवत् 109 (ई. पू. 424) में प्रथम बार खुदवाया था। छठे वर्ष में अपना राज्य-ऐश्वर्य चरितार्थ करने के लिए इस नृपति ने अपनी प्रजा के कर आदि माफ़ कर दिये, दीन-दुखियों से दया का बरताव किया, उन्हें सुखी और सन्तुष्ट बनाया, और पीर-जानपदों (नगरपालिकाओं, ग्राम-पंचायतों, व्यावसायिक निगमों, श्रेणियों आदि विविध जनतन्त्रीय संस्थाओं) पर सैकड़ों-हज़ारों विभिन्न प्रकार के अनुग्रह किये। सातवें वर्ष में उसकी रानी ने, जो बंगदेश के वज्रधर राज्य की राजकुमारी थी, एक पुत्र को जन्म दिया। आठवें वर्ष में महाराज खारवेल ने विशाल सेना के साथ उत्तरपथ की विजय-यात्रा की। सत्रहवें वर्ष में उसने मगधराज्य पर आक्रमण किया और

गोस्थगिर (मया जिले की बराबर पहाड़ी) पर भीषण युद्ध करके राजगृह-नरेश को त्रस्त कर दिया। सम्राट् खारवेल के भय से यवनराज दिमित्र (मध्य एशिया का यूनानी नरेश डेमेट्रियस जिसने उस समय भारत पर आक्रमण किया था) अपनी समस्त सेना, युद्ध सामग्री, वाहनों आदि को जहाँ-तहाँ छोड़कर मथुरा से अपने देश की भाग गया। यमुनातट पर (मथुरा में) पहुँचकर पुष्पित-पल्लवित कल्पवृक्ष तुल्य वह राजाधिराज खारवेल अपने समस्त अधीनस्थ राजाओं तथा अश्व-गज-रथ-सैन्य सहित, सब गृहस्थों द्वारा पूजित (उस नगर के प्रसिद्ध देव-निर्मित) स्तूप की पूजा करने गया। उसने सभी याचकों को दान दिया, ब्राह्मणों को भरपेट भोजन कराया और अरहन्तों की पूजा की। नौवें वर्ष में उसने (कलिंग की) प्राचीन नदी (महानदी) के दोनों किनारों पर अड़तीस लाख मुद्रा व्यय करके महा-विजय-प्रासाद नाम का अतिसुन्दर एवं विशाल राजमहल बनवाया। दसवें वर्ष में उसने अपनी सेनाओं को विजययात्रा के लिए पुनः भारतवर्ष (उत्तरापथ) की ओर भेजा और परिणामस्वरूप उसके सब मनोरथ सफल हुए। ग्यारहवें वर्ष में उसने दक्षिणदेश की विजय की। विथुण्डनगर (बृधुदककम्पपुरी) का ध्वंस किया। उसमें गदहों के हल चलवा दिये और 113 वर्ष से संगठित चले आये तमिल राज्यों के संघ को छिन्न-भिन्न कर दिया। बारहवें वर्ष में सम्राट् खारवेल ने अपने आक्रमणों द्वारा उत्तरापथ के राजाओं में आतंक उत्पन्न कर दिया, उन्हें अस्त-व्यस्त कर दिया, मगध की जनता में भारी भय का संचार कर दिया, अपने हाथियों को गंगानदी में पानी पिलाया तथा उन्हें (पाटलिपुत्र के) पांगेय नामक राजप्रासाद में प्रविष्ट कर दिया और मगधराज बृहस्पतिभिन्न से अपने चरणों में प्रणाम करवाया। पूर्वकाल में नन्दराज द्वारा कलिंग से लायी गयी कलिंगजिन (अग्रजिन या आदि-जिन) की प्रतिमा को तथा अंग-मगध राज्यों के बहुमूल्य रत्नों एवं धन-सम्पत्ति को विजित सम्पत्ति के रूप में लेकर अपनी राजधानी में वह वापस आया। उपायन तथा विजित सम्पत्ति के रूप में प्राप्त धन से उसने अपनी महती विजय के चिह्नस्वरूप (मन्दिरों पर) ऐसे अनेक शिखर बनवाये जिनमें रत्न आदि सैकड़ों बहुमूल्य पदार्थों से सुन्दर पच्चीकारी की गयी थी। उसी वर्ष उसने सुदूर दक्षिण (मदुरा) के पाण्ड्यनरेश से भेंट अथवा कर रूप से प्राप्त अभूतपूर्व एवं आश्चर्यकारी उपायन, मणि-माणिक्य-मुक्ता, हाथी, घोड़े, सेवकों आदि से भरे जलपोत प्राप्त किये। इस प्रकार यह महान् नरेन्द्र समस्त प्रजाजनों एवं अधीन नृपतियों को वशीभूत करता हुआ और अपने विजयचक्र द्वारा साम्राज्य का विस्तार करता हुआ अपनी राजधानी में सुख से निवास करता था। अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में इस राजर्षि ने सुषर्यत-विजय-चक्र (प्रान्त) में स्थित कुमारी-पर्वत पर अपने राजभक्त प्रजाजनों द्वारा पूजे जाने के लिए उन अर्हन्तों की पुण्य-स्मृति में निषयकार्य निर्माण करायी थी जो निर्वाण-लाभ कर चुके थे। तपोधन मुनियों के आवास के लिए

उसने तैर्णे (मुफाएँ) बनवायीं, स्वयं उपासक (श्रावक) के व्रत ग्रहण किये और अर्हन्मन्दिर के निकट उसने एक विशाल मनोरम सभामण्डप (अर्कासन-गुम्फा) बनवाया, जिसके मध्य में एक बहुमूल्य रत्न-जटित मानस्तम्भ स्थापित कराया। उस सभामण्डप में सम्राट ने उन समस्त सुकृत सुविहित ज्ञानी तपस्वी श्रमणों (जैन मुनियों) का सम्मेलन किया जो चारों दिशाओं से दूर-दूर से उसमें सम्मिलित होने के लिए पधारे थे। इस महामुनि-सम्मेलन में इस राजर्षि ने भगवान् की दिव्यध्वनि में उच्चरित उस श्रान्तिवाची द्वादशांग-श्रुत का पाठ कराया, जो कि महावीर संवत् 165 (ई. पू. 362 भद्रबाहु श्रुतकेवली के निधनकाल) से निरन्तर हास को प्राप्त होता आ रहा था (तथा उसके उद्धार का प्रयत्न किया) और इस प्रकार उस क्षेमराज (के पौत्र) वृद्धिराज (के पुत्र) भिक्षुराज (राजर्षि) धर्मराज नृपति ने भगवान् की उक्त कल्याणकारी वाणी के सम्बन्ध में प्रश्नचर्चा करते हुए, उसका श्रवण और चिन्तन करते हुए समय बिताया। विशिष्ट गुणों के कारण दक्ष, समस्त धर्मों का आदर करने वाला, अप्रतिहत चक्रवाहन (जिसके रथ, ध्वजा और सेना की गति को कोई न रोक सके), साम्राज्यों का सतत विजयी एवं विशाल साम्राज्य का संचालक और संरक्षक, राजर्षियों के वंश में उत्पन्न, महाविजयी राजचक्री, ऐसा यह राजा खारवेलश्री था।”

इस राजकीय अभिलेख का महत्त्व सुस्पष्ट है। समय की दृष्टि से सम्राट प्रियदर्शी (अशोक वा सम्प्रति) के शिलालेखों के पश्चात् इसी का नम्बर आता है। ऐतिहासिक दृष्टि से तो यह अभिलेख प्राचीन भारत के समस्त उपलब्ध शिलालेखों में सर्वोपरि है। उस काल का यही एकमात्र ऐसा लेख है जिसमें नायक के वंश, वर्षसंख्या, देश (कलिंग) की जनसंख्या, देश जाति, पद-नाम इत्यादि अनेक बहुमूल्य ऐतिहासिक तथ्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। प्रो. राखालदास बनर्जी के मतानुसार यह लेख पौराणिक वंशावलियों की पुष्टि करता है और ऐतिहासिक कालगणना को पाँचवीं शती ई. पू. के मध्य के लगभग तक पहुँचा देता है। देश के लिए भारतवर्ष नाम का सर्वप्रथम शिलालेखीय प्रयोग इसी लेख में प्राप्त होता है। कलिंग देश की तत्कालीन राजनीति, लोकदशा, सामाजिक एवं धार्मिक जीवन, राजा की योग्यता, राजकुमारों की शिक्षा-दीक्षा और प्रजा के प्रति राजा के कर्तव्यों का यह लेख सुन्दर दिग्दर्शन करता है। बिहार और उड़ीसा प्रान्तों के सम्बन्धों की ऐतिहासिकता को भी साधक दो सहस्र वर्ष पूर्व तक ले जाता है।

इस विषय में तो किसी को भी कोई सन्देह नहीं है कि इस लेख को अंकित करानेवाला नरेश जैनधर्म का अनुयायी और परम जिनभक्त था, अतएव जैनधर्म के इतिहास के लिए तो यह शिलालेख अत्यन्त मूल्यवान् है। कई जैन अनुश्रुतियों की पुष्टि भी इस लेख से होती है। भद्रबाहु श्रुतकेवली के उपरान्त मौखिक द्वार से प्रवाहित चले आये आगमश्रुत का क्रमिक हास, खारवेल द्वारा उसके उद्धार का

प्रयत्न, महामुनि-सम्मेलन और आगमज्ञान को पुस्तकारुद्ध करने तथा पुस्तक साहित्य का प्रणयन करने के लिए चलाये गये सरस्वती आन्दोलन का प्रारम्भ इत्यादि तथ्यों का इस लेख से समर्थन होता है। इसके साथ ही यह अभिलेख महाराज खारवेल के व्यक्तित्व, चरित्र, जीवन की कालक्रमिक घटनाओं, दिग्विजयों, पराक्रम और प्रताप, लोकोपकार एवं लोकसुख के लिए किये गये कार्यों, प्रजावत्सलता, धर्मोत्साह एवं धार्मिक कार्यों इत्यादि को प्रतिबिम्बित करनेवाला निर्मल दर्पण है। इस लेख से सुविदित है कि राजाधिराज खारवेल न केवल अपने युग का ही आसमुद्रक्षितीश महान् चक्रवर्ती सम्राट् था, बरन् वह सर्वकालीन महान् सम्राटों में परिगणित होने के सर्वथा योग्य है। राजनीति, प्रशासन, युद्धविद्या, लोक-व्यवहार, साहित्य, कला एवं प्रबुद्ध धार्मिकता इत्यादि एक महान् सम्राट् के उपयुक्त समस्त अंगों से उसका व्यक्तित्व परिपुष्ट था, और आश्चर्य यह है कि मात्र तेरह वर्ष के राज्यकाल में उसने इतना सब सम्पादन कर लिया तथा कलिंग साम्राज्य को उसकी सर्वतोमुखी उन्नति के ऐसे शिखर पर पहुँचा दिया जो 'न भूतो न भविष्यति' था। उसके उपरान्त भी अवश्य ही वह कितने ही वर्ष जीवित रहा होगा, किन्तु उस शेष राज्यकाल का ऐसा ही विवरण अंकित कराने का अवसर आने के पूर्व ही यह महान् जैन सम्राट् दिवंगत हो गया, लमता है।

परम जैन होते हुए भी सम्राट् खारवेल सर्वधर्मसहिष्णु एवं अत्यन्त उदारशय नृप था, और अहिंसा धर्म का पालक सच्चा धर्मवीर होते हुए भी ऐसा पराक्रमी शूरवीर था कि उसने प्रचण्ड विदेशी आक्रमणकारी यूनानी नरेश दमित्र को स्वदेश कलिंग से अतिदूर पथुरा, शायद उससे भी आगे जाकर भारत के उत्तर-पश्चिमी सीमान्त से बाहर खदेड़ दिया था।

खारवेल द्वारा निर्मापित कला-कृतियों के उपलब्ध अवशेषों पर से कलाधर्मज्ञों ने उसके गुहा-मन्दिरों के स्थापत्य एवं मूर्ति-पटों को भी सुन्दर और निराला घोषित किया है। जिनेन्द्र भगवान् का अनन्य उपासक यह राजर्षि सम्भवतया श्रावक के व्रतों को तो अपने राज्यकाल के तेरहवें वर्ष में ही अथवा उसके कुछ पूर्व ही अंगीकार कर चुका था, सम्भव है कि उसके कुछ वर्ष पश्चात् उसने जो पहले ही स्वयं को 'भिक्षुराज' कहता है, गृहस्थ और राज्यकार्य से विराम लेकर जैन मुनि के रूप में अपने उसी कुमारी-पर्वत पर तपश्चरण करके आत्मसाधन किया हो।

राजर्षि खारवेल का प्रायः पूरा परिवार, अनेक राजपुरुष तथा प्रतिष्ठित प्रजाजन भी जैनभक्त थे। जिनेन्द्र का धर्म उस काल में कलिंग का राष्ट्रधर्म था और प्रजा का बहुभाग भी इसी धर्म का अनुयायी रहा प्रतीत होता है। पूर्वोक्त उदयगिरि की स्वर्गपुरी अपरनाम वैकुण्ठपुरी गुफा में अंकित एक लेख के अनुसार कलिंग चक्रवर्ती श्रीखारवेल की अग्रमहिषी ने, जो राजन ललाक हल्यसिंह की सुपुत्री थी, कलिंग के श्रमणों के निवास के लिए अर्हन्त-प्रासाद के निकट भाग में उक्त लेख

निर्मित करायी थी। वहीं मंचपुरी गुफा के निचले भाग में स्थित पातालपुरी नामक गुफा को 'महाराज ऐल मशमधवाहन के वंशज' (सम्भवतया पुत्र एवं उत्तराधिकारी) कलिगधिपति महाराज कुदेपथ्री ने निर्मित कराया था। यमपुरी नामक गुफा राजकुमार बडुख ने बनवायी थी—सम्भवतया उसने स्वयं उसी गुफा में धर्मसाधन किया था। व्याघ्र गुफा को नगर न्यायाधीश भूति ने निर्मित कराया था। उसी के निकटस्थ सर्पगुफा में कम्भ, हलसिण और चूलकम्भ नाम के व्यक्तियों के लेख हैं, जिनसे लगता है कि गुफा के प्रासाद को इनमें से प्रथम दो ने तथा उसके अन्तर्गृह को तीसरे ने बनवाया था। जम्बेश्वर गुफा में महाबारिधा और नाकिय के नाम अंकित हैं। छोटी हाथीगुफा आत्मशुद्धि नामक व्यक्ति द्वारा दान की गयी थी। तस्वगुफा कुसुम नामक पादमूलिक (राज्यकर्मचारी विशेष) द्वारा निर्मापित है। अनन्तगुफा भी श्रमणों के ही उपयोग के लिए बनवायी गयी थी। इन विभिन्न लेखों, गुहामन्दिरों और उनमें अंकित शिलालेखों से प्रकट है कि खारवेल के बाद भी कई शताब्दियों तक छण्डगिरि-उदयगिरि जैनों का पवित्र तीर्थ और जैन श्रमणों का प्रिय आवास बनी रही। खारवेल का वंश भी कलिग देश पर उसके उपरान्त लगभग दो-डेढ़ सौ वर्ष पर्यन्त राज्य करता रहा प्रतीत होता है, किन्तु ये उत्तरवर्ती राजे मौल्य महत्त्व के ही रहे लगते हैं। तोसलि यदि खारवेल की राजधानी नहीं था तो कम से कम एक महत्त्वपूर्ण नगर था। और वह उस काल में एक महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र था। कुछ ग्रन्थों में भगवान् महावीर के तोसलि में पधारने के तथा कालान्तर में तोसलिक नामक किसी राजा द्वारा सुरक्षित जिन-प्रतिमा के उल्लेख पाये जाते हैं। जैन साहित्य के अनुसार कंचनपुर भी कलिग का एक प्रसिद्ध नगर था। ऐसा भी विदित होता है कि कलिग देश में भगवान् आदिनाथ और महावीर के अतिरिक्त भगवान् पार्श्वनाथ की विशेष उपासना रही।

यवनराज मिनेण्डर

खारवेल युग में ही यवनराज मेनेन्द्र (मिनेण्डर) हुआ। बौद्ध साहित्य में उसका उल्लेख मिलिन्द नाम से हुआ है। मिलिन्दपञ्चो (राजा मिलिन्द के प्रश्न) नामक प्राचीन ग्रन्थ से भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्तवर्ती सागल (स्यालकोट) के इस यूनानी नरेश की धार्मिक एवं दार्शनिक जिज्ञासा का पता चलता है। कहा जाता है कि उसने जैन मुनियों से भी सम्पर्क बनाया था, उन्हें प्रश्न भी दिया था, उनसे प्रश्न पूछे थे और धर्म-चर्चा की थी। स्व. डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल ने एक प्राचीन जैन ग्रन्थ में इस यूनानी नरेश का नाम मेनेन्द्र भी खोज निकाला था; अन्यत्र भारतीय साहित्य में सिवाय उपर्युक्त मिलिन्दपञ्चो के उसका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिला है। इसका समय दूसरी शती ई. पू. का उत्तरार्ध अनुमानित है।

रानी उर्विला

मौर्ययुग के अन्त के लगभग मथुरा में प्रीतिमुख नामक राजा राज्य करता था। उसकी एक पत्नी बौद्ध थी और दूसरी जैन, जिसका नाम उर्विला था। उर्विला पट्टरानी थी, किन्तु राजा बौद्ध रानी के प्रभाव में अधिक था। उस समय मथुरा के देवनिर्मित प्राचीन जैन स्तूप के अधिकार को लेकर बौद्धों और जैनों में विवाद हुआ और बौद्ध रानी की सहायता से बौद्धों ने स्तूप पर अधिकार कर लिया था। महारानी उर्विला ने दूर-दूर से विद्वानों को बुलावा, शास्त्रार्थ कराया और अथक प्रयत्न करके यह सिद्ध करवा दिया कि स्तूप जैनों का ही है। उसने स्तूप पर जैनों का पुनः अधिकार कराया और बड़े समारोह के साथ नगर में जिनेन्द्र का रथ निकलवाया। तभी इस धर्मात्मा रानी ने अन्न-जल ग्रहण किया।

सामयिक : महाराज आषाढ़सेन की मूर्ति, दिल्ली के संग्रहालय में

मौर्यों के अस्तकाल में उत्तरप्रांचाल जनपद की राजधानी अहिच्छत्रा में शौनकायन नामक राजा ने अपनी स्वतन्त्र सत्ता स्थापित कर ली थी। प्रायः उसी काल में वत्स की राजधानी कौशाम्बी में एवं शूरसेन की राजधानी मथुरा में भी स्वतन्त्र राज्य-सत्ताएँ उदय में आ गयी थीं। इन तीनों राज्यवंशों में परस्पर निकट सम्बन्ध भी थे और यह सभी जैनधर्म के अनुयायी अथवा प्रश्रयदाता रहे प्रतीत होते हैं। संयोग से ये तीनों ही राजधानियाँ जैन परम्परा की पुण्यभूमियाँ भी थीं, जिनमें अहिच्छत्रा तो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ की तप एवं केवलज्ञान भूमि थी। उक्त राजा शौनकायन का पुत्र राजा वंगपाल था, जिसकी रानी त्रैवर्ण्य राजकन्या थी, अतएव त्रैवर्णी कहलाती थी। राजा वंगपाल और त्रैवर्णी रानी का पुत्र राजा भागवत था, जिसकी पत्नी वैहिदर राजकुमारी थी। इस वैहिदरी रानी से उत्पन्न राजा भागवत का पुत्र आषाढ़सेन था। उस समय कौशाम्बी में आषाढ़सेन की बहन गोपाली का पुत्र बृहस्पतिमित्र राजा था। महाराज आषाढ़सेन ने अपने राज्य के दसवें वर्ष में अपने भानजे की राजधानी कौशाम्बी के निकटस्थ जैनतीर्थ पभोसा (प्रभासगिरि) के ऊपर काश्यपीय अरहन्तों (जैन मुनियों) के लिए गुफा निर्माण करायी थी। पभोसा छठे तीर्थंकर पंचप्रभु का तप एवं केवलज्ञान प्राप्ति का स्थान है। वहाँ की उक्त प्राचीन गुफा में उक्त महाराज आषाढ़सेन के दो शिलालेख अंकित हैं तथा कतिपय प्राचीन आयागपट्टों, मूर्तियों आदि के अन्य जैन अवशेष मिले हैं।

वीर विक्रमादित्य

यूनानी सम्राट् सिकन्दर महान् के आक्रमण ने उत्तरी सिन्ध और पंजाब के जिन गणतन्त्रों को छिन्न-भिन्न कर दिया था, उनमें एक मल्लोई या मालवगण था।

ये लोग स्वदेश का परित्याग करके दक्षिण-पूर्व की ओर चले गये और राजस्थान के वैराटप्रदेश में जा बसे। किन्तु वहाँ भी न जम पाये और सम्भवतया अशोक या सम्राट के समय में वे अवनति प्रदेश में आ बसे। उन्हीं के कारण यह प्रदेश कालान्तर में मालवा कहलाने लगा। सम्राट के निर्वाण उत्तराधिकारियों के समय में उन्होंने अपनी संख्या, गणतन्त्र और गणसत्ता प्रमत्त कर दी और स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर ली, और सम्भवतया शुंग राज्यक्रान्ति का लाभ उठाकर तथा उज्जयिनी को अपना केन्द्र बनाकर अपनी गणसत्ता स्वतन्त्र स्थापित कर ली। शायद यही कारण है कि शुंगों ने जब इस प्रदेश पर अधिकार किया तो अपनी राजधानी उज्जयिनी को न बनाकर विदिशा को बनाया। ऐसा प्रतीत होता है कि कलिंग-युद्धवर्ष खारवेण ने मध्यभारत के अपने अभियान में उक्त मालवगण को भी विजय कर लिया था और सम्भवतया उसकी गणतन्त्रात्मक सत्ता को भी मान्य कर लिया था, किन्तु गणाध्यक्ष के पद पर स्वयं अपना एक राजकुमार नियुक्त कर दिया था। इस राजकुमार का वंशज, सम्भवतया पौत्र, महेन्द्रादित्य गर्दभिल्ल ई. पू. 74 में मालवगण का अध्यक्ष और उज्जयिनी का स्वामी था। यह नगर पूर्वकाल से ही जैनधर्म से सम्बन्धित रहता आया था और उस काल में तो मध्यभारत में विशेषकर आचार्य स्थूलिभद्र एवं सुहस्रि की परम्परा के जैनों का प्रधान केन्द्र था। जैन साधुओं और साध्वियों का वहाँ स्वच्छन्द विहार होता था। कालक द्वितीय उस समय के प्रसिद्ध जैनाचार्य थे जो पूर्वावस्था में एक राजकुमार थे। उनकी बहन सरस्वती भी जैन साध्वी थी। वह अनिच्छा सुन्दरी थी। गर्दभिल्ल उसे देखते ही उसके रूप पर बेतरह आसक्त हो गया और उसने धर्म की मर्यादा को भुलकर उक्त साध्वी को जबरदस्ती अपहरण कराके अपने मङ्गल में उटवा मँगाया। समाचार पाते ही कालक ने राजा के पास जाकर उसे बहुत समझाया तथा अनेक प्रतिष्ठित व्यक्तियों से भी जोर डलवाया, किन्तु उस स्वेच्छाचारी सत्ताधारी को उसके दुष्ट अभिप्राय से विरत करने में सफल न हो सका। गर्दभिल्ल के भय से आसपास के अन्य राजे भी हस्तक्षेप करने का साहस न कर सके। कालक के राज्यकुलोत्थन्न क्षत्रियोचित संस्कार जाग्रत हो चुके थे, अतएव सन्वस्त कालक सिन्धुकूल पर अवस्थित शकस्थान के शाहियों के पास पहुँचा और उन्हें ससैन्य साथ लेकर तथा मार्ग के अन्य राजाओं की भी सहायता प्राप्त करता हुआ ई. पू. 66 में उज्जयिनी के दुर्ग-द्वार पर आ धमका। चार वर्ष तक निरन्तर युद्ध चला। अन्ततः ई. पू. 61 में कालक के कौशल और शक शाहियों के पराक्रम से गर्दभिल्ल पराजित होकर बन्दी हुआ और सरस्वती का तथा मालवगण का उक्त अत्याचारी के कुशासन से उद्धार हुआ। उसकी याचना पर कालक ने उसे प्राणदान देकर देश से निर्वासित कर दिया। किन्तु अब शाही उज्जयिनी में जम गये। अपनी विजय के उपलक्ष्य में उन्होंने एक शक संवत् भी प्रचलित कर दिया, जो पूर्व शक

संवत् भी कहलाता है। यह संवत् उस देश एवं काल में प्रचलित महावीर संवत् की भाँति कार्तिकादि था। सम्भवतया पुराने संवत् में ही नयी कालगणना शुरू कर दी गयी थी।

शकों का यहाँ जम बैठना स्वाधीनता-प्रेमी मालवगण सहन नहीं कर सके। स्वयं कालक की यह स्थिति अभिप्रेत नहीं थी। महेन्द्रादित्य गर्दीभिल्ल का सुयोग्य एवं तेजस्वी पुत्र वीर विक्रमादित्य तो इस स्थिति से अत्यन्त असन्तुष्ट था। फलतः उसने मालवजनों को अपने नेतृत्व में सुसंगठित किया और ई. पू. 57 में शकों को उज्जयिनी प्रदेश से निकाल बाहर किया। मालवगण ने अपनी यह विजय बड़े उल्लास और समारोह से मनायी। वीर विक्रमादित्य को उन्होंने अपना गणराजा घोषित किया। उसे 'शकारि' की उपाधि प्रदान की, और उक्त विजय वर्ष से एक संवत् का प्रवर्तन किया जो कई प्राकृतिक्यों वगैरह मालवगण, मालववंशकीर्ति, मालवेश अथवा मालव संवत् कहलाया। क्योंकि यह भी प्रचलित महावीर संवत् की भाँति कार्तिकादि ही था और विक्रम के सुराज्य की दृष्टि से सतयुग के प्रारम्भ का सूचक भी था जो कृत् संवत् भी कहलाया। कालान्तर में 78 ई. के शक-शालिवाहन संवत् के अनुकरण पर उसे चैत्रादि बना दिया गया और शनैः-शनैः वह विक्रमाख्य काल, विक्रमनृपकाल वा विक्रम संवत् भी कहलाने लगा। मालवगण ने अपनी उक्त विजय के उपलक्ष्य में सिक्के भी डाले, जिनपर 'मालवानां जयः' और 'मालवगणस्य जयः' शब्द अंकित किये।

यह तो उस परमवीर एवं देशभक्त विक्रमादित्य की अतिशय उदारता एवं अहंशून्यता का ही परिचायक है कि उसने न उक्त सिक्कों पर अपना नाम अंकित कराया और न उस संवत् के साथ ही जोड़ा, किन्तु देश की जनता, आनेवाली पीढ़ियों और इतिहास ने उसे अमर करके समुचित कृतज्ञता ज्ञापन किया ही। कालान्तर में अनेक भारतीय नरेशों ने 'विक्रमादित्य' विरुद्ध धारण किया, अपने नाम से संवत् भी चलाये, किन्तु उक्त नाम का धारक प्रथम नरेश वही था। ऐतिहासिक राजकीय भारतीय संवत् का सर्वप्रथम प्रवर्तक भी वही था। अनगिनत भारतीय लोककथाओं का वह नायक है। एक अत्यन्त बुद्धिमान्, पराक्रमी, अतिशय उदार एवं दानशील, सर्वधर्मसहिष्णु, विचारसिक्त, विद्वानों का प्रश्रयदाता, अत्यन्त न्यायपरायण, धर्मात्मा, प्रजावत्सल एवं सुशासक के रूप में वह आदर्श भारतीय नरेश माना जाता रहा है। पूर्ववर्ती चन्द्रगुप्त मौर्य एवं खारवेल-जैसे महान् जैन सम्राटों की परम्परा में देश को विदेशियों के आक्रमण से मुक्त करने में यह महान् जैन सम्राट् विक्रमादित्य भी अविस्मरणीय है। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार वह जैनधर्म का परम भक्त था। इस विषय में शंका करने की गुंजाइश नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण, बौद्धादि अन्य सम्प्रदायों की अनुश्रुतियों में तथा उनके आधार से लिखे गये सामान्य इतिहास में उसका कहीं

कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसीलिए अनेक आधुनिक इतिहासकार उसकी ऐतिहासिकता में भी सन्देह करते हैं और उसे एक काल्पनिक व्यक्ति मानते देखे जाते हैं। जैन कालगणनाओं में भी इस राजा विक्रमादित्य का उल्लेख है तथा मध्य एवं पश्चिमी भारत के जैनो में तो उसी के संवत् की प्रवृत्ति भी विशेष रही है। विक्रमादित्य का कुलधर्म भी जैन था, राज्यधर्म भी जैन था, मालवगणों और मालवदेश के प्रजाजनों में भी इस धर्म की प्रवृत्ति थी। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार विक्रमादित्य ने चिरकाल तक राज्य किया और स्वदेश को सुखी, समृद्ध एवं नैतिक बनाया। उसने तथा उसके उपरान्त उसके वंशजों ने मालवा पर लगभग एक सौ वर्ष राज्य किया बताया जाता है।

सातवाहनवंशी राजे

ईसापूर्व तीसरी शताब्दी के अन्त से लेकर सन् ईस्वी की तीसरी शताब्दी के प्रारम्भ पर्यन्त दक्षिणापथ के बहुभाग पर पैठन (प्रतिष्ठानपुर) के सातवाहनवंशी नरेशों का प्रायः एकाधिपत्य रहा। यह वंश आन्ध्रजातीय था और सम्भवतया ब्राह्मण एवं नागरवृत्तमिश्रण से उत्पन्न हुआ था। प्राचीन ब्राह्मणीय साहित्य में आन्ध्रों को जाति बाह्य, नीच और अनार्य कहा है, किन्तु ये सातवाहन राजे स्वयं को क्षत्रियों का मानमर्दन करनेवाले ब्राह्मण कहते थे। इस वंश में लगभग तीस राजाओं के होने का प्रता चलता है जिनमें से शातकर्णि प्रथम एवं द्वितीय, हाल या शालिवाहन, गौतमीपुत्र शातकर्णि और यज्ञश्री शातकर्णि विशेष प्रसिद्ध हैं। ये राजे पर्याप्त शक्तिशाली एवं विस्तृत महाराज्य के स्वामी थे। अधिकांशतः सातवाहनवंशी नरेश ब्राह्मण धर्म के अनुयायी थे, किन्तु अन्य धर्मों के प्रति भी सहिष्णु थे। प्राचीन जैन साहित्य में सातवाहन राजाओं के अनेक उल्लेख मिलते हैं, और उनमें से कई एक का जैन होना भी सूचित होता है। किन्तु क्योंकि ये उल्लेख प्रायः 'पैठन का शालिवाहन राजा' रूप में पाये जाते हैं अतएव इस वंश के नरेशों की सूची में उन्हें चीन्हना दुष्कर है। इन जैन राजाओं में प्रसिद्ध 'सतसई' के रचयिता हाल (20-24 ई.) अपरनाम शालिवाहन के भी होने की सम्भावना है। यह ग्रन्थ महाराष्ट्री प्राकृत में आर्या छन्दों में रचित है और उसपर जैन विचारों का प्रभाव लक्षित होता है। सातवाहन राज्य में जैनो की प्रिय प्राकृत भाषा का ही प्रचलन था। ये राजे स्वयं तो विद्वान् या विशेष विद्यारसिक नहीं थे, किन्तु विद्वानों का बिना साम्प्रदायिक भेदभाव के आदर करते थे। हमारा तो साधार अनुमान है कि 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' के रचयिता जैनाचार्य उमास्वयति इसी राज्यवंश में उत्पन्न हुए थे। जैनाचार्य शर्ववर्म द्वारा 'कातन्त्र' व्याकरण की रचना तथा जैनाचार्य काणभिक्षु या काणभूति द्वारा प्राकृत के मूलकथग्रन्थ की रचना और उसके आधार पर गुणादय की 'बृहत्कथा' की रचना सातवाहन नरेशों के ही प्रश्रय

में हुई थी। अन्य भी कई प्राकृत भाषा के जैन ग्रन्थ उस काल में वहाँ रचे गये प्रतीत होते हैं। सातवाहन राज्य में जैन मुनियों का स्वच्छन्द विहार था। उन्हीं के काल में जैन संघ दिगम्बर एवं श्वेताम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हुआ और उनका राज्य उन दोनों सम्प्रदायों के साधुओं का सम्वि-स्थल था। दिगम्बर परम्परा के षट्खण्डागम आदि जैन आगमों का सर्वप्रथम संकलन एवं पुस्तकीकरण सम्भवतया उन्हीं के राज्य में उसी काल में हुआ था।

नहपान

मालव-वीर विक्रमादित्य ने जिन शकशाहियों को मालवा से निकाल बाहर किया था, उसका नेता सम्भवतया घटक या भूमक था जिसने सौराष्ट्र के शक-क्षहरात वंश की नींव डाली। एक ओर मालवा के विक्रमादित्य और दूसरी ओर पैठन के सातवाहनों के कारण क्षहरातों की शक्ति सीमित बनी रही, किन्तु प्रथम शताब्दी ईसवी के मध्य के कुछ वर्षों में बहुत शक्तिशाली हो गये। उस समय नहपान सौराष्ट्र-गुजरात का क्षहरात था। वह इस वंश का सर्वप्रसिद्ध, महत्वपूर्ण एवं प्रतापी मरेश था। जैन साहित्य में उसका नहवाण, नरवाहन, नभोवाहन, नभसेन, नरसेन आदि नामों से उल्लेख हुआ है। उसे वम्बिदेश का राजा बताया है और उसकी राजधानी का नाम वसुन्धरा था जो सम्भवतया भूमकच्छ (भड़ौच) का ही अपर नाम था। नहपान की रानी का नाम सुरुषा था जो भारतीय रही प्रतीत होती है। नहपान का चालीस वर्ष का राज्यकाल गर्दभिल्लवंश एवं भद्रचष्टम वंश के मध्य पड़ता है जो लगभग सन् 26-66 ई. निश्चित होता है। यूनानी भूगोलवेत्ता टालेमी ने भी भड़ौच के इस मरेश का उल्लेख किया है। नहपान के अपने तथा उसके जामाता उषवदात (अषभदात) के तथा सुयोग्य मन्त्री अयम के कई शिलालेख प्राप्त हुए हैं जो वर्ष इकतातीस से छियातीस तक के हैं। सम्भवतया नहपान के पूर्वज भूमक ने या स्वयं नहपान ने अपने राज्यारम्भ में मालवा के बहुभाग पर अधिकार करके यह नवीन वर्षगणना चालू की थी। उज्जयिनी को प्राप्त करने के लिए क्षहरातों और सातवाहनों के बीच प्रायः निरन्तर संघर्ष चलता रहा। अन्ततः गोमतीपुत्र शतकर्ण ने भूमकच्छ पर आक्रमण करके नहपान को पराजित किया। परिणामस्वरूप नहपान ने राज्यभार जामाता ऋषभदत्त, मन्त्री अयम और सेनापति यशोभति को सौंपकर स्वयं जिनदीक्षा ले ली प्रतीत होती है। इस समय तक इन शकों का प्रायः पूर्णतया भारतीयकरण हो चुका था। उन्होंने भारतीय आचार-विचार, भाषा, नाम, वेशभूषा, रीतिरिवाज, धर्म और संस्कृति अपना लिये थे। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार इसी महाराज नरवाहन ने अपने मित्र मगधमरेश को मुनिरूप में देखकर उनकी प्रेरणा से सुबुद्धि नामक अपने धनकुबेर राज्यश्रेष्ठ एवं मित्र के साथ मुनिदीक्षा ले ली थी। उस समय दक्षिणात्य जैनसंघ के नेता लंघाचार्य अर्हद्बलि थे। वही सम्भवतः राजा नरवाहन और

संठ सुबुद्धि के दीक्षा गुरु थे। उक्त आचार्य ने सन् 66 ई. के लगभग वेण्वातद्वती महिमानगरी में महामुनि सम्मेलन किया था। उसी सम्मेलन ने सौराष्ट्र के गिरिनगर की चन्द्रगुफा में निवास करनेवाले आगमधर आचार्य धरसेन का सन्देश पाकर, सर्वसम्मति से सुबुद्धि एवं नरकाहन मुनिद्वय को सर्वथा योग्य समझकर धरसेनाचार्य की सेवा में भेजा था। धरसेनाचार्य ने इन्हें क्रमशः पुष्पदन्त और भूतबलि नाम दिये, स्वयं को परम्परा से प्राप्त मूल आगमज्ञान दिया और उसे पुस्तकीकरण करने का आदेश दिया। परिणामस्वरूप पुष्पदन्त एवं भूतबलि आचार्यद्वय के अध्ववसाय से षट्खण्डागम सिद्धान्त के रूप में तीर्थंकर महावीर की द्वादशांगवाणी के उक्त महत्त्वपूर्ण अंश का उद्धार हुआ, वह लिपिबद्ध हुआ और पुस्तक रूप में उसके पूजन-प्रकाशन की स्मृति में श्रुतपंचमी की प्रवृत्ति हुई।

भद्रचष्टनवंशी क्षत्रप

नहषान के राज्य त्याग करने के पश्चात् कुछ ही वर्षों में उसके सेनापति यशोमतिक का बल और प्रभाव इतना बढ़ा कि वह शहरात राज्य की प्रधान शक्ति बन गया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी चष्टन और भी अधिक महत्वाकांक्षी वीर एवं युद्धकुशल था। सन् 78 ई. में उसने मालवगण को पराजित करके उज्जयिनी पर अधिकार कर लिया और इस उपलक्ष्य में अपना नवीन शक संवत् प्रचलित किया। उसने अपनी स्वतन्त्रता भी घोषित कर दी और सौराष्ट्र में नवीन राज्यवंश की स्थापना की जो पश्चिमी क्षत्रपवंश कहलाया। जैन अनुश्रुति के अनुसार महावीर निर्वाण से 605 वर्ष पौंच मास पश्चात् इस वंश का संस्थापक शक-नरेन्द्र भद्रचष्टन ही प्रचलित शक संवत् का प्रवर्तक है। यह भारतवर्ष का प्रथम चैत्रादि संवत् था और दक्षिण एवं पश्चिम भारत में सामान्यतया तथा जैनों में विशेषतया लोकप्रिय हुआ। सातवाहन राजाओं ने भी इस नवीन संवत् को अपनाने का प्रयत्न किया, इसीलिए कालान्तर में वह शक-शालिवाहन संवत् के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। भद्रचष्टन का वंश लगभग ढाई सौ वर्ष तक चला और उसमें कई महत्त्वपूर्ण नरेश हुए। चष्टन का पौत्र महाक्षत्रप रुद्रदामन प्रथम (लगभग 130-150 ई.) इस वंश का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं प्रतापी नरेश था। उसका सन् 150 ई. का बृहत् शिलालेख जो इतिहास में जूनागढ़-प्रशस्ति के नाम से प्रसिद्ध है, गिरिनगर के सुप्रसिद्ध मीर्यकालीन सुदर्शनताल के तट पर अंकित है। उस सरोवर का जीर्णोद्धार भी इस नरेश ने कराया था। रुद्रदामन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी दामजदश्री ने गिरिनगर की पूर्वोक्त चन्द्रगुफा में आगमोद्धारक आचार्य धरसेन के स्वर्गवास की स्मृति में एक शिलालेख अंकित कराया था। इसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रसिंह प्रथम भी जैनधर्म का अनुयायी था। प्रायः इसी काल में इस वंश की एक राजमहिला ने

भगवान् महावीर की जन्मभूमि वैशाली की तीर्थयात्रा की थी। उस महिला की कतिपय मुद्राएँ बसाढ़ (वैशाली) के खँडहरों में प्राप्त हुई हैं।

मथुरा के शक-क्षत्रप

मौर्य सम्प्रति के समय में रानी उर्विला के प्रयास से प्राचीन जैन स्तूप पर जैनो का पुनः अधिकार स्थापित हो जाने के उपरान्त पश्चिमी उत्तरप्रदेश में मथुरा नगर जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बनता गया। वहाँ के तथाकथित मित्रवंशी राजे जो सम्भवतया रानी उर्विला की ही सन्तति में से थे या तो जैन थे अथवा जैनधर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णु थे। उक्त प्राचीन देवनिर्मित स्तूप (जिसके अवशेष मथुरा के कंकाली टीले से विपुल मात्रा में प्राप्त हुए हैं) के चारों ओर एक विशाल जैन संस्थान विकसित हुआ जहाँ अनेक जैन साधु निवास करते थे। मथुरा के ये जैन मुनि सम्राट् खारवेल द्वारा आयोजित मुनि-सम्मेलन में भी सम्मिलित हुए थे। इनकी एक विशेषता यह थी कि उन्होंने एक-दूसरे से फटकर दूर होती हुई दक्षिणी-पश्चिमी शाखाओं से, जो कालान्तर में क्रमशः दिगम्बर और श्वेताम्बर नामों से प्रसिद्ध हुई, स्वयं को पृथक् रखा तथा उन दोनों के समन्वय का ही प्रयत्न किया। मथुरा के इन मुनियों ने ही वह सरस्वती-आन्दोलन चलाया जिसके फलस्वरूप जैनसंघ में श्रुतागम के लिपिबद्ध करने एवं पुस्तक साहित्य प्रणयन की प्रवृत्ति शुरू हुई। वैसे भी महानगरी मथुरा विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों तथा देशी-विदेशी जातियों का सुखद संगमस्थल थी। स्वभावतः वहाँ के जैन साधु और गृहस्थ अपेक्षाकृत कहीं अधिक उदार और विशाल दृष्टिवाले थे।

अस्तु, प्रायः उसी काल में जब शकों का मालवा में सर्वप्रथम प्रवेश हुआ (लगभग ई. पू. 66 में) तो मथुरा पर भी उनकी एक शाखा ने अधिकार कर लिया था। मथुरा के इस शक-क्षत्रप वंश में हगन, रज्जुबल, शोडास आदि नाम प्राप्त होते हैं। मथुरा की अपनी परम्परा के अनुसार उसके इन शक-क्षत्रपों ने भी सर्वधर्म-सहिष्णुता की नीति अपनायी। उनमें महाक्षत्रप शोडास सर्वाधिक प्रसिद्ध है और उसका झुकाव भी जैनधर्म की ओर विशेष रहा प्रतीत होता है। इसी काल में मथुरा में प्रसिद्ध जैन सिंहध्वज स्थापित हुआ तथा श्रमण महारसित के शिष्य और वात्सी के पुत्र श्रावक उत्तरदासक ने जिनेन्द्र के प्रासाद का तोरण निर्माण कराया था। स्वामी महाक्षत्रप शोडास के 42वें वर्ष के एक शिलालेख में अर्हत्-वर्धमान को नमस्कार करने के पश्चात् बताया है कि हारीतिपुत्र पाल की भार्या श्रमण-श्राविका कौत्सी आमोहिनी ने पालघोष, प्रोस्थाघोष एवं घनघोष नामक अपने पुत्रों सहित आर्यवती (भगवान् की माता) की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। एक अन्य उसी काल के अभिलेख में अर्हत्-वर्धमान को नमस्कार करके बताया है कि लवणशोभिका नाम की एक श्रमण-श्राविका ने, जो एक गणिका थी, अपनी माता, बहनों, पुत्रियों, पुत्रों

तथा अन्य सर्व परिजनों के साथ सेठों की निगम के अर्हतायतन (जिनमन्दिर) में अर्हत् भगवान् की पूजा के लिए एक वेदीगृह, पूजा-मण्डप, प्रपा (जलाशय), शिलापट्ट आदि निर्माण कराकर समर्पित किये थे। एक शिलालेख के अनुसार उस वीर गौतीपुत्र की भार्या कौशिकी शिवमित्रा ने एक आयागपट प्रतिष्ठापित किया था, जो स्वयं कोठय (पड़व या पार्थिवन) और शक लोगों के लिए काल-व्याल (काला नाम अर्थात् उनका साक्षात् काल) था। सम्भवतया इसी गौती (गौप्ती)-पुत्र इन्द्रपाल ने अर्हन्त-पूजा के अर्थ एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। ये दोनों शिलालेख इसवी सन् की प्रथम शती के दूसरे दशक के अनुमान किये जाते हैं। ऐसा लगता है कि इस पराक्रमी वीर गौप्तीपुत्र को ही मथुरा में शक-क्षत्रपों की सत्ता को समाप्त करने का श्रेय है, सम्भवतया पुराने या एक नवीन स्थानीय राज्यवंश की स्थापना का भी। प्रायः उसी काल में मुनि जयसेन की शिष्या धर्मघोषा ने एक जिनमन्दिर बनवाया, श्रमण-श्राविका बलहरितनी ने अपने माता, पिता, सास और श्वसुर सहित एक प्रासाद-लोचन प्रतिष्ठापित किया, कालगुप्त नर्तक की भार्या शिवयशा ने अर्हत्-पूजार्थ एक आयागपट समर्पित किया, मथुरावासी लवाड नामक एक विदेशी की भार्या ने भी एक आयागपट दान दिया, इत्यादि। ये शिलालेख स्वयं मुखर हैं और इसवी सन् के प्रारम्भ से पूर्व की तथा पश्चात् की दोनों शताब्दियों में मथुरा क्षेत्र के कतिपय प्रतिष्ठित जैन पुरुषों एवं महिलाओं का सांकेतिक परिचय हमें प्रदान करते हैं। मथुरा से प्राप्त क्षत्रपकालीन शिलालेखों में जैन शिलालेखों की संख्या अन्य सबसे अधिक है।

कुषाण नरेश

इसवी सन् की प्रथम शती के मध्य के लगभग कुषाणों ने उत्तर-पश्चिम सीमान्त के दरों से भारत में प्रवेश करके काबुल, कन्दहार और पश्चिमी सिन्ध पर अधिकार कर लिया। आगामी पचीस वर्ष बीतते न बीतते समस्त पंजाब, कश्मीर और मध्यदेश में मथुरा से आगे तक उनकी सत्ता स्थापित हो गयी। इस वंश का सर्वमहान् नरेश कनिष्क प्रथम था जिसका राज्यारोहण संवत् 78 ई. में हुआ। उसी वर्ष से उसने अपने राज्यकाल की गणना प्रारम्भ की, अतएव कालान्तर में शकराज भद्रचष्टन द्वारा स्थापित संवत् का प्रवर्तक बहुधा कुषाण सम्राट् कनिष्क की ही माना जाने लगा। कनिष्क ने अपने राज्य का विस्तार पश्चिम में मध्य एशिया के भीतर तक, उत्तर में तिब्बत तथा चीन के भी कुछ भागों तक और पूर्व में बिहार पर्यन्त विस्तृत कर लिया था। उसकी प्रधान राजधानी पुरुषपुर (पेशावर) थी और उपराजधानी मथुरा थी। वहाँ उसकी स्वयं की एक देहाकार मूर्ति भी मिली है। बौद्ध अनुश्रुति उसे अशोक के समान ही बौद्धधर्म का भक्त एवं प्रश्रयदाता बताती है। परन्तु विद्वानों का मत है कि उसके साम्राज्य में जितने धर्म प्रचलित थे वह उन सबके

प्रति सहिष्णु था और सभी का समान भाव से आदर करता था। कम से कम मथुरा के जैनोँ को उसका सारा श्रवण प्राप्त हुआ था। इसीसे उसके अनेक जैन शिलालेखों में सम्राट् कनिष्क का नाम अंकित है। यामस आदि कई विद्वानों के मतानुसार तो कम से कम अपने राज्यकाल के पूर्वभाग में जैनधर्म की ओर उसका विशेष झुकाव रहा प्रतीत होता है। कहा जाता है कि एक प्राचीन जैन स्तूप का भी उसने जीर्णोद्धार कराया था। पश्चिमोत्तर सीमान्त में सिरकप के प्राचीन स्तूप को भी अनेक पुरातत्त्वज्ञों ने मूलतः जैन घोषित किया है, और वह स्तूप सम्भवतया इसी नरेश द्वारा बनवाया गया था। कनिष्क के पश्चात् हुविष्क, कनिष्क द्वितीय, वशिष्क, वासुदेव प्रथम, वासुदेव द्वितीय आदि कई राजे इस वंश में क्रमशः हुए। इनमें पिछले कई तो स्थायी रूप से मथुरा में ही रहने लगे थे। तीसरी शती ई. के प्रारम्भ के लगभग इन कुषाण नरेशों की सत्ता अस्तप्राय हो गयी थी। कनिष्क की भौति उसके वंशज भी जैनधर्म के प्रति पर्याप्त सहिष्णु रहे। उनके शासनकाल में तो मथुरा का जैनधर्म पर्याप्त उन्नत एवं प्राणवान् था, जैसा कि उस काल के लगभग एक सौ जैन शिलालेखों से प्रकट है। इन शिलालेखों से राजनीतिक और आर्थिक ही नहीं, बरन् भारतवर्ष के तत्कालीन एवं तत्प्रदेशीय सांस्कृतिक इतिहास की अप्रतिम सामग्री प्रभूत मात्रा में प्राप्त होती है। कुषाणकाल के मथुरा और उसके आस-पास से प्राप्त उक्त शिलालेखों में से चौबीस में तत्कालीन नरेशों के नाम, लगभग एक-सौ में धर्मभक्त श्रावकों तथा साठ-सत्तर में धर्मप्राण महिलाओं के नाम प्राप्त होते हैं। साधु-साध्वियों के अतिरिक्त इन विविध प्रकार के धर्मकार्य, निर्माण और दान-पूजादि करनेवाले धर्मात्मा स्त्री-पुरुषों में विभिन्न जातियों, वर्गों एवं व्यवसायों से सम्बन्धित व्यक्तियों के नाम हैं, जिनमें कई एक यवन, शक पट्टय आदि विदेशी भी हैं। उपर्युक्त शिलालेखों में से चार में महाराज-राजातिराज-देवपुत्र-शाहि कनिष्क का, चौदह में देवपुत्र-महाराज हुविष्क का और छह में महाराज वासुदेव का नाम अंकित है। उल्लेखनीय अभिलेखों में श्रेष्ठिसेन की सहधरि (भाया) और देवपाल की पुत्री क्षुद्रा द्वारा वर्धमान-प्रतिमा के दान का, वरणहस्ति एवं देवी की पुत्री, जयदेव और मोषिनी की पुत्रवधू तथा कुठ-कसुथ को धर्मपत्नी स्थिरा द्वारा 'सर्वसत्त्वानं हित सुखाय' एक सर्वतोभद्र प्रतिमा के दान का, वर्म की पुत्री और जयदास की पत्नी मुल्हा द्वारा ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित कराने का, वेणि श्रेष्ठि की धर्मपत्नी और भट्टिसेन को माता कुमारमित्रा द्वारा सर्वतोभद्र प्रतिमा के दान का, जय की माता मासिगि द्वारा भी वैसी ही एक प्रतिमा के दान का, सेठानी मित्रश्री द्वारा अरिष्टनेमि की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने का, शुचिल सेठ की भार्या द्वारा शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित कराने का, काष्ठबाणक् (टिम्बरमर्चेण्ट) दत्तिल की पुत्रवधू, मतिल की पत्नी और जयपाल, देवदास, नागदत्त और नागदत्ता की माता श्राविकादीना द्वारा वर्धमान प्रतिमा के समर्पण का, खोड्मित्र मानिकर (जोहरी) के पुत्र जयभट्टि की पुत्री, लोहवणिक

(लोहे के व्यापारी) दल के पुत्र वाधर की पुत्रवधू और फल्गुदेव की धर्मपत्नी मित्रा के दान का, सार्धवाहिनी (आयात-निर्यात के व्यापारी एक सार्धवाह की पत्नी) धर्मसोमा के दान का, जम्भक की पतोहू और जयभट्ट की कुदुम्बिनी (गृहिणी) रत्नगिनि (रंगरेजिन) बसुया के दान का, नवहस्ति की पुत्री, ग्रहसेन की पुत्रवधू तथा गिहसेन, देवसेन और शिवदेव की माता जया द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, ग्रहस्ति की प्रिय पुत्री बोधिनन्दिनी नामक सम्पन्न गृहिणी द्वारा एक अन्य वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, बुद्धिल की पुत्री और देविल की कुदुम्बिनी गृहश्री के दान का, ऋतुनन्दि की पुत्री, बुद्धि की पत्नी और गन्धिक की माता जितामित्रा द्वारा सर्वतोमद्र प्रतिमा के दान का, कुमारमित्रा के पुत्र गन्धिक (इत्र-तेल के व्यापारी) कुमारभट्ट द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा का, देवपुत्र-महाराज हुयिष्क के राज्य में सन्. 39 (सन् 18 ई.) में शिवदास सेठ के सुपुत्र आर्य श्रेष्ठ रुद्रदास द्वारा अर्हत्तों की पूजार्थ नान्दी-विशाल (गजस्तम्भ) के निर्माण एवं प्रतिष्ठा कराने का, उसके अगले वर्ष ग्रामप्रमुख जयदेव की पुत्रवधू और ग्रामप्रमुख (ग्रामिक) जयनाग की धर्मपत्नी सिंहदत्ता द्वारा एक पाषाण-स्तम्भ (मानस्तम्भ) की स्थापना का, श्रावक पुष्य की पतोहू, गृहदत्त की गृहिणी और पुष्यदत्त की माता का दान, बुद्धि की पतोहू और धर्मबुद्धि की भार्या का दान, दधिकर्ण चैत्यालय के पुजारी (या व्यासमाली) का दान, बुद्धदत्त की पुत्री तथा पुष्यबुद्धि की भार्या का दान, बुबु की पुत्री, राज्यवसु की धर्मपत्नी, देविल की माता और विष्णुभव की पितामही (दादी) विजयश्री द्वारा वर्धमान-प्रतिमा का दान, जो उसने एक मास के उपवासपूर्वक किया था—सम्भवतया उक्त उपवास के उद्घाटन के रूप में, गोष्ठिक (निगम के अध्यक्ष) लोहिककारक (लोहार) श्रमणक के पुत्र श्रावक शूर का दान, अचार्य नागहस्तिगणि के शिष्य आर्यदेव-वाचक के उपदेश से सिंह के पुत्र गोपनामक लोहिककारक द्वारा एक सरस्वती-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना का (संवत् 54 = सन् ईसवी 132 में), आर्यवर्त के निवासी पसक या प्रवरक की कुदुम्बिनी दत्ता द्वारा 'महाभोगताय' (महा सुख के अर्थ) भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर के लिए किया गया दान, श्राविका दत्ता द्वारा देखनिमित्त प्राचीन देव-स्तूप पर अर्हत् मुनिसुव्रत की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना, सेन की पुत्री, दत्त की पुत्रवधू, गन्धिक की कुदुम्बिनी जिनदासी द्वारा एक जिन-प्रतिमा का पवित्र दान, हैरण्यक (स्वर्णकार या सर्राफ) देव की पुत्री द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठा, ग्रहदत्त की पुत्री और धनहस्ति की पत्नी का दान, प्रवरक की पुत्री और गन्धिक वरुण की पतोहू तथा मित्र की पत्नी आर्य महिला क्षेमा का दान, वणिक (व्यापारी) सिंहक और कौशिकी (मैं) के पुत्र सिंहनन्दिक द्वारा अर्हत्तों की पूजार्थ एक आयगपट का दान, शिवघोष की भार्या का दान, मलहण की पुत्री और भद्रयश की पुत्रवधू तथा भद्रनन्दि की भार्या अचल द्वारा आयगपट का दान, कल की पुत्री और सिंहविष्णु की यज्ञन द्वारा वर्धमान-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना, दास के पुत्र चीरि

का दान, रुसनन्दि के पुत्र तेवणिक (वैवर्णिक) नन्दिघोष द्वारा आयागपट की स्थापना, बज्रनन्दि की पुत्री और वृद्धिशिवि की पत्नी दत्ता बड़माशि द्वारा वर्धमान-प्रतिमा का दान, भोगलीपुत्र पुण्यक की भार्या अश्वक द्वारा प्रासाद (जिनमन्दिर) निर्माण, आचार्य और उद्देशिका की पुत्री तथा शिरिक और शिवदिन्ता की बहन श्राविका ओखा द्वारा जिनमन्दिर निर्माण कराके उसमें भगवान् महावीर की प्रतिमा प्रतिष्ठित करना (यह परिवार विदेशी—शक या पडव रहा प्रतीत होता है), इत्यादि शिलालेख हैं। इन लेखों से उस काल के मथुरा एवं उसके आस-पास के निवासी धर्मप्राण थायक-श्राविकाओं में अनेक का परिचय प्राप्त होता है। अधिकांश नाम सार्थक हैं तथा उक्त व्यक्तियों के प्रतिष्ठित एवं सम्मानित होने के सूचक हैं। उनके विरुद्ध, विशेषण आदि भी इस तथ्य के समर्थक हैं।

सुदूर दक्षिण के जैन

तमिल (द्रविड़) प्रदेश के प्रमुख राज्य चोल, पाण्ड्य, चेर, केरल और सत्यपुत्र थे। आचार्य मद्बबाहु श्रुतकेवली के विशाखाचार्य आदि शिष्य-प्रशिष्यों ने कर्णाटक एवं तमिल प्रदेशों में पूर्वकाल से ही वहाँ प्रचलित रहे आये जैन धर्म में नवीन प्राण-संचार किया था। तमिल भाषा के प्राचीन संगम साहित्य से भी प्रकट है कि इसी सन् के प्रारम्भ के आस-पास जैनधर्म और संस्कृति वहाँ व्यापक एवं उन्नत स्थिति में थे। उसी काल में मूलसंघाग्रणी सुप्रसिद्ध आचार्य कुन्दकुन्द हुए जिनका एक नाम एलाचार्य भी था। वह स्वयं उसी प्रदेश के निवासी थे और एक सम्मान्त कुल में उत्पन्न हुए थे। उनके गृहस्थ शिष्य तिरुवत्तुवर ने उन्हीं की प्रेरणा से तमिल भाषा के विश्वविख्यात नीतिशास्त्र 'कुरलकाव्य' की रचना की थी। प्रायः उसी काल में मथुरा के पाण्ड्य नरेश ने एक जैन श्रमणाचार्य को सांस्कृतिक दूत के रूप में रोम के सम्राट् आगस्टस के दरबार में भेजा था। प्रारम्भिक संगम साहित्य का प्रणयन भी मुख्यतया मथुरा नगर में ही हुआ और उसमें जैन विद्वानों का प्रमुख योग था। प्रथम शती ईसवी के उत्तरार्ध में आचार्य अर्हदुबलि दक्षिण भारतीय जैनों के संघाचार्य थे और उन्होंने महिमानगरी में एक महामुनिसम्मेलन किया था जिसमें मूलसंघ नन्दि, सेन, देव, सिंह, भद्र आदि गण-गच्छों में विभक्त हुआ। दूसरी शती ई. के पूर्वार्ध में फणिमण्डल की राजधानी उरैयूर (उरगपुर वर्तमान तिरुचिरापल्ली) का नागनरेश कीलिकवर्मन चोल एक शक्तिशाली राजा था और जैनधर्म का अनुयायी था। उसके कनिष्ठ पुत्र राजकुमार शान्तिवर्मन ही मुनि-दीक्षा लेकर आचार्य समन्तभद्र स्वामी के नाम से विख्यात हुए। उन्होंने पूरे भारतवर्ष का भ्रमण करके जिनधर्म की विजय-दुन्दुभि बजायी थी। उनके अनन्य भक्त करहाटक (करहद) के प्रारम्भिक कदम्ब नरेश शिवकोटि और उसका अनुज शिवायन थे। शिवकोटि का पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीकण्ठ भी जैन था। उसी काल में चेर राज्य का स्वामी सैयुधवन

अत्यन्त शक्तिशाली नरेश था। वह महान् विजेता था और प्रायः सम्पूर्ण तमिलनाडु पर तथा दक्षिण भारत के अन्य अनेक भागों पर अधिकार करके उसने अपने राज्य को एक विशाल साम्राज्य बना दिया था। समुद्रों पर भी उसका प्रभुत्व था। राज्य में जैनधर्म की प्रवृत्ति थी और वह सम्राट् भी उसी का अनुयायी था। उसका भाई राजकुमार इल्लिवलवन तो दीक्षा लेकर जैनमुनि हो गया था। तमिल भाषा के सुप्रसिद्ध प्राचीन महाकाव्य 'शिलप्पदिकरम्' का रचयिता यही राजर्षि इल्लिवलवन (इलंगो) था। औवे नाम की सुप्रसिद्ध प्राचीन तमिल कवयित्री भी इसवी सन् के प्रारम्भ के लगभग हुई। विश्वास की जाती है, वह एक जैन राजकुमारी थी जो बाल-ब्रह्मचारिणी रही और अपनी मिःस्वार्थ समाजसेवा, सुमधुर वाणी और नीतिपूर्ण उपदेशों के लिए आज भी तमिल भाषाभाषियों के लिए 'माता औवे' (आदिका मों) के रूप में स्मरणीय एवं पूजनीय बनी हुई हैं।

सन्दर्भग्रन्थ :- आचार्य श्री सुविद्यलक्ष्मण जी शर्मा

गंग-कदम्ब-पल्लव-चालुक्य

मैसूर का गंगवंश

वर्तमान कर्णाटक (मैसूर) राज्य के अधिकांश भाग तथा कावेरी नदी की पूर्ण घाटी में विस्तृत गंगवाडि राज्य पर लगभग एक सहस्र वर्ष अविच्छिन्न शासन करनेवाले राजाओं का वंश पश्चिमी गंगवंश कहलाता है। इस राज्यवंश के साथ प्रारम्भ से लेकर अन्त पर्यन्त जैनधर्म का अत्यन्त निकट सम्बन्ध रहा है और उसमें अनेक प्रतापी एवं धर्मात्मा जैन नरेश हुए हैं। सम्भवतया यह उनकी नीति-परायणता एवं धार्मिकता का ही परिणाम था कि जितना दीर्घजीवी यह राज्यवंश रहा, राजनीतिक इतिहास में अन्य कोई शायद ही रहा।

वंश-संस्थापक ददिव और माधव—शिलालेखों, ताम्रपत्रों आदि में निबद्ध इस वंश की परम्परा-अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश के मूल संस्थापक ददिव और माधव नाम के दो राजकुमार थे। भगवान् ऋषभदेव के इक्ष्वाकु वंश में अयोध्या के एक राजा हरिश्चन्द्र थे, जिनके पुत्र भरत की पत्नी विजय महादेवी से गंगदत्त का जन्म हुआ। उसी के नाम से कर्णाटक का उक्त वंश जाह्नवेय, गंगेय या गंगवंश कहलाया। गंग का एक वंशज विष्णुगुप्त, अहिच्छत्रा का राजा हुआ जो तीर्थंकर अरिष्टनेमि का भक्त था। उसका वंशज श्रीदत्त भगवान् पार्श्वनाथ का अनन्य भक्त था। उसके वंश में कम्प का पुत्र पद्मनाभ अहिच्छत्रा का राजा हुआ। उसके राज्य पर जब उज्जयिनी के राजा ने आक्रमण किया जो राजा पद्मनाभ ने अपने दो बालक पुत्रों, ददिव और माधव को कतिपय राजचिह्नों सहित दूर विदेश में भेज दिया। प्रवास में ये राजकुमार धीरे-धीरे बड़े हुए और दूमरे-धामरे कर्णाटक देश के पेरूर नामक स्थान में पहुँचे। नगर के बाहर स्थित जिनालय में जब राजकुमार भगवान् के दर्शन-पूजन के लिए गये तो उन्हें वहाँ मुनिराज सिंहनन्दि के दर्शन हुए। गुरुचरणों में उन्होंने नमस्कार किया तो आचार्य ने उन्हें आशीर्वाद दिया और सुलक्षण एवं होनहार देखकर उनका विगत वृत्तान्त पूछा। उनके बल-पराक्रम की परीक्षा करने के लिए उन्हें आदेश दिया कि तलवार के एक ही बार से सम्मुख खड़े शिलास्तम्भ को भग्न कर दें। राजकुमार परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। आचार्य ने अपने निकट रखकर उन्हें

राज्योचित शिक्षा-दीक्षा दी तथा समस्त उपयोगी विधाओं में परंगत किया, और उपयुक्त समय देखकर वन में ही कर्णिकार-पुष्पों का मुकुट पहनाकर उनका राज्याभिषेक किया, अपनी मयूरपिच्छिका उन्हें राजध्वज के रूप में प्रदान की और मन्तव्यम्ब उनका राज्यचिह्न निश्चित किया। उस समय आचार्य ने इस प्रथम गंग-नरेशद्वय को यह चेतावनी दी कि... यदि तुम लोग (या तुम्हारे वंशज) कभी अपना वध्न भंग करोगे, कभी जिनशासन से विमुख होगे, परस्त्री के ऊपर कुदृष्टि डालोगे, मद्य-मांस का सेवन करोगे, नीच व्यक्तियों की संगति करोगे, याचक जनों को दान देने से मुँह मोड़ोगे और रणभूमि से पीठ दिखाकर भागोगे तो तुम्हारे कुल का नाश हो जाएगा। दहिग और माधव भ्रातृद्वय ने गुरु वधनों को शिरोधार्य किया और गुरु के उपदेशानुसार अद्भुत उत्साह के साथ राज्य निर्माण के कार्य में जुट गये। गंगराज्य-संस्थापक सिंह नन्दाचार्य द्वारा दहिग और माधव को अभिषिक्त करके उक्त राज्य एवं राज्यवंश की नींव डालने की घटना की तिथि 188 ई. मान्यता की जाती है, यद्यपि कई आधुनिक विद्वान् उसे तीसरी शताब्दी में रखते हैं। आचार्य सिंहनन्दि सम्भवतया जिनधर्म के परम प्रभावक आचार्य समन्तभद्रस्वामी के सुशिष्य थे। एक शिलालेख में सिंहनन्दि को 'दक्षिण-देशवासि-गंगमहीमण्डलीक-कुलसमुद्धरणः श्रीमूलसंघनाथो' कहा गया है। इनके शिष्य उपर्युक्त गंगराजकुमारों ने बाणमण्डल के एक बड़े भाग को अपने पराक्रम से विजय करके राज्य की नींव डाल दी। एक अनुश्रुति के अनुसार उन्होंने नन्दगिरि को अपना दुर्ग बनाया, कुवत्ताल (कौत्तार) को राजधानी बनाया, गंगवाड़ि—96,000 संज्ञक उनका देश हुआ, रणभूमि में विजय को उन्होंने अपनी धिरसैविनी बनायी तथा जिनेन्द्र भगवान् को अपना इष्टदेव, जिनमत को अपना धर्म और आचार्य सिंहनन्दि को अपना गुरु बनाकर उन्होंने इस पृथ्वी का उत्तर में माण्डले पर्यन्त, पूर्व में तोण्डेयमण्डलम् तक, दक्षिण में कोंगु देश तक और पश्चिम में चेर राज्य की दिशा में महासागर पर्यन्त भोग किया। बड़े भाई दहिग की मृत्यु तो राज्य निर्माण के प्रयत्न के मध्य ही हो गयी थी, अतएव इस वंश का वास्तविक प्रथम नरेश छोटा भाई माधव कोंगुनिवर्ष प्रथम था, जिसने लगभग पचास वर्ष राज्य किया। बाणों के साथ उसके प्रायः निरन्तर युद्ध चलते रहे—शिलालेखों में उसे बाणरूपी वन के लिए दावाग्नि कहा गया है। पराक्रमी होने के साथ ही साथ वह बड़ा धर्मात्मा था। मण्डलि नामक स्थान में उसने काष्ठ का एक भव्य जिमालय बनवाया और एक जैन पीठ भी स्थापित किया जो शिक्षा और संस्कृति का केन्द्र और निर्ग्रन्थ गुरुओं का आवास स्थान था।

उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी किरियमाधव द्वितीय था जो नीतिशास्त्र में निष्णात और दत्तकसूत्रों का टीकाकार था। उसने अपने पिता का पदानुसरण किया। इसका ज्येष्ठ पुत्र हरियर्मन पिता के राज्य का अधिकारी हुआ। उसने कुवत्ताल का परित्याग करके तत्तकाड (तालवनपुर या तालवननगर) को अपनी राजधानी बनाया,

अनुज आर्यवर्मन को पेरुर का और दूसरे भाई कृष्णवर्मन को कैवार विषय का शासक नियुक्त किया। तभी से इस पश्चिमी गंग-वंश की प्रधान शाखा तलकाड में रही और पेरुर एवं कैवार की दो उपशाखाएँ चलीं। स्वयं हरिवर्मन धनुर्विद्या के लिए प्रसिद्ध था। उसने युद्ध में हाथियों का प्रयोग किया और राज्य को समृद्ध बनाया।

तदंगल माधव—उपयुक्त हरिवर्मन के पुत्र पृथ्वीगंग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह माधव तृतीय एक महान् शासक था। कदम्ब नरेश काकुत्स्थवर्मन की पुत्री के साथ उसका विवाह हुआ था। वह त्र्यम्बक और जिनेन्द्र का समान रूप से भक्त था। इस राजा के कई अभिलेख 357 से 379 ई. तक के प्राप्त हुए हैं, जिनमें से 370 ई. के एक ताम्रशासन के अनुसार महाराज तदंगल माधव ने अपने राज्य के 13वें वर्ष में परब्योलल ग्राम के अर्हत्-मन्दिर के लिए दिगम्बराचार्य वीरदेव को कुमारपुर नामक ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। यह ताम्रपत्र मत्तूर तालुके के नोनमंगल नामक स्थान की प्राचीन जैन बसदि (मन्दिर) के भग्नावशेषों में प्राप्त हुए हैं। उस काल में इन गंगनरेशों के प्रथम में अनेक जैन आचार्य एवं साहित्यकार हुए।

अविनीत गंगा—तदंगल माधव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी अविनीत कोंगुणिवर्म-धर्म-महाराजाधिराज कदम्बनरेश काकुत्स्थवर्मन का दौहित्र और शान्तिवर्मन एवं कृष्णवर्मन प्रथम का प्रिय भागिनेय था। अपने पिता की मृत्यु के समय वह माता की गोद में छोटा-सा शिशु मात्र था। शिलालेखों में उसे शतजीवी कहा गया और उसका शासनकाल बहुत दीर्घकालीन सूचित किया गया है। यह नरेश बड़ा पराक्रमी और धर्मात्मा था। कहा जाता है कि किशोर वय में ही एक बार उसने जिनेन्द्र की प्रतिमा को शिर पर धारण करके भयंकर बाढ़ से विफरती कावेरी नदी को अकेले पौंव पयादे पार किया था। उसके गुरु जैनाचार्य विजयकीर्ति थे, जिनकी देखरेख में उसकी शिक्षा-दीक्षा हुई थी। नोनमंगल ताम्रशासन के अनुसार सन् 430 ई. में गंगराज अविनीत ने स्वगुरु विजयकीर्ति को मूलसंघ के चन्द्रनन्द आदि गुरुओं द्वारा स्थापित उरनूर के अर्हत्-मन्दिर एवं बिहार के लिए दान दिया था। सन् 442 ई. में (हसकोटे) ताम्र-शासन द्वारा उसने एक अन्य अर्हतायतन को दान दिया था। इस लेख में पल्लवाधिराज सिंहवर्मन की माता का भी उल्लेख है। यह सिंहवर्मन जैनाचार्य सर्वनन्दि के प्राकृत लोकविभाग (458 ई.) में उल्लिखित तन्नाम पल्लवनरेश से अभिन्न प्रतीत होता है। मर्करा ताम्रपत्र से ज्ञात होता है कि 466 ई. में अविनीत ने राजधानी लालवननगर की जैन बसदि के लिए दान दिया था। सुप्रसिद्ध दिगम्बराचार्य देवनन्दि पूज्यपाद (लगभग 464-524 ई.) को इस राजा ने अपने पुत्र युवराज दुविनीत का शिक्षक नियुक्त किया था। अभिलेखों में महाराज अविनीत गंग को विद्वज्जनों में प्रमुख, मुक्तहस्तदानी और दक्षिणापथ में जाति-व्यवस्था एवं धर्म-संस्थाओं का प्रधान संरक्षक बताया है, और लिखा है कि 'इस नरेश के हृदय

में महान् जिनेन्द्र के चरण अचल-मेरु के समान स्थिर थे।' पेरूर के जिनालय, पुन्नाट देश की जैन बसदियों तथा अन्य जिनायतनों को भी उसने दान दिये थे। साथ ही उसने अपनी राज्यशक्ति और समृद्धि को भी अक्षुण्ण रखा था। उसका शासन प्रबन्ध भी उत्तम था।

महर्षिहरिक - अश्वमेध की सुविधायित्वगत जी प्रसारण

दुर्विनीत गंग—अविनीत का पुत्र एवं उत्तराधिकारी दुर्विनीत कोणुणि (लगभग 481-522 ई.) बड़ा वीर, महत्वाकांक्षी, विद्वान्, साहित्यरसिक, गुणियों का आदर करने वाला, प्रतापी एवं महान् नरेश था। स्वगुरु आचार्य पूज्यपाद का पदानुसरण करने में वह अपने आपको धन्य मानता था। महाकवि भारवि भी उसके दरबार में कुछ समय रहे और उसने उनके 'किरातार्जुनीय' के 15वें सर्ग पर एक टीका भी लिखी थी। गुरु पूज्यपाद द्वारा रचित पाणिनीय व्याकरण की शब्दावतार टीका का कन्नड अनुवाद तथा प्राकृत बृहत्कथा का संस्कृत अनुवाद भी दुर्विनीत ने किये बताये जाते हैं। जैन धर्मावलम्बी भुजंग-पुन्नाट की पौत्री एवं स्कन्द-पुन्नाट की पुत्री के साथ विवाह करके उसने पुन्नाट प्रदेश दहेज में प्राप्त कर लिया था। अपने पराक्रम और विजयों के द्वारा दुर्विनीत ने पूर्व और पश्चिम दोनों दिशाओं में राज्य विस्तार करके गंग राज्य को साम्राज्य का रूप दे दिया था। अपने समय में दक्षिण भारत का वह सर्वाधिक शक्तिशाली नरेश था। वह प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति और उत्साहशक्ति, तीनों शक्तियों से सम्पन्न था। वह सर्वधर्म-सहिष्णु था, तथापि पक्का जैन था। कोगलि नामक स्थान में उसने चेन्न-पार्श्वनाथ-बसदि का निर्माण कराया था। उसके प्रधान धर्मगुरु एवं विद्यागुरु देवनन्दि पूज्यपाद जैन परम्परा के सर्वमहान् आचार्यों एवं साहित्यकारों में से हैं। राजधानी तलकाड की प्रधान जैन बसदि के वह अध्यक्ष थे, और यह संस्थान उस काल में दक्षिण भारत में ज्ञान का प्रमुख केन्द्र, एक महान् विद्यापीठ एवं सांस्कृतिक अधिष्ठान था, जिसमें सिद्धान्त, तर्क, छन्द, व्याकरण, आयुर्वेद, काव्य, राजनीति आदि विविध विषयों की शिक्षा की समुचित व्यवस्था थी।

दुर्विनीत के उपरान्त उसका प्रथम पुत्र पोलवीर, तदुपरान्त द्वितीय पुत्र मुष्कर राजा हुआ।

मुष्कर गंग—प्रो. रामास्वामी आयंगर के मतानुसार मोष्कर या मुष्कर गंग के समय में जैनधर्म गंगवाड़ी का राज्यधर्म था। इस राजा ने 550 ई. के लगभग बेल्लारी के निकट मुष्कर-बसदि नामक भव्य जिनालय निर्माण कराया था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी श्रीविक्रम था, जिसका उत्तराधिकारी उसका चोलरानी से उत्पन्न पुत्र भूविक्रम-भूवल्लभ-श्रीविक्रम था, जिसने पल्लव नरेश को पराजित करके उससे उग्रोदय नामक प्रसिद्ध रत्नजटित बहुमूल्य हार छीना था। उसके 684 ई. के बेदनूर दानपत्र से उसका जिनभक्त शोभा सूचित होता है और यह भी ज्ञात होता है कि उसका महासामन्त बाणराजा विक्रमादित्य-भोविन्द-शचीन्द्र भी परम जैन था तथा अकलंकदेव के सधर्मा पुष्पसेन भुनि का भक्त था। भूविक्रम के पश्चात् उसका सौतेला भाई जो

श्रीविक्रम की दूसरी रानी (सिन्धुराज की कन्या) से उत्पन्न था, राजा हुआ। उसका नाम शिवमार प्रथम था।

शिवमार प्रथम—वह शिवमार-नवकाम-शिष्यप्रिय-पृथ्वीकोंगुणी अपनी प्रायः वृद्धावस्था में सिंहासनासीन हुआ था। वह परम जैन था और 670 ई. में उसने कई जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था तथा जैन गुरु चन्द्रसेनाचार्य को दान दिया था। यह आचार्य सम्भवतया पंचस्तूपान्वय शाखा के उन चन्द्रसेन मुनि से अभिन्न हैं जो ध्वलाकार स्वामी वीरसेन के दादागुरु थे। इस नरेश के 700 और 713 ई. के भी अभिलेख मिले हैं—प्रथम (हीरमथ ताम्रपत्र) में उसके पूर्वजों का भी विवरण है और गंग दुर्विनीत तथा उसके गुरु देवनन्दि पूज्यपाद का भी उल्लेख है। शिवमार-नवकाम के पश्चात् उसके पुत्र राचमल्ल गंगेगंग ने शासन किया, तदनन्तर शिवमार का पौत्र श्रीपुरुष सिंहासन पर बैठा।

श्रीपुरुष मुत्तरस—सन्मार्गरक्षक, लोकधूर्त, शत्रुभयंकर, राजकोसरी, परमानन्दि, श्रीवल्लभ आदि विरुद्धधारी गंग नरेश श्रीपुरुष मुत्तरस पृथ्वीकोंगुणी (726-76 ई.) के दीर्घकालीन शासनकाल में गंगराज्य पुनः अपनी शक्ति एवं समृद्धि की चरम सीमा को पहुँच गया। उसने अनेक सफल युद्ध भी लड़े और पल्लव नरेशों तथा बाण राजाओं को कई बार पराजित किया। राष्ट्रकूटों के प्रहारों से वह स्वयं वीरता एवं बुद्धिमत्तापूर्वक रक्षा करता रहा। पाण्ड्यनरेश राजसिंह के पुत्र के साथ अपनी पुत्री का विवाह करके उस राज्य से मैत्री सम्बन्ध बनाया, जिसके फलस्वरूप पाण्ड्यदेश में पिछले दशकों में जैनों पर जो भयंकर अत्याचार हो रहे थे उनका अन्त हुआ और तमिल की साहित्यिक प्रश्रुतियों में जैन विद्वानों का पुनः योग हुआ। चिक्बल्लालपुर आदि कई स्थानों के भग्न जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ। गंगों के अधीनस्थ बाणनरेश भी जैनधर्म के बड़े भक्त थे। सन् 750 ई. के लगभग बल्लमलई में अजनन्दि ने आचार्य भानुमन्दि के शिष्य और बाणनरेश के गुरु देवसेन की मूर्ति स्थापित की थी। आचार्य प्रभाचन्द्र, विमलचन्द्र, वृद्धकुमारसेन, परकादि मल्ल, तोरणाचार्य, पुष्पसेन, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य आदि इस काल में कर्णाटक के प्रसिद्ध जैन गुरु थे। नरसिंहराजपुरा ताम्रशासन के अनुसार गंगनरेश श्रीपुरुष ने तोल्ल विषय के जिनमन्दिर को अपने पासगिड गंगवंशी सामन्त नागयर्मा की प्रेरणा से मल्लवल्लि ग्राम दान दिया था और 776 ई. में श्रीपुर के पार्श्व जिनालय को दान दिया था—सम्भवतया इसी अवसर पर विद्यानन्दस्वामी ने उक्त जिनालय में राजा की उपस्थिति में प्रसिद्ध 'श्रीपुर-पार्श्वनाथ-स्तोत्र' की रचना की थी और शायद तदनन्तर श्रीपुर को ही अपना स्थायी निवास बनाया था। इसी वर्ष इस नरेश ने श्रीपुर की उत्तरदिशा में निर्मापित लोकतिलक नामक जिनभवन के लिए समस्त करों और बाधाओं से मुक्त करके पोन्नलि नामक सम्पूर्ण ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि प्रदान की थी। इस भव्य जिनालय का निर्माण कुन्दास्त्रि नामक राजमहिला ने कराया था।

जिसकी माता पल्लवाधिराज की प्रियपुत्री थी और पिता समरकुल-तिलक मरुवर्मा थे तथा जो स्वयं बाणकुल के नाशक दुण्डु-नीर्गुन्द-युवराज के पुत्र परमगुल-श्रीपृथ्वीनीर्गुन्दराज के साथ विवाही थी। रानी कुन्दाच्चि के श्वसुर दुण्डु-नीर्गुन्द-युवराज के गुरु विमलधन्वाचार्य थे जिन्होंने इसी गंगनरेश 'शत्रुभयंकर' की राजसभा के द्वार पर परवादिया के प्रति शास्त्रार्थ का खुला आह्वान (चैलज) लिखकर लगाया था। सम्भवतया उन्हीं के उपदेश से उक्त मन्दिर का निर्माण कराया गया था और दान भी उन्हीं के किसी शिष्य-प्रशिष्य को दिया गया था। लगभग पचास वर्ष शासन करने के उपरान्त 777 ई. में इस सुयोग्य प्रतापी नीतिपरायण एवं धर्मात्मा नरेश श्रीपुरुष मुत्तरस ने राज्य का भार अपने पुत्र शिवमार द्वि. सैगोत को देकर शेष जीवन जैन गुरुओं के सम्पर्क में एक उदासीन श्रावक के रूप में बिताया प्रतीत होता है। उसकी मृत्यु 788 ई. के लगभग हुई लगती है।

शिवमार द्वि. सैगोत—इस राजा का राज्यकाल 776-815 ई. है, किन्तु इस बीच में वह दो बार राज्यच्युत हुआ और राष्ट्रकूटों के बन्दीगृह में उसे लगभग दस-पन्द्रह वर्ष रहना पड़ा। यह गंगनरेश भारी योद्धा, वीर और पराक्रमी था। युद्धों में उसे कई बार अद्भुत सफलता भी मिली और कई बार पराजय भी। उस काल के दक्षिण भारत के राजनीतिक संघर्षों में वह आकण्ठ उलझा था। जैनधर्म का भी वह महान् संरक्षक और भक्त था। स्वामी विद्यानन्द का वह बहुत सम्मान करता था। उसके संरक्षण के कारण स्वामी विद्यानन्द अपने 'श्लोकवार्तिक' और 'अष्टतहसी' जैसे विशाल ग्रन्थों का शान्तिपूर्वक प्रणयन कर सके। शिवमार का पुत्र मारसिंह और भतीजा सत्यवाक्य भी, जो उसकी अनुपस्थिति में राज्यकार्य सँभालते थे, विद्यानन्द के भक्त थे। उक्त आचार्य के विभिन्न ग्रन्थों में इन गंग-नरेशों के नाम अंकित पाये जाते हैं। शिवमार ने श्रवणबेलगोल के छोटे पर्वत पर शिवमारन-बसदि नाम का एक सुन्दर जिनालय बनवाया था, तथा कलभावी में जिनमन्दिर बनवाकर ग्रामदान किया था। इसी कौंगुणी-महाराजाधिराज-परमेश्वर श्रीशिवमारदेव के पुत्र, युवराज एवं गंगमण्डल के तत्कालीन स्वानाथपन्न शतसक लौकत्रिनेत्र मारसिंह के मन्त्री 'समस्त-सामन्त-सेनाधिपति, परम आर्हत, परम धार्मिक, मन्त्र-प्रभूत्साह-शक्ति-सम्पन्न' श्रीविजय ने गंगों की राजधानी मान्यपुर में श्रीविजय नाम का अत्यन्त भव्य एवं विशाल जिनालय बनवाया था, जिसके लिए स्वयं युवराज मारसिंह ने 797 ई. में भूमि आदि का पुष्कल दान दिया था और कुन्दकुन्दाम्बय के मुनि शाल्वली ग्रामनिवासी तोरणाचार्य के प्रशिष्य तथा पुष्पनन्दी के शिष्य प्रभावन्द्र मुनि का सम्मान किया था। उन मुनिराज ने उक्त बसदि को ही अपना आवास बना लिया था। सन् 800 ई. में युवराज मारसिंह तथा उसके चचा दुग्गमार ने अंजनेय अपरनाम कोइल-बसदि नाम का सुन्दर जिनालय नारायण नामक शिल्पी से बनवाया था और मन्दिर के लिए भूमिदान किया था। इसी समय के लगभग गंजम

दानपत्र के द्वारा इस शासक ने जैन गुरुओं को और भी बहुत-सा दान दिया था तथा नन्दिपर्वत पर आचार्य कुन्दकुन्द का एक स्मारक भी बनवाया था। शिवमार के प्रान्तीय शासकों, सामन्त विष्टिरस एवं विजयशक्तिरस ने भी जैन मन्दिरों का निर्माण कराके उनके लिए प्रायः उसी काल में दान दिया था। सन् 801 ई. में वसवट्टि के ईश्वर-जिनालय का निर्माण हुआ और 802 ई. में राष्ट्रकूट सम्राट् गोविन्द तृतीय ने गंगराज्य में भाग्यपुर की उपर्युक्त श्रीविजय-बसदि के लिए मन्ने दानपत्र द्वारा दान दिया तथा उद्धारगण के जैन गुरुओं का सम्मान किया था। चामराजनगर दानपत्र के अनुसार 807 ई. में राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के भाई कम्भ ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर तालवननगर (सम्भवतया मान्यपुर इसका उपनगर था) की श्रीविजय-बसदि के लिए कुन्दकुन्दाम्बय के मुनि कुमारनन्दि के प्रशिष्य और एलाचार्य के शिष्य वर्धमान-गुरु को दान दिया और 812 ई. में राष्ट्रकूट नरेश ने गंगराज्य में नियुक्त अपने प्रतिनिधि चाकिराज की प्रार्थना पर शीलग्राम के जिनमन्दिरों के लिए यापनीयसंघ के गुरु अर्ककीर्ति को दान दिया था। शिवमार सैगीत अपने राजनीतिक और धार्मिक कार्यकलापों के अतिरिक्त भारी विद्वान् और गुणी भी था। वह पतञ्जलि के 'फणिस्त्रुतमत' प्रकरण का परिज्ञाता और 'गजाष्टक' ग्रन्थ का कर्ता भी था। युवराज मारसिंह की मृत्यु उसके जीवन काल में ही हो गयी थी, अतएव उसके पश्चात् शिवमार का छोटा भाई विजयादित्य राजा हुआ, किन्तु कुछ समय बाद ही उसकी मृत्यु हो गयी और विजयादित्य का पुत्र सत्यवाक्य राजा हुआ। शिवमार के छोटे पुत्र पृथ्वीपति प्रथम अपराजित ने पहले ही राज्य के एक भाग पर अपना स्वतन्त्र अधिकार कर लिया था। इस प्रकार गंगराज्य पुनः दो शाखाओं में विभक्त हो गया। उपर्युक्त पृथ्वीपति प्रथम भी बड़ा पराक्रमी वीर था। अनेक युद्धों में उसने भाग लिया, विजय प्राप्त की, और एक युद्ध में ही वह वीरमति को प्राप्त हुआ। उसके गुरु जैनाचार्य अरिष्टनेमि थे। उनके समाधिमरणपूर्वक देहत्याग के समय पृथ्वीपति और उसकी रानी कम्पिता श्रवणवेलगोल के कटवप्र पर्वत पर स्वयं उपस्थित रहे थे। उसके पुत्र मारसिंह ने हिन्दूपुर-दानपत्र द्वारा 853 ई. में दान दिया था। इस मारसिंह का पुत्र पृथ्वीपति द्वितीय हस्तिमल्ल तथा पौत्र नन्दिगंग भी जैनधर्म के भक्त थे। नन्दिगंग के साथ यह शाखा समाप्त हो गयी।

राघवमल्ल सत्यवाक्य प्रथम (815-53)—इस राजा के मही पर बैठने के समय गंगराज्य की स्थिति बड़ी डोँवाडोल थी। इस बुद्धिमान् एवं पराक्रमी वीर ने बाण-नरेश को पराजित करके बाणों का दमन किया। दूसरे प्रतिद्वन्द्वी नीलम्बाधिराज की बहन के साथ अपना तथा अपनी पुत्री जयब्बे के साथ उसका विवाह करके नीलम्ब-पल्लवों को अपना मित्र बना लिया। शक्तिशाली राष्ट्रकूट सम्राट् से अधिक उलझने से वह स्वयं को यथासम्भव बचाता रहा। इस नरेश ने मंगवंश की शक्ति, समृद्धि और प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार करके उसे एक बार फिर उत्कर्ष प्रदान किया। राघवमल्ल

विद्यानन्द स्वामी का भक्त था। उत्तरी अकांठ के विश्वर तालुके में स्थित बल्लमलई पर्वत पर गुहामन्दिर बनवाकर उनमें उसने जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कराहीं। उसके स्वगुरु आर्यनन्दि थे जो बालचन्द्र के शिष्य थे। सम्भवतया यह आर्यनन्दि ही 'ज्वालामालिनी कल्प' नामक मन्त्रशास्त्र के रचयिता थे।

एरेयगंग नीतिमार्ग प्रथम रणविक्रम (858-70 ई.)—राचमल्ल के इस यशस्वी पुत्री एवं उत्तराधिकारी ने राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री राजकुमारी चन्द्रबेलब्बा (अब्बलब्बा) के साथ अपने छोटे पुत्र भूतुगेन्द्र-बुत्तरस-गुणदुत्तरंग का विवाह करके शक्तिशाली राष्ट्रकूटों को भी स्थायी मैत्री के सूत्र में बाँध लिया। राजकुमार भूतुग (बुतुग) ने पल्लवराज को लूटकर अपनी प्रतिष्ठा बनायी थी। कुड्डलूर दानपत्र में इस गंगनरेश नीतिमार्ग प्रथम को 'परमपूज्य' अर्हदभट्टारक के चरणकमलों का 'ध्रमर' लिखा है, वहीं राजकुमार भूतुग को भी परमजैन लिखा है। शिलालेख जिस स्थान पर है उसके निकट ही राजन् नीतिमार्ग के समाधिपरण का प्रस्तरांकन है, जिसमें उसका स्वामिभक्त सेवक अगरय्य उसे सँभाले हुए बैठा है, और शोकमग्न राजकुमार सम्मुख खड़ा है। इस राजा ने अनेक युद्धों में वीरतापूर्वक विजय प्राप्त की बतायी जाती है। अब्ब गंगनरेश राष्ट्रकूट सम्राटों के महासामन्त मात्र थे और वे ~~सुद्ध अधिकतर राष्ट्रकूटों का युद्ध करने के लिए~~ लड़े गये प्रतीत होते हैं।

राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय (870-907 ई.)—नीतिमार्ग की सल्लेखनापूर्वक मृत्यु के उपरान्त उसका ज्येष्ठ पुत्र राचमल्ल सत्यवाक्य द्वितीय राजा हुआ और क्योंकि वह निःसन्तान था, इसलिए उसने अपने अनुज वीर भूतुगेन्द्र की युवराज बनाया। इन दोनों भाइयों ने पल्लवों, पाण्ड्यो, वेंगि के चालुक्यों आदि के विरुद्ध अनेक युद्ध किये और प्रशंसनीय विजय प्राप्त की। इस काल में भूतुग कोंगुनाड और पुन्नाड का प्रान्तीय शासक भी रहा प्रतीत होता है। बिलियूर दानपत्र के अनुसार राजन् राचमल्ल सत्यवाक्य द्वि. ने अपने राज्य के 18वें वर्ष (887 ई.) में पेन्नेकडंग स्थान में स्वनिर्मित सत्यवाक्य-जिनालय के लिए शिवनन्दि-सिद्धान्त भट्टारक के शिष्य सर्वनन्दिदेव को बिलियूर (बेलूर) इलाके के बारह ग्राम प्रदान किये थे। राचमल्ल के जीवन में ही (900 ई. के लगभग) युवराज भूतुगेन्द्र की मृत्यु हो गयी थी, जिसके उपरान्त भूतुग का पुत्र एयरप्प-एरेयगंग-नीतिमार्ग युवराज हुआ और उसने अपने ताऊ 'श्रमणसंव-स्पादादाधारभूत' उक्त राचमल्ल सत्यवाक्य के साथ मिलकर पाषाणनिर्मित पेम्पनडिबसदि नामक जिनालय के लिए कुमारसेन भट्टारक को श्वेत चावल, घृत, निःशुल्क श्रम (बेगार) आदि का दान चुंगी आदि सर्वप्रकार के करों से मुक्त करके दिया था। राचमल्ल की मृत्यु के बाद वही राजा हुआ।

एयरप्प एरेयगंग नीतिमार्ग द्वितीय, सत्यवाक्य महेन्द्रान्तक—907 से लगभग इस वर्ष राज्य किया। शक 831 (909 ई.) में जब इस नरेश का 'राज्य

चारों दिशाओं में वृद्धिगत था। सामन्त सान्तररस की सम्पत्ति से मनलेयार नामक राजपुरुष ने कनकगिरितीर्थ के जिनभवन को दुगुना बड़ा करके उसके लिए, स्वयं महाराज की उपस्थिति में, तिज्येयूर नामक स्थान में कनकसेन भट्टारक की विधिधि प्रकार का डान उक्त बसदि के लिए दिया था। अपने राज्यकाल में स्वयं इस राजा ने भी मुडहल्लि और तीरभु के जिनमन्दिरों को दान दिये थे। चालुक्य-राजकुमारी जकम्बा उसकी रानी थी, और पल्लवों के विरुद्ध युद्ध करके उसने अनेक दुर्ग जीते थे। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीरवेङ्ग सरसिह सत्यवाक्य का शासन अल्पकालीन रहा। इसके गुरु द्रविडसंघी विमलचन्द्राचार्य थे। इस राजा के दो पुत्र थे—राचमल्ल सत्यवाक्य और ब्रतुगगंग।

राचमल्ल सत्यवाक्य तृतीय—यह राजा कच्छेयगंग भी कहलाता था। लगभग 920 ई. में वह गद्दी पर बैठा। सम्भवतया वह निःसन्तान था और उसके समय में ही उसका अनुज ब्रतुगगंग युवराज था जो परमवीर था। राचमल्ल ने वेङ्ग के चालुक्यों को युद्ध में पराजित किया। अपनी और अपने अनुज की युद्धों में प्राप्त सफलताओं के कारण, सम्भव है, उसने राष्ट्रकूटों की अधीनता से मुक्त होने का प्रयत्न किया। अतएव सम्राट की सेना ने गंगराज्य पर आक्रमण कर दिया और उस युद्ध में यह राजा राचमल्ल वीरगति को प्राप्त हुआ। तदनन्तर उसका भाई ब्रतुग राजा हुआ। यह राजा भी जैन था।

ब्रतुग द्वितीय गंग-नागेश—गंगानारायण, नन्निधगंग, जयदुत्तरंग, सत्यनीति-वाक्य, कौण्ठिगवर्म-महाराजाधिराज-परमेश्वर आदि उपाधिधारक यह नरेश बड़ा युद्धवीर, पराक्रमी, प्रतापी और प्रभावशाली शासक था। प्रारम्भ में राष्ट्रकूटों की ही सहायता एवं सद्भावना से वह सिंहासनासीन हुआ और लगभग 937 से 953 ई. पर्यन्त उसने राज्य किया। उसकी तीन रानियाँ थीं, जिनमें से प्रथम तो राष्ट्रकूट सम्राट अमोघवर्ष तृतीय की पुत्री तथा कृष्ण तृतीय की बड़ी बहन रेवा थी, दूसरी कलम्बरत्ती नामक राजकुमारी थी और तीसरी डहाड़देश के स्वामी बहेग की पुत्री दीवलाम्बा थी। राष्ट्रकूट राजकुमारी के साथ उसने पुलिगेरे, बेलबोला, कितुकद, बगे आदि विषय (ज़िले) दहेज में प्राप्त किये थे। अपने श्वसुर बहेग की मृत्यु होने पर उसने उसके राज्य को लल्लेय के पंजे से निकालकर अपने अधिपति राष्ट्रकूटसम्राट कृष्ण तृतीय के लिए प्राप्त कर लिया था। अन्तर्पुर के कंकराज, बनवासि के विज्ज-दन्तिवर्मन, नुलुवगिरि के दामरि तथा राजवर्मा, नागवर्मा आदि राजाओं में उसने अपने पराक्रम से भय उत्पन्न कर दिया था। उसने तंजापुरी (तंजौर) का घेरा डाला और राजादित्य को पराजित किया तथा नालकोटे के पहाड़ी दुर्ग को जलाकर भस्म कर दिया। एक अन्य युद्ध में उसने उक्त चोल नृपति राजादित्य को मार डाला था। जैनधर्म का वह गंगनरेश परम भक्त था। जैन मन्दिरों और जैन गुरुओं को उसने अनेक दान दिये थे। जैन सिद्धान्त का भी वह पण्डित था और परवादियों के साथ शास्त्रार्थ करने

का उसे चाव था। एक बौद्ध विद्वान् के साथ भी उसके शास्त्रार्थ करने का उल्लेख मिलता है। एकान्त-मत-मदोद्धत-कुशादि-कुम्भीन्द्र-कुम्भ-सम्पेद, नैगमनयादि-कुलितैरकरोज्जयदुत्तरंग-नृप जैसे उसके विरुद्ध सार्थक थे। अपने 938 के सूदी (जिला धारवाड़) ताम्रशासन के अनुसार इस नरेश ने अपनी प्रिय पत्नी 'सम्यग्दर्शनविशुद्ध-प्रत्यक्ष-दैवत्या' रानी दीवाताम्बा द्वारा सुल्धाटवी-सालसि-ग्राम-क्षेत्र के सूदी-तमक-स्थान में निर्मापित जिनालय के संरक्षण के लिए तथा वहाँ निवास करनेवाली छह श्रमण-आर्यिकाओं के दान-सम्मान के लिए गुरु नागदेव पण्डित को स्वयं पादप्रक्षालन करके, 'कातिक-नन्दीश्वर-शुक्लपक्ष' की अष्टमी, आदित्यवार के दिन यह बृहत् दान दिया था। इस अभिलेख में राजा के अनेक वीरतापूर्ण कार्यकलापों एवं विजयों का भी उल्लेख है। सन् 950 ई. के अतकूर दानपत्र में बूतुग द्वारा चोलों की पराजय और उनके सेनापति चोल राजकुमार के मारे जाने का भी उल्लेख है। उसके कुछतरु ताम्रपत्र से प्रकट है कि उसके परिवार के अन्य सदस्य भी जैनधर्म के भक्त और धर्मात्मा थे। राजा की बड़ी बहन पामब्बे, जो पेदियर दोरपथ्य की ज्येष्ठ रानी थी, बड़ी विदुषी थी और गुणचन्द्र भट्टारक तथा आर्यिका माणम्बेकन्ति की शिष्या थी। इस धर्मात्मा राजमहिला ने आर्यिका के रूप में तीस वर्ष तपस्या की थी और अन्त में (971 ई. में) समाधिमरणपूर्वक देह का त्याग किया था। इस देवी की आर्यिका दीक्षा की घटना का महाराज बूतुग के हृदय पर भी गहरा प्रभाव पड़ा था।

गंगराज मरुतदेव (953-961 ई.)—राष्ट्रकूट राजकुमारी रेवा से उत्पन्न बूतुग द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसका विवाह अपनी ममेरी बहन बीजम्बे के साथ हुआ था, जो राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय की पुत्री थी। इस उपलक्ष्य में मरुतदेव को एक राजच्छत्र भी प्राप्त हुआ था। स्वयं उसकी बहन सोमिदेवी उक्त राष्ट्रकूट सम्राट के पुत्र से विवाही थी, जिससे इन्द्र चतुर्थ उत्पन्न हुआ था। राष्ट्रकूटों के साथ कई पीढ़ियों से चले आते इन विवाह सम्बन्धों ने गंगनरेशों की शक्ति पर्याप्त बढ़ा दी थी, जिससे वे पल्लवों, चोलों और वेङ्ग के चालुक्यों-जैसे प्रबल विरोधियों से सफलतापूर्वक लोहा ले सके। मरुतदेव परम जिनभक्त था। शिलालेखों में उसे 'जिन-चरण-कमल-चंचरीक' कहा है।

गंगनरेश मारसिंह (961-974 ई.)—मरुतदेव का सौतेला भाई था जो उसके पश्चात् राजा हुआ। गंगवंश का यह अन्तिम महान् नरेश बड़ा प्रतापी था। उसकी शक्ति, प्रतिष्ठा और राज्य का विस्तार भी बहुत बढ़े-चढ़े थे। शिलालेखों में उसके गुलियगंग, गंगकन्दर्प, गंगविद्याधर, गंगयज्ञ, गंगचूड़ामणि, पराक्रमसिंह, नीलम्ब-कुलान्तक, पल्लवमल्ल, माण्डलिकत्रिनेत्र, सत्यवाक्य-कोंगुणियर्म-धर्म-माधुराजाधिराज-परमेश्वर इत्यादि विरुद्ध प्राप्त होते हैं। एक अभिलेख में उसे 'भक्तैकमंगल-जिनेन्द्र-नित्याभिषेक-रत्नकलश' बताया है। सन् 968 ई. के इसी लक्ष्मेश्वर शिलालेख के अनुसार उसने पुलियेरे (लक्ष्मेश्वर) की उस शंखवसति तीर्थ-मण्डल में, जहाँ पूर्ववर्ती गंग-नरेशों द्वारा

निर्मापित मुक्करवसति, मरुदेवी-गृह, चन्द्रिकाशिवका-देवालय, राधराचमल्लवसति, श्रीविजयवसति, गंगपेम्माडिचैत्यालय आदि अनेक जिनमन्दिर थे, अपने नाम से गंगकन्दर्पमूपाल-जिनेन्द्र-मन्दिर नाम का भव्य जिनालय बनवाया था और उसके निमित्त देवगण के आचार्य देवेन्द्रभट्टास्क के प्रशिष्य तथा मुक्तदेवयोगि के शिष्य जयदेव-पण्डित को ग्रामादि प्रभूत दान दिया था। श्रवणबेलगोल के चिक्कवेह पर स्थित कूर्गे-ब्रह्मदेव स्तम्भ पर 974 ई. की इस नरेश की प्रशस्ति से प्रकट है कि इस महाराज मारसिंह ने अपने अधिपति राष्ट्रकूट कृष्ण तृ. के लिए गुर्जरदेश को विजय किया था, मालवा पर आक्रमण करके सियक परमार को पराजित किया था, कृष्ण के सबल शत्रु अल्ल का दमन किया, विन्ध्य प्रदेश के किरातों को छिन्न-भिन्न किया, शिलाहार विज्जल से युद्ध किया, बनवासि के राजाओं को पराजित किया, मातुरों का दमन किया, उज्ज्वी के सुदृढ़ दुर्ग को हस्तगत किया, सयर राजकुमार नरग को नष्ट किया, चालुक्य विजयादित्य का अन्त किया, चेरो, चोलों और पाण्ड्यों का दमन किया, मान्यखेट में चक्रवर्ती (कृष्ण) के कटक की रक्षा की, इत्यादि। वस्तुतः इस काल में गंगनरेश ही राष्ट्रकूट साम्राज्य के संरक्षक थे, यद्यपि नाम के लिए वह राष्ट्रकूटों के महासामन्त या अधीनस्थ माण्डलिक मूपाल मात्र थे। मारसिंह के उपर्युक्त पराक्रमपूर्ण कार्यकलापों का उल्लेख करने के पश्चात् उक्त अभिलेख में बताया है कि इस नृपति ने जैनधर्म का अनुपम ज्योत किया था। जिनेन्द्रदेव के सिद्धान्त को सुनियोजित किया था, और अनेक स्थानों में दर्शनीय जिनमन्दिरों तथा मानस्तम्भों का निर्माण कराया था। परीपकार के कार्य उसने अनगिनत किये थे। इस प्रकार इस कर्मशूर एवं धर्मशूर ने अपने लगभग चौदह वर्ष के राज्यकाल में राज्यधर्म का सफलतापूर्वक पालन करते हुए और साथ ही शक्तिपूर्वक अनेक धर्मकार्य करते हुए आत्मसाधन के लक्ष्य को भी विस्मृत नहीं किया। फलतः 974 ई. में राज्य का परित्याग करके शेष जीवन उदासीन श्रावक के रूप में बिताया। अन्त में एक वर्ष बीतते न बीतते इस राजर्षि ने तीन दिवस की सल्लेखनापूर्वक बंकापुर में अपने गुरु अजितसेन भट्टारक के चरणों में समाधिमरण किया। कुड्डलूर दानपत्र में लिखा है कि जिन-पदाम्बुज-मधुकर एवं गुरुभक्त महाराज मारसिंह परहित-साधन में आनन्द लेता था, परधन एवं परस्त्री का वह त्यागी था, सज्जनों की निन्दा सुनने में बधिर था, मुनियों और ब्राह्मणों को दान देने में तथा शरणागतों को अभयदान करने में सदैव तत्पर रहता था। वह उच्चकोटि का विद्वान् भी था; दर्शन, तर्क, व्याकरण, साहित्य, अश्वविद्या, गजविद्या आदि में निष्णात था। नामकर्म और केशिराज-जैसे कवियों ने उसकी प्रतिभा की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। वह विद्वानों का संरक्षक था और गुरुओं की सदा विनय करता था। उसके श्रुतगुरु या विद्यागुरु मुंजार्य वादिपंगलभट्ट थे, जो श्रीधरभट्ट नामक ब्राह्मण पण्डित के पुत्र थे और स्वयं सिद्धान्त, दर्शन, न्याय, तर्क, व्याकरण, राजनीति आदि विविध विषयों के महापण्डित

एवं श्रेष्ठ कवि थे। वह आचार्य धर्म से जैन थे, अद्भुत प्रतिभासम्पन्न थे और वल्लभराज कृष्ण-जैसे सम्राट् तथा उसके अनेक माण्डलिकों एवं सामन्तों द्वारा सम्मानित हुए थे। मारसिंह ने उन्हें बगिपूर नाम का ग्राम भेंट किया था।

अन्तिम गंग राजे—मारसिंह के राज्य परित्याग के प्रायः साथ ही साथ राष्ट्रकूटों का सूर्य अस्तंगत हुआ और स्वयं गंगराज्य में भारी अव्यवस्था उत्पन्न हो गयी। दो-तीन वर्ष की गड़बड़ी के उपरान्त 927 ई. में मारसिंह का छोटा भाई (लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद के एक शिलालेख में उसे मारसिंह का पुत्र लिखा है) राघवमल्ल सत्यवाक्य चतुर्थ 'धर्मावतार' गंगराज्य का स्वामी हुआ और लगभग सात वर्ष तक शासन करता रहा। इस राजा के प्रथम वर्ष में ही पेगूर ग्राम की जिनबसदि के लिए श्रवणबेलगोल निवासी वीरसेन सिद्धान्तदेव के प्रशिष्य और गुणसेनपण्डित महारक के शिष्य अनन्तवीर्य गुरु को पेगूर ग्राम तथा अन्य भी कुछ भूमि का दान दिया गया था। श्रीपुरुष महाराज (एक पूर्व गंगनरेश) द्वारा दिये गये पुराने दानपत्रों की भी पुष्टि की गयी थी। इसी राजा के शासनकाल में श्रवणबेलगोल की गोम्मटेश प्रतिमा प्रतिष्ठापित हुई। राघवमल्ल चतुर्थ के पश्चात् 958 ई. में उसका भतीजा (गोविन्द या बासव का पुत्र) रक्कसगंग पेम्मर्मनडि राजा हुआ। उसने पतनोन्मुख गंगराज्य को बचाये रखने का यथाशक्ति प्रयत्न किया। इस राजा के गुरु द्रविडसंघी हेमसेन वादिराज के शिष्य श्रीविजयदेव थे। कन्नड कादम्बरी एवं छन्दाम्बुधि के रचयिता कन्नड भाषा के सुप्रसिद्ध जैन कवि नागवर्म इस राजा के आश्रित थे। रक्कसगंग ने राजधानी तलकाड में तथा अन्यत्र कई जिनमन्दिर बनवाये थे, बेलूर में एक सरोवर बनवाया था और दानप्रदिक दिये थे। वह निस्सन्तान था, अतएव उसने अपनी दो भतीजियों और एक भानजे विद्याधर का पालन-पोषण किया था। रक्कसगंग की पुत्री चङ्गलदेवी हुम्मच के सान्तर वंश के शिलालेखों में देवी की तरह पूजित हुई। सन् 1004 ई. के लगभग चोलों ने आक्रमण करके राजधानी तलकाड तथा गंगवाड़ी के बहुभाग पर अधिकार कर लिया। रक्कसगंग उसके पश्चात् भी लगभग बीस वर्ष जीवित रहा, और सम्भवतया चोलों के अधीन एक छोटे से उपराज्य या सामन्तवंश के रूप में गंग राजे फिर भी चलते रहे, क्योंकि रक्कसगंग के उपरान्त गंगराजा के रूप में नीतिमार्ग तृतीय राघवमल्ल का नाम मिलता है, जिसके गुरु वज्रपाणि पण्डित थे; जैसा कि उसके 1040 ई. के शिलालेख से प्रकट है। उसके उपरान्त रक्कसगंग द्वितीय राजा हुआ। उसकी पुत्री चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर प्रथम (1076-1126 ई.) की रानी थी। रक्कसगंग द्वि. के गुरु अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव थे। इस राजा का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई कलिंगंग भी परम जैन था। वह होयसलों का सामन्त बन गया था और 1116 ई. में उसने चोलों को मैसूर प्रदेश से बाहर निकालकर अपने स्वामी विष्णुवर्धन होयसल को साम्राज्य निर्माण में अद्वितीय सहायता दी थी। उसका प्रधान सामन्त भुजबलगंग भी परम जैन था।

कलिंग के उपरान्त भी गंगवंश किसी न किसी रूप में प्रायः 16वीं शती तक चलता रहा। पैरिची, कैरवि, पारसिण्डि, पूर्वी या कलिंगी आदि कई शाखाओं में यह वंश पहले ही बँट चुका था, और भी शाखाएँ-प्रशाखाएँ हुईं। गंगवंश में उत्पन्न अनेक व्यक्ति स्वयं गंगराज्य, उसके शाखा राज्यों तथा अन्य भी चालुक्य, चोल, होयसल, विजयनगर आदि दक्षिणी राज्यों के सामन्त सरदार होते रहे।

इस प्रकार दक्षिण भारत का गंगवंश एक सर्वाधिक दीर्घजीवी राजवंश रहा, साधक एक सहस्र वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न बना रहा। बीच-बीच में उसने साम्राज्य शक्ति का रूप भी धारण किया, चिरकाल तक एक महत्त्वपूर्ण एवं बलवान् राज्यसत्ता का स्वामी तो वह बना ही रहा। उसका कुलधर्म और बहुधा राज्यधर्म भी जिनशासन ही रहा, जिसके संरक्षण और प्रभावना के लिए वंश के अनेक पुरुषों, महिलाओं, सामन्त-सरदारों, राज्यकर्मचारी और राज्य की जनता ने यथाशक्ति प्रयत्न किया। फलस्वरूप उस काल एवं प्रदेश में जैन संघ सशक्त बना रहा, अनेक प्रसिद्ध आचार्य, मुनि-आर्यिक आदि त्यागी महात्मा हुए, अनेक विद्वानों और कवियों ने कन्नड़, तमिल, प्राकृत, संस्कृत आदि भाषाओं में विविध विषयक विपुल साहित्य का निर्माण किया। जैन साधुओं ने लोक-शिक्षा में प्रधान योग दिया, राजाओं का यथावश्यक पथप्रदर्शक किया, जनता के नैतिक स्तर को उन्नत बनाये रखा और अनेक लोकोपकारी कार्य किये। कई धर्मतीर्थ विकसित हुए और गंगनरेशों द्वारा तथा उनके प्रथम में निर्मापित भव्य जिनालयों के रूप में मूर्त एवं शिल्प-स्थापत्य की अनेक दर्शनीय एवं मनोह कलाकृतियों उदय में आयीं।

वीरभार्तण्ड चामुण्डराय—पारी विपत्तियों एवं नानाविध अव्यवस्थाओं से भरा हुआ गंग-इतिहास का सन्ध्याकाल गंगनरेश जगदेकवीर-धर्मावलार-राघमल्ल-सत्यवाक्य ऋतुर्ध के अद्वितीय मन्त्री एवं महासेनापति चामुण्डराय (चामुण्डराय) के कारण अमर हो गया। डॉ. साल्लोरे के शब्दों में उनसे बड़ा वीर योद्धा, उनसे बड़ा परम जिनेन्द्रभक्त और उन-जैसा सत्यनिष्ठ सज्जन कर्णाटक देश में दूसरा नहीं हुआ। ब्रह्म-क्षत्रिय कुल में उत्पन्न इस महान् राजनीतिज्ञ, सुदक्ष सैन्यसंचालक, परमस्वामिभक्त, कन्नड़, संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के महान् विद्वान्, कवि एवं ग्रन्थकार, सिद्धान्तज्ञ एवं कलामर्मज्ञ, विद्वानों और कलाकारों के प्रश्रयदाता, अद्भुत निर्माणकर्ता और जैनधर्म के प्रभावकों में अग्रिम, महादण्डनायक जैसे अत्यन्त विरल पुरुषरत्न का लाभ गंगनरेशों को उस समय प्राप्त हुआ जबकि स्वयं उनका भाग्यसूर्य अस्तामलगामी था। ऐसी विषम विरुद्ध परिस्थितियों में भी इस द्रुतवेग से पतनशील वंश की अभिभावकता एवं रक्षा, साथ ही उसके अधिपति पतनोन्मुख राष्ट्रकूट सम्राटों का भी संरक्षण चामुण्डराय ने यथाशक्ति प्रायः सफलतापूर्वक किया। चाहता तो वह स्वयं गंगराज्य का अधिपति हो सकता था। वह राघमल्ल ही नहीं, उसके पूर्वज मारसिंह और उत्तराधिकारी रक्कसगंग का भी राजमन्त्री एवं सेनापति रहा। मारसिंह

ने मरते समय अपने स्वामी एवं भानजे राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ की रक्षा का भार उसे ही सौंपा था। अपनी शूरवीरता, साहस और पराक्रम के लिए उसने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। राजादित्य को घायल करने में उसने आश्चर्यजनक हस्तकौशल दिखाया था, राघ नामक महाबली शत्रु सामन्त के टुकड़े-टुकड़े कर डाले थे, गोविन्दराज को करारी हार दी थी, जब चामुण्डराय युद्ध के लिए निकलता तो शत्रु लोग भयभीत खरहों की भीति शरण की खोज में दुबकते फिरते थे। दीपावली के दुन्दुभिनाद-जैसा उसके युद्ध के दोतों का रव शत्रुदल में भय और त्रास उत्पन्न कर देता था। रोडग के युद्ध में वज्रसदेव को पराजित करने पर उसे 'समरधुरन्धर' उपाधि मिली। गोनूर के युद्ध में मोलम्बों को पराजित करने पर 'वीरमार्तण्ड', उच्छङ्गी के दुर्ग में राजादित्य को छकाने पर 'रणरंगसिंह', बागेपुर के दुर्ग में विभवनवीर को मारने और गोविन्दार को उस क़िले में प्रविष्ट कराने के लिए 'वैरकुलकालदण्ड', तथा अन्य विविध युद्ध विजयों के उपलक्ष्य में 'भुजविक्रम', 'महुमारि', 'प्रतिपक्षराक्षस', 'नीलम्बकुलान्तक', 'समरकैतरी', 'सुभटचूडामणि', 'समर-परशुराम', आदि विरुद उन्हें प्राप्त हुए थे। उसके अन्य नाम गोम्मट, गोम्मटराय, राय और अण्ण थे। अपने धार्मिक एवं नैतिक चरित्र और कार्यकलापों के लिए उसे 'सम्पत्करत्नाकर', 'शौचाभरण', 'सत्य-युधिष्ठिर', 'गुणरत्नभूषण', 'देवराज', 'गुणकाय' आदि सार्थक उपाधियाँ प्राप्त थीं। वह जिनेन्द्र भगवान् का, स्वगुरु अजितसेनाचार्य का और अपनी स्नेहमयी जननी का परम भक्त था। 'चामुण्डराय पुराण' और 'चारित्रसार' जैसे महत्त्वपूर्ण एवं विशाल ग्रन्थों का प्रणेता भी वह था। इनमें से प्रथम कन्नड भाषा में है और दूसरा संस्कृत में। गोमहसार की वीरमार्तण्डी टीका (कन्नड) भी चामुण्डराय रचित मानी जाती है। कन्नड के महाकवि रन्न का वह आद्य प्रश्रयदाता था, जिसे राय ने श्रेष्ठ कवि के साथ ही साथ अच्छा योद्धा और सेनानी भी बना दिया। चामुण्डराय की प्रेरणा से आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने अपने सुप्रसिद्ध गोम्मटसार, त्रिलोकसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की रचना की थी। वह भी आचार्य अजितसेन के ही शिष्य थे। चामुण्डराय ने अनेक जिनमन्दिरों, मूर्तियों आदि का निर्माण, जीर्णोद्धार और प्रतिष्ठा करायी थी। श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पर स्व-निर्मापित चामुण्डराय-वसति में इन्द्रनीलमणि की मनोज्ञ नेमिनाथ (गोम्मट-जिन) की प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। यह मन्दिर उक्त स्थान के जिनालयों में सर्वाधिक सुन्दर समझा जाता है। विन्ध्यगिरि पर उसने त्यागद-ब्रह्मदेव नाम का सुन्दर मानस्तम्भ भी बनवाया था। चन्द्रगिरि के नीचे एक शिला चामुण्डरायशिला कहलाती है, जहाँ खड़े होकर राय ने सामने की विन्ध्यगिरि पर मन्त्रपूत शर-सन्धान किया था, जिसके फलस्वरूप गोम्मटेश बाहुबलि की विशाल प्रतिमा प्रकट हुई थी, ऐसी अनुश्रुति है। वस्तुतः अपनी जननी काललदेवी की इच्छा पूरी करने के लिए चामुण्डराय ने 978 ई. में गोम्मटेश्वर कुक्कुटजिन-बाहुबलि की वह विश्व-विश्रुत

विशाल-क्रीट-अक्षर-लिखित-शिलालेख-अक्षर-लिखित-कराया-थी, जो रूपशिल्प और मूर्तिविज्ञान की अद्वितीय कलाकृति है और अपनी मौलिकता, मनोज्ञ छवि, सुस्मित वीतराग, ध्यानस्थ मुद्रा, सादगी और विशालता में अप्रतिम है, तथा विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है। इस ब्रह्म-क्षत्र-शिखापणि चामुण्डराय की भार्या अजितादेवी भी पतिपरायणा एवं धर्मपरायणा महिलारत्न थी और अपने पति के धर्मकार्यों में सौत्साह प्रेरक थी। इनका सुपुत्र जिनदेवन भी धर्मात्मा था और अजितसेन भट्टारक का ही शिष्य था। उसने भी श्रवणबेलगोल में एक भव्य पार्श्व-जिनालय बनवाया था। ऐसा लगता है कि रावमल्ल चतुर्थ के उत्तराधिकारी रक्कसगंग के राज्यारम्भ के पाँच-सात वर्ष के भीतर ही, लगभग 990 ई. में, इस महान् कर्मवीर एवं धर्मवीर राजा चामुण्डराय का स्वर्गवास हो गया था। चामुण्डराय की छोटी बहन धर्मात्मा पुल्लव्वे ने विजयमंगलम् स्थान की चन्द्रनाथ बसदि में समाधिभरण किया था और उसकी पुण्यस्मृति में उक्त स्थान पर एक निषद्यका (निषिद्धि) निर्माण करायी गयी थी।

वीरांगना सावियब्बे—यह वीर महिलारत्न प्रसिद्ध एवं पराक्रमी वीर बायिक तथा उसकी धर्मपत्नी जावय्ये की पुत्री थी, और धोर के पुत्र लोकविद्याधर अपरनाम उदयविद्याधर की भार्या थी। सम्भव है कि रक्कसगंग का भानजा एवं पोष्यपुत्र विद्याधर ही यह लोकविद्याधर हो। यह वीरबाला अपने पति के साथ युद्ध में गयी थी। और रणभूमि में युद्ध करते हुए ही उसने वीरगति पायी थी। श्रवणबेलगोल की बाहुबलि बसति के पूर्व की ओर एक पाषाण पर इस युद्धप्रिय महिला की वीरगति लेखांकित है। लेख के ऊपर एक प्रस्तरांकित दृश्य है जिसमें यह वीर नारी घोड़े पर सवार है और हाथ में तलवार उठाये हुए अपने सम्मुख एक गजारुढ़ योद्धा पर प्रहार करती चित्रित है। हाथी पर चढ़ा हुआ पुरुष भी इस वीरबाला पर जवाबी प्रहार कर रहा है। घटनास्थल का नाम बगेयूर लिखा है, जो सम्भवतया वही दुर्ग है जिसपर आक्रमण करके सेनापति चामुण्डराय ने त्रिभुवनवीर को युद्ध में मारकर और गोविन्दर को दुर्ग में प्रविष्ट कराके 'वैरिकुलकालदण्ड' का विरुद्ध प्राप्त किया था। लोकविद्याधर और उसकी वीर पत्नी सावियब्बे भी उस युद्ध में चामुण्डराय की ओर से सम्मिलित हुए लगते हैं। लेख में इस महिला-रत्न को रेवतीरानी-जैसी पक्की आविका, सीता-जैसी पतिव्रता, देवकी-जैसी रूपवती, अरुन्धती-जैसी धर्मप्रिया और शासन-देवता-जैसी जिनेन्द्रभक्ता बताया है।

पेगडे हासम—रक्कसगंग पेर्मनडि का मन्त्री था। बेलूर के 1022 ई. के शिलालेख में उसे शरणागत-वज्र-पंजर, रिपु-कंज-कुंजर, तन्त्र-रक्षामणि, मन्त्री-चिन्तामणि, राज्यभार-धुरन्धर इत्यादि कहा है। उसने अपने स्वामी के दीर्घ-जीवन की कामना के लिए, जिस स्थान में वह उस समय निवास कर रहा था, एक नवीन जिनालय बनवाया था, बलोरकड के सरोवर की सीढ़ियाँ बनवायी थीं, एक बाँध का निर्माण

कराया था और सिंचाई के लिए प्रणाली (नहर) बनवायी थी, तथा उक्त धर्मकार्यों के लिए भूमिदान भी लिख था।

कदम्बवंश

इस वंश की स्थापना कदम्ब नामक वृक्ष-विशेष के नाम पर दूसरी शती ई. के मध्य के लगभग, सातवाहनों के एक सामन्त पुक्कण अपरनाम त्रिनेत्र ने की बतायी जाती है। वनवास देश पर इनका अधिकार था और प्रारम्भ में करहाटक (करहद) इनकी राजधानी थी—कालान्तर में वैजयन्ती हुई। मूलतः ये अपने आपको ब्राह्मण-वंशज कहते थे और सम्भवतया ब्राह्मण-क्षत्रिय-नाग रक्तमिश्रण से उत्पन्न थे। इनका कुलधर्म भी मुख्यतया ब्राह्मण था, किन्तु वंश में अनेक राजे परम जैन हुए। दूसरा राजा ही, शिवकोटि अपने भाई शिवायन के साथ स्वामी समन्तभद्र द्वारा जैनधर्म में दीक्षित कर लिया गया था। शिवकोटि का पुत्र श्रीकण्ठ था और पौत्र शिवस्कन्दवर्मन, जिसके उत्तराधिकारी मयूरवर्मन (तीसरी शती का उत्तरार्ध) के समय में ही कदम्ब राज्य शक्तिसम्पन्न एवं सुप्रतिष्ठित हो सका। उसी ने वैजयन्ती (वनवासी) को राजधानी और हल्सी (पलाशिका) को उपराजधानी बनाया था। उसका पुत्र भगीरथ और पौत्र रघु एवं काकुत्स्थवर्मन थे।

काकुत्स्थवर्मन कदम्ब—भाई रघु की युवावस्था में ही मृत्यु हो जाने के उपरान्त उसका उत्तराधिकारी हुआ। वह अल्पवय में ही राजा हो गया लगता है। वह बड़ा नीतिनिपुण, सुयोग्यशासक, दीर्घजीवी महान् नरेश था। उसकी एक पुत्री गंगनरेश तदंगल नाथय के साथ विवाही थी और अविनीत कौमुणी की जननी थी, दूसरी पुत्री थकाटक नरेश के साथ विवाही थी और तीसरी गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के दुवराज कुमारगुप्त के साथ। इन विवाह सम्बन्धों द्वारा उसने तत्कालीन भारत के प्रसिद्ध राजवंशों के साथ मैत्री स्थापित करके अपनी और अपने वंश की प्रतिष्ठा बढ़ा ली थी। उसके लगभग 400 ई. के हल्सी साम्राज्यशासन से विदित होता है कि यह नरेश जैनधर्म का भारी पोषक था, भले ही वह उसका उद्धोषित अनुयायी न भी हो। उक्त अभिलेख के अनुसार काकुत्स्थवर्मन ने राजधानी पलाशिका के अर्हतायतन के लिए श्रुतकीर्ति को खेडग्राम दान किया था। लेख के प्रारम्भ में भगवान् जिनेन्द्र की जय मनायी है, अन्त में ऋषभदेव को नमस्कार किया है, और दान का उद्देश्य 'आत्मनस्तारणार्थ' (आत्मकल्याण) बताया है। इस लेख में उक्त श्रुतकीर्ति का विशेषण 'सेनापति' दिया है, किन्तु एक परवर्ती कदम्ब अभिलेख में काकुत्स्थवर्मन से समावृत्त श्रुतकीर्ति भोजक को एक विद्वान् जैन पण्डित (श्रुतनिधि), परमश्रेष्ठ, पुण्यात्मा, दानी और दयावान् सूचित किया है। काकुत्स्थवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी शान्तिवर्मन भी प्रतापी नरेश था और जैसा कि उसके वंशज परिवर्तन के दानपत्र से प्रकट है, यह राजा भी जैनधर्म और जैनगुरुओं का समादर करता था।

मृगेशवर्मन कदम्ब (450-478 ई.)—शान्तिवर्मन के ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। उसने अपने राज्य के तीसरे वर्ष में भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक, उपलेपन, पूजन, मन्दिर के भग्नसंस्कार (मरम्मत आदि) और धर्म की प्रभावना आदि कार्यों के लिए दामकीर्ति भोजक को भूमिदान दिया था—एक निवर्तन भूमि तो केवल पुण्यों के लिए ही निर्दिष्ट की गयी थी। एक अन्य लेख के अनुसार कदम्बवंशी धर्म-महाराज 'श्रीविजयशिवमृगेशवर्मन' ने अपने राज्य के चौथे वर्ष में कालदंग नामक ग्राम तीन भागों में विभक्त करके एक भाग तो अर्हतशाला में विराजमान भगवान् जिनेन्द्रदेव के निमित्त, दूसरा भाग श्वेतपट्ट-महाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ-महाश्रमणसंघ के उपभोग के लिए दान किया था। दान का लेखक नरवर सेनापति था। राजा के नाम और लेख की शैली आदि में जो अन्तर लक्षित है उनपर से कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शायद यह राजा पूर्वोक्त मृगेशवर्मन से भिन्न और उसका पर्याप्त उत्तरवर्ती कोई अन्य कदम्ब नरेश है। जो हो, इस दान का दाता परम जैन था, इसमें सन्देह नहीं है। स्वयं के कथनानुसार यह उभयलोक की दृष्टि से प्रिय एवं हितकर अनेक शास्त्रों के अर्थ तथा तत्त्वविज्ञान के विवेचन में बड़ा उदारमति था। गजारोहण, अश्वारोहण आदि व्यायामों में वह सुदक्ष था। नय-विनय में कुशल था, उदात्तबुद्धि-धैर्य-वीर्य-त्याग-सम्पन्न था, अपने भुजबल एवं पराक्रम द्वारा संग्राम में विजय प्राप्त करके उसने विपुल ऐश्वर्य प्राप्त किया था। वह प्रजापालक था, देव, ऋज, गुरु और साधुजनों को दानादि से नित्य सन्तुष्ट करता था, विद्वानों, स्वजनों और सामान्यजनों का समान रूप से प्रश्रयदाता था, और आदिकालीन भरतचक्री प्रभृति राजाओं की प्रवृत्ति के अनुसार धर्म-महाराज था। अपने राज्य के आठवें वर्ष में शान्तिवर्मन के ज्येष्ठ पुत्र मृगेश-नृप ने अपने स्वर्गस्थ पिता की भक्ति के लिए (उसकी स्मृति में) राजधानी पलाशिका में एक जिनालय निर्माण कराया था, जिसका प्रबन्ध उसने वैजयन्ती निवासी दामकीर्ति भोजक को सौंप दिया था और एतदर्थ दान दिया था। इसी अवसर पर इस नरेश ने यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्चक सम्प्रदायों के जैन साधुओं को भी भूमि-दान दिया था। इन अभिलेखों से प्रकट है कि एकाकी जैन साधुओं का ही नहीं, बरन् उनके विभिन्न सुसंगठित संघों और सम्प्रदायों का भी उस काल में कदम्ब राज्य में निवास था। दान प्राप्त करने वालों में प्रमुख राजधानी वैजयन्ती का निवासी दामकीर्ति भोजक है जो श्रुतकीर्ति भोजक का उत्तराधिकारी है। आगे भी यह परम्परा चली है। ऐसा लगता है कि श्रुतकीर्ति और उनके वंशज दामकीर्ति, श्रीकीर्ति, बन्धुषेण आदि भोजक नामधारी जैन पण्डित गृहस्थाचार्य सरीखे थे। वे प्रधान जिनमन्दिरों के प्रबन्धक और पुजारी तथा कदम्ब नरेशों के राजगुरु थे, कम से कम उनके आश्रय दाता राजाओं में से जैन थे। मृगेशवर्मन युद्धवीर और पराक्रमी भी था। यद्यपि उसके चचा कृष्णवर्मन ने विद्रोह करके एक शाखा-राज्य (त्रिपर्वत) स्थापित कर लिया था,

जिसपर कृष्ण के बाद, उसके पुत्र विष्णुवर्मन का अधिकार हुआ, किन्तु मृगेशवर्मन की शक्ति, प्रताप और प्रतिष्ठा में विशेष अन्तर नहीं आया। मृगेशवर्मन के पश्चात् उसकी प्रियपत्नी कैकय-राजकन्या प्रभावती से उत्पन्न पुत्र रविवर्मन राजा हुआ।

रविवर्मन कदम्ब (478-520 ई.)—छोटी आयु में ही गद्दी पर बैठा था, अतएव प्रारम्भ में अपने चाचा भानुधनुर्वर्मन के संरक्षण में तथा लदनन्तर वयस्क होने पर उसने स्वतन्त्र राज्य किया। विपरीत शाखा के कदम्बों को उसने सफलतापूर्वक दबाये रखा और अन्ततः उक्त शाखा के अधीनस्थ प्रदेश पर अधिकार करके राज्यविस्तार पूर्ववत् बना लिया। गंगों को उसने मित्र बनाये रखा और पल्लवों को पराजित करके अपनी प्रतिष्ठा बढ़ायी। इस प्रकार रविवर्मन कदम्ब वंश का एक सुयोग्य एवं प्रतापी नरेश था, और साथ ही जैनधर्म का भी परम भक्त था, शायद कदम्बों में उससे अधिक उत्साही जैन अन्य कोई नहीं हुआ। उसने अपने हल्सी दानपत्र द्वारा अपने पूर्वजों, काकुत्स्थवर्मन, शान्तिवर्मन और मृगेशवर्मन द्वारा दिये गये जैन दानों की पुष्टि एवं पुनरावृत्ति की, और अपने माता-पिता के पुण्य के लिए प्रतिवर्ष कार्तिकी-अष्टाहिका का पर्व समारोहपूर्वक मनाया जाने के लिए पुस्तखटक नाम का गाँव दामकीर्ति के पुत्र आचार्य बन्धुषेण को दान किया था, और वापसीव-संध के महान् शास्त्रज्ञ एवं तपस्वी कुमारदत्तसूरि का सम्मान किया था। उसने ऐसी व्यवस्था भी की थी कि राजधानी पलाशिका के राजजिनालय में जिनेन्द्र की पूजा निरन्तर होती रहे। हल्सी के ही एक अन्य दानपत्र के अनुसार राजा ने स्वर्गुरु धर्मभूति दामकीर्ति भोजक की माता के चरणों के प्रसाद से (उनकी प्रेरणा से) दामकीर्ति के छोटे भाई श्रीकीर्ति को भगवान् जिनेन्द्र की पूजा-प्रभावना के लिए चार निवर्तन भूमि का दान दिया था। इस लेख में रविवर्मन के युद्ध-पराक्रमों एवं उसके द्वारा कांचीनरेश चण्डदण्ड को पराजित किये जाने का भी उल्लेख है। इस नृपति ने ऐसी भी व्यवस्था की थी कि कार्तिकी पूर्णिमा को वार्षिक नन्दीश्वर महोत्सव मनाया जाए, धर्मबुद्धि प्रजाजन और नागरिक भगवान् जिनेन्द्रदेव की पूजन नित्य निरन्तर करते रहें और चातुर्मास्य में साधुजनों के आहारदान आदिक में कोई बाधा न आए। लेख में उसे कदम्बकुल-गगन-भास्कर कहा है, जो उचित ही है। उसी के शासनकाल के ग्यारहवें वर्ष में उसके छोटे भाई भानुवर्मा ने जो पलाशिका का स्थानीय शासक था, राज-जिनालय में तथा अन्यत्र प्रत्येक पूर्णिमा के दिन भगवान् जिनेन्द्र की अभिषेकपूर्वक विशिष्ट पूजा किये जाने के लिए परम अर्हद्भक्त पण्डर भोजक की प्रेरणा से, सम्भवतया उसी को, 15 निवर्तन भूमि का दान दिया था।

हरिवर्मन कदम्ब (520-540 ई.)—रविवर्मन का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, कदम्बवंश का अन्तिम महान् नरेश और अपने पूर्वजों की ही भाँति जैनधर्म का भक्त था। अपने राज्य के चौथे वर्ष में लिखाये गये दानपत्र के अनुसार इस नरेश ने अपने चाचा शिवरथ की प्रेरणा से पलाशिका नगरी में भारद्वाज-गौत्रीय सिंह सेनापति के

पुत्र मृगेश द्वारा निर्मापित जिनालय में प्रतिवर्ष अष्टादिक महीत्यव और महामह पूजा एवं जिनाभिषेक किये जाने, तथा उससे बंधे द्रव्य से समस्त संघ को भोजन कराने के लिए कुन्दूर विषय का वसुन्तवाटक ग्राम कूर्चक सम्प्रदाय के वारिधेयाचार्य-संघ को, चन्द्रक्षान्त नामक मुनि को प्रमुख बनाकर, प्रदान किया था। राजा उस समय उच्चश्रंगो दुर्ग में था। इस ताम्रशासन में राजा के लिए जो विशेषण दिये हैं, उनसे वह विद्वान्, बुद्धिमान्, शास्त्रज्ञ और पराक्रमी वीर रहा प्रतीत होता है। राज्य के चौधवें वर्ष में इस सर्व प्रजा-हृदय-कुमुद-चन्द्रमा महाराज हरिवर्मा ने अपने सामन्त, सेन्द्रककुलतिलक राजन् भानुशक्ति की प्रेरणा से अहिरिष्टि नाम के श्रवण-संघ के उस चैत्यालय की पूजा संस्कार के लिए, जिसके अधिष्ठाता आचार्य धर्मनन्दी थे, तथा साधुजनों के उपयोग के लिए मरदे नामक ग्राम का दान दिया था। हरिवर्मन की मृत्यु के कुछ ही वर्षों के पश्चात् ही कदम्बों की राज्यसत्ता समाप्त हो गयी।

युवराज देववर्मन—त्रिपर्वत शाखा के कृष्णवर्मन का प्रिय पुत्र था। उसने एक दानपत्र द्वारा अपने पुण्य-फल की आकांक्षा से 'तीन लोक के प्राणियों के हित के लिए उपदेश देकर धर्मप्रवर्तन करनेवाले अर्हन्त भगवान्' के चैत्यालय के मान-संस्कार (रख-रखाव, मरम्मत आदि) तथा भगवान् की पूजा-अर्चा और प्रभावना के हेतु सिद्धकेदार के राजमान्य यापनीय-संघ को त्रिपर्वत-क्षेत्र की कुछ भूमि प्रदान की थी। अभिलेख में उक्त देववर्मन को कदम्ब-कुल-केतु, रणप्रिय, शूरी, दयामूर्ति, सुखदायक से पवित्र हुआ, पुण्य गुणों का इच्छुक कहा है। देववर्मन सम्भवतया उपर्युक्त हरिवर्मन का समकालीन या उससे कुछ पहले हुआ लगता है।

इस प्रकार अपने समय में कदम्ब राज्य एक सुशासित, सुव्यवस्थित, शान्ति और समृद्धि पूर्ण राज्य था। कदम्ब नरेशों की स्वर्णमुद्राएँ अति श्रेष्ठ मानी जाती हैं। उनके समय में विविध जैन साधु-संघ और संस्थाएँ सजीव एवं प्रगतिशील थीं। वे राजा तथा प्रजा की लौकिक उन्नति एवं नैतिकता में साधक और सहायक थीं। जैनधर्म का अच्छा उद्योत था। उसके विभिन्न सम्प्रदाय-उपसम्प्रदाय परस्पर सौहार्दपूर्वक रहते हुए स्व-पर कल्याण करते थे।

पल्लव वंश

दक्षिण भारत के धुर पूर्वीतट पर तमिलनाडु में दूसरी शती ई. के उत्तरार्ध में पल्लव वंश की स्थापना हुई। काँची (दक्षिण काशी या कांजीवरम) उसकी राजधानी थी। तब यह प्रदेश तोण्डेय-मण्डलम् कहलाता था। पल्लव वंश का संस्थापक उस कीलिकवर्मन चोल का ही एक पुत्र था, जिसके एक अन्य पुत्र शान्तिवर्म जैनाचार्य समन्तभद्र के रूप में प्रसिद्ध हुए। समन्तभद्र अपना परिचय 'काञ्च्या नान्ताटकोऽहम्' (मैं काँची का दिगम्बर सन्त हूँ) रूप में ही सर्वत्र देते थे। अतएव प्रारम्भिक पल्लव राजाओं पर तथा उनकी प्रजा के पर्याप्त भाग पर स्वामी समन्तभद्र और उनके धर्म

का प्रभाव रहा प्रतीत होता है। उनमें से शिवस्कन्दवर्मन आगमों के टीकाकार जैनाचार्य बप्पदेव का भक्त रहा, प्रतीत होता है। पल्लवों का राज्य-चिह्न वृषभ था, अतः वे वृषध्वज भी कहलाये। सम्भव है कि प्रारम्भ में उनमें वृषभलाञ्छन ऋषभदेव (आदितीर्थकर) की पूजा-उपासना विशेष रही हो। इस वंश का एक प्रसिद्ध नरेश सिंहवर्मन द्वितीय था, जिसके राज्य के 22वें वर्ष में शक 380 (सन् 458 ई.) में पाण्ड्य के पाटलिक्क-राज्य के जिनालय में जैनचार्य सर्वनन्दि ने अपना प्राकृत भाषा का 'लोक-विभाग' ग्रन्थ रचकर पूर्ण किया था। समय के साथ पल्लव वंश की शाखाएँ-उपशाखाएँ होती रहीं। तीसरी शाखा में उत्पन्न सिंहविष्णु का उत्तराधिकारी महेन्द्रवर्मन प्रथम (600-630 ई.) प्रसिद्ध प्रतापी एवं पराक्रमी नरेश था। वह जैनधर्म का अनुयायी था। कई जिनमन्दिर तथा सित्तनवासल के प्रसिद्ध जैनगुह्यमन्दिर उसी ने बनवाये थे, जिनमें श्रेष्ठ चित्तिचित्र भी प्राप्त हुए हैं। इन चैत्यालयों का निर्माण कराने के कारण उसे 'चैत्यकन्दर्प' उपाधि प्राप्त हुई थी। उस प्रदेश में कृत्रिम गुह्यमन्दिर बनवानेवाला सम्भवतया वही सर्वप्रथम नरेश था। शैव-सन्त अप्पर के, जो स्वयं पहले जैनधर्मानुयायी ही था, प्रभाव में आकर यह राजा शैव हो गया था, और तब उसने जैनों पर अत्याचार किये, उनके स्थान में शैवनयनारों को प्रथम और प्रोत्साहन दिया, शैवमन्दिर बनवाये और कई जिनमन्दिरों को भी शैवमन्दिरों में परिवर्तित किया। तदनन्तर इस वंश के अधिकांश राजे शैव ही हुए, जिनमें से कुछ जैनधर्म के कट्टर विरोधी, तो कुछ अपेक्षाकृत सहिष्णु रहे। जैनधर्म और उसके अनुयायी अल्पाधिक संख्या में उस राज्य में बराबर बने रहे। दसवीं शती में पल्लव-राज्य का अन्त हो गया। पल्लवों की ही एक शाखा नीलम्बवाड़ी के नीलम्बों की थी, और उनमें जैनधर्म की प्रवृत्ति प्रायः निरन्तर बनी रही। अन्तिम पल्लवनरेशों में नन्दिवर्मन तृतीय (844-60 ई.) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, जिसकी जननी शंखादेवी राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम की पुत्री थी, अपने नाना की ही भाँति जैनधर्म का समर्थक था। उसने पाण्ड्य-नरेश श्रीभारम को पराजित करके उसकी राजधानी मदुरा की भी लूटा था।

वातापी के पश्चिमी चालुक्य

पाँचवीं शती ई. के मध्य के लगभग दक्षिण भारत के महाराष्ट्र प्रदेश में इस राज्यशक्ति का उदय हुआ। छठी में उसने बल पकड़ा और सातवीं में तो दक्षिणापथ के ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण भारतवर्ष के उस काल के सर्वाधिक शक्तिशाली एवं समृद्ध साम्राज्य में वह परिणत हो गयी। वंश का मूलपुरुष अयोध्या का कोई सोमवंशी क्षत्रियकुमार बताया जाता है, जो अपने भाग्य की परीक्षा के लिए दक्षिण में आया था। इस वंश में सर्वप्रथम नाम विजयादित्य मिलता है जो उसी व्यक्ति अथवा उसके पुत्र का था। उसने पल्लवराज्य के एक छोटे-से भाग पर अधिकार करके अपनी

शक्ति बढ़ानी शुरू की, किन्तु पल्लवों के साथ युद्ध में मारा गया। उसकी मृत्यु के पश्चात् उत्पन्न उसका पुत्र जयसिंह जन्म के समय अनाथ और राज्यविहीन था, किन्तु वयस्क होते ही उसने ऐसा साहस, शौर्य और पराक्रम दिखाया कि गंग दुर्विनीत ने उसे अपनी छत्रच्छाया में ले लिया, उसके साथ अपनी पुत्री का विवाह कर दिया और पल्लवों के विरुद्ध युद्धों में उसकी सहायता की। अन्ततः, वातापी (बदामी) को राजधानी बनाकर चालुक्य राज्य को सुदृढ़ नींव जमाने में जयसिंह सफल हुआ और विष्णुवर्धन, राजसिंह, रणपराक्रमांक-जैसे विरुद्ध उसे प्राप्त हुए। बदामी के अतिरिक्त अल्लोम (अलक्तकनगर) और ऐहोल (ऐविल्ल या आर्यपुर) उसके राज्य के प्रसिद्ध नगर थे, और इन तीनों ही स्थानों में जैनो की अच्छी बस्ती और स्थिति थी। जयसिंह की मृत्यु चण्डदण्ड पल्लव के साथ हुए युद्ध में हुई। तब दुर्विनीत गंग ने उसके युवापुत्र रणराग एरैय सत्याश्रय को प्रथम दिया। उसकी ओर से चण्डदण्ड पल्लव को भीषण युद्ध में मार डाला और रणराग को उसके पिता के सिंहासन पर पुनः प्रतिष्ठित किया। उस काल में भुजगेन्द्रान्वय (नागजाति) के सैन्द्रवंश में 'तत्कुल-गगन-चन्द्रमा' तथा अनेक युद्धों में विजय प्राप्त करनेवाला विजयशक्ति नाम का राजा था। उसका पुत्र शौर्य-धैर्य-सत्त्व-गुणसम्पन्न, सामन्तवन्दनीय राजा कुन्दशक्ति था, जिसका प्रिय पुत्र अद्वितीय-पुरुषाकार-सम्पन्न, अनेकरण-विजयवीरपताकाग्रहणोद्धतकीर्ति तथा धर्म-अर्थ-काम-प्रधान राजन् दुर्गशक्ति था। इस दुर्गशक्ति ने पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) नामक नगर में शंख-जिनेन्द्र-चैत्य का निर्माण कराके उसकी पूजादि तथा अपनी पुण्याभिवृद्धि के हेतु उक्त राजा सत्याश्रय के शासनकाल में पचास निवर्तन भूमि का दान दिया था। यह जैन राजा दुर्गशक्ति उक्त चालुक्य नरेश रणराग सत्याश्रय के प्रमुख सामन्तों में से था।

रणराग का पुत्र एवं उत्तराधिकारी चालुक्य नरेश पुलकेशी प्रथम सत्याश्रय बड़ा वीर, प्रतापी और योग्य शासक था। उसके राज्य में जैनधर्म का प्रभूत प्रचार था। वहाँ जैनगुरुओं का अशाथ विहार होता था और राजा के अनेक सामन्त, सरदार और राजकर्मचारी जैन थे। उस काल में रुद्रनील-सैन्द्रकवंश का गोण्ड नाम का मण्डलीक राजा था। उसका पुत्र अय-नय-विनय-सम्पन्न एवं समरसरसिक सिवार नाम का राजा था। सिवार का पुत्र अपने पराक्रम से वैरियों को क्रुस्त करनेवाला, राम के भृत्य हनुमान्-जैसा अपने स्वामी (पुलकेशी) का अनुचर, धार्मिक सामियार था जो कुहुण्डी-विषय का शासक था। उक्त धर्मात्मा सामन्त राजा सामियार ने अलक्तकनगर में त्रिभुवनतिलक नाम का जिनालय भक्तिपूर्वक निर्माण कराया था, जो देवराज इन्द्र के प्रासाद-जैसा भव्य, मनोहर, उत्तुंग एवं श्रेष्ठ था। यह जिनालय उसने चालुक्यनरेश की अनुमति से सम्भवतया उसके राज्य के 11वें वर्ष (542 ई.) में निर्मापित कराया था, और उसके लिए वैशाखी पूर्णिमा को, जिस दिन चन्द्रग्रहण था, स्वयं महाराज सत्याश्रय (पुलकेशी प्र.) ने कनकोपल-वृक्षमूल-गण आम्नाय के सिद्धनन्दि मुनीश्वर

के पाँच सौ शिष्यों में अग्रणी नागदेव चित्ताचार्य के शिष्य, समस्तशास्त्रसम्बोधिधी आचार्य जिननन्दि को चार ग्राम तथा अन्य बहुत-सी भूमि का दान दिया था। राजधानी वातापी में भी उस काल में एक जिनालय बना प्रतीत होता है।

पुलकेशी प्र. का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन प्रथम था। उसने भी अपने पराक्रम से राज्य के विस्तार में वृद्धि की थी। उसके राज्यकाल (सम्भवतया 567 ई.) में दोण, एल आदि कई ग्रामप्रमुखों ने एक जिनालय बनवाया था, जिसके लिए सिन्दरस के पुत्र पाण्डीपुर-नरेश माधवतिथरस की अनुमति से परलूरगण के आचार्य विनयनन्दी के प्रशिष्य और वासुदेव गुरु के शिष्य प्रभाचन्द्र मुनि को दान दिया था। दान भगवान् की पूजा के लिए अक्षत (अखण्डित चावल), गन्ध (धूप), पुष्प आदि की व्यवस्था के लिए था और कर्मगलूर की पश्चिम दिशा में स्थित धान के खेतों के राजकीय माप से आठ मत्तल चावलों का था। प्रायः इसी काल में जैन पण्डित रविकीर्ति ने ऐहोल के निकट मेगुती में एक सुन्दर जिनमन्दिर बनवाया था और वहाँ एक विद्यापीठ की स्थापना की थी। स्वयं ऐहोल में एक सुन्दर जैनमन्दिर था जिसमें भगवान् पार्श्वनाथ की सहस्रफणी प्रतिमा स्थापित थी। कीर्तिवर्मन के पश्चात् उसका छोटा भाई मंगलीश राजा रहा और तदनन्तर कीर्तिवर्मन का पुत्र पुलकेशी द्वितीय।

चालुक्य सम्राट् पुलकेशिन् द्वितीय सत्याश्रय पृथ्वीवल्लभ (608-642 ई.) वंश का सर्वमहान् नरेश था। प्रायः पूरे दक्षिण भारत पर उसका अधिकार था और कन्नौज के सम्राट् हर्षवर्द्धन का वह सबसे प्रबल प्रतिद्वन्दी था। हर्ष को पराजित करके ही उसने 'परमेश्वर' उपाधि धारण की थी। ईरान के शाह खुसरो के साथ उसके राजनीतिक आदान-प्रदान हुए थे। वह सर्वधर्म-समदर्शी था और जैन नहीं था, तथापि जैन-धर्म का प्रबल पोषक था। सन् 634 ई. में अपनी दिग्विजय के उपरान्त जब नरेश ने राजधानी वातापी में प्रवेश किया तो उसके विशाल साम्राज्य की सीमा रेवा नदी को स्पर्श करती थी, दक्षिण में समुद्र से समुद्र पर्यन्त उसका विस्तार था। समुद्र में स्थित अनेक द्वीपों का भी वह स्वामी था। पश्चिम में गुजरात और पूर्व में आन्ध्र प्रदेश को उसने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। उस अवसर पर राजधानी में प्रवेश करने के उपरान्त सम्राट् का सर्वप्रथम कार्य अपने गुरु जैन पण्डित रविकीर्ति को उनके द्वारा ऐहोल की मेगुती पहाड़ी पर निर्मापित जिनमन्दिर एवं अधिष्ठान के लिए उदार दान देकर सम्मानित करना था। इस समय सम्भवतया वहाँ किसी नवीन जिनालय का भी निर्माण एवं प्रतिष्ठा हुई थी। रविकीर्ति भारी विद्वान् एवं महाकवि थे। उनकी काव्य-प्रतिभा की तुलना कालिदास और भारवि के साथ की जाती थी। इस दान के उपलक्ष्य में स्वयं रविकीर्ति ने सम्राट् पुलकेशी की वह विस्तृत, भाव एवं कलापूर्ण संस्कृत प्रशस्ति रची थी जो उक्त मन्दिर की दीवार पर उत्कीर्ण है और उस नरेश के चरित्र एवं कार्यकलापों के लिए सर्वप्रथम ऐतिहास आधार है। इसी वर्ष अदूर (धारवाड़) में नगरसेठ द्वारा निर्मापित जैनमन्दिर को भी सम्राट् ने दान दिया

था। इसी काल में अजन्ता और बदायी की बौद्ध एवं जैनगुफाओं के संसार-प्रसिद्ध भित्ति-चित्रों का निर्माण हुआ था। चीनी-यात्री हेनसांग के आँखों देखे विवरण से भी पुलकेशी की शक्ति, महत्ता, राज्यवैभव, प्रजा की सुख-समृद्धि तथा विद्या एवं कला की साधना आदि पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चालुक्य साम्राज्य में बौद्धों की अपेक्षा जैनों के मन्दिरों, साधुओं और गृहस्थ अनुयायियों की संख्या कहीं अधिक थी। पुलकेशी के अन्तिम वर्षों में नरसिंहवर्मन पल्लव के साथ उसके भीषण युद्ध हुए। अन्ततः एक युद्ध में ही पुलकेशी स्वयं वीरगति को प्राप्त हुआ। अपने छोटे भाई कुब्जविष्णुवर्धन को उसने आन्ध्रप्रदेश का शासक नियुक्त कर दिया था जिससे बोंगि के पूर्वी चालुक्यों का वंश प्रारम्भ हुआ। सम्भवतया पुलकेशी द्वितीय के शासनकाल में ही सुप्रसिद्ध दार्शनिक जैनाचार्य भट्टकलंक देव का जन्म हुआ, जो उसी के एक जैन सामन्त लघुहव्य नृपति के पुत्र थे।

पुलकेशी द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी विक्रमादित्य प्रथम 'साहसांक' (642-680 ई.) ही अकलंक सम्बन्धी अनुश्रुतियों का 'राजन् साहसतुंग' प्रतीत होता है, जिसकी राजसभा में आचार्य ने अपनी वाद-विजयों का उल्लेख किया था। यह नरेश उन्हें अपना 'पूज्यपाद' गुरु मानता था। राज्यप्राप्ति के समय उसकी स्थिति बड़ी डौआडोल थी, किन्तु इस 'रणरसिक' 'साहसतुंग' वीर ने कुछ वर्षों में ही अपने शत्रुओं का दमन कर दिया, और स्वपराक्रम द्वारा अपने प्रतापी पिता के साम्राज्य एवं प्रतिष्ठा का पुनरुद्धार कर लिया, और तभी (653 ई. के लगभग) उसने अपना विधिवत् राज्याभिषेक कराया। अपने आज्ञाकारी भाई जयसिंह को उसने लाटदेश का शासक बनाया, जिससे गुजरात के चालुक्यों की वह शाखा चली जो 10वीं-12वीं शती में अत्यन्त प्रसिद्ध हुई।

विक्रमादित्य प्रथम के पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य (680-696 ई.) राजा हुआ। उसके राजगुरु मूलसंघान्तर्गत देवगण के उपर्युक्त आचार्य 'पूज्यपाद' अकलंकदेव के गृही-शिष्य निरवद्यपण्डित थे जो भारी विद्वान् थे। अपने राज्य के सातवें वर्ष में, शक 608 (सन् 687 ई.) में जब यह नृपति रक्तपुर के अपने विजय-स्कन्धाधार (छायनी) में ठहरा हुआ था, उसने देवगण के उपर्युक्त गृहस्थाचार्य, सम्भवतया निरवद्यपण्डित को दान दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विजयादित्य द्वितीय (697-733 ई.) ने पल्लवों के विरुद्ध किये गये अपने पितामह एवं पिता के युद्धों में सराहनीय भाग लिया था। अपने पराक्रम से अपने शत्रुओं को उसने बहुत कुछ दबाये रखा। पूज्यपाद (अकलंक) की परम्परा के उदयदेवपण्डित, जो सम्भवतया पूर्वोक्त निरवद्यपण्डित के शिष्य थे, इस नरेश के राजगुरु थे। सन् 700 ई. में उसने उन्हें लक्ष्मेश्वर के शंख-जिनेन्द्र-मन्दिर के लिए दान दिया था। इसी समय के लगभग उसने राजधानी दातापी में भी एक दानसूचक कन्नड़ी शिलालेख

अंकित कराया था। उसके हलगिरि शिलालेख में जैन तीर्थक्षेत्र कोष्पण का उल्लेख है। अकलंकदेव के सघर्षा पुष्पसेन और पुष्पसेन के शिष्य विमलचन्द्र, मुनिकुमारनन्दि और अकलंक के प्रथम टीकाकार बृहत्-अनन्तवीर्य इसी काल में और सम्भवतया इसी राजा के प्रश्रय में हुए थे। गंगनरेश श्रीपुरुष मुत्तरस भी उसका समकालीन था और उक्त विमलचन्द्र आदि गुरुओं का पोषक था। अपने राज्य के 34वें वर्ष (शक 651 = सन् 729 ई.) में महाराज विजयादित्य द्वितीय ने अपने गुरुपुर के विजयस्कन्धाकार से पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) के उसी शंखजिनालय के हितार्थ अपने पिता के तथा अपने राजगुरु उदयदेवपण्डित को कर्दमनाम का गाँव दान दिया था। सन् 733 ई. में विकीर्णक नामक एक राज्यमान्य श्रावक ने भी उसी जिनालय के लिए पुष्कल दान दिया था। इसी 'चालुक्य-चक्रवर्ती विजयादित्यवत्सल' की छोटी बहन कुंकुम-महादेवी ने पुरिगेरी में एक भव्य जिनालय बनवाया था जो 11वीं शती के अन्त तक विद्यमान था। विजयादित्य द्वितीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी विक्रमादित्य द्वितीय (733-744 ई.) भी अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का भक्त था। अकलंक की परम्परा के विजयदेव पण्डित उसके राजगुरु और गृहस्थाचार्य थे। वह रामदेवाचार्य (जो सम्भवतया अकलंक देव के ही एक शिष्य थे) के प्रशिष्य और जयदेव पण्डित के अन्तेवासी (शिष्य) थे। इस नरेश के 736 ई. के लक्ष्मेश्वर शिलालेख में रामदेवाचार्य के लिए 'मूलसंग्रान्वय-देवगणोदिताय-परमतपः-श्रुतमूर्तिविशोक' विशेषण दिये हैं, जयदेवपण्डित को 'विजितविपक्षवादी' और विजयदेव-पण्डिताचार्य को 'समुपगतैकवादि' लिखा है। भट्टाकलंक की परम्परा के विद्वानों के लिए ये विशेषण उपयुक्त ही हैं। देवसंघ का प्रधान केन्द्र उक्त लक्ष्मेश्वर ही रहा प्रतीत होता है और उसके परम पोषक ये चालुक्य नरेश ही थे। विक्रमादित्य द्वितीय ने उक्त तीर्थस्थान के शंखतीर्थवसति, धवल-जिनालय आदि जैनमन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया और बाहुबलि नामक धर्मात्मा श्रेष्ठ की प्रार्थना पर वहीं के उक्त मन्दिरों की मरम्मत, रख-रखाव, जिनेन्द्र भगवान् की पूजा तथा दानप्रवृत्ति को चालू रखने आदि के लिए बहुत-सी भूमि का दान, कर आदि सर्व बाधाओं से मुक्त करके दिया था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी कीर्तिवर्मन द्वितीय (744-757 ई.) यातापी के इस पश्चिमी चालुक्य वंश का अन्तिम नरेश था। अपने पिता द्वारा कांची के पल्लवों पर किये गये आक्रमण में भी उसने प्रशंसनीय भाग लिया था। किन्तु इधर दो दशकों से चालुक्यों के राष्ट्रकूट सामन्तों की शक्ति द्रुतवेग से बढ़ रही थी। अन्ततः 752 ई. के लगभग राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने चालुक्य सत्ता को छिन्न-भिन्न कर दिया, और 757 ई. में कीर्तिवर्मन द्वितीय की मृत्यु के साथ ही चालुक्यों का यह अध्याय समाप्त हुआ। वह स्वयं निःसन्तान था, अतएव उसके चाचा भीम पराक्रम की सन्तति राष्ट्रकूटों के गौण सामन्तों या उपराजाओं के रूप में जैसे-तैसे चलती रही, जब तक

कि दसवीं शताब्दी के अन्तिम पाद में एक नवीन राज्य शक्ति के रूप में चालुक्यों का पुनः अभ्युदय नहीं हुआ।

बेगि के पूर्वी चालुक्य

वातापी के चालुक्य सम्राट् पुलकेशी द्वितीय के अनुज कुब्जविष्णुवर्धन द्वारा 615 ई. में स्थापित इस वंश के क्रमशः 27 नरेशों ने आन्ध्रप्रदेश पर लगभग 500 वर्ष तक राज्य किया। मूलवंश की भौति इस शाखा के नरेश भी जैनधर्म के पोषक रहे और कई एक तो उसके परम भक्त हुए। स्वयं कुब्जविष्णुवर्धन इस धर्म का आदर करता था, और उसकी रानी तो जिनधर्म के प्रति बड़ी निष्ठावान् थी। उसकी प्रभावना के लिए उसने अपने पति राजा से कई ग्राम भेंट करवाये थे। इस वंश के पाँचवें नरेश विष्णुवर्धन तृतीय ने जैनाचार्य कलिभद्र का सम्मान किया था और उन्हें दान दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विजयादित्य प्रथम की महारानी अध्यन-महादेवी ने 762 ई. में उपर्युक्त दान की पुनरावृत्ति की थी। उसका उत्तराधिकारी विष्णुवर्धन चतुर्थ बड़ा पराक्रमी नरेश था और जैनधर्म का भी भक्त था। इस काल में विशाखापत्तनम् (विजयापट्टम) जिले के रामकोंड (रामगिरि या रामतीर्थ) पहाड़ियों पर एक उच्चकोटि का जैन सांस्कृतिक केन्द्र विकसित हुआ था। त्रिकलिंग (आन्ध्र) देश के बेगि प्रदेश की समतल भूमि के मध्य स्थित यह रामगिरि अनेक जैन गुहामन्दिरों, जिनालयों आदि से सुशोभित था। अनेक जैन मुनि यहाँ निवास करते थे। उक्त राजाओं के संरक्षण एवं प्रश्रय में ज्ञान-विज्ञान की उच्च शिक्षा का यह विद्यापीठ फल-फूल रहा था। जैनाचार्य श्रीनन्दि उसके अधिष्ठाता थे। वह आयुर्वेद आदि विभिन्न विषयों में निष्णात भारी विद्वान् थे। स्वयं महाराज विष्णुवर्धन चतुर्थ इन आचार्य के घरणों की पूजा करता था। इन्हीं के प्रधान शिष्य 'कल्याणकारक' नामक प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ के रचयिता, आयुर्वेद के महाप्रणित उग्रादित्याचार्य थे जो राष्ट्रकूट अमोघवर्ष-जैसे अन्य नरेशों द्वारा भी सम्मानित हुए थे।

अम्भराज—तदनन्तर कई राजाओं के उपरान्त इस वंश में अम्भराज द्वितीय (945-970 ई.) नाम का बड़ा प्रतापी एवं धर्मात्मा नरेश हुआ। इस राजा का अपरनाम विजयादित्य षष्ठ और विरुद 'समस्त-भुवनाश्रय' था। वह भीम द्वितीय की महारानी लोकमहादेवी से उत्पन्न हुआ था। यद्यपि वह शिव और जिनेन्द्र का समान रूप से भक्त था, उसके जो शिलालेख प्राप्त हुए हैं उनसे प्रकट होता है कि आन्ध्र प्रदेश में 10वीं शती ई. में जैनधर्म पर्याप्त लोकप्रिय एवं उन्नत दशा में था। अपने राज्य के प्रथम वर्ष में ही इस नृपति ने अपने प्रधान सेनापति दुर्गराज द्वारा धर्मपुरी के निकट निर्मापित 'कटकाभरण' नाम के अति भव्य जिनालय के लिए मलिवपूण्ड नामक ग्राम दान किया था। उक्त दुर्गराज का प्रपितामह पाण्डुरंग सम्भवतया

विजयवर्धन तृतीय का सेनानायक था और उसने कृष्णराज (राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण द्वितीय) के निवासस्थान किरणपुर को भस्म कर दिया था। पाण्डुरंग के पुत्र निरवध-धवल को 'कटकराज' का पट्ट प्रदान किया गया था। कटकराज का पुत्र कटकाधिपति विजयवर्धन था, जिसका पुत्र उपर्युक्त दुर्गराज था। इस प्रकार इस वंश में कम से कम चार पीढ़ी से पूर्वी चालुक्यों के सेनापति का पद चला आ रहा था। स्वयं दुर्गराज की प्रशंसा में लिखा है कि वह प्रवरगुणनिधि, धार्मिक, सत्यवादी, त्यागी-मोही महात्मा, विजयी वीर एवं लक्ष्मीनिवास था और उसकी तलवार चालुक्य-लक्ष्मी की सुरक्षा के लिए सदैव म्यान से बाहर रहती थी। वह उक्त राज्य का शक्तिस्तम्भ था जो दान की प्रवृत्ति से अत्यन्त प्रसन्न था। उक्त कटकाभरण-जिनालय की पूजा के प्रबन्ध, भयन की मरम्मत, संस्कार आदि और एक सत्र (दानशाला) का संचालन था, जो उक्त जिनालय से सम्बद्ध था। उक्त कटकाभरण-जिनालय और उसके लिए प्रदत्त ग्राम, कर आदिक समस्त बाधाओं से मुक्त करके वापनीय संध-कोटिमडुवगण-अर्हन्निगच्छ के जिनमन्दि-मुनीश्वर के प्रशिष्य तपस्वी एवं धीमान् मुनि श्रीमान्दिदेव को सौंप दिये गये थे। कलुचुम्बरु दानपत्र के अनुसार इस नरेश ने चालुक्य वंश के बहुवर्द्धिक घराने की राजमहिला चामकाम्बा, जो ज्ञायद स्वयं राजा की गणिकापत्नी थी, के निवेदन पर सर्वलोकाश्रय-जिनभवन के लिए उक्त ग्राम दान किया था। सम्भवतया इस देवालय का निर्माण 'समस्तभुवनाश्रय' अम्मराज के नाम पर ही उक्त धर्मात्मा महिलारत्न ने कराया था जो स्वयं दान-दया-शीलश्रुता, बुध-श्रुतनिरता, जिनधर्म-जलविवर्धन-शशि, चारुश्रीः श्राविका थी। वह वल्लारिगण-अड्डकलिगच्छ के मुनि सकलधन्व-सिद्धान्त के प्रशिष्य और अय्यपोदिमुनीन्द्र के शिष्य मुनि अर्हन्नि भट्टारक की शिष्या थी। उन्हीं की भक्तिपूर्वक यह दान दिया गया था। इन मुनि ने इस प्रशस्ति के लेखक गुप्तिमय को स्वयं पुरस्कृत किया था। दान का उद्देश्य उक्त जिनालय से सम्बद्ध सत्र वा धर्मादे की भोजनशाला की मरम्मत एवं रख-रखाव आदि की व्यवस्था करना था। अम्म द्वितीय ने विजयवर्धिका (बेजवाडा) के दो जिनमन्दिरों को भी दान दिया था, जिनमें सम्भवतया एक वह था जिसे पूर्वकाल में महारानी अय्यन-महादेवी ने भी दान दिया था।

विमलादित्य—अम्म द्वितीय की पाँचवीं पीढ़ी में, 1022 ई. के लगभग विमलादित्य नाम का राजा हुआ। वह भी जैनधर्म का परम भक्त था। देशीगण के आचार्य त्रिकालयोगी-सिद्धान्तिदेव उसके गुरु थे। इस राजा ने अनेक जैनमन्दिरों को दान दिया। पूर्वोक्त रामगिरि भी 11वीं शताब्दी के मध्य पर्यन्त एक प्रसिद्ध एवं उन्नत जैन सांस्कृतिक केन्द्र बना रहा, जैसा कि वहाँ से प्राप्त एक शिलालेख से प्रकट है। विमलादित्य के एक कम्पडी शिलालेख से यह भी ज्ञात होता है कि उक्त त्रिकालयोगी-सिद्धान्तिदेव और सम्भवतया स्वयं वह राजा भी जैन तीर्थ रामगिरि की श्रद्धा करने गये थे। विमलादित्य के उपरान्त दो-तीन अन्य राजा हुए, और 11वीं

शती ई. के अन्त तक धर्म के इन पूर्वी चालुख्यों की सत्ता का भी अन्त हो गया। तभी से उस प्रदेश में जैनधर्म का भी हास होने लगा।

महारानी कुन्दब्ये—महाराज धिमलादित्य की पड़रानी थी। वह तंजौर के राजराजा चोल की पुत्री और राजेन्द्र चोल की बहन थी जो बड़ी धर्मात्मा और जिनभक्त थी। सम्भवतया इस रानी के प्रभाव से ही राजा भी जैनधर्म का अनुयायी हुआ था। महारानी कुन्दब्ये ने अपने भाई राजेन्द्र चोल के राज्य में पथिव पर्वत तिरुमलै के शिखर पर कुन्दब्ये-जिनालय नाम का भव्य मन्दिर बनवाया था, और उसके लिए ग्राम आदि दान दिये थे। लेख राजेन्द्र चोल के राज्य के 12वें वर्ष, सन् 1023 ई. का है। लगता है कि उसके कुछ पूर्व धिमलादित्य की मृत्यु हो गयी थी और विधवा महारानी कुन्दब्ये अपने मायके जाकर अपने भाई के आश्रय में रहती हुई धर्मसाधनपूर्वक जीवन व्यतीत कर रही थी।

२

राष्ट्रकूट-चोल-उत्तरवर्ती चालुक्य—कलचुरि

राष्ट्रकूट वंश :— आचार्य श्री सुबोधचन्द्रसेन जी द्वारा रचित

दक्षिणापथ के प्राचीन राष्ट्रकों (राष्ट्रिकों) के वंशज ये राष्ट्रकूट स्वयं को चन्द्रवंशी क्षत्रिय कहते थे। उनकी एक प्रारम्भिक शाखा लङ्गूर में स्थापित थी जो सातवीं शती के पूर्वार्ध में बरार प्रदेश के एलिचपुर में जा बसी और तभी से उसका अभ्युदय प्रारम्भ हुआ। उसका प्रथम ज्ञात राजा दन्तिवर्मन था। उसकी पाँचवीं पीढ़ी में इन्द्र द्वितीय हुआ, जिसकी पत्नी एक चालुक्य राजकुमारी थी। इन दोनों का पुत्र दन्तिदुर्ग-खण्डावालो-वैरमेध 8वीं शती के प्रथम पाद के लगभग अपने पिता का उत्तराधिकारी हुआ। अब तक ये राष्ट्रकूट राजे वातापी के चालुक्यों के करद सामन्त थे। दन्तिदुर्ग अत्यन्त चतुर, साहसी और महत्वाकांक्षी था। चालुक्यों की गिरती दशा का उसने प्रभूत लाभ उठाया। नासिक विषय (जिले) के मयूरखण्डी दुर्ग को उसने अपनी प्रधान छावनी और एलोरा को राजधानी बनाया। एलोरा उस समय भी जैन, शैव, वैष्णव और बौद्ध चारों ही धर्मों और संस्कृतियों का संगमस्थल था। सन् 858 में रचित धर्मोपदेशमाला में एक और अधिक पुरानी घटना का उल्लेख है कि एक समय समयज्ञ नामक (श्वेताम्बर) मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलउर नगर आये थे और उस नगर की प्रतिष्ठ दिगम्बर वसही (वसति, मन्दिर या अधिष्ठान) में ठहरे थे, जिससे प्रतीत होता है कि राष्ट्रकूटों के शासन के प्रायः प्रारम्भ से ही एलोरा दिगम्बर आम्नाय का प्रसिद्ध केन्द्र था। इसका कारण यही है कि दन्तिदुर्ग आदि राष्ट्रकूट नरेश सर्वधर्म-समदर्शी थे और उनका व्यक्तिगत या कुलधर्म शैव, वैष्णवादि होते हुए भी वे जैनधर्म के विशेष पोषक एवं संरक्षक रहे थे। सन् 752 ई. में दन्तिदुर्ग ने कीर्तिवर्मन चालुक्य को पराजित करके उसके विरुद्ध अपना लिये और चार-पाँच वर्ष के भीतर ही सम्पूर्ण चालुक्य साम्राज्य पर अधिकार कर लिया तथा स्वयं को सम्राट घोषित कर दिया। उसने अन्य अनेक राजाओं को पराजित करके अपने अधीन किया, जिनमें चित्रकूट (चित्तौड़) के मौर्य राजा राहण्यदेव को पराजित करके उसका श्वेतच्छत्र और श्रीवल्लभ उपाधि स्वयं ग्रहण कर ली। सम्भवतया तभी राहण्य के अनुज वीरप्पदेव, जो जैन मुनि होकर स्वामी वीरसेन के नाम से विख्यात हुए,

राष्ट्रकूट राजधानी के निकट हो नासिक विषय के वाटनगर में जा बसे और वहाँ के चन्द्रप्रभ जिनालय एवं चामरलेण के गुहामन्दिरों में उन्होंने अपना ज्ञानकेन्द्र स्थापित किया। जैनाचार्य विमलचन्द्र ने गंगानरेश श्रीपुरुष की भाँति इस नरेश से भी सम्मान प्राप्त किया लगता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि अकलंक सम्बन्धी अनुश्रुति का 'राजन्साहसतुंग' भी राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ही था, किन्तु यह सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि साहसतुंग उपाधि पूलतया चालुक्यों की थी। चालुक्य अभिलेखों में उल्लिखित देवसंघ के आचार्य पूज्यपाद से अभिप्राय अकलंकदेव का ही है, और सातवीं शती के अन्त के लगभग से ही हम पूज्यपाद अकलंक के नहीं, वरन् उनके शिष्य-प्रशिष्यों के उल्लेख पाते हैं—आठवीं शती का प्रथम पाद तो अकलंक की अधिक से अधिक अन्तिम अवधि हो सकती है।

दन्तिदुर्ग के उपरान्त उसका चौथा कृष्ण प्रथम अकालवर्ष-शुभतुंग (757-773 ई.) राजा हुआ। वह भी भारी विजेता और पराक्रमी नरेश था। एलोरा के सुप्रसिद्ध कैलास मन्दिर के निर्माण का श्रेय उसे ही दिया जाता है। उसी समय के लगभग एलोरा के इन्द्रसभा, जगन्नाथसभा आदि प्रायः उतने ही सिद्ध एवं कलापूर्ण जैन गुहामन्दिर बनने प्रारम्भ हुए। पूर्वोक्त विमलचन्द्र के प्रशिष्य परवादिमल्ल जो भारी तार्किक और वादी थे, इसी राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम द्वारा सम्मानित हुए थे। एक बहुत बाद की अनुश्रुति के अनुसार अकलंकदेव इस राष्ट्रकूट शुभतुंग या उसके ब्राह्मण मन्त्री पुरुषोत्तम के पुत्र थे, किन्तु यह धारणा सर्वथा भ्रान्त है—ऐसा होने की कोई भी सम्भावना नहीं है। इस किंवदन्ती का यदि कोई महत्त्व है तो केवल इतना ही है कि उत्तर काल के जैन इस नरेश के साथ जैनधर्म का सम्बन्ध जोड़ते थे तो वह उस धर्म का पोषक अवश्य रहा होगा। कृष्ण प्रथम का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द द्वितीय (773-779 ई.) अयोग्य शासक था। युद्ध में उसकी मृत्यु हो जाने पर उसके अनुज ध्रुव-धारावर्ष-निरुपम (779-793 ई.) ने सिंहासन हस्तगत किया। घोर, धवलइय, श्रीवल्लभ, कविवल्लभ, बोद्धनराय (वल्लहराय या वल्लभराज) के मध्य देश तक उसने अपनी विजयपताका फहरायी थी और राष्ट्रकूट शक्ति को सम्पूर्ण भारतवर्ष में सर्वोपरि बना दिया था। उसकी पट्टरानी शीलभट्टारिका बेगि के चालुक्य नरेश विष्णुवर्धन चतुर्थ की पुत्री थी और जैनधर्म की मक्त थी तथा श्रेष्ठ कवयित्री भी थी। अष्टमंश भाषा के जैन महाकवि स्वयम्भू ने अपने रामायण, हरिवंश, नामकुमारचरित, स्वयम्भूछन्द आदि महान् ग्रन्थों की रचना इसी नरेश के आश्रय में उसी की राजधानी में रहकर की थी। कवि ने अपने काव्यों में ध्रुवराय धवलइय नाम से इस आश्रयदाता का उल्लेख किया है। स्वयम्भू की पत्नी सामिअब्बा भी बड़ी विदुषी थी। सम्राट् ने अपनी राजकुमारियों को शिक्षा देने के लिए उसे नियुक्त किया था। पुष्पाटसंघी आचार्य जिमसेन ने 783 ई. में समाप्त अपने हरिवंशपुराण के अन्त में इस नरेश का उल्लेख 'कृष्णनृप का पुत्र श्रीवल्लभ जो दक्षिणापथ का स्वामी था',

इस रूप में किया है। दल्लहराय (दल्लभराज ध्रुव) नरेन्द्रचूडामणि के राज्य में नासिकदेश (प्रान्त) के वाटनगर (वाटग्रामपुर) विषय में, जब उक्त प्रान्त का शासक युवराज जगतुंगदेव था, पंचस्तूपान्वयी स्वामी वीरसेन ने, 780 ई. में, षट्खण्डागम-सिद्धान्त की अपनी सुप्रसिद्ध एवं विशालकाय श्रीधवल नाम्नी टीका को पूर्ण किया था। तदनन्तर उन्होंने कसायगहड़ की जयधवल टीका का लगभग एक-तिहाई भाग पूरा किया, महाधवल (महाबन्ध) निबद्ध किया, तथा सिद्धभूपद्धति आदि कतिपय अन्य ग्रन्थ रचे। इस दिग्गज आचार्य पुंगव ने अकेले लगभग एक लाख श्लोक परिमाण रचना की थी। दिग्म्बर परम्परा के मूल आगमों के सर्वमहान् उपलब्ध भाष्य उपर्युक्त विशाल वीरसेनीय टीकाएँ ही हैं। उनका शिष्य परिवार भी अत्यन्त सुयोग्य और काफी बड़ा था। वाटनगर का उनका ज्ञानकेन्द्र उस युग का सम्पूर्ण भारतवर्ष का स्यात् सर्वमहान् जैन विद्यापीठ था। उसमें जितना विशाल पुस्तक-संग्रह था, वैसा अन्यत्र कहीं नहीं था। सन् 790 के लगभग यह आचार्यशिरामणि दिवंगत हुए। स्वामी विधानन्द, परवादिमल्ल और गुरु कुमारसेन उस समय के राष्ट्रकूट राज्य के अन्य प्रसिद्ध जैनाचार्य एवं साहित्यकार थे।

गोविन्द तृतीय जगतुंग—प्रभूतवर्ष-कीर्तिनारायण-त्रिभुवनधवल-श्रीवल्लभ (798-814 ई.) ध्रुवधारावर्ष के चारों पुत्रों में सर्वाधिक योग्य और पराक्रमी था। स्वयं ध्रुव के राजा होने के पूर्व ही उसने अपनी योग्यता का सिक्का जमा लिया था और उसके शत्रुओं का दमन करने तथा उस (ध्रुव) की राज्यप्राप्ति में वह उसका प्रधान सहायक रहा था। अतएव सिंहासन प्राप्त करते ही ध्रुव ने उसे युवराज घोषित कर दिया था, राजा की उपाधि दे दी थी, मयूरखण्डी की प्रधान छावनी का नियन्त्रक और उसके प्रभाव-क्षेत्र में आनेवाले नासिकदेश का प्रान्तीय शासक बना दिया था। वीरसेन स्वामी का विद्यापीठ जिस वाटनगर विषय के मुख्य स्थान के निकट स्थित था वह इस राजन् जगतुंगदेव के प्रत्यक्ष शासन में, अतएव संरक्षण एवं प्रथय में था। ध्रुव ने इस उद्देश्य से कि उसके पीछे राज्य के लिए उसके पुत्रों में झगड़ा न हो, अपनी मृत्यु के पूर्व ही गोविन्द तृतीय का राज्याभिषेक भी कर दिया था। तथापि अपने राज्यकाल में गोविन्द तृतीय को युद्धों से अवकाश नहीं मिला। भाइयों ने भी विद्रोह किये, शत्रुओं और अधीनस्थ राजाओं ने भी सिर उठाये, किन्तु इस प्रतापी नरेश ने सबका सफलतापूर्वक दमन किया। अनेक नये प्रदेश भी जीते और राज्य के विस्तार एवं शक्ति को पर्याप्त बढ़ाया। भारतवर्ष की समस्त राज्यशक्तियाँ उसका लोहा मानती थीं। निश्चय ही अपने समय का वह सर्वमहान् भारतीय सम्राट् था। गुजरात का शासक उसने अपने आज्ञाकारी अनुज इन्द्र को बनाया था। उसने मान्यखेट (मलखेट) नाम की एक विशाल एवं सुदृढ़ महानगरी का निर्माण भी आरम्भ कर दिया था, जिसे वह अपनी राजधानी बनाना चाहता था। उसके आज्ञानुवर्ती बगिनरेश की देखरेख में मान्यखेट का सुदृढ़ बाहरी प्राचीर बना। इतने बड़े साम्राज्य

की राजधानी के रूप में एलौरा और मयूरखण्डी जैसे स्थान उपयुक्त नहीं रह गये थे। अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म का अनुयायी वह भी नहीं था, तथापि उसके प्रति अत्यन्त उदार और सहिष्णु था, गुणियों और विद्वानों का वह आदर करता था। अपने 802 ई. के मन्नेदानपत्र द्वारा इस सम्राट् गोविन्द तृतीय प्रभूतवर्ष ने भान्यपुर (गंगों की राजधानी) के प्रसिद्ध जैन मन्दिर के लिए समस्त करों से मुक्त करके जलधारा-पूर्वक एक ग्राम तथा अन्य भूमि का दान दिया था। उस समय सम्राट् स्वयं भान्यपुर में स्थित अपने विजय-स्कन्धावार में ठहरा हुआ था। उसके कुछ पूर्व ही उसने गंग शिवमार को पुनः बन्दी बनाकर गंगराज्य में अपने जेष्ठ भ्राता शौचकम्भ णावलोक को अपना प्रतिनिधि नियुक्त किया था। अतएव वह भी उस समय वहाँ उपस्थित था और इस दान का अनुमोदक था। गंग-नरेशों के समस्त सामन्त-सेनाधिपति राजा श्रीविजय को, जिसने वह भव्य मन्दिर कुछ वर्ष पूर्व ही बनवाया था, इस सम्राट् प्रभूतवर्ष ने अपना महा-विजय-निक्षेपाधिपति नियुक्त किया था। इस लेख में भी इस जैन वीर को भगवान् अर्हत् देव के चरणों में नित्य प्रणाम करने से जिसके उत्तम अंग पवित्र हो गये थे, ऐसा 'महासामन्ताधिपति महानुभाव' कहा है। दान का प्रेरक समस्त-सुभट-लोककेसरी आदि विरूढधारी वीर विक्रमैकरस का पौत्र और भक्त श्रावक वप्पय का प्रिय पुत्र था, जो उदारदानी था और अपने शत्रुओं का दमन करनेवाला वीर युवक था। दान प्राप्त करनेवाले गुरु कुन्दकुन्दान्वय के उदारगण के शाल्मलीग्राम निवासी तोरणाचार्य के प्रशिष्य और पुष्पनन्दि के शिष्य वही प्रभाचन्द्र थे जिन्हें इसी श्रीविजयवसदि के लिए पौंच वर्ष पूर्व गंगनरेश ने दान दिया था। लेख में राष्ट्रकूट गोविन्द तृतीय के पराक्रम, विजयों और सफलताओं का भी पर्याप्त उल्लेख है। सन् 807 ई. के चामराजनगर साम्राज्य द्वारा गोविन्द तृ. के भाई उसी रणावलोक कामराज ने अपने पुत्र शंकरगण की प्रार्थना पर गंगराजधानी तालवननगर (तलकाड) की श्रीविजय-वसदि के लिए बदनगुप्ते नाम का ग्राम कुन्दकुन्दान्वय के कुमारनन्द भट्टारक के प्रशिष्य और एलवाचार्य गुरु के शिष्य परम धार्मिक, दयानिधान, विद्वान् वर्धमान गुरु को प्रदान किया था। यह जिनालय भी पूर्वोक्त सामन्तराज श्रीविजय द्वारा ही निर्मापित था। इस लेख से यह भी प्रकट है कि कम्भराज स्वयं, सम्भवतया उसकी पत्नी भी और पुत्र शंकरगण, जैनधर्म के भक्त थे। सन् 812 ई. के कदक-दानपत्र के द्वारा, जो सम्राट् ने स्वयं मयूरखण्डी के दुर्ग से प्रचारित किया था, उसने शिलाग्राम में स्थित जिनमन्दिर के लिए यापनीयनन्दिसंघपुन्नागवृक्षभूलगण-श्रीकित्वाचार्य-अन्वय के गुरु कूविलाचार्य के अन्तेवासी विजयकीर्ति के शिष्य अर्ककीर्ति मुनि को जालमंगल नाम का ग्राम भेंट किया था। वह दान चालुक्य वंश के बलवर्म नरेन्द्र के पौत्र और राजा यशोवर्म के 'कुलदीपक सुपुत्र' विमलादित्य के मामा चाकिराज की प्रार्थना पर दिया गया था। चाकिराज उस समय अशेष-गंगमण्डलाधिराज थे, सम्भवतया सम्राट् की ओर से वे गंगवाडि प्रदेश

के शासक थे और जिनभक्त थे। उनका भानजा उपर्युक्त विमलादित्य, जो रणचतुर और चतुरजनाश्रय था, स्वर्ण कुनुमिल देश (प्रदेश) का शासक था। मुनि अर्ककीर्ति ने विमलादित्य को शनिश्चर गृह की पीड़ा से मुक्त किया था, यह इस दान का प्रधान प्रेरक कारण था। इस लेख में भी राष्ट्रकूटों की वंशावली और उनके, विशेषकर गोविन्द तृ. के विजयों, प्रताप आदि का वर्णन है। वाटनगर का जैन अधिष्ठान तो सम्राट् से प्रारम्भ से ही संरक्षण पाता रहा था। वहीं अब स्वामीवीरसेन के सुयोग्य पट्टशिष्य स्वामी जिनसेन गुरु द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य की पूर्ति में शान्तिपूर्वक संलग्न थे। उनके सधर्मा दक्षरथ गुरु, विनयसेन, पद्मसेन और वृद्धकुमारसेन तथा स्वामी विद्यानन्द, अनन्तकीर्ति, रविभद्रशिष्य अनन्तवीर्य, परवादिमल्ल आदि अनेक विद्वान् जैन गुरु राष्ट्रकूट साम्राज्य को सुशोभित कर रहे थे। महाकवि स्वयम्भू भी सम्भवतया मुनि हो गये थे और श्रीपाल नाम से प्रसिद्ध हुए थे। आचार्य जिनसेन द्वारा जयधवल (वीरसेनीया टीका) की पूर्ति, सम्पादन आदि में श्रीपाल मुनि का पर्याप्त योग रहा। स्वयम्भू के पुत्र त्रिभुवन-स्वयम्भू भी श्रेष्ठ कवि थे और इस काल में उन्होंने अपने पिता के रामायण आदि महाग्रन्थों का संशोधन, परिवर्धन, सम्पादन आदि किया था। गोविन्द तृ. के वह विशेष कृपापात्र रहे प्रतीत होते हैं। इस नरेश के शासनकाल में जैनधर्म खूब फल-फूल रहा था।

सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम—नृपतुंग, शर्ववर्म, अतिशय-धवल, महाराज-शण्ड, वीरनारायण, श्रीवल्लभ, वल्लभराय आदि विरुद्धधारी इस राष्ट्रकूट सम्राट् का जैनधर्म के परम पोषक एवं भक्त महान् सम्राटों में उल्लेखनीय स्थान है। इसमें भी सन्देह नहीं है कि राज्य विस्तार, शक्ति, समृद्धि, वैभव आदि की दृष्टि से वह अपने समय का भारत का प्रायः सर्वमहान् सम्राट् था। उसका राज्यकाल भी सुदीर्घ था—साठ वर्ष से अधिक उसने राज्य का उपभोग किया। उसका जन्म 804 ई. में उस समय हुआ था जब उसका पिता गोविन्द तृ. उत्तरापथ की अपनी एक विजययात्रा से लौटते हुए नर्मदा के किनारे श्रीभक्त नामक स्थान में छावनी डाले पड़ा था। अतएव 815 ई. में जब उसे पिता की मृत्यु पर राज्य का उत्तराधिकार मिला तो वह दस-ग्यारह वर्ष का बालक मात्र था। किन्तु उसके पिता ने राज्य की नींव पर्याप्त सुदृढ़ कर दी थी और कई स्वामिभक्त एवं विश्वासपात्र राजपुरुष पैदा कर दिये थे। इनमें सर्वोपरि अमोघवर्ष के चाचा और गुर्जरदेश के शासक इन्द्र का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कर्कराज था, जो बाल राजा का सुयोग्य एवं सक्षम अभिभावक और संरक्षक हुआ। स्थिति का लाभ उठाकर जो विद्रोह आदि हुए उन सबका दमन करके 821 ई. में नवीन राजधानी मान्यखेट में कर्कराज ने अमोघवर्ष का विधिधत्त राज्याभिषेक किया। कर्कराज की ही भाँति साम्राज्य का महासेनापति जैन वीर बंकेधरस पूर्णतया स्वामिभक्त और सर्वथा सुयोग्य था। इन दोनों राजपुरुषों ने मिलकर साम्राज्य को स्वयंक्र और परचक्र के समस्त उपद्रवों से सुरक्षित रखने का सफल प्रयत्न किया।

उधर स्वयं सम्राट् ने राजधानी को सुन्दर प्रासादों, राजपथों, सरोवरों, उद्यानों आदि से अलंकृत करने में कुछ वर्ष मन लगाया। वह स्वयं वस्तुतः एक शान्तिप्रिय, विद्यार्सिक एवं धर्मात्मा नरेश था। साम्राज्य में सुख चलते रहे, विद्रोह और विग्रह भी होते रहे, किन्तु उसके सुदक्ष एवं स्वाभिमुख अनुचरों और सामन्त-सरदारों की तत्परता के कारण साम्राज्य की समृद्धि और शान्ति में कोई उल्लेखनीय विघ्न नहीं पड़ा, उसकी शक्ति, वैभव एवं प्रताप में उत्तरोत्तर वृद्धि ही हुई। तत्कालीन अरब यात्री सुलेमान सौदागर (851 ई.) के अनुसार उस काल में संसार भर में सर्वमहान् सम्राट् भारत का 'दीर्घाय बलहरा' (बल्लभराय अमोघवर्ष), चीन का सम्राट्, बगदाद का खलीफा और रूम (तुर्की) का सुल्तान, यह चार ही थे। अलइद्रिसि, अबुलैद, मसूदी, इब्नहौकल आदि अन्य अरब सौदागरों ने भी अमोघवर्ष के प्रताप एवं वैभव की तथ्या उसके साम्राज्य की समृद्धि एवं शक्ति की भरपूर प्रशंसा की है।

सुलेमान यह भी लिखता है कि "भारतवर्ष का प्रत्येक नृपति स्वयं अपने राज्य में रहता हुआ भी, उसका (अमोघवर्ष का) आधिपत्य स्वीकार करता था। उसके पास हाथी और पुष्कल धन सम्पत्ति थी। वह शंख को छूता भी नहीं था और अपने सैनिकों तथा कर्मचारियों को नियमित वेतन देता था। उसके राज्य में पूजा की सम्पत्ति सुरक्षित थी, चोरी और ठगी को कोई जानता भी नहीं था, और व्यापार-व्यवसाय को प्रभूत प्रोत्साहन था तथा विदेशियों के प्रति आदरपूर्ण अच्छा व्यवहार होता था।" अलइद्रिसि लिखता है कि "राष्ट्रभूट राज्य अतिविस्तृत, धना बसा हुआ, बड़े-बड़े व्यापार दाला और बहुत उपजाऊ था। जनसंख्या अधिकांशतः शाकाहारी थी, चावल (धान), मटर, फलियाँ, दालें, सामन्तबन्धी, फल आदि उनके नित्य के भोज्यपदार्थ थे।—ये भारतीय स्वभावतः न्यायप्रिय हैं, अपने व्यवहार में भी सदा न्यायपूर्ण ही रहते हैं। सचाई, ईमानदारी, किये गये अनुबन्धों में अपने वचन का दृढ़तापूर्वक पालन इत्यादि गुणों के लिए ये लोग सर्वत्र प्रसिद्ध हैं। इसी से अजनबी विदेशी इनके देश में बड़ी संख्या में दौड़-दौड़कर आते हैं। फलस्वरूप इस देश की समृद्धि में बढ़ोतरी ही होती है।" अबुलैद भी लिखता है कि, "बलहरा सम्पूर्ण भारतवर्ष का सर्वाधिक प्रतिष्ठित एवं प्रतापी नरेश है और अन्य सब राजे, यद्यपि उनमें से प्रत्येक अपने-अपने राज्य में स्वतन्त्र है और उसका पूर्णतया स्वामी है, इसकी महत्ता स्वीकार करते हैं और उसे सर्वोपरि मानते हैं।" इसके अतिरिक्त, यह नरेन्द्र गुणियों और विद्वानों का प्रेमी तो था ही, स्वयं भी अच्छा विद्वान् और कवि था। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़ी और तमिल भाषाओं में विविध विषयक साहित्य सृजन को उसने प्रभूत प्रोत्साहन दिया। इसकी राजसभा विद्वानों से भरी रहती थी।

इस विषय में भी प्रायः कोई मतभेद नहीं है कि सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम जैनधर्म का अनुयायी, जैन गुरुओं का भक्त, और एक उत्तम श्रावक था। श्री. रामकृष्ण

गोपाल भण्डारकर के मतानुसार "राष्ट्रकूट नरेशों में अमोघवर्ष जैनधर्म का सर्वमहान् संरक्षक था। यह बात सत्य प्रतीत होती है कि उसने स्वयं जैनधर्म धारण किया था।" वीरसेन स्वामी के प्रिय पट्ट-शिष्य और उनके वाटनगर केन्द्र के तत्कालीन अधिष्ठाता सेनसंघी आचार्य जिनसेन स्वामी सम्राट् के धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। वह विभिन्न भाषाविज्ञ एवं विविध-विषय-निष्णात दिग्गज विद्वान् और महाकवि थे। बाल्यपन से ही उनके साथ अमोघवर्ष का सम्पर्क रहा था, और वह उनकी बड़ी विनय करता था। इन आचार्य के सम्मुख सर्वप्रमुख कार्य स्वगुरु द्वारा अधूरे छोड़े गये कार्य को पूरा करना था, अतएव 837 ई. में उन्होंने सम्राट् अमोघवर्ष के प्रश्रय में और उसके प्रधानामात्य गुर्जरविधि कर्कराज के संरक्षण में, गुरु द्वारा स्थापित वाटनगर के अधिष्ठान में ही 60,000 श्लोकों के 'महापुराण' को पूर्ण किया और उसे श्रीपालगुरु द्वारा सम्यग्दित कराके सन्तोष प्राप्त किया। तदनन्तर, सम्राट् के आग्रह पर वह राजधानी मान्यखेट में ही प्रायः रहने लगे। वहीं उन्होंने महाकवि कालिदास के सुप्रसिद्ध मेघदूत की समस्यापूर्ति के रूप में अपने 'पार्श्वाम्बुदयकाव्य' की रचना की, जो अपनी काव्यगत विशेषताओं के लिए समग्र संस्कृत साहित्य की श्रेष्ठतम काव्य निधियों में परिगणित है। उक्त काव्य में अमोघवर्ष का भी सांकेतिक उल्लेख है। इसके उपरान्त आचार्य ने महापुराण की रचना प्रारम्भ की, किन्तु आदि तीर्थंकर का चरित्र भी पूरा निबद्ध न कर पाये कि दिवंगत हो गये। जिस विशाल योजना के साथ उन्होंने यह महापुराण रचना प्रारम्भ किया था, यदि पूरा कर पाते, तो वह अद्वितीय होता। उनके पट्टशिष्य गुणभद्राचार्य ने गुरु द्वारा अधूरे छोड़े आदिपुराण को पूरा किया तथा उत्तरपुराण के रूप में संक्षेप से शेष तेईस तीर्थंकरों का चरित्र निबद्ध करके महापुराण का समापन किया। गुणभद्राचार्य ने उत्तरपुराण में लिखा है कि स्वगुरु भगवज्जिनसेनाचार्य के धरणक्रमलों में प्रणाम करके अमोघवर्ष नृपति स्वयं को पवित्र हुआ धन्य मानता था। आचार्य गुणभद्र ने 'आत्मानुशासन', 'जिनदत्तचरित्र' आदि ग्रन्थ भी रचे हैं। अमोघवर्ष और उसका पुत्र कृष्ण द्वितीय, दोनों ही इन आचार्य का सम्मान करते थे। सम्राट् ने इन्हें युवराज कृष्ण का शिक्षक भी नियुक्त किया था, ऐसा प्रतीत होता है। आचार्य उग्रदित्य ने सम्राट् के आग्रह पर उनकी राजसभा में आकर अनेक आयुर्वेदज्ञों एवं अन्य विविध विद्वानों के समक्ष मन्त्र-मांस निषेध का वैज्ञानिक विवेचन किया था, और इस ऐतिहासिक व्याख्यान को 'हिताहित अध्याय' शीर्षक से अपने पूर्वलिखित (लगभग 800 ई. में) प्रसिद्ध वैद्यक ग्रन्थ 'कल्याणकारक' में परिशिष्ट के रूप में सम्मिलित किया था। प्रसिद्ध जैन गणितज्ञ महावीराचार्य ने अपना सुविदित गणितसार-संग्रह उसी सम्राट् के आश्रय में लिखा था—उसकी प्रशस्ति में आचार्य ने लिखा है कि 'जिस नृपतुंगदेव के शासन में स्याद्व्यादन्याय के पक्षधरों ने समस्त एकान्त पक्षों को विध्वस्त कर दिया था, उस नृपति का वह शासन वर्द्धमान हो।' यापनीय संघ के जेनाचार्य शाकटावन पाल्यकीर्ति

ने अपने सुविख्यात 'शब्दानुशासन' नामक व्याकरण शास्त्र की तथा उसकी स्तोपज्ञ 'अमोघवृत्ति' नाम्नी टीका की रचना भी इसी नृपति के आश्रय में की थी। स्वयं सम्राट् अमोघवर्ष ने कन्नड़ी भाषा में 'कविराजमार्ग' नामक छन्द-अलंकार शास्त्र रचा, तथा संस्कृत में 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नाम का नीतिशास्त्र रचा, जिसके प्रारम्भ में उसने तीर्थंकर महावीर की वन्दना की है और अन्त में सूचित किया है कि विवेक का उदय होने पर उस राजर्षि अमोघवर्ष ने राज्य का परित्याग कर दिया था, और सुधीजनों को विभूषित करनेवाली इस 'रत्नमालिका' को रचा था। उसके कोन्नूर आदि अभिलेखों से प्रकट है कि इस नरेश ने जैनगुरुओं, जैनमन्दिरों और संस्थाओं को अनेक दान भी दिये थे।

इस प्रकार वह न्याय-नीतिपरायण, सद्बिचारपूर्ण, विवेकवान्, धर्मनिष्ठ राजर्षि बीच-बीच में बहुधा राज्यकार्य से अवकाश लेकर गुरुचरणों में, सम्भवतया बाटग्राम के मठ में जाकर, अकिंचन हो अल्पाधिक अवाधि के लिए निराकुलतापूर्वक धर्मसेवन किया करता था। उसके संजन ताम्रशासन से भी ऐसा ही भाव झलकता है। स्याद्वाद में उसकी निष्ठा थी, तत्त्वचर्चा, विद्वानों के व्याख्यानों और शास्त्रार्थों में वह रस लेता था। खान-पान तो उसका जैनोचित शुद्ध था ही, संयमी जीवन बिताने का भी अभ्यस्त था। अपने जीवन के अन्तिम भाग में, 876 ई. के लगभग, राज्यकार्य का भार युवराज कृष्ण की सौंपकर उसने स्थायी अवकाश ले लिया था और एक आदर्श त्यागी श्रावक के रूप में समय व्यतीत किया था। सन् 878 और 880 ई. के मध्य किसी समय इस राजर्षि का निधन हुआ। स्वयं सम्राट् के अतिरिक्त उसकी माता महारानी गामुण्डबे, पट्टमहिषी उमादेवी, युवराज कृष्ण, राजकुमारियाँ शंखादेवी और सम्प्रबेलबे, चचेरा भाई कर्कराज इत्यादि राजपरिवार के अधिकतर सदस्य जिनभक्त थे। सामन्त-सरदारों में लाट-गुजरात के राष्ट्रकूटों और सेनापति बर्कय के अतिरिक्त नोलम्बवाड़ी के नोलम्ब, सौन्दसि के रट्ट, हुम्नाच के सान्तर, गंगवाडि के गंग, बेगि के पूर्वी चालुक्य आदि अनेक जैनधर्मावलम्बी थे। गुर्जराधिप कर्कराज ने तो 821 ई. के अपने सूरत दान-पत्र के द्वारा जैनाचार्य परवादिमल्ल के प्रशिष्य को नवसारी (नवसारिका) के जैन विद्यापीठ के लिए भूमि दान की थी। सन् 859 के एक शिलालेख में एक जैन बसदि के लिए राज्य द्वारा सिंहवरमण के आचार्य नागनन्दि को दान देने का उल्लेख है। सम्राट् का व्यक्तिगत विश्वास जैनधर्म में था, तथापि वह परधर्म-सहिष्णु और समदर्शी था। कुलाचार के अनुसार अपनी कुलदेवी महालक्ष्मी में भी उसकी आस्था रही प्रतीत होती है, क्योंकि एक बार इस प्रजावत्सल नृपति ने अपनी प्रजा को महामारी के प्रकोप से बचाने के लिए उक्त देवी के चरणों में अपनी अंगुलि काटकर चढ़ा दी थी। यह उसके राज्यकाल के पूर्वार्ध की घटना रही प्रतीत होती है। वैसे इस राष्ट्रकूट चक्रवर्ती अमोघवर्ष नृपतुंग के साम्राज्य में जैनधर्म ही प्रायः राष्ट्रधर्म हो रहा था।

वीरबंकेयरस—सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम के राजपरमों में जैनधर्म की दृष्टि से सर्वाधिक उल्लेखनीय उसका महासेनापति वीर बंकेयरस है। वह मुकुल नामक व्यक्ति के उस कुल में उत्पन्न हुआ था जो 'विक्रम-विलास-मिलय' कहलाता था, अर्थात् अपनी वीरता और पराक्रम के लिए प्रसिद्ध था। मुकुल सम्भवतया राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम की सेवा में था, उसका पुत्र एरिकोटि ध्रुवधारावर्ष की और एरिकोटि का पुत्र धोर, जो अपने वंश का 'कुलाधार' था, गोविन्द तृतीय की सेवा में था। वह कोलनूर का शासक था—सम्भवतया राज्य की ओर से कोलनूर उसे जागीर में भी मिल गया था। धोर की पत्नी विजयांका से इस लोकमान्य, प्रणष्ट मण्डलकों में आसंक फैलानेवाले 'चेल्लेकेतन' वीर बंगकेश का जन्म हुआ था। उसका ध्वजचिह्न 'चेल्ल' था, इसलिए वह 'चेल्लेकेतन' भी कहलाता था। वह अपने स्वामी वीरनारायण अमोघवर्ष वल्लभनरेन्द्र का 'इष्टप्रत्य'—अत्यन्त कृपापात्र एवं प्रिय अनुचर था। सम्राट् ने उसे विशाल बनवासी-30,000 देश का एकाधिपति सामन्त बना दिया था। वहाँ बंकेय ने बंकापुर नाम का एक सुन्दर नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। सम्भवतया यह नगर उसकी वंशगत जागीर कोलनूर के निकट ही स्थित था। जब गंग संचमल्ल के उत्तराधिकारी एरेयगंग ने राष्ट्रकूट सम्राट् के विरुद्ध विद्रोह किया था तो सेनापति बंकेय ने गंगों के कैदाल और तलकाड नगरों पर अधिकार करके गंगों का दमन किया। बंकेय जब इस अभियान में व्यस्त था तो गुर्जरधिप कर्क के पुत्र ध्रुव ने युवराज कृष्ण को अपने साथ मिलाकर राजधानी मान्यखेट में एक बड्यन्त्र रच डाला। सूचना पाते ही बंकेय राजधानी आया और तत्परता के साथ उक्त विद्रोह का दमन किया। ध्रुव युद्ध में मारा गया। इसी अवसर पर प्रसन्न होकर सम्राट् ने बंकेय की बनवासी की जागीर प्रदान की थी। गंग का विजयादित्य-गुणम इस समय के श्रेष्ठतम शासकों में से था। वह राष्ट्रकूटों की पराधीनता से मुक्त होना चाहता था, अतएव उसने भी सिर उठाया, किन्तु युद्ध में पराजित हुआ। इस विजय का श्रेय भी बंकेय को था। इस प्रकार स्वामिभक्त सेनापति वीर बंकेय के पराक्रम से सम्राट् अमोघवर्ष के समस्त शत्रुओं का तत्परता के साथ दमन होता रहा और स्वचक्र एवं परचक्र दोनों के ही उत्पातों से उसकी और उसके साम्राज्य की रक्षा होती रही। बंकेय की अनेक महत्वपूर्ण सेवाओं से प्रसन्न होकर एक बार सम्राट् ने उससे इच्छित वर माँगने का आग्रह किया तो उस धर्मात्मा वीर ने कहा कि उसे कुछ नहीं चाहिए, अपने सम्राट् की सेवा ही उसके लिए भरपूर पुरस्कार है। सम्राट् के पुनः आग्रह पर उसने कोलनूर (कोन्नूर) में अपने द्वारा निर्मापित भव्य जिनालय के लिए दान देने की प्रार्थना की। अतएव अपने शक 782 (सन् 860 ई.) के कोन्नूर ताम्रशासन द्वारा तलेयूर नाम का ग्राम तथा अन्य तीस ग्रामों की कुछ भूमियाँ उक्त मन्दिर के परिपालन के लिए नियुक्त मूलसंघदेशीयगण-पुस्तकागच्छ के त्रैकालयोगीश के शिष्य देवेन्द्र मुनीश्वर सैद्धांतिक को उक्त जिनालय के निर्माण के उपरान्त

होनेवाले खण्डस्फुटित (मरम्मत), सम्मार्जनोपलेपन (लिफाई-पुताई), परिपालन आदि धर्मोपयोगी कार्यों के लिए आश्विन पूर्णिमा के दिन, जिस दिन सर्वप्रसीसोमग्रहण हुआ था, सम्राट् ने प्रदान कर दी। ताम्रशासन का लेखक ग्राम पट्टलाधिकारी रणहस्ति नागवर्म-पृथ्वीराम का भृत्य, बलभीकायस्थों के वंश में उत्पन्न श्रीहर्ष का पुत्र भोगिक वत्सराज था जो धर्माधिकरण पद पर आसीन था। बंकेयराज का मुख्य महत्तर (दीवान) गणपति था जिसने इस दान की व्यवस्था की थी। कालान्तर में मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के शिष्य वीरनन्दि मुनि ने, जिनके पास यह ताम्रशासन था, कोलनूर के महाप्रभु हुलिमरस तथा अन्य सज्जनों की प्रार्थना पर कोलनूर का प्रस्तुत शिलालेख अंकित कराया था जिसमें उक्त ताम्रशासन की प्रतिलिपि समाविष्ट है। उक्त ताम्रशासन में राष्ट्रकूटों की वंशावली, सम्राट् अभोधवर्ष की प्रशस्ति तथा वीर बंकेयराज के वंश-परिचय, विजयों और पराक्रम का वर्णन भी है। बंकेय का पुत्र लोकादित्य भी अपने पिता की ही भाँति जैनधर्म का भक्त था। बंकेय के निधन के उपरान्त वही बनवासी राजा का जगीरदार और शासक तथा बंकापुर का स्वामी था। उसके समय में, 898 ई. में, आचार्य गुणभद्र के शिष्य लोकसेन ने गुहू द्वारा पूर्ण किये 'महापुराण' का विमोचन, पूजनोत्सव एवं सार्वजनिक वाचन लोकादित्य के प्रश्रय में ही समारोहपूर्वक किया था। गुणभद्राचार्य का स्वर्गवास उसके पूर्व ही हो चुका था।

कृष्ण द्वितीय शुभतुंग अकालवर्ष (878-914 ई.)—राज्य का वस्तुतः स्वामी तो 876 ई. के लगभग ही हो गया था, जब उसके पिता सम्राट् ने राज्यकार्य से अवकाश ले लिया था। उसका विधिवत् राज्याभिषेक भी 878 ई. में हो गया। इसका शासन भी सुद्धों, विजयों, कभी-कभी पराजयों से भी पूर्ण रहा। उसकी पट्टरानी चोदेनरेश कोत्कल प्रथम की पुत्री थी। यह सम्राट् और इसकी पट्टरानी दोनों जैनधर्म में आस्था रखते थे। आचार्य गुणभद्र तो युवराजकाल में ही उसके विद्यागुरु थे। उसके सम्राट् होने के पश्चात् भी सम्भव है वह कुछ वर्ष जीवित रहे और सम्राट् उनके प्रति विनयावन्त रहा। उनके उपरान्त उनके पट्टशिष्य लोकसेन भी उसके द्वारा सम्मानित रहे। उसी के शासनकाल में उन्होंने गुरु के 'उत्तरपुराण' की प्रशस्ति को संवर्द्धित करके बंकापुर में लोकादित्य की राजसभा में उक्त 'महापुराण' का पूजोत्सव किया था। कृष्ण द्वितीय के अनेक सामन्त-सरदार जैनधर्म के अनुयायी थे और साथ ही बड़े पराक्रमी वीर एवं योद्धा थे। इनमें से नरसिंह घालुक्य ने उत्तरापथ में कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार नरेश महीपाल को पराजित करके गंगा नदी में अपने घोड़े नहलाये थे। सेनाध्यक्ष श्रीविजय भी जैन था। बनवासी का शासक लोकादित्य तो जैन था ही। सौन्दर्य के रट्टराज पृथ्वीराम ने भी अपने प्रदेश के जैनमन्दिरों के लिए भूमि आदि के दान दिये थे। एक परम जैन सामन्त तोलपुरुष विक्रम-साल्लर ने अपनी राजधानी हुमच में पालियक्क-वसदि एवं गुड्ड-वसदि नामक जिनालय बनवाये थे

तथा 897 ई. में कुन्दकुन्दान्वय के मौनी सिद्धान्त भट्टारक के लिए एक अन्य बसति बनवायी थी। उसने अपनी राजधानी में, सम्भवतया उसकी गुडड-बसति में, भगवान् बाहुबलि की प्रतिमा भी प्रतिष्ठा की थी। विक्रमद्वारगुण नामक एक अन्य सामन्त ने पेरियकुडि के अरिष्टनेमि भट्टारक के शिष्य को दान दिया था। कृष्ण के राज्यकाल में ही, 881 ई. में कोप्पणतीर्थों पर चट्टगुडुभट्टारक के शिष्य जैन मुनि सर्वनन्दि का समाधिमरण हुआ था। उस काल में कोप्पण एक धर्मतीर्थ एवं उन्नत जैन केन्द्र था। स्वयं कृष्ण द्वितीय ने मूलगुण्ड, बदमिके आदि स्थानों के जैनमन्दिरों को दान दिये थे। उसका 914 ई. का बेगुमारा साम्राज्यशासन भी एक जैनदानपत्र ही है। इसी कृष्णवल्लभ नृप के शासनकाल में, 903 ई. में, धवल विषय के मूलगुण्ड नामक नगर में वैश्य जाति में उत्पन्न प्रसिद्ध चन्द्राय के पुत्र विकार्य ने जो सुन्दर एवं उन्नत जिन्मभवन बनवाया था, उसके लिए उसके पुत्रों नागार्य और अरसार्य ने चन्दिकावाट के सेनान्वयी पूज्यपाद कुमारसेन के प्रशिष्य और वीरसेन के शिष्य कन्नकसेन मुनि को कन्दवर्ममाल क्षेत्र में तथा अन्यत्र भूमि का दान दिया था। उसी अवसर पर उक्त जिनालय के लिए अनेक श्रेष्ठियों तथा बजार में निवास करनेवाले विदेशी-सत्त्वानों ने भी दान दिया था। इसी राष्ट्रकूट नरेश के प्रश्रय में कन्नडी भाषा के जैन महाकवि गुणवर्म ने अपने हरिवंश-पुराण की रचना की थी।

इन्द्र तृतीय (914-922 ई.)—कृष्ण द्वितीय की अपनी प्रायः वृद्धावस्था में ही राज्य प्राप्त हुआ था और उसके पुत्र जगत्तुंग की मृत्यु उसके जीवनकाल में ही हो गयी थी, अतएव कृष्ण के उपरान्त उसका पौत्र इन्द्र तृतीय नित्यवर्ष रङ्गकन्दर्प राजा हुआ। उसने मालवा के उपेन्द्र परमार को पराजित करके अपने अधीन किया और बैजि के चालुक्यों को भी अपनी अधीनता स्वीकार करने पर विवश किया। कन्नौज के महीपाल को भी उसने युद्ध में पराजित किया बताया जाता है। उसके दुर्धर सेनापति नरसिंह और श्रीविजय दोनों ही जैनधर्म के अनुयायी थे। श्रीविजय का विरुद 'अरिविनगोज' था, और वह श्रेष्ठ कवि भी था—शस्त्र और शास्त्र दोनों ही विद्याओं में अद्वितीय समझा जाता था। जीवन के अन्तिम भाग में संसार का परित्याग करके वह जैन मुनि हो गया था। राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय इतना भारी दानी था कि 914 ई. में कुरन्धक नामक स्थान में जब उसका पट्टबन्धोत्सव मनाया गया तो कहा जाता है कि उसने विविध धर्मगुरुओं, धर्मापत्तनों और याचकों को चार सौ ग्राम दान में दिये थे। उसके वजीरखेड़ा साम्राज्यशासन में लिखा है कि उसकी जननी लक्ष्मीदेवी चेदिनरेश कोक्कल की पौत्री और शंकरगण की पुत्री तथा चालुक्य सिन्दुक की दौहित्री थी, और पिता कृष्णराज का महापराक्रमी, हिमांशु-वंशतिलक पुत्र राजकुमार जगत्तुंग था जिसने अनेक शत्रुओं का दर्पदलन किया था। लेख में स्वयं इन्द्र की प्रशस्ति और उसके अनेक विरुदों को देने के उपरान्त लिखा है कि उसने राजधानी भान्यखेट में विराजते हुए और अपने पट्टबन्धोत्सव (राज्याभिषेक) के

निर्विघ्न सम्पादन से आनन्दित होते हुए अपने राष्ट्रपति, विषयपति, ग्रामकूटभुक्तक, नियुक्तक, अधिकारिक, महत्तर आदि विविध प्रशासन अधिकारियों को सम्बोधन करके कहा था कि वे उसका आदेश सुनें और सर्वत्र प्रचारित कर दें कि सम्राट् ने उपर्युक्त उपलब्ध में अपने माता-पिता के एवं स्वयं अपने पुण्य और यश की अभिवृद्धि के लिए, उसके पूर्वपुरुषों द्वारा देवभोग एवं अग्रहार निमित्त जो दानादि पूर्वकाल में दिये गये थे, उनकी वह पुष्टि करता है और स्वयं बीस लाख द्रव्य (मुद्राएँ) तथा पचास से अधिक ग्रामों का षष्ठांश (राज्यकर) उसी हेतु अर्पित करता है। इसी प्रसंग में शक 886 (सन् 914 ई.) की फाल्गुन शुक्ला सप्तमी शुक्रवार को उसने नित्य की बलिचरु-सत्र-तपोवन के सन्तर्पणार्थ, देवगुरु की पूजार्थ तथा खण्ड-स्फुटित सम्पादनार्थ चन्दनपुरिपत्तन में स्थित बसदि (जिनमन्दिर एवं संस्थान) के लिए दो ग्राम द्रविडसंघकीरण चीर्वायान्वय के वर्द्धमान गुरु के शिष्य लोकभद्र मुनि को समर्पित किये थे। उसी के वजीरखेड़ा से प्राप्त दूसरे ताग्रशासन के अनुसार इन्हीं गुरु को बडनगरपत्तन की बसदि के लिए छह ग्राम प्रदान किये गये थे। लगता है कि यह संस्था वाटनगर की या बारगमपुर की वही प्राचीन चन्द्रप्रभु-बसदि थी जिसके संस्थापक और प्रथम अधिष्ठाता घवलाकार वीरसेन स्वामी थे। इन दोनों दान-प्रशस्तियों के रचयिता कोई कवि राजशेखर थे। इसमें संन्देह नहीं है कि अपने पूर्वजों की भाँति राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय भी जिनेन्द्र का भक्त था। अपने अभीष्ट की प्राप्ति की इच्छा से उसने भगवान् शान्तिनाथ का एक पाषाणनिर्मित सुन्दर पाद-पीठ भी बनवाया था।

धर्मात्मा रानी जविकयब्बे—इसी युग की एक उल्लेखनीय जैन महिला-रत्न थी। राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण द्वितीय (कन्नरदेव) के समय में, 911 ई. में, बनवासि-12,000 प्रान्त का शासक महासामन्त कलिबिष्टरस था, जो सम्भवतया बंकेयपुत्र लोकादित्य का उत्तराधिकारी था। उसके अधीन नागरखण्ड-70 का नालंगाखण्ड (सामन्त) सत्तरस नागार्जुन था। उस वर्ष, सम्भवतया किसी युद्ध में नागार्जुन की मृत्यु हो गयी तो सम्राट् ने उसकी पत्नी जविकयब्बे को उसके स्थान में नागरखण्ड एवं अबुतबूर की नालंगाखण्ड और सामन्त नियुक्त किया। यह महिला उत्तम प्रभुशक्तियुक्त, जिनेन्द्र शासन की भक्त और अपनी योग्यता एवं सौन्दर्य के लिए प्रसिद्ध थी। अपनी वीरता और पराक्रम के उचित गर्व से गौरवान्वित इस महिला ने कुशलतापूर्वक सात-आठ वर्ष पर्यन्त अपने पद का सफल निर्वाह किया और अपने प्रदेश का सुशासन किया। अन्त में, 918 ई. में, इन्द्र तृतीय के शासन काल में वह सगुण हो गयी तो शरीर और भोगों को क्षणभंगुर जान, अपनी पुत्री को बुलाया और उसे अपनी सम्पत्ति एवं पदभार सौंप दिया और स्वयं बन्दि के तीर्थ की बसदि में जाकर पूरी श्रद्धा के साथ सल्लेखनाव्रतपूर्वक देह का त्याग किया। इस बसदि (जिनालय) का नाम जविकलि-बसदि था और सम्भवतया वह स्वयं जविकयब्बे

द्वारा निर्मापित थी। उसने उस बसति के लिए चार भत्तल धान्य का क्षेत्र भी दान दिया था। चिक्कहंससोगे के रामेश्वर मन्दिर में प्राप्त एक शिलालेख में उल्लिखित जिक्रियन्ने भी यही प्रतीत होती है। उक्त लेख में उसे नागकुमार नामक एक महान् योद्धा की भार्या बताया है और लिखा है कि इस भक्त श्राविका ने, जो अपने गुणों के कारण रोहिणी से भी बड़ गयी थी, शरीर की अशुचिता, मश्वरता एवं हेयता का भ्रान करके, प्रसन्नता के साथ समाधिभरणपूर्वक परलोक यात्रा की थी।

राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय अकालवर्ष (939-967 ई.)—इन्द्र तृतीय के उपरान्त क्रमशः तीन राजे और हुए और तदनन्तर अमोघवर्ष तृतीय बह्मि का पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह कृष्ण तृतीय राष्ट्रकूटों के सिंहासन पर बैठा। वह इस वंश के अन्तिम नरेशों में सर्वमहान् था। गंगनरेशों के साथ कई विवाह सम्बन्ध स्थापित करके उन्हें उसने अपना परम हितु और सहायक बना लिया था। गंगनरेश भूतुग द्वितीय, मरुलदेव, भारसिंह आदि ने तथा उनके सुप्रसिद्ध सेनापति वीर चामुण्डराय ने कृष्ण के लिए अनेक युद्ध सफलतापूर्वक लड़े और उसकी विजयपताका चहुँओर फहरायी। कृष्ण के करछाड ताम्रपत्र (959 ई.) उस समय लिखे गये थे जब सम्राट् अपने मेलपाटि (मेल्लडि) के सैन्यशिविर में ठहरा हुआ जीते हुए प्रदेश, धन, रत्न आदि अपने सामन्तों और अनुगतों में उदारतापूर्वक बाँट रहा था। वह स्वयं भी एक वीर योद्धा, दक्ष सेनानी, मित्रों के प्रति उदार, विद्वानों का आदर करनेवाला, धर्मात्मा एवं प्रतिभाशाली नरेश था। उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य और राजवंश की प्रतिष्ठा को गिरते-गिरते बचाया। अपने अधिकांश पूर्वजों की भाँति वह जैनधर्म का पोषक था। जैनाचार्य कादियंगल भट्ट का बड़ा सम्मान करता था। यह विविध विषय विशेषज्ञ, अद्भुत प्रतिभासम्पन्न आचार्य गंग भारसिंह के गुरु थे। उनका राजनीतिविषयक ज्ञान ऐसा अगाध और सटीक था कि वल्लभराज (कृष्ण तृतीय) की राजधानी और राजसभा के समस्त विद्वानों ने उनकी महत्ता स्वीकार करके उन्हें सम्मानित किया था। स्वयं सम्राट् कृष्णराज उनसे अत्यधिक प्रभावित था और उन्हीं की मन्त्रणा एवं परामर्शों के फलस्वरूप वह अपने युद्धों में तथा विभिन्न प्रदेशों की विजय करने में सफल हुआ था। सम्राट् के समस्त मण्डलीक और सामन्त भी इसी कारण इन आचार्य का अत्यधिक आदर करते थे। कृष्ण तृतीय ने 'शान्तिपुराण' और 'जिनश्वर भाते' के रचयिता कन्नड़ के जैन महाकवि पोन्न (पोन्नमय्य) को 'उमयभाषाचक्रवर्ती' की उपाधि देकर सम्मानित किया था एवं प्रश्रय दिया था। जैनाचार्य इन्द्रनन्दि ने 'ज्वालमालिनीकल्प' मान्यखेट में 939 ई. में रचा था। आचार्य सोमदेव ने अपने नीतिवाक्यामृत, यशस्तिलकचम्पू (959 ई.) आदि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना भी इसी सम्राट् के एक चालुक्य सामन्त के प्रश्रय में गंगधार नगर में की थी। सम्राट् के प्रधान मन्त्री भरत और उनके पुत्र नर अष्टमंश भाषा के जैन महाकवि पुष्पदन्त के प्रश्रयदाता थे। पुष्पदन्त ने कृष्णराज का उल्लेख 'तुडिगु महानुभाव' नाम से किया

है और नागकुमारचरित में मान्यखेट को 'श्रीकृष्णराज के खड्ग के कारण दुर्गम' कहा है।

महामात्य भरत और मन्त्री नन्न—राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के महामन्त्री भरत जैन धर्मावलम्बी कौण्डिन्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पितामह का नाम अणय्या, पिता का एयण और माता का श्रीदेवी था। इनकी पत्नी का नाम कुन्दव्या और सुपुत्र का नाम नन्न था। ब्राह्मणजातीय होने के कारण वह भरतभट्ट भी कहलाते थे। वह महामात्यों के ही वंश में उत्पन्न हुए थे, किन्तु किसी कारण से उनके कतिपय निकट पूर्वज पदच्युत रहे थे। भरत ने अपनी योग्यता, स्वामिभक्ति एवं तैजस्विता के बल पर वह पद पुनः प्राप्त कर लिया था। अपभ्रंश भाषा के महापुराण, नागकुमारचरित आदि ग्रन्थों के रचयिता महाकवि पुष्पदन्त के यह प्रशयदाता थे, अतएव कवि ने स्थान-स्थान पर इनका गुणानुवाद किया है। कवि के शब्दों में महामात्य भरत अनवरत रचित-जिननाथ-भक्ति और जिनवर-समय-प्रासाद-स्तम्भ थे, समस्त कलाओं एवं विद्याओं में कुशल थे, प्राकृत कवियों की रचनाओं पर मुग्ध (प्राकृत-कवि-काव्य-रसावलुब्ध) थे। उन्होंने सरस्वती-सुरभि का दुग्धधान किया था, लक्ष्मी के चहेते थे, सत्यप्रतिज्ञ और निर्मुत्तर थे। सम्राट के युद्धों का भार ढोते-ढोते उनके कन्धे घिस गये थे। वह अत्यन्त मनोहर, कवियों के लिए कामधेनु, दीन-दुखियों की आशा पूरी करनेवाले, सर्वत्र प्रसिद्ध, परस्त्रीपराङ्मुख, सच्चरित्र, उन्नतमति और सुजनों के उद्धारक थे। उनका रंग सौंदर्य था, हाथी की सूँड़-जैसी भुजाएँ थीं, अंग सुडौल थे, नेत्र सुन्दर थे और वह सदा प्रसन्न मुख रहते थे। वह ऐसे उदार और दानी थे कि 'बलि, जीमूतवाहन, दधीचि आदि के स्वर्गगत हो जाने से त्याग गुण अगत्या भरत मन्त्री में ही आकर निवास करने लगा था।' उनके गुणों की गिनती नहीं थी और न उनके शत्रुओं की। भव्यात्मा भरत ने वापी, कूप, तड़ाव, जिनालय आदि बनवाना स्थगित करके कवि से महापुराण की रचना करायी जो संसार-सागर से पार होने के लिए नौका के समान है। कवि पुष्पदन्त जो स्वयं 'अभिमान-मेरु' कहलाता था, बड़ा मानी और कड़वे मिजाज का था, किसी की भी प्रशंसा या चापलूसी करना उसके लिए अत्यन्त दुष्कर था। वह कहता है कि "ऐसे (भरत-जैसे) व्यक्ति की वन्दना करने को भला किसका मन न चाहेगा?" महाकवि पुष्पदन्त की मित्रता के कारण महामन्त्री भरत का गृह विद्या-विनोद का स्थल बन गया था, वहाँ पाठक और वाचक निरन्तर पढ़ते, गुणी गायक गान करते और लेखक सुन्दर काव्य लिखते थे। वह भरत वल्लभराज कृष्ण तृतीय के महामात्य, दानमन्त्री और कटकधिप (सेनापति) भी थे। शक ४४१ (सन् ५५९ ई.) में, जब सम्राट मेलपाटी में अपना विजयस्कन्धावार (छावनी) डाले पड़ा था, महाकवि ने मन्त्रीराज भरत से मेलपाटी के उद्घाटन में बैठ की थी। तब से वह उन्हीं के आश्रय में रहे और उन्हीं की प्रेरणा से उन्होंने अपना महापुराण रचकर ९६५ ई. में पूर्ण किया था। महामात्य भरत के सुयोग्य सुपुत्र नन्न

स्वयं सम्राट् के गृहमन्त्री थे, और अपने पिता की ही भाँति महाकवि के भक्त और प्रश्रवदाता थे। अपने नागकुमारचरित की रचना कवि ने मन्वीश्वर नम्र के मन्दिर (महल) में रहते हुए, उन्हीं के लिए एवं उन्हीं के नामांकित की थी। मन्वीराज नम्र की प्रशंसा में कवि ने लिखा है कि वह प्रकृति के सौम्य थे, उनकी कीर्ति सारे लोक में व्याप्त थी। उन्होंने अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे। जिनचरणों के वह भ्रमर थे और जिनेन्द्र की पूजा में निरत रहते थे। जिंशासन के वह उद्धारक थे, दुनियों को दान देने में सदा तत्पर थे, बाहरी एवं भीतरी उभय शत्रुओं का दमन करनेवाले थे, दयावान् थे, दीनों के लिए शरण थे, राज्यलक्ष्मी के क्रीड़ा-सरोवर, सरस्वती के निलय, विद्वानों के साथ विद्या-विनोद में निरत, शुद्ध हृदय थे। कृष्ण तृतीय के उत्तराधिकारियों के समय में भी नम्र राज्यमन्त्री बने रहे, प्रतीत होते हैं। सन् 972 ई. को मान्यखेट की लूट एवं विध्वंस का महाकवि पुष्पदन्त ने आँखों देखा बड़ा करुण वर्णन किया है। किन्तु उस लूट आदि से मन्त्रीराज नम्र की समृद्धि में विशेष अन्तर नहीं पड़ा प्रतीत होता है। पुष्पदन्त स्वयं ब्राह्मण थे तथा शैव भाता-पिता की सन्तान थे, किन्तु एक दिगम्बर जैन गुरु के उपदेश से जैन हो गये थे, और अन्त में उन्होंने संन्यासपूर्वक मरण किया था।

छोट्टिंग नित्यवर्ष (967-972 ई.)—कृष्ण तृतीय की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई राष्ट्रकूट सिंहासन पर बैठा। इस नरेश ने अर्हत् शान्तिनाथ के नित्य अभिषेक के लिए पाषाण की एक सुन्दर चौकी बनवाकर समर्पित की थी, ऐसा दानवलपाडू के जिनमन्दिर के शिलालेख से ज्ञात होता है। इसी नरेश के सामन्त पड्डिडग में, जो वातापि के चालुक्यनरेश विक्रमादित्य का वंशज था और इस समय कदम्बलिमे प्रान्त का शासक एवं सामन्त था, अपनी भार्या जक्किसुन्दरी द्वारा काकम्बल में निर्मापित भय्य जिनालय के लिए कवलिंगाचार्य अष्टोषवासी भट्टार के शिष्य रामचन्द्र भट्टार को दो ग्राम प्रदान किये थे। यह दान 968 ई. में दिया गया था। इसी नरेश के समय में 971 ई. के सुप्रसिद्ध राज-तपस्विनी आर्यिकापाम्बब्बे ने, जो गंगनरेश बल्लुग द्वितीय की बड़ी बहन थीं, समाधिमरण किया था। कडूर में दुर्गद्वार के निकट एक स्तम्भ पर उक्त पुनीत स्मृति में अंकित शिलालेख में लिखा है कि उस राजमन्दिनी एवं राजरानी ने निर्भयता के साथ स्वहस्त से केशलोच करके आर्यिका की दीक्षा ली थी और तदनन्तर तप-नियम में निरत रहते तीस वर्ष तक आदर्श तपस्विनी का जीवन बिताया था—यह देवी यम-नियम-स्वाध्याय-ध्यान-मौनानुष्ठान-परायण थी। लेख उसके तीन पुत्रों ने अंकित कराया था। समाधिमरण के पूर्व जब उन्होंने मातुश्री से पूछा कि हमारे लिए क्या आज्ञा है तो उस निरीह तपस्विनी ने कहा कि “जो कुछ कभी मुझे प्राप्त हुआ था मैंने ग्रहण किया, उस समस्त अन्तरंग-बहिरंग परिग्रह का मैंने पूर्णतया परित्याग कर दिया है; जैसे कि वह कुछ मुझे कभी प्राप्त हुआ ही नहीं था।”

972 ई. में जब राष्ट्रकूटों के अंतिम सहायक गंगमारसिंह और सेनापति चामुण्डराय अन्यत्र युद्धों में उलझे हुए थे तो मालवा के सियक हर्ष परमार ने राजधानी मान्यखेट पर धावा करके उसे जी-भर लूटा और विध्वस्त किया। खोड्गिग नित्यवर्ष भी सम्भवतया इसी युद्ध में मारा गया। सूचना पाते ही मारसिंह दौड़ा आया, किन्तु उससे पहले ही परमार सेना जा चुकी थी। खोड्गिग का पुत्र कर्क द्वितीय (972-73 ई.) राजा हुआ, किन्तु चालुक्य तैलप ने उसे युद्ध में मारकर राष्ट्रकूट राजधानी पर अधिकार कर लिया।

इन्द्र चतुर्थ—राष्ट्रकूट वंश का अन्तिम नरेश था। वह कृष्ण तृतीय का पौत्र तथा गंगमारसिंह का भानजा था। वह भारी बोर और योद्धा था तथा चौगल (पोलो) के खेल में निपुण था। मारसिंह ने उसे अपने पूर्वजों का राज्य प्राप्त करने में भरसक सहायता दी और एक बार तो मान्यखेट में उसका राज्याभिषेक भी कर दिया। किन्तु अब राष्ट्रकूटों का सूर्य अस्तप्राय था। स्वयं मारसिंह ने 774 ई. में समाधिभरण कर लिया था। अतएव निःसहाय इन्द्रराज कुछ वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद संसार से विरक्त हो गया और श्रवणबेलगोल चला गया। हेमावती तथा श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि की गन्धवारण बसदि के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि वह राजा बड़ा वीर था। उसने अनेक युद्धों में कीर्ति अर्जित की थी और अन्त में शक 904 (सन 982 ई.) की चैत्रशुक्ला अष्टमी सोमवार के दिन चित्रभानु नक्षत्र में, निराकुल वित्त से ब्रतों का पालन करते हुए इस जन-पूजित इन्द्रराज ने अमरेन्द्र की महाविभूति को प्राप्त किया था—अर्थात् सभाधिनरणपूर्वक वह स्वर्गस्थ हुआ था। उसी के साथ महाप्रतापी राष्ट्रकूटों की सत्ता और प्रायः वंश भी समाप्त हुए।

लगभग ढाई सौ वर्ष के राष्ट्रकूट युग में जैनधर्म, विशेषकर उसका दिगम्बर सम्प्रदाय, सम्पूर्ण दक्षिणापथ में सर्वप्रधान धर्म था। डॉ. आल्टेकर के मतानुसार राष्ट्रकूट साम्राज्य की लगभग दो-तिहाई जनता तथा राष्ट्रकूट नरेशों एवं उनके परिवार के विभिन्न स्त्री-पुरुषों में से अनेक तथा उनके अधीनस्थ राजाओं, उपराजाओं, सामन्त-सरदारों, उच्चपदाधिकारियों, राज्यकर्मचारियों, महाजनों और श्रेष्ठियों में से अधिकतर लोग इसी धर्म के अनुयायी थे। लोकशिक्षा भी जैन गुरुओं एवं बसदियों द्वारा संचालित होती थी। अपने इस महत् प्रभाव के फलस्वरूप जैनधर्म ने जनजीवन की प्रशंसनीय नैतिक उन्नति की, राजनीति को प्राणवान् बनाया और भारतीय संस्कृति की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि की। उनका सुस्पष्ट मत है कि इस युग के अमोघवर्ष प्रभृति जैननरेशों और उनके बंकेय, श्रीविजय, नरसिंह, चामुण्डराय—जैसे प्रचण्ड जैन सेनापतियों ने पूरे दक्षिण भारत पर ही नहीं, पूर्वी, पश्चिमी एवं मध्य भारत तथा उत्तरापथ के मध्यदेश पर्यन्त अपनी विजय वैजयन्ती फहरायी और बड़े-बड़े रणक्षेत्रों में यमराज को खुलकर भयंकर भोज दिये। उनका जैनधर्म इन कार्यों में तनिक भी बाधक नहीं हुआ। अतएव यह कहना वा मानना कि जैनधर्म ने लोगों

को कायर बना दिया और इसी कारण मुसलमान आदि विदेशी आक्रमणकारियों के सम्मुख भारत का पतन हुआ, सर्वथा भ्रान्ति एवं अवधार्य है। भारत के पतन का कारण जैनधर्म कदापि नहीं हुआ।

उत्तरवर्ती चोल-नरेश

9वीं शती ई. में विजयालम चोल ने तंचावर (तंजौर) को राजधानी बनाकर अपने वंश की स्थापना की और चोल राज्य का पुनरुत्थान किया। उसके वंश में राज-राजा केसरिवर्मन चोल (985-1016 ई.) इस वंश का सर्वमहान् नरेश था। वह बड़ा प्रतापी और भारी विजेता था। लंका का भी एक बड़ा भाग जीतकर उसने अपने राज्य में मिला लिया था और समुद्र पार के कई अन्य द्वीपों पर भी अधिकार कर लिया था। जैन महाकवि धनपाल के तिलकर्मजरी काव्य में समरकेतु की समुद्री यात्रा का वर्णन अनेक विद्वानों के मतानुसार राजराजा चोल के ही सुदूरपूर्व के किसी द्वीप या देश पर किये गये समुद्री आक्रमण की तैयारी का सजीव वर्णन है। क्या आश्चर्य है जो परमारों के मालवा का यह कवि राजराजा से भी सम्मानित हुआ हो और उक्त अभियान के समय चोल राजधानी में उपस्थित हो। यह नरेश सामान्यतया शैवधर्म का अनुयायी था, किन्तु साथ ही बहुत उदार और धर्मसहिष्णु था। उसके राज्य में जैनों पर कोई अत्याचार नहीं हुआ, वरन् विद्वानों का तो वह मत है कि उसके समय में जैनों को शैवों के समान ही राज्यश्रय प्राप्त था और उसके साम्राज्य में जैनधर्म उन्नत अवस्था में था। जैनतीर्थ पंचपाण्डयमलै के 992 ई. के तमिल शिलालेख के अनुसार इस नरेश के एक बड़े उपराजा लाटराज वीर चोल ने अपनी रानी लाटभहादेवी की प्रार्थना पर तिरुप्पानमलै के जिनदेवता को एक ग्राम की आज्ञा समर्पित की थी। इसी नरेश के 21वें वर्ष में, 1005 ई. में, गुणवीर मुनि ने अपने गुरु गणेशेश्वर उपाध्याय की स्मृति में एक नहर बनवायी थी। उसका पुत्र राजेन्द्र चोल (1016-42 ई.) सुयोग्य पिता का सुयोग्य पुत्र था, किन्तु पीछे से जैनधर्म का विद्वेषी हो गया कहा जाता है, तथापि चिक्कहनसोगे के 1025 ई. के लगभग के एक शिलालेख के अनुसार वहाँ के देशीयण-पुस्तकगच्छ के एक जैनमन्दिर का नाम राजेन्द्र-चोल-जिनालय था जो इस राजा द्वारा बनवाया गया था और उसी के समय में 1023 ई. में पवित्रपर्यंत तिरुमलै के शिखर पर स्थित कुन्दवै-जिनालय की दान दिया गया था जो कुन्दवै नाम की राजमहिला द्वारा निर्मापित था। वह राजराजा चोल की पुत्री, राजेन्द्र चोल की बहन और विमलादित्य चालुक्य की रानी थी। तत्पश्चात् राजाधिराज और अधिराजेन्द्र क्रमशः गद्दी पर बैठे। अन्तिम नरेश को 1074 ई. में उसके भानजे कोलुत्तुंग ने, जो बैंग के चालुक्य वंश में उत्पन्न हुआ था, मारकर चोलों का सिंहासन हस्तगत कर लिया और चोल एवं चालुक्य दोनों राज्यों को सम्मिलित करके उन पर अपना एकछत्र शासन स्थापित कर लिया।

कोलुत्तुंग चोल (1074-1123 ई.)—बड़ा चतुर, वीर और पराक्रमी था। उसने कलिंगदेश पर भी विजय पायी। इस विजययात्रा का सजीव वर्णन तमिल के प्रसिद्ध महाकाव्य कलंगट्टुपरमि में प्राप्त होता है, जिसके रचयिता कोलुत्तुंग चोल के प्रमुख राजकवि जयंगोदय थे जो जैनधर्मानुयायी थे। सम्राट् स्वयं जैनधर्म का अनुयायी था और उसके प्रश्रय में अनेक जैन धार्मिक एवं साहित्यिक कार्य हुए। उसने अपने पूर्वज राजेन्द्र चोल द्वारा मैसूर आदि प्रदेशों में नष्ट किये गये जिनमन्दिरों का भी जीर्णोद्धार करवाया। इस नरेश के भय से पलायन करके ही वैष्णवाचार्य रामानुज ने होयसलनरेश विष्णुवर्धन की शरण ली थी। कोलुत्तुंग के आश्रय में अनेक जैन विद्वानों ने साहित्य सृजन किया। उसने अपने राज्य में समस्त निषिद्ध पदार्थों का आयात बन्द कर दिया था। प्राचीन भारत के चरित्रवान् नरेशों में कोलुत्तुंग चोल की गणना की जाती है।

उसके पश्चात् उसका चतुर्थ पुत्र अकलंक (विक्रम या त्रियम्समुद्र) सिंहासन पर बैठा। उसने अपने पिता का पदानुसरण किया। उसकी राजसभा भी विद्वानों और गुणियों से भरी रहती थी। तदुपरान्त इस वंश में कोई अन्य जैननरेश नहीं हुआ।

अतिगैमान घेर—राजराजा का पुत्र और घेर देश का शासक था। तकटा इसकी राजधानी थी। इस नरेश ने तुण्डीरमण्डल में स्थित तिरुमलै पर जो 'अर्हत भगवान् का पवित्र पर्वत' कहलाता था, वक्ष-यक्षी मूर्तियों का जीर्णोद्धार कराया, प्रणाली बनवायी, घण्टा-दान किया, इत्यादि। यह राजकुमार सम्भवतया केरलनरेश एरणिघेर के वंश की राजकुमारी से उत्पन्न था। लेख में उसे व्यामुक्ल-श्रवणोज्ज्वल कहा है।

कल्याणी के चालुक्य—वातापी के पश्चिमी चालुक्यों की राज्यसत्ता का अन्त कीर्तिवर्धन द्वितीय के साथ 757 ई. में हो गया था। उसके चाचा भीमपराक्रम की सन्तति से उत्पन्न तैलप द्वितीय द्वारा दो सौ वर्ष के उपरान्त चालुक्य राज्यध्वी का पुनः अभ्युत्थान हुआ, और इस बार इतिहास में वे कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्य कहलाये।

तैलप द्वितीय आहवमल्ल—वातापी के चालुक्यों के वंश में उत्पन्न विक्रमादित्य चतुर्थ का पुत्र था, और 957 ई. में राष्ट्रकूट कृष्ण तृतीय के अधीन तरदवादी—1000 प्रान्त का एक साधारण श्रेणी का निरुपाधि शासक था। आठ वर्ष के भीतर ही अपने साहस, पराक्रम और युद्ध सेवार्जों के बल पर वह सम्राट् का कृपापात्र बन गया और उसी तरदवादी प्रान्त का अणुगजीवि (जागीरदार, सामन्त एवं सेनानायक) नियुक्त कर दिया गया तथा सत्याश्रयवंशी महासामन्ताधिपति चालुक्यराम आहवमल्ल तैलपरस कहलाने लगा। वीर और महत्वाकांक्षी होने के साथ ही साथ वह चतुर भी बहुत था। उसकी जननी बौद्धादेवी चेदिनरेश लक्ष्मण की पुत्री थी। स्वयं अपना विवाह उसने एक राष्ट्रकूटवंशी सामन्त बम्महाड् की कन्या जक्रब्बे

अपरनाम लक्ष्मी के साथ किया। अपने इन दो सम्बन्धियों के अतिरिक्त उसने बेंगि-मरेश बहिंग द्वितीय, सुयेन देश के यादव भिल्लम द्वितीय आदि अन्य कई शक्तिशाली मित्र बना लिये। राष्ट्रकूटों की प्रत्येक दुर्बलता का वह लाभ उठाने लगा। धल्ल नामक एक ब्राह्मण सरदार कृष्ण और मारसिंह का कोपभाजन बना तो तैलप से आ मिलता। बाजीवंश का वह ब्राह्मण महान् योद्धा एवं विलक्षण राजनीतिज्ञ था। तैलप ने उसे महामन्त्र-अक्षयपटल-अधिपति का पद देकर अपने राजस्व विभाग का अध्यक्ष नियुक्त किया। शनैः-शनैः मंगलसिद्धि, विवेक-बृहस्पति, सचिवोत्तम आदि अन्य उपाधियों भी उसे अपने स्वामी तैलपदेव से प्राप्त हुई, और वस्तुतः वह इस नवीदित शक्ति का प्रशस्तप्राप्त हो गया, जिससे सुबो-महाराजों के राज्यप्रवर्धन एवं प्रशासन-भार सौंपकर स्वयं तैलप शत्रुओं के दमन, राज्य-विस्तार और शक्ति-संवर्द्धन में जुट गया। धल्ल का पुत्र महादण्डनायक नागदेव भी महान् योद्धा एवं कुशल सेनानायक था। वह दोनों पिता-पुत्र जैन धर्मानुयायी रहे प्रतीत होते हैं। तैलप का सेनापति मल्लप तथा पुत्र युवराज सत्याश्रय भी अत्यन्त युद्ध-कुशल वीर थे। तैलप के भाग्योदय में इन सबका सहयोग था। उधर राष्ट्रकूटों का भाग्य-सूर्य अस्ताघलगामी था। परमार सियक द्वारा 972 ई. में मान्यखेट की लूट एवं विध्वंस, खोडिंग की हत्या और तदनन्तर ही उस क्षेत्र को ग्रसनेवाले भीषण दुष्काल ने तैलप को स्वर्ण अवसर प्रदान किया और 973 ई. में ही उसने मान्यखेट पर आक्रमण करके और उसके स्वामी कर्क द्वितीय को मारकर राष्ट्रकूटों की राजधानी पर अपना अधिकार कर लिया, किन्तु उसे अपनी राजधानी नहीं बनाया, वरन् उसके स्थान में अपने वंश और राज्य की राजधानी कल्याणी को बनाया, जहाँ 974 ई. में उसने अपना राज्याभिषेक किया। गंग मारसिंह के समाधिभरण कर लेने पर तथा कुछ ही वर्षों बाद राष्ट्रकूट इन्द्र चतुर्थ के भी विरक्त हो जाने पर उसने गंगों के महासेनापति चामुण्डराय को भी अपना मित्र बना लिया। धीरे-धीरे उसने राष्ट्रकूट साम्राज्य के अन्तर्गत जितने प्रदेश थे प्रायः सब पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अब उसके तीन ही प्रबल प्रतिद्वन्दी बचे थे—तंजौर के चोल, बेंगि के चालुक्य और मालवा के परमार। कहा जाता है कि मुंज परमार ने छह बार तैलप के राज्य पर आक्रमण किया और प्रत्येक बार पराजित होकर लौटा—अन्तिम बार तो वह तैलप द्वारा बन्दी बना लिया गया। तैलप की बहन मृणालवती से प्रेम करके बन्दीगृह से निकल भागा, किन्तु पकड़ा गया और मार डाला गया। बेंगि के चालुक्यों को भी तैलप ने पराजित करके अपने दक्ष में कर लिया। इस प्रकार चालुक्यों की राज्यलक्ष्मी को उसके अपहर्ता राष्ट्रकूटों से छीनकर पुनः प्रतिष्ठित करनेवाले इस वीर तैलपरस द्वितीय आहवमल्ल का निधन 997 ई. में हुआ। यह राजा विद्वान् और गुणी व्यक्तियों का आदर करता था, सर्वधर्मसहिष्णु, उदार और दानी था। देश की सांस्कृतिक परम्परा को उसने पूर्ववत् निर्बाध चालू और प्रशस्त रखा। जैनधर्म के साथ तो उसने वैसा ही श्रद्धा

एवं उदारतापूर्ण बरताव बनाये रखा, जैसा कि पूर्ववर्ती गंगों, कदम्बों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों ने बनाये रखा था। बेल्तारी जिले के हडगल्लि तालुके के कोणुलि नामक स्थान में स्थित चेन्नपाश्वर-बसदि का सन् 992 ई. का शिलालेख तो सूचित करता है कि यह नरेश जैनधर्म का अनुयायी था। इस लेख में तैलप द्वारा चोल राजा की पराजय का भी उल्लेख है। कन्नड भाषा का जैन महाकवि रन्न (रत्नाकर) अब उसका राजकवि था—रन्न के प्रारम्भिक आश्रयदाता चामुण्डराय दिवंगत हो चुके थे। सन् 993 ई. के कवि के अतिशुद्ध अपरखम-दुराखिलक-महाकाव्य की समाप्ति पर तैलपदेव ने उसे 'कवि चक्रवर्ती' उपाधि से विभूषित किया था और स्वर्णदण्ड, चैंदर, छत्र, गज आदि प्रदान करके उसे पुरस्कृत किया था। साहस-भीमार्जुन, रत्नकरण्ड आदि काव्य भी उक्त कविरत्न ने सम्भवतया इसी नरेश के प्रश्रय में रचे थे। इसी वर्ष 993 ई. के सोमसमुद्र शिलालेख से पता चलता है कि लोकहित के लिए इस सम्राट् ने एक विशाल ताल का निर्माण कराया था और उसके लिए 'वित्तुवड्ड' भूमि लगायी थी। राजाज्ञा का उल्लंघन करनेवालों को उसने बसदि (जिनमन्दिर) काशी, अन्य देवालय आदि को हानि पहुँचानेवाला जैसा पातकी एवं दण्डनीय घोषित किया था। इस सूची में जिनालय का सर्वप्रथम उल्लेख ही जैनधर्म के प्रति इस नरेश की आस्था प्रकट करता है।

महासती अस्तिमब्बे—कल्याणी के उत्तरवर्ती चालुक्यों के वंश एवं साम्राज्य की स्थापना में जिन धर्मात्माओं के पुण्य, आशीर्वाद और सद्भावनाओं का योग रहा उनमें सर्वोपरि महासती अस्तिमब्बे थीं, जिनके शील, आचरण, धार्मिकता, धर्मप्रभावना, साहित्यसेवा, वैदुष्य, पातिव्रत्य, दानशीलता आदि सद्गुणों के उत्कृष्ट आदर्श से तैलपदेव आहवमल्ल का शासनकाल धन्य हुआ। इस सम्राट् के प्रधान सेनापति मल्लप की वह सुपुत्री थीं। वाजीवंशीय प्रधानामात्य मन्त्रीश्वर घल्ल की वह पुत्रवधू थीं। प्रधान महादण्डनायक और वीर नागदेव की वह प्रिय पत्नी थीं और कुशल प्रशासनाधिकारी वीर पदुबेल तैल की स्वनामधन्या जननी थीं। युवराज सत्याश्रय उनके पति का अनन्य मित्र था और उनको बड़ी भौजाई मानकर अत्यन्त आदर करता था। स्वयं सम्राट् तैलप उन्हें अपने परिवार की ही सम्मान्य सदस्या मानता था। एक बार मालवा का सुप्रसिद्ध परमारनरेश वाक्यतिराज मुंज एक भारी सेना के साथ धावा भारत हुआ तैलपदेव के राज्य में भीतर तक घुस आया तो चालुक्य सेना ने तत्पस्ता के साथ उसका गत्यवरोध किया और फिर उसे खदेड़ते हुए उसके राज्य मालवा की सीमा के भीतर तक उसका पीछा किया। स्वयं सम्राट् तैलपदेव तो गोदावरी नद के दक्षिणी तट पर शिविर स्थापित करके वहीं रुक गया, किन्तु उसकी सेना की एक बड़ी हुकड़ी महादण्डनायक नागदेव और युवराज सत्याश्रय के नेतृत्व में नदी पार करके परमार सेना का पीछा करती हुई दूर तक चली गयी। इस बीच भारी तूफान आया और गोदावरी में भयंकर बाढ़ आ गयी। उफनते हुए महानद ने

विकराल रूप धारण कर लिया। चालुक्य शिविर में भारी चिन्ता और बेचैनी व्याप गयी। महाराज, महामन्त्री, सेनापति आदि तथा राजपरिवार की अनेक महिलाएँ भी शिविर में थीं जिनमें अतिमध्ये भी थीं। उनकी तथा अन्य सबकी चिन्ता स्वाभाविक थी। नदी के उस पार गये लोगों में से कौन और कितने वापस आते हैं, और कहीं परमारों ने पुनः बल पकड़कर उन्हें धर दबाया और नदी तट तक खदेड़ लाये तो उन सबके प्राण जाएँगे। इधर से नदी की बाढ़ के कारण न उन्हें सहायता पहुँचायी जा सकती है और न वे स्वयं ऐसे तूफानी नद को पार कर सकते हैं। विषम परिस्थिति थी। सबकी दृष्टि नदी के उस पार लगी थी। प्रतीक्षा के क्षण लम्बे होते जा रहे थे। उनकी समाप्ति का कोई लक्षण नहीं था, कि अकस्मात् देखा गया कि जिस खात की आशंका थी प्रायः वही घटित होनेवाली थी। संकेतविद्या में सुदक्ष कर्मचारियों ने उस पार का समाचार ज्ञात करके बताया कि जितने लोग मूलतः उस पार गये थे, उनमें से आधे से भी कम वापस आ पाये हैं, शेष खेत रहे। जो आये हैं, वे सफल होकर ही लौटे हैं—परमारों को दूर तक उनकी सीमा में खदेड़कर ही लौटे हैं, सो भी विशेषकर इसलिङ्ग-विष्णु में महाराजभयंकर नाहिकों को इस सेना का नेतृत्व कर रहे थे, गम्भीर रूप से आहत हो गये थे। यह भी मालूम हुआ कि वह अभी जीवित तो हैं किन्तु दशा चिन्ताजनक है, इस समय मूर्च्छित हैं, और यह समाचार भी अभी मिला है कि शत्रुओं को भी चालुक्यों की इस विकट परिस्थिति का भान हो गया है, और वह पुनः इनकी टोह में वापस आ रहे हैं। इन समाचारों से चालुक्य शिविर में जो उद्दिग्भता एवं चिन्ता व्याप गयी वह सहज अनुमान की जा सकती है। विविध सैनिक विषयों के विशेषज्ञों तथा अनुभवी वृद्धजनों द्वारा नाना उपाय सोचे जाने लगे, नानाविध प्रयत्न भी उस पारवालों को इस पार लाने या उन्हें आवश्यक सहायता पहुँचाने के लिए किये जाने लगे। किन्तु शुद्ध प्रकृति की भयंकर विरोधी शक्तियों के विरुद्ध कोई उपाय कारगर नहीं हो रहा था। विवशता मुँह बाये खड़ी थी। समय था नहीं, जो होना था, तत्काल होना था।

इतने में महाराज ने और पार्षदों ने देखा कि एक तेजस्विनी मूर्ति शिविर के अन्तःपुर-कक्ष से निकल धीरे गति के साथ उन्हीं की ओर चली आ रही है। सब स्तब्ध थे—उसने महाराज को, अपने स्वसुर को और पिता को प्रणाम किया, और उसी धीरे गति के साथ वीरवाला अतिमन्वरसि शिविर के महाद्वार से बाहर निकलकर एक उच्च स्थान पर जा खड़ी हुई। लोगों में हलचल हुई, किन्हीं ने कुछ कहना चाहा, किन्तु बोल न निकला। उसके तेजोप्रभाव से अभिभूत महाराज के साथ समस्त दरबारी जन भी उसके पीछे-पीछे बाहर निकल आये—जो मार्ग में या सामने पड़े वे आदरपूर्वक इधर-उधर हटते चले गये। महासती एकाकी, निश्चल खड़ी थी। उसके सुदीप्त मुखमण्डल एवं सम्पूर्ण देह से एक अलौकिक तेज फूट रहा था। एक दृष्टि उसने महाविकराल उमड़ते महानद पर डाली, जिस पर से फिसलती हुई वह दृष्टि

उस पार व्याकुल हताश खड़े सैनिकों पर गर्वी और लौट आयी। परम जिनेन्द्रभक्त महासती ने त्रिविध एकाग्र कर इष्टदेव का स्मरण किया और उसकी धीर-गम्भीर वाणी सबने सुनी—“यदि मेरी जिनभक्ति अविचल है, यदि मेरा पातिव्रत्य धर्म अखण्ड है, और यदि मेरी सत्यनिष्ठा अकम्पनीय है, तो हे महानदी गोदावरी! मैं तुझे आज्ञा देती हूँ कि तेरा प्रवाह उतने समय के लिए सर्वथा स्थिर हो जाए जब तक कि हमारे स्वजन उस पार से इस पार सुरक्षित नहीं चले आते।” उमयतटवर्ती सहस्रों नेत्रों ने देखा वह अद्भुत, अभूतपूर्व चमत्कार! सच ही, पलक मारते ही महानदी गोदावरी ने सौम्य रूप धारण कर लिया, जल एकदम घटकर तल से जा लगा, नदी का प्रवाह स्थिर हो गया। हर्ष, उल्लास और जयध्वनि से दिग्-दिग्मन्त व्याप्त हो गया।

कुछ ही देर पश्चात्, शिविर के एक कक्ष में मर्मान्तक घात से आहत वीर नागदेव अपनी प्रिया की गोद में सिर रखे, प्रसन्न हृदय से अन्तिम श्वासें ले रहा था। कक्ष के बाहर स्वजन-परिजन समस्त पुनः आशा-निराशा के बीच झूल रहे थे। गोदावरी फिर से अपने प्रचण्ड रूप में आ चुकी थी और उस पार खड़ी शत्रु की सेना हाथ मल रही थी। वीर नागदेव ने वीरगति प्राप्त की। पतिव्रियुक्ता सती ने अपूर्व धैर्य के साथ स्वयं को सँभाला और एक आदर्श, उदासीन, धर्मात्मा श्राविका के रूप में घर में रहकर ही शेष जीवन व्यतीत किया। स्वर्ण एवं मणि-माणिक्यादि महर्घ्य सत्तियों की 500 जिन-प्रतिमाएँ बसुंधरेकर उसने विभिन्न कक्षों में प्रतिष्ठापित की थीं, अनेक जिनालयों का निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराया था, और आहार-अभय-औषध-विद्या रूप चार प्रकार का दान अनवरत देती रहने के कारण वह ‘दान-चिन्तामणि’ कहलायी थी। उभयभाषाचक्रवर्ती महाकवि पोन्न के शान्तिपुराण (कन्नडी) की स्वद्रव्य से एक सहस्र प्रतियाँ लिखाकर उसने विभिन्न शास्त्रभण्डारों आदि में वितरित की थीं। स्वयं सम्राट् एवं युवराज की इस देवी के धर्मकार्यों में अनुमति, सहायता एवं प्रसन्नता थी। सर्वत्र उसका अप्रतिम सम्मान और प्रतिष्ठा थी। उक्त घटना के लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् भी (1118 ई. के शिलालेखानुसार) होयसलनरेश के महापराक्रमी सेनापति गंगराज ने महासती अस्तिमब्बे द्वारा गोदावरी प्रवाह को स्थिर कर देने की साक्षी देकर ही उमड़ती हुई कावेरी नदी को शान्त किया था। शिलालेख में कहा गया है कि विश्व महान् जिनभक्त अस्तिमब्बरसि की प्रशंसा इसीलिए करता है कि उसके आज्ञा देते ही उसके तेजोप्रभाय से गोदावरी का प्रवाह तक रुक गया था। आनेवाली शताब्दियों में वाचलदेवी, बम्मलदेवी, लोचकलदेवी आदि अनेक परम जिनभक्त महिलाओं की तुलना इस आदर्श नारी-रत्न अस्तिमब्बे के साथ की जाती थी। किसी सतवन्ती, दानशीला या धर्मात्मा महिला की सबसे बड़ी प्रशंसा यह मानी जाती थी कि ‘यह तो दूसरी अस्तिमब्बे है’ अथवा ‘अभिनव अस्तिमब्बे’ है। डॉ. भास्कर आनन्द सालतोर के शब्दों में “जैन इतिहास के महिला जगत् में सर्वाधिक प्रतिष्ठित प्रशंसित नाम अस्तिमब्बे है।” कहा जाता है कि एक

बार ग्रीष्म ऋतु में वह जब श्रवणवेलगोल में गोमट-स्वामी का दर्शन करने के लिए पर्वत पर चढ़ रही थी तो तीखी धूप से सन्तप्त हो सोचने लगी कि इस समय वर्षा हो जाती—और तत्काल आकाश पर मेघ छा गये तथा वर्षा होने लगी। सती असीम भक्ति से भगवान् की पूजा कर सन्तुष्ट हुई।

सत्याश्रय इरिव बेडेंग (997-1009 ई.) ने अपने पिता तैलप द्वितीय के शासनकाल में ही अपनी वीरता, पराक्रम और रणकौशल के लिए ख्याति प्राप्त कर ली थी। पिता की आक्रमणकारी नीति ही उसने चालू रखी, किन्तु यथावसर रण के स्थान में नीति का भी उपयोग किया, बीच को दबाया तो राजराजा चोल से मैत्री-सन्धि भी कर ली। उसके समय में साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि में कुछ वृद्धि ही हुई; हानि नहीं हुई। इस नरेश के गुरु कुन्दकुन्दान्वय के द्रमिलसंघी त्रिकालमौनी भट्टारक के शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेव थे, किन्तु उनका समाधिमरण उसके चौवराज्य काल में 990 ई. के लगभग ही हो गया प्रतीत होता है। अंगडि नामक स्थान में उक्त पण्डितदेव की एक अन्य गृहस्थ शिष्या हनुम्बे की छोटी बहन शान्तिध्वजे ने गुरु की पुण्य स्मृति में एक स्मारक निर्माण कराया था। यह तथ्य उसी स्थान से प्राप्त एक शिलालेख से प्रकट है। उसी लेख में उक्त गुरुदेव के गुणों की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि वह श्रीमद् इरिवबेडेंग के गुरु थे। राष्ट्रकूट इन्द्रराज चतुर्थ के समाधिविषयक शिलालेख में भी, जो हेमावती नामक स्थान से प्राप्त हुआ है, जिस एलेव-बेडेंग के साथ इन्द्रराज के शौर्यपूर्ण युद्धों का वर्णन है वह भी यही चालुक्य युवराज ही था। ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्विता और रणक्षेत्रीय शत्रुता के बावजूद यह दोनों युवा वीर एक-दूसरे के गुणों पर भुग्ध थे और अन्ततः अच्छे मित्र हो गये थे। सत्याश्रय के अन्य गुरु उसी द्रमिलसंघ के कनकसेनवादिराज और श्रीविजय ओडेयदेव थे। उसका प्रधान राज्याधिकारी उसके परम मित्र नागदेव और देवी अस्तिध्वजे का सुपुत्र पदुवेल तैल था जो अपनी लोकपूजित जननी का अनन्य भक्त होने के साथ ही साथ परम स्वामिभक्त, सुयोग्य, स्वकार्यदक्ष एवं जिनेन्द्रभक्त था। रत्न और पोन्न दोनों ही महाकवियों का वह भी प्रश्रवदाता था। स्वयं सम्राट् सत्याश्रय इरिव बेडेंग भी जिनभक्त था, इस विषय में कोई सन्देह नहीं है।

जयसिंह द्वितीय जगदेकमल्ल (1014-1042 ई.)—इस वंश का पाँचवाँ नरेश था और सत्याश्रय के अनुज दशवर्मा का तृतीय पुत्र था। कुछ विद्वान् इसे जयसिंह तृतीय कहते हैं और इसका राज्यारम्भ 1018 ई. में हुआ मानते हैं। जगदेकमल्ल, चालुक्यचक्री, मल्लिकामोद आदि उसके विरुद्ध थे। धारा का परमार भोजदेव और तंजौर का राजेन्द्र चोल उसके प्रबल प्रतिद्वन्दी थे। दोनों से ही उसके युद्ध हुए और अन्ततः दोनों के ही साथ उसने मैत्री सन्धियाँ कर ली थीं। वह अच्छा प्रतापी नरेश था, और जैनधर्म का विशेष भक्त था। अनेक जैन विद्वानों और गुरुओं का उसने

सम्मान किया था तथा साहित्य सृजन को प्रभूत प्रोत्साहन दिया था। आचार्य वादिराजसूरि का वह बड़ा आदर करता था। उसकी राज्यसभा में परवादियों के साथ उस आचार्य ने अनेक शास्त्रार्थ किये थे, और उक्त वाद-विजयों के उपलब्ध में सम्राट् ने उन्हें स्वधुद्रायुक्त 'जयपत्र' दिया था तथा 'जगदेकमल्लवादी' उपाधि प्रदान की थी। उन्होंने वादिराज ने इसी नरेश के प्रश्रय में 1025 ई. में, अपने सुप्रसिद्धकाव्य 'पार्श्वचरित' की रचना की थी। इस ग्रन्थ में आचार्य ने नरेश का उल्लेख 'जयसिंह', 'चालुक्यचक्र', 'सिंह चक्रेश्वर' आदि रूपों में किया है। उन्होंने अपना 'यशोधरचरित' भी इसी नरेश के आश्रय में रचा था और उसमें 'रणमुखजयसिंह' रूप में उसका उल्लेख किया गया है। 'गुकीभावस्तोत्र', 'न्यायविनिश्चयविवरण' आदि अन्य ग्रन्थ भी इन आचार्य ने रचे हैं। श्रवणबेलगोल के मल्लिषेण-प्रशस्ति नामक प्रसिद्ध शिलालेख के अनुसार यह वादिराज द्रपिलसंधी मतिसागर गुरु के बालब्रह्मचारी शिष्य थे, चालुक्य-चक्रेश्वर जयसिंह द्वारा पूजित थे और उसी के जयकटक में इन्होंने समस्त वादियों का गर्व खर्व किया था। हुमय्य की पंचवर्षी के 1077 ई. के शिलालेख में उन्हें 'सर्वज्ञकल्प' कहा है। 'षट्कर्कषणमुख' और 'जगदेकमल्लवादी' उनके विरुद्ध बताये हैं तथा सम्राट् द्वारा उन्हें जयपत्र प्रदान करने का भी उल्लेख है। आधुनिक विद्वानों ने बहुधा इन्हें कनकसेन (हेमसेन) वादिराज से अभिन्न मान लिया है, किन्तु यह भूल है—उक्त विद्याधनंजय हेमसेन वादिराज तो इन वादिराज के गुरु मतिसागर के भी ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। 'रूपसिद्धि' के कर्ता दयापाल भी उक्त मतिसागर के सधर्मा थे और इसी नरेश के आश्रय में थे। अनेक ग्रन्थों के रचयिता महापण्डित प्रभाचन्द्र भी इसी काल में हुए हैं। वह मूलतया धारा में भोजदेव के आश्रय में रहे, किन्तु चालुक्य जयसिंह से भी सम्मानित हुए थे। इन प्रभाचन्द्र के एक सधर्मा मलधारि गुणचन्द्र थे जो बलिपुर के मल्लिकामोद-शान्तीश के चरणपूजक थे। मल्लिकामोद-शान्तीश-वसति नाम का यह सुन्दर जिनालय स्वयं महाराज जयसिंह ने, जिसका विशिष्ट 'मल्लिकामोद' था, बनवाया था। एक अन्य जैन गुरु वासवचन्द्र ने भी अपने वाद पराक्रम के लिए चालुक्य-कटक में 'बाल-सरस्वती' की उपाधि प्राप्त की थी। मुल्लूर की शान्तीश्वर-वसति के निकट प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार 1080 ई. में गुणसेन पण्डित के गुरु पुष्पसेन सिद्धान्तदेव के समाधिमरण की स्मृति में उनके चरणचिह्न स्थापित किये गये थे।

सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल आहवमल्ल (1042-68 ई.)—जयसिंह का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था जो बड़ा पराक्रमी, और योद्धा, साथ ही श्रेष्ठ कूटनीतिज्ञ भी था। आहवमल्ल उपाधि धारण करनेवाला इस वंश का यह दूसरा राजा था, और 'त्रैलोक्यमल्ल' इसकी अपनी विशिष्ट उपाधि थी। चोलों, परमारों आदि के साथ उसके युद्ध बराबर चलते रहे। अपने साम्राज्य की शक्ति और समृद्धि में उसने वृद्धि ही की। वह एक निष्ठावान् जैन सम्राट् था। बेल्लारी जिला का कोगली नामक स्थान

पुरातन काल से एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहता आया था। वहाँ का प्रधान जिनायतन चेन्नपाश्वर्यसदि थी जिसे मूलतः छठी शती के प्रारम्भ में मंगनरेश दुर्विनीत ने बनवाया था तथा जिसका नवनिर्माण तैलय द्वितीय ने कराया था—तभी से चालुक्यनरेशों के प्रथम में यह एक महत्त्वपूर्ण जैन विद्यापीठ बनी हुई थी। उस बसदि में प्राप्त शिलालेखों में से एक में इस नरेश को स्थाढादमत (जैनधर्म) का अनुयायी बताया तथा उसके द्वारा उक्त जिनालय के लिए भूमिदान का उल्लेख है। वहीं के एक अन्य शिलालेख में, जो 1055 ई. का है, इस नरेश द्वारा इन्द्रकीर्ति नामक जैनगुरु को दान देने का वर्णन है। उसने जैनाचार्य अजितसेन पण्डित वादीघरह का भी सम्मान किया था और उन्हें 'शब्दचतुर्मुख' उपाधि दी थी। द्रमिलसंघ-अरुणस्तान्वय के वह अजितसेन पण्डित ही सम्भवतया 'क्षत्रबूडामणि' एवं 'गद्यचिन्तामणि' के रचयिता 'वादीभसिंह' हैं। सम्राट् के समान, रह, गंग, होयसल आदि अन्य अनेक सामन्त-सरदार भी जैनधर्म के अनुयायी थे और उन्होंने जिनमन्दिर बनवाये तथा भूमि आदि के दान दिये थे। सोमेश्वर की महारानी कौतलदेवी ने भी, जो पोन्नवाड 'अग्रहार' की शासिका थी, अपने सचिव चाकिराज द्वारा त्रिभुवनतिलक-जिनालय में उसके द्वारा निर्मापित उपमन्दिरों के लिए 1054 ई. में महासेन मुनि को दान दिया था। सम्राट् ने राजधानी कल्याणी का भी विस्तार किया और उसकी सुन्दरता में भी वृद्धि की। 'जातकतिलक' नाम का कन्नडी भाषा का सर्वप्राचीन ज्योतिषशास्त्र इसी नरेश के प्रथम में नरिगुण्डनिवासी जैनगुरु श्रीधराचार्य ने 1049 ई. में रचा था। इस नरेश ने होहलमुक्त के शिष्य और पिपिण्डिदेव के गुरु जैनाचार्य गण्डविमुक्त रामभद्र का भी सम्मान किया था और उन्हें वह गुरुतुल्य मानता था। इन्हीं रामभद्र के प्रशिष्य विमलसेन मल्लधारि के शिष्य देवसेन ने अपभ्रंश भाषा के सुलोचनाचरित्र की रचना की थी। बलगाम्बे के 1068 ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि इस महापराक्रमी, अनेक देशों के विजेता, भद्रवर्ती त्रैलोक्यमल्ल अहवमल्ल ने 1068 ई. की वैशाख शुक्ल सप्तमी शुक्रवार के दिन चरम योग का नियोग करके तुंगभद्रा नदी में जल-समाधि ले ली थी—सम्भवतया किसी विषम या असाध्य रोग से पीड़ित होने के कारण।

सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल (1068-76 ई.)—सोमेश्वर प्रथम त्रैलोक्यमल्ल का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी अपने पिता की ही भाँति 'भय्य' जैन था। बोलों के साथ उसके युद्ध चलते रहे और दो बार उसने उन्हें बुरी तरह पराजित किया। अपने भाइयों के साथ भी उसका संघर्ष चलता और राज्य के दो-टुकड़े होते-होते बचे। कदम्बों का भी उसने दमन किया। उसके राज्य के प्रथम वर्ष (1068 ई.) में ही उसके महासामन्त लक्ष्मणराज ने बलिग्राम में जिनमन्दिर बनवाया था और सम्राट् के अनुमोदकपूर्वक मल्लिकार्जुन-शान्तिनाथ मन्दिर के लिए माघनन्दि मुनि को भूमिदान दिया था। उक्त मन्दिर के निर्माण तथा उसके लिए दान दिलाने में मुख्य प्रेरक उक्त

लक्ष्मणराज का दण्डनाथ (सेनापति) शान्तिनाथ था। मन्दिर भी सम्भवतया उसी ने बनवाया था। सन् 1074 में जब भुवनैकमल्लदेव बंकापुर में निवास कर रहा था तो उसने अपने पादपद्मोपजीवी कोलालपुर के स्वामी चालुक्य पैम्माडि भुवनैकवीर महाराज उदयवर्धन की प्रेरणा से बन्धनैक-सौव-शान्तिनाथ-बसदि का जीर्णोद्धार कराया, उसे नया बना दिया, और एक नवीन प्रतिमा भी उसमें प्रतिष्ठित करायी थी तथा उक्त मन्दिर के लिए एवं मुनियों के चतुर्विध दान की व्यवस्था के लिए भूलासंघ-क्राणूरगण के परमानन्द-सिद्धान्तदेव के शिष्य कुलचन्द्रदेव को नागरखण्ड में भूमि प्रदान की थी। श्रीमद् मल्ल के पुत्र के द्वारा यह दानशासन उक्त मुनिराज को प्राप्त हुआ था। इसी नरेश के शासनकाल के अन्तिम वर्ष (1076 ई.) के गुडिगेरी से प्राप्त शिलालेख में श्रीमद् भुवनैकमल्ल-शान्तिनाथदेव नामक जिनालय को 'सर्व नमस्य' दान के रूप में 20 मत्तर भूमि दिये जाने का उल्लेख है, जिससे स्पष्ट है कि उक्त जिनालय का निर्माण, बहुत सम्भव है, स्वयं सम्राट् भुवनैकमल्ल ने ही कराया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह अपेक्षाकृत शान्तिप्रिय नरेश सौलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ का विशेष भक्त था। उसी शिलालेख से पता चलता है कि उस समय गुडिगेरी नामक स्थान में 'परवादिशरभेरुण्ड' विरुद्धधारी श्रीनन्दिपण्डितदेव निवास करते थे। उनके शिष्य अष्टोपवासिगन्ति थे जो जिनधर्म का उद्धार करने में प्रसन्न थे। प्रभाकरव्य उस क्षेत्र का पैगाई (अधिकारी) था। परमजिनधर्म भक्त सिंगव्य उक्त श्रीनन्दिपण्डित का कारिन्दा या पटवारी (सेनबोव) तथा गृहस्थशिष्य था। पुलिगेरी में पूर्वकाल में चालुक्यचक्रवर्ती विजयादित्यवल्लभ की छोटी बहन कुकुम्भ-महादेवी द्वारा निर्मापित आनेसेज्जेय-बसदि के जैनमन्दिर के अधिकार में एक प्राचीन ताम्रशासन द्वारा जो जमींदारी चली आ रही थी वह परम्परा से इन श्रीनन्दिपण्डित को प्राप्त हुई थी। उसी की व्यवस्था सिंगव्य द्वारा उन्होंने इस प्रकार करायी थी कि एक भाग तो उक्त भुवनैकमल्ल-जिनालय को मिला, एक भाग शिष्य अष्टोपवासिगन्ति को ध्वजतटाक के बारह ग्राम प्रमुखों की देख-रेख में पार्श्व-जिनेश्वर की पूजा तथा शास्त्र लिखनेवाले लिपिकों के भोजन प्रबन्ध के लिए दिया गया, एक भाग मुनियों के आहार-दान आदि की व्यवस्था के लिए दिया गया, और कुछ भूमि विभिन्न कर्मचारियों को बाँट दी गयी।

विक्रमादित्य षष्ठ त्रिभुवनमल्ल साहसतुंग (1076-1128 ई.)—पूर्ववर्ती नरेश का अनुज था और सम्भवतया उसे पदच्युत कर एवं बन्दी बनाकर उसने सिंहासन हस्तगत किया था। यह इस वंश के अन्तिम नरेशों में सर्वमहान् था, बड़ा प्रतापी और विजेता था तथा निरन्तर युद्धों में व्यस्त रहा। उसने अपने राज्याभिषेक की तिथि से 'चालुक्य-विक्रम-वर्ष' नाम का अपना संवत् भी चलाया था। काश्मीर के महाकवि विल्हण ने इसके आश्रय में रहकर इसी के लिए अपने 'विक्रमांक-देव-चरित' शीर्षक महाकाव्य की रचना की थी। यह सम्राट् बड़ा विद्यारसिक था। अनेक विद्वानों

को उसने आश्रय दिया था। कुछ लेखकों के मतानुसार जैनाचार्य वासवचन्द्र को 'बाल-सरस्वती' की उपाधि इसी चालुक्यनरेश ने प्रदान की थी। उसकी जननी गंग-राजकुमारी थी और धनी चोल-राजकुमारी थी। राज्य प्राप्त करने के पूर्व ही, जब वह एक प्रन्तीय शासक मात्र था, उसने बनवासि प्रान्त की राजधानी बल्लिगौंव में 'चालुक्य-गंग-गेर्म्मानडिजिनालय' नाम का एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था, जिसके नाम में उसने अपने पितृवंश एवं मातृवंश दोनों ही कुलों की स्मृति सुरक्षित की, और स्वयं भी 'चालुक्य-गंग-गेर्म्मानडि' उपाधि धारण की। अपने राज्य के दूसरे वर्ष (1077 ई.) में उसने बनवासि के शासक दण्डनायक बम्मदेव तथा उसके अनुचर धर्मात्मा श्रावक प्रतिकण्ठसिंगय की प्रार्थना पर उक्त जिनालय में देवपूजा, मुनि-आहार आदि की व्यवस्था के लिए एक ग्राम का दान किया था। दान लेनेवाले मुनि रामसेनपण्डित फूलसंघ-सेनगण-पोगरिंगच्छ के गुणभद्रदेव के शिष्य और महासेन के सधर्मा थे। गुलबर्गा जिले के हुनसि-हदलो नामक स्थान में स्थित पद्मावती-पार्श्वनाथ जिनालय के शिलालेख से प्रतीत होता है कि वह जिनमन्दिर भी इसी चालुक्य सम्राट् द्वारा बनवाया गया था। अनुश्रुतियों के अनुसार बेलबोला जिले में उसने अनेक जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था, और पूर्वकाल में चोलों द्वारा ध्वस्त मन्दिरों में से जिनकी का जीर्णोद्धार भी कराया था। आचार्य अर्हमन्दि इस नरेश के धर्मगुरु थे। यद्यपि उसका व्यक्तिगत एवं कुलधर्म जैनधर्म था; यह सम्राट् सर्व-धर्मसहिष्णु था और लोकव्यवहार में सभी धर्मों का प्रतिपालन करता था। स्थापत्य शिल्प की चालुक्य शैली के विकास का प्रधान श्रेय भी उसे ही है। सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ की ज्येष्ठ रानी जयकलदेवी इंगलंगि प्रान्त की शासिका थी। अपने कुशल प्रशासन एवं वीरतापूर्ण कार्यों के लिए उसने बड़ी ख्याति अर्जित की थी। यह कलिकाल-पार्वती तथा अभिनव-सरस्वती कहलाती थी और जैनधर्म की अनुयायी थी। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोमेश्वर तृतीय भूलोकमल्ल (1128-39) एक शान्तिप्रिय एवं साहित्यरसिक नरेश था। उसने 'अभिलषितार्थ-चिन्तामणि' अपर नाम 'राजमानसोल्लास' नामक महाग्रन्थ की रचना की थी, जो एक प्रकार का विश्वकोश-जैसा था, और 'सर्वज्ञ' विरुद धारण किया था। उसके उत्तराधिकारी जयसिंह तृतीय, तैल तृतीय, सोमेश्वर चतुर्थ आदि निर्बल शासक थे, और 12वीं शती के अन्त के पूर्व ही कल्याणी के इन उत्तरवर्ती चालुक्यों की सत्ता प्रायः समाप्त हो गयी। इस चालुक्य-युग में होयसल, गंग, साम्तर, राष्ट्र आदि कई राजवंश-उपराजवंश उदय में आये, जिनके प्रमुख जैन सदस्यों का परिचय आगे दिया जाएगा, किन्तु उनके अतिरिक्त भी कतिपय उल्लेखनीय जैन व्यक्ति हुए हैं, यथा—

चाण्डरायरस—चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल के समय में बनवासि-12,000 देश का महामण्डलेश्वर था, 'गरुड-वेरुण्ड', 'प्रत्यक्ष-विक्रमादित्य', 'जगदेकदानी' आदि उसके विरुद थे। सम्भवतया उसका पूरा नाम चामुण्डरायरस था। इस राजपुरुष ने 1048 ई. में अपनी राजधानी बल्लिगौंव में जजाहुति-शान्तिनाथ संस्थान से सम्बद्ध

बलभारगण के मेघनन्दि भट्टारक के शिष्य केशवनन्दि अष्टोपवासि भट्टारक की बसवि (जिनान्त्य) में पूजा निमित्त बलिगाँवे के मृगवनवती तथा अन्य धान के क्षेत्रों में से नियत राशि चावल के दिये जाने की व्यवस्था की थी। जिनभक्त होते हुए भी वह सर्वधर्म-सहिष्णु था। उसके आदेश से उसके दीवान नामवर्म-विभु ने बनवासि देश में जिननित्य (जिनमन्दिरों) के साथ ही साथ विष्णु-नित्य, ईश्वर (शिव) नित्य और मुनिगण-नित्य (मुनियों के आवास) बनवाये थे।

चाकिराज—चाकिराज या चाकिरव्य बनसकुल में उत्पन्न काम्भराज और उसकी पत्नी अतिकाम्बिका का सुपुत्र था। अपने वंश का सूर्य, अर्हत्शासन का स्तम्भ, कलिकाल-श्रेयांस, सम्यक्त्व-रत्नाकर, अपने आश्रित शिष्टजनों की इष्टपूर्ति करनेवाला, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र रूप चतुर्विध दान-तत्पर यह धर्मात्मा राजपुरुष चातुर्व्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल की महारानी केतलदेवी का गणकचूड़ामणि (अकाउण्टेण्ट-जनरल, या दीवान) था। महारानी स्वयं उस समय पौत्रवाड 'अग्रहार' की शासिका थी। मूलसंघ-सेनगण-योगरिगच्छ के अनेक राजाओं द्वारा पूजित ब्रह्मसेन मुनिनाथ के प्रशिष्य और आर्यसेन मुनि के शिष्य महासेन मुनीन्द्र के चरण-कमलों का यह भ्रमर था और त्रिष छात्र (विद्याशिष्य) भी था। इस चाकिराज ने पौत्रवाड के त्रिभुवनतिलक-चैत्यालय में, जिसके मूलनायक शान्तिनाथदेव थे, पार्श्वनाथ, सुपार्श्वनाथ और शान्तिनाथ तीर्थंकरों की पृथक्-पृथक् तीन सुन्दर वेदियों बनवायी थीं और उनमें मनोज्ञ जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की थीं। उक्त वेदियों या चैत्यालयों के लिए उसने महाराज और महारानी की अनुमतिपूर्वक, 1054 ई. में अलग-अलग बहुत-सी भूमि और मकान-जायदाद दान की थी। उनमें से सुपार्श्वनाथ का बिम्ब उसने स्वपिता काम्भराज की पुण्यस्मृति में प्रतिष्ठापित किया था। पार्श्वनाथ की प्रतिमा मुनिमहासेन के एक अन्य छात्र जिनवर्मा ने स्थापित की थी, और शान्तिनाथ का मनोज्ञ बिम्ब चाकिराज ने स्वयं स्थापित किया था।

हरिकेसरी देव—चालुक्यों का कदम्बवंशी सामन्त था। स्वयं को वह 'कादम्बसम्राट् मयूरवर्मन के कुल का तिलक' कहता है। सन् 1055 ई. के बंकापुर के दुर्ग की एक दीवार पर उत्कीर्ण, शिलालेख के अनुसार उस समय सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल का द्वितीय पुत्र राजकुमार गंगपेर्मर्माडि-विक्रमादित्यदेव गंगवाडि और बनवासि प्रदेशों का संयुक्त शासक था। उसका महाप्रधान यह हरिकेसरीदेव कदम्ब था, जो राजकुमार के अधीन बनवासि देश पर शासन कर रहा था। इससे प्रतीत होता है कि बनवासि का प्राचीन कदम्ब घराना अपने प्रदेश में अभी तक जीवित था और उसमें जैनधर्म की प्रवृत्ति भी पूर्ववत् चल रही थी। वह हरिकेसरीदेव भी बड़ा धर्मात्मा और दानी था, और अपने लिए प्राचीन कदम्ब-नरेशों की उपाधियाँ प्रयुक्त करता था। उसकी पत्नी लज्जलदेवी भी उसी की भाँति जिनभक्त थी।

उपर्युक्त वर्ष में इस दम्पती ने स्वयं तथा उनको प्रेम्णा से बंकापुर की पाँच मर्तों की आश्रय देनेवाली जनता ने और नगर के महाजनों की मिगम (गिल्ड) ने एक जैनमन्दिर के लिए बहुत सा भूमिदान दिया था।

शान्तिनाथ दण्डाधिप—चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर द्वितीय भुवनैकमल्ल के दाहिने हाथ और बनवासि प्रान्त के शासक, 'रायदण्ड-गोपाल' विरुद्धारी लक्ष्मनूप (लक्ष्मणराज) का प्रधानामात्य, कोषाधिकारी एवं दण्डनाथ (सेनापति) कीर शान्तिनाथ परम जिनभक्त, प्रबुद्ध श्रावक, विद्यारसिक और श्रेष्ठ कवि था। बलगाम्बे के 1068 ई. के शिलालेख में सम्राट् और पादपद्मोपजीवी मण्डलेश्वर लक्ष्मनूप के गुणों एवं पराक्रम की प्रशंसा बखान करने के उपरान्त लिखा है कि दण्डनाथप्रवर शान्तिनाथ बनवासि राज्य का समस्त कार्य-धुरन्धर समुद्धरणकर्ता (उसे उन्नत बनाये रखनेवाला) मुख्य अर्थाधिकारी एवं मन्त्रिनिधान था। साथ ही वह परम-जिनमताम्भोजिनी-राजहंस (जिनमतरूपी कमलिनी का राजहंस) था, क्योंकि उसने जिनमार्गरूपी अमृत में कालदोष से जो अनेक विकृतिर्यौ और दोष आ गये थे उन्हें क्षीर-नीर विवेक से पृथक् करके भव्यजनों को जिनेन्द्र भगवान् द्वारा प्रोक्त शुद्ध तत्त्व रूपी दुग्धामृत का प्रसन्नतापूर्वक आस्वादन कराया था। वह सहज कवि था, सत्तुर कवि था, निस्सहाय कवि था, सुकर कवि और सुकवि था, मिथ्यात्वापह (मिथ्यात्व को दूर भगानेवाला) कवि था, सुभग-कविनुत (कवियों से नमस्कृत) महाकवीन्द्र था, और इसीलिए उसे 'सरस्वती-मुख-मुकुर' उपाधि प्राप्त हुई थी। सुकर रसभावादि एवं तत्त्वार्थ-निचय सूक्तियों से युक्त 'सुकुमारचरित' नामक काव्य का वह रचयिता था। असहायों पर दया करनेवाला, सुजनों का सहायक, भव-भान रहित, उत्कट दानी था। वह शुभ्रयश का स्वामी था और जिनशासन के हित में किये गये उसके कार्यकलाप स्थायी महत्त्व के थे। उसने विनयपूर्वक अपने स्वामी प्रतापी लक्ष्मनूप से प्रार्थना की कि जिनेन्द्र, रुद्र (शिव), बुद्ध और हरि (विष्णु) के स्वर्ण एवं रत्नमण्डित मन्दिरों की शृंखला के कारण हमारी राजधानी बलिनगर पाँचों मर्तों के संगम के रूप में सर्वत्र विख्यात है। सम्पूर्ण विश्व में जम्बूद्वीप, उसमें भारतवर्ष और भारत के कुन्तल देश में वह बनवासि प्रान्त शाश्वत वसन्त ऋतु के समान है। इस प्रान्त में भव्यों (जैनों) का मुख्य निवास-स्थल यह बलिपुर है, जिसकी शान्ति-तीर्थेश-बसदि (जिनालय) की प्रशंसा स्वर्गों के देवता करते हैं। यह जिनभवन काष्ठ निर्मित है; यदि आप इसे पाषाण निर्मित करा दें तो अक्षय पुण्य के भागी होंगे। फलतः धर्मात्मा लक्ष्मनूप ने उक्त मन्दिर को पाषाण से निर्मित कराया, और उसके लिए स्वयं लक्ष्मनूप ने तथा सम्राट् सामेश्वर द्वितीय ने भी उपयुक्त भूमि आदि के प्रभूत दान दिये। नवनिर्मित जिनालय का नाम मल्लिकामोद-शान्तिनाथ-बसदि प्रसिद्ध हुआ। दण्डाधिप शान्तिनाथ के गुरु मूलसंघ-देशीयगण-कुन्दकुन्दान्वय के वर्द्धमान मुनि थे, जिनके सधर्मा या शिष्य मुनिचन्द्रदेव और सर्वनन्दि भट्टारक थे। जिनालय के प्रबन्ध का भार तथा दान

देशीगण-ताल-कोलान्वय के माधनन्दि भट्टारक को सौंप दिया गया। इस लेख को दासोज नामक व्यक्ति ने उत्कीर्ण किया था। लेख में बलिपुर को जगदेकमल्ल-वसदि आदि कई अन्य प्रसिद्ध जिनमन्दिरों का भी उल्लेख हुआ है। दान का उद्देश्य जिनेन्द्र की पूजा-अर्घा, निरन्तर आहारदान की व्यवस्था इत्यादि था। इस देव-शास्त्र-गुरुभक्त शान्तिनाथ के पिता गोविन्दराय थे, ज्येष्ठ भ्राता कन्नपाय भी लक्ष्मण की सेवा में एक उच्चपदस्थ अधिकारी थे और अनज वाग्भूषण रेवण विद्वान् एवं कवि थे।

महारानी माललदेवी—कुत्तल देश में बनवासि के नरेश कदम्ब-कुल-भार्तण्ड कीर्तिदेव थे, जो मयूरवर्मन कदम्ब की सन्तति में उत्पन्न हुए थे। कीर्तिदेव की अग्रमहिषी माललदेवी थी जो रूप और गुणों में गिरिजा, सीता, रति और रुक्मिणी के समान थी। वह परम जिनभक्त और धर्मपरायण महिलारत्न थी। पुरुजिनपति ऋषभदेव उसके कुलदेवता थे और कुन्दकुन्दान्वय-मूलसंघ-काणूरमण-तिन्त्रिणिगच्छ के पद्मनन्दिसिद्धान्त उसके गुरु थे। बनवासि देश में अनेक आकर्षणों से युक्त कुण्डूर नाम का नगर था, जिसके निवासी एक सहस्र ब्राह्मण अपनी विद्या और भक्ति के लिए विख्यात थे। सुप्रसिद्ध बन्दनिके तीर्थ से सम्बद्ध जिनालयों में कुण्डूर का ब्रह्मजिनालय अग्रणी था। महारानी ने इस अतिमह्य पार्श्वदेव चैत्यालय का निर्माण कराकर उपर्युक्त मण्डलाचार्य पद्मनन्दि-सिद्धान्त से उसकी प्रतिष्ठा करायी। तदनन्तर स्थानीय ब्राह्मणों को बुलाकर उसका नाम 'ब्रह्म-जिनालय' घोषित कराया। उसने कोटीवर मूलस्थान के तथा अन्य 18 देवस्थानों के आचार्यों को और बनवासि के मधुकेश्वराचार्य को भी आमन्त्रित करके यह महोत्सव किया था। ये सब आचार्य जैनतर धर्मों के थे। उन्हें 500 होत्र (स्वर्ण मुद्राएँ) देकर उसने उनसे कुछ भूमियाँ भी प्राप्त की थीं। स्वयं महाराज कीर्तिदेव से एक पूरा ग्राम प्राप्त किया था। वह ग्राम तथा उक्त समस्त भूमियाँ जिनेन्द्रदेव की नित्यपूजा एवं ऋषियों के आहार आदि की सुव्यवस्था के लिए पादप्रक्षालनपूर्वक महारानी ने उक्त गुरु पद्मनन्दि-सिद्धान्त को समर्पित कर दी थी। यह दान 1075 ई. की अक्षयतृतीया के पवित्र पर्व पर दिया गया था। सिड्डाणि नाम का जो ग्राम राजा से प्राप्त किया गया था, एडेनाडु का सर्वाधिक सुन्दर स्थान था। इस दानशासन का लेखक बम्पर हरियण्ण था। लेख में राजा के पराक्रम और महारानी माललदेवी की जिनभक्ति आदि की प्रभूत प्रशंसा है। बनवासि प्रदेश के एक भाग पर प्राचीन कदम्बों के वंशजों का छोटा-मोटा राज्य अभी तक चला आ रहा था।

प्रतिकण्ठ सिंगय्य—चालुक्य सम्राट् साहसोत्तुंग विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्लदेव के महासेनाधिपति महाप्रधान दण्डमायक बम्पदेव का कृपापात्र अनुचर था और किसी प्रतिष्ठित अधिकारी पद पर नियुक्त था। स्वयं बम्पदेव उस समय बनवासि-12,000, सान्तलिगे-1,000 और 18 अग्रहारों का रक्षक एवं शासक था, और अपने प्रशासन केन्द्र बल्लिगाम्बे में निवास करता था। वह बड़ा पराक्रमी, गुणवान् और उदारराज्य

था। प्रतिकण्ठ सिंगय्य (सिंगन या सिंगय्य) के पिता का नाम सोम, माता जक्कब्बे, पत्नी का भागब्बे और छोटे भाई का मेचि था। सिंगय्य के स्वसुर कलिदेव लोक में आदरप्राप्त, गुणनिधि और विद्वानों के आश्रयदाता थे। इस प्रकार प्रतिकण्ठ सिंगय्य एक सम्पन्न एवं प्रतिष्ठित कुल का राज्यमान्य सज्जन था। इसके इष्टदेव जिननाथ थे और गुरु मूलसेध-सेनगण-पोगरिगच्छ के मुनिपति गुणभद्र थे। वह स्वयं जिनधर्मरूपी आकाश का सूर्य, जिनधर्मरूपी सुधासागर के वर्द्धन के लिए चन्द्रमा के समान, जिनधर्मप्राकार और जिनेन्द्र के चरणकमलों का भ्रमर था। धर्मकथाओं के कहने-सुनने में उसे बड़ा रस मिलता था। इस धर्मात्मा श्रावक ने अपने स्वामी दण्डाधिप बम्भदेव से प्रार्थना करके स्वयं सम्राट से, उसके राज्य के दूसरे वर्ष (1077 ई.) में, स्वगुरु गुणभद्र के सधर्मा महासेनव्रती के शिष्य रामसेन पण्डित को मनवने नाम का ग्राम धारापूर्वक सर्वमनस्य दान के रूप में दिलाया था। दान का प्रयोजन राजधानी बल्लिगाम्बे में स्वयं उक्त नरेश द्वारा अपने कुमारकाल में निर्मापित श्रीमच्छालुक्यगंग-पेम्मानडि-जिनालय में देवार्चनपूजनाभिषेक, मुनि-आहार-दान, खण्डस्फुटित-नवकर्म आदि था। सम्राट उस समय एतगिरी नामक स्थान में निवास कर रहा था। लेख में रामसेनपण्डित के व्याकरण, न्याय एवं काव्य ज्ञान की तुलना क्रमशः पूज्यपाद, अकलंकदेव और समन्तभद्र-जैसे पूर्वाचार्यों के साथ की है। दानशासन का लेखक गुणभद्रदेव का ही एक गृहस्थ शिष्य चावुण्डमय्य था। लेख में यह भी लिखा है कि स्वधर्म का हित, उसकी उन्नति और प्रभावना करने में यशस्वी प्रतिकण्ठ सिंगय्य का अत्यन्त उत्साह रहता था। वह सरस्वती का उपासक और शौचधर्म का विशिष्ट पालक था।

विशेष बम्भिसेट्टि—एक धर्मात्मा जैन सेठ था, जिसने 1080 ई. के लगभग, जब बनवासि देश पर चालुक्य सम्राट त्रिभुवनमल्ल का शासन था, शिकारपुर तालुके के इसूर स्थान में एक जिनालय बनवाया था और त्यागियों एवं अग्रहार के हजारों ब्राह्मणों के लिए एक सत्र (भोजनशाला) स्थापित किया था।

कालियक्का—चालुक्य त्रिभुवनमल्ल के राज्यप्रतिनिधि पाण्ड्य के महाप्रधान-दण्डनायक सूर्य की भार्या, ज्येष्ठ दण्डनायकिति कालियक्का बड़ी धर्मात्मा महिला थी। अपनी प्रतिज्ञा की पूर्तिस्वरूप उसने 1128 ई. में सेम्बूर में पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति सुन्दर जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु शान्तिशयनपण्डित को प्रभूत भूदान दिया था।

योगेश्वर दण्डनायक—चालुक्य जयसिंह जगदेकमल्ल तृतीय का सेनाध्यक्ष, महाप्रधान, दण्डनायक और बनवासि देश का शासक था। उसके अधीन पेगडि मय्दून-मल्लिदेव जिङ्गलिंगे का शासक था। उसने तथा अन्य कई धार्मिकजनों ने योग-दण्डाधिप की अनुमतिपूर्वक आवली में पार्श्व-जिनालय बनवाकर उसके लिए 1143 ई. में सेनसंघी वीरसेन के सधर्मा माणिक्यसेन मुनि को पादप्रक्षालनपूर्वक भूमिदान दिया था।

बिज्जल कलचुरि

बारहवीं शती के मध्य के उपरान्त लगभग तीन दशक पर्यन्त कई कलचुरि नरेशों ने कर्णाटक देश पर राजधानी कल्याणी से शासन किया। मध्यभारत में विपरी, डाहल आदि के कलचुरि राजे तीसरी शती ई. के मध्य से ही राज्य कर रहे थे। वे चेदिवंशी भी कहलाते थे और विदर्भ, महाकासल, उत्तर प्रदेश में सरयूपार आदि कई प्रदेशों में इस वंश की शाखाएँ चलीं। सन् 249 ई. में चेदि या कलचुरि संवत् के प्रवर्तनकाल से इस वंश का उदय माना जाता है। अनुश्रुतियों के अनुसार इस वंश का आदिपुरुष कीर्तिवीर्य था, जिसने जैन मुनि के रूप में तपस्या करके कर्मों को नष्ट किया था। 'कल' शब्द का अर्थ 'कर्म' भी है और 'देह' भी। अतएव देहदमन द्वारा कर्मों को चूर करनेवाले व्यक्ति के वंशज कलचुरि कहलाये। इस वंश में जैनधर्म की प्रवृत्ति भी अल्पाधिक बनी रही। प्रो. रामास्वामी आयरंगर आदि कई दक्षिण भारतीय इतिहासकारों का मत है कि पाँचवीं-छठी शती ई. में जिन शक्तिशाली कलत्र जाति के लोगों ने तमिल देश पर आक्रमण करके और चोल, चेर तथा पाण्ड्य नरेशों को पराजित करके उक्त समस्त प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया था, वे प्रतापी कलत्र नरेश जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। इनके तमिल देश में पहुँचने पर वहाँ जैनधर्म की पर्याप्त उन्नति हुई। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि कलत्रों का मध्यभारत के कलचुरियों के साथ क्या सम्बन्ध था अथवा कल्याणी के उपर्युक्त कलचुरियों का उन दोनों में से किसके या दोनों के ही साथ कोई सम्बन्ध था या नहीं। यह सम्भावना है कि उत्तर भारत के कलचुरियों की ही एक शाखा सुदूर दक्षिण में कलत्र नाम से प्रसिद्ध हुई और कालान्तर में उन्हीं कलत्रों की सन्तति में कर्णाटक के कलचुरि हुए।

1128 ई. में चालुक्य सम्राट् सोमेश्वर तृतीय ने पेम्पनडि कलचुरि नामक व्यक्ति को, जो स्वयं को कृष्ण की सन्तति में उत्पन्न हुआ बताता था, बीजापुर विषय (जिले) का शासक नियुक्त किया था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र बिज्जलकलचुरि उसी पद पर नियुक्त हो गया। वह बड़ा वीर, चतुर और महत्वाकांक्षी था। परिणाम यह हुआ कि चालुक्य जयसिंह तृतीय ने उसे महामण्डलेश्वर बना दिया और अपना सेनाध्यक्ष नियुक्त कर दिया। चालुक्य तैलप तृतीय की अयोग्यता का लाभ उठाकर उसने अपने नेतृत्व में विद्रोही सामन्तों को संगठित किया और 1151 ई. में राज्यसत्ता सहज ही हस्तगत कर ली। इस पर अनेक सामन्त उससे अप्रसन्न हो गये और गृहयुद्ध प्रारम्भ हो गये। अन्ततः बिज्जल ने तैलप तृतीय को पकड़कर बन्दीगृह में डाल दिया और दृढ़ता के साथ समस्त विरोधी शक्तियों का दमन करके 1156 ई. में स्वयं को कल्याणी का सम्राट् घोषित कर दिया तथा अपने नाम का संवत् भी प्रचलित कर दिया। उसी वर्ष के एक शिलालेख में महाराज बिज्जल का

उल्लेख 'कलचुरि-भुजबल-चक्रवर्ती त्रिभुवनमल्ल' विरुद्ध के साथ हुआ है। उसने 1167 ई. पर्यन्त, लगभग 12 वर्ष राज्य किया और इतने समय में ही प्रमाणित कर दिया कि वह एक वीर योद्धा, भारी विजेता और महान् नरेश था। अपने कुल की प्रवृत्ति के अनुसार वह जैनधर्म का अनुयायी था। राज्य की प्राप्ति और विस्तार एवं संरक्षण में बिज्जल का प्रधान सहायक उसका महामात्य एवं प्रधान सेनापति जैन वीर रेचिमय्य था। उसका एक अन्य जैन मन्त्री ब्राह्मण बलदेव था, जिसका जायादादा बासव भी जैन था। बलदेव की मृत्यु के उपरान्त उसके पद पर बासव की नियुक्ति हुई। अपने श्वसुर के सहकारी के रूप में वह पहले से ही कार्य कर रहा था, किन्तु बड़ा महत्वाकांक्षी था। अपने कुलधर्म में उसे अपने लौकिक उत्कर्ष की सम्भावना कम दीख पड़ी। संयम-नियम और तपस्या से उसे घृणा थी। अतएव उसने एक नवीन मत का प्रचार करने का निश्चय किया। जैनधर्म के प्रचलित लोकतत्त्वों तथा प्रसिद्ध एवं व्यवहृत मान्यताओं के साथ शैवमत की कतिपय परम्पराओं एवं मान्यताओं का मिश्रण करके, और इस मिश्रण को अपने मनोनुकूल ढालकर उसने लिंगायत अपरनाम वीर-शैव मत की स्थापना की। ऐसी किंवदन्ती है कि अपनी कार्यसिद्धि के लिए उसने राजा का ध्यान अपनी अतीव सुन्दरी बहन पद्मावती की ओर आकृष्ट किया और अन्ततः राजा के साथ उसका विवाह कर दिया था। अपने भाई की इच्छानुसार पद्मावती महाराज को अपने धर्म से विमुख और बासव के मत का पोषक तो न बना सकी, किन्तु उसके मोहपाश में बँधकर बिज्जल राज्यकार्य की ओर से असावधान हो गया। स्थिति का लाभ उठाकर बासव ने अपने मत के प्रचार में सारा राज्यकोश खाली कर दिया और राज्य के विभिन्न पदों से जैन अधिकारियों एवं कर्मचारियों की वृथक् करके अपने साधियों और सहायकों को नियुक्त करना प्रारम्भ कर दिया। अन्ततः जब राजा की मोहनिद्रा टूटी और बासव के कुकृत्यों पर उसका ध्यान गया तो वह अत्यन्त कुपित हुआ और दुष्टों को कठोर दण्ड देने लगा। परन्तु बासव ने विषाक्त आम खिलाकर छल से राजा की हत्या कर दी। एक मत के अनुसार बिज्जल ने विरक्त होकर अपने पुत्र सोमेश्वर को राज्य सौंप दिया और शेष जीवन धर्म साधन में बिताया था।

बिज्जल के उपरान्त उसके तीन या चार पुत्रों एवं वंशजों ने क्रमशः राज्य किया। उन्होंने बासव एवं उसके लिंगायतों का क्रूरता के साथ दमन किया बताया जाता है, किन्तु बासव के कतिपय शिष्यों एवं भक्तों के प्रयत्नों से लिंगायत मत फैलता चला गया और आनेवाली कई शताब्दियों में दक्षिण भारत में जैनधर्म का सबसे भयंकर शत्रु सिद्ध हुआ। बिज्जल के वंश का अन्त भी 1183 ई. के लगभग हो गया, जब चालुक्य सोमेश्वर चतुर्थ ने कल्याणी पर पुनः अधिकार कर लिया। यह पुनः स्थापित चालुक्य सत्ता भी 13वीं शती के प्रारम्भ में समाप्त हो गयी।

सेनापति रेचिमय्य—इस युग का सर्वाधिक उल्लेखनीय जैन वीर है। रेच,

रेचण, रेचरस, रेचिराज, रेचि या रेचिमय्य की माता का नाम नागाम्बिका और पिता का नारायण था। तथा पत्नी का नाम गौरी था। उसका ध्वज-चिह्न वृषभ था, आतुर्य यह 'वृषभध्वज' भी कहलाता था। 'वसुधैक-बान्धवम्' उसका सुप्रसिद्ध विरुद था। दण्डाधिनाथ, महाप्रचण्डदण्डनायक, चम्पूति, महासेनापति, सचिवोत्तम, मन्त्रीश्वर आदि पदवीधर यह वीर कलचुरि नरेश बिज्जल का दाहिना हाथ था। उस नरेश के लिए उनमें सप्तांग-साध्याय्य-सम्पत्ति प्राप्त की थी और उसका उपभोग उसे तथा उसके उत्तराधिकारियों को कराया था। उसी के हाथों के सहारे कलचुरि नरेशों की राज्यरूपी लता सुखपूर्वक प्रसरित हुई थी। उक्त नरेशों से उसे अनेक जागीरें मिली थीं, जिनमें अत्यन्त सुन्दर नागरखण्ड प्रदेश प्रमुख था—उस प्रान्त का शासन भी सीधे वह रेचिमय्य ही करता था। बिज्जल के उपरान्त उसके सभी वंशजों के समय में उसका रुतबा और प्रतिष्ठा वैसी ही बनी रही, और जब कलचुरियों का सूर्य अस्त हो गया और उनके स्थान में द्वारसमुद्र के होयसल नरेश देश के स्वामी हुए तो उन्होंने भी वीर रेचिमय्य को वही पद-प्रतिष्ठा प्रदान की। सेनापति रेचिमय्य अनुपम रणशूर होने के साथ ही साथ अनुपम दानशूर भी था। यह ऐसा उदार दानी था कि जगत् में साक्षात् कल्पवृक्ष की भाँति शोभायमान था। उसके सुशासन में नागरखण्ड प्रदेश की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि हुई, और कहा जाता है कि गंगराज ने सम्पूर्ण जैन जगत् के लिए जो कुछ किया दण्डाधीश रेचिमय्य ने अपने प्रान्त के लिए उससे कुछ अधिक ही किया। जिनधर्म के हित और प्रभावना के लिए उसका उद्योग अन्तहीन था।

शिकारपुर तालुके के चिक्कमागडि नामक स्थान के एक पुराने जैन सम्मेलन मन्दिर में, जो अब लिंगायतों के चेन्न-बसवण्ण मन्दिर में परिवर्तित है, प्राप्त 1182 ई. के स्तम्भलेख से ज्ञात होता है कि उस समय कलचुरि नरेश शंकम के अनुज एवं उत्तराधिकारी रायनारायण आहवमल्ल का शासन था और रेचिमय्य उसी राजा की सेवा में था और उसकी ओर से नागरखण्ड का शासक था। नागरखण्ड के अन्तर्गत ही बान्धवपुर का कदम्बवंशी राजा बोप्प राज्य करता था और उसका महाप्रधान सामन्त शंकर था जिसने मागुडि नामक स्थान में भगवान् शान्तिनाथ का सुन्दर जिनालय बनवाया था। एक बार उक्त दोनों सज्जनों के साथ रेचण दण्डाधीश (रेचिमय्य) उक्त मन्दिर में भगवान् का दर्शन-पूजन करने के लिए गया था। मन्दिर की भव्यता को देखकर वह इतना प्रभावित और प्रसन्न हुआ कि उसने तलवे नामक ग्राम उसके लिए भेंट कर दिया। बन्दलिके के 1203 ई. के शिलालेख में भी विख्यात रेच चम्पूति की प्रारम्भ में ही प्रशंसा की है और उसे उक्त बन्दलिके-शान्ति-जिनेश-तीर्थ की उन्नति करनेवालों में अग्रणी बताया है। असीकेरे नामक स्थान के 1219 ई. के अभिलेख में लिखा है कि रत्नत्रयाधिष्ठित, धर्मप्रतिपालक, कलशूर्य-कुल-सचिवोत्तम, वसुधैकबान्धव रेचरस चम्पूति ने, जो वाग्-धनिता-विलास-सदन, कीर्तिकौमुदी, जैनार्णव-वर्द्धन, गुणगणभूषण और दयान्वित था, और उस समय होयसल नरेश

बल्लालदेव की सेवा में था, अरसियकेरे नगर में एक अति भव्य एवं विशाल सहस्रकूट-चैत्यालय निर्माण कराया था। यह नगर स्वयं नाना कूप, तड़ाग, बापी, वन-उपवनों, फल-पुष्प के उद्यानों, हरे-भरे शालि क्षेत्रों, सुन्दर-सुन्दर भवनों और धर्मात्मा भव्यजनों (जैनों) की घनी बस्ती के कारण अत्यन्त मनोहर, महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध था। उक्त जिनालय में भगवान् जिनेन्द्र की नित्य अष्टविधि-पूजन, पुजारी और सेवकों की आजीविका, चतुर्वर्ण के लोगों के लिए निःशुल्क भोजन दान (सत्र) और मन्दिर के जीर्णोद्धार आदि के लिए राजा बल्लाल से हन्दरहालु नामक ग्राम प्राप्त करके उसने मूल-संघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-इंग्लेश्वरबलि के आचार्य माघनन्दि-सिद्धान्त के प्रशिष्य और शुभचन्द्र-त्रैविद्यदेव के शिष्य सागरनन्दि-सिद्धान्तदेव को धारापूर्वक समर्पित किया था। यही आचार्य रेचरस के कुलगुरु भी थे। रेच द्वारा प्रतिष्ठापित उक्त अत्यन्त देदीप्यमान सहस्रकूट जिनबिम्ब के लिए स्थानीय जैनों ने एक कोटि द्रव्य एकत्र करके प्रसिद्ध अरसियकेरे में एक विशाल जिनमन्दिर और उसकी सुदृढ़ चहारदीवारी बनवायी। राजा और प्रजा ने, जिससे जितना बन पड़ा, उसके लिए द्रव्य दिया। इस जिनालय के निर्माण में सातकोटि (सात बर्गों के?) लोगों की सहायता थी, इसीलिए वह एल्कोटि-जिनालय कहलाया। उसके लिए एक सहस्र परिवारों से भूमि खरीदी गयी थी और राजा बल्लाल ने भी उक्त भूमि पर दस होन्नुवाला कर माफ़ कर दिया था। अरसियकेरे के लोगों ने भगवान् शान्तिनाथ का भी एक सुन्दर मन्दिर बनवाया था। उस नगर के तत्कालीन जैनों में प्रमुख पट्टणस्वामी (नगरसेठ) कल्लिसेट्टि और जव्विकसेट्टि थे। स्थानीय जैनों की उत्कट धर्मनिष्ठा एवं धर्म-संरक्षण के अपूर्व उत्साह से प्रसन्न होकर धर्मात्मा वीर श्रीकरणद रेचियय्य ने उपर्युक्त निर्माण और दान किये थे। उसने 1200 ई. के लगभग श्रवणबेलगोल के निकट जिननाथपुर में एक शान्तिनाथ जिनालय (शान्तीश्वर बसदि) बनवाया था, और उसे भी स्वगुरु एवं मन्दिर के प्रतिष्ठाचार्य सागरनन्दि सिद्धान्त को सौंप दिया था। यही आचार्य कोल्लापुर की प्रसिद्ध सावन्त-बसदि (सामन्तों का जिनालय) के भी अधिष्ठाता थे।

सोविदेव कदम्ब—बनवासि-मण्डल के स्तन्यरूप सुन्दर एवं सुसमृद्ध नागरखण्ड के एक भाग पर प्राचीन कदम्बकुल का परम्परागत राज्य चला आता था। इस कुल में ब्रह्मभूपाल और चट्टलदेवी का पुत्र बोप्पभूप हुआ, जिसकी पत्नी का नाम श्रीदेवी था। इन दम्पती का पुत्र यह सोविदेव या सोमनृप था। यह राजा बड़ा शूरवीर, प्रतापी, उदार और सत्यवादी था, और इसीलिए उसे कदम्बरुद्र, गण्डरदावणि, मण्डलिक-भैरव, निगलंकमल्ल, सत्यपताक आदि विरुद प्राप्त हुए थे। वह कलचूर्य-चक्रवर्ती विज्जल के पौत्र मैलिगुदेव रायमुरारि भुजबल-मल्ल का अधीनस्थ राजा था। उसने चंगल्ल नरेश को पराजित करके उसे जंजीरों से बाँध दिया था। इसी उपलक्ष्य में उसे 'गण्डरदावणि' विरुद मिला था। बाल्यावस्था में ही उसके सत्यनिष्ठ मधुरवचनों के कारण वह 'सत्यपताक' कहलाने लगा। किशोरावस्था को प्राप्त होते न होते वह

'निकलक-मल्ल' और अपनी शक्ति एवं पराक्रम का परिचय देते ही 'कदम्बरुद्र' कहलाने लगा था। वह बड़ा उदार और दानी भी था। उसके समय में नागरखण्ड की भौति ही तेवरतेष्प भी बनवासि देश का भूषण था और नागबल्लरी एवं पुंरीफल (सुपारी) के उद्यानों के लिए प्रसिद्ध था। राजा सोविदेव के चरण-कमलों का भ्रमर उसका सामन्त तेवरतेष्प का नालप्रभु (अधिपति) बोप्पगावुण्ड था। उसकी पत्नी चाविकब्बे-गावुण्डि थी, जिसके भाई बम्मिसेट्टि और कल्लिसेट्टि थे। बोप्पगावुण्ड और चाविकब्बेगावुण्डि का पुत्र लोकगावुण्ड तेवरतेष्प का नालप्रभु था। उसके दोनो मातुल बम्मिसेट्टि और कल्लिसेट्टि भव्य-शिखा-मणि (परमजैन) थे। उसकी माता भी बड़ी धर्मात्मा थी तथा उसकी पत्नी, जो लोत्तूर के गेयूद-गावुण्ड और धर्मात्मा कालिकगावुण्डि की पुत्री थी, स्वयं सकलशीलगुणोत्तम तथा परम जिनभक्त एवं दानशीला थी। इसी कारण उसने महासती अस्तिमब्बे-जैसी ख्याति प्राप्त की थी। अपने उक्त स्वजनों-परिजनों की प्रेरणा एवं सहयोग से लोकगावुण्ड ने तेवरतेष्प नगर में एक अत्यन्त भव्य रत्नत्रयदेव-जिनालय नाम का जिनमन्दिर बनवाया, एक सरोवर, कूप और प्रपा बनवायी और सत्र स्थापित किया था। इन सबकी व्यवस्था, देवार्चन, मुनि-आहारदान आदि के निमित्त प्रभूत भूमिदान धर्मात्मा लोक-गावुण्ड ने स्वगुरु महामण्डलाचार्य भानुकीर्ति सिद्धान्त देव को पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दिया था। भानुकीर्ति परमशास्त्रज्ञ मुनिचन्द्रदेव के प्रिय शिष्य थे और भारी मन्त्रवादी थे। तेवरतेष्प के 1174 ई. के शिलालेख में उक्त महाराज सोविदेव और उनकी धर्मात्मा सामन्त लोक-गावुण्ड का वर्णन है। महाराज की स्वयं की अनुमति एवं सहयोग अपने प्रिय सामन्त के उक्त धर्मकार्यों में थे।

बोप्पदेव कदम्बर—नागर खण्ड के कदम्बरकुल में उत्पन्न महाराज सोविदेव या सोमनृप की रानी लच्चलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह बोप्पदेव नृपति था जो बड़ा पुण्यवान् और प्रतापी था। सुन्दर बान्धवपुर नगर उसकी राजधानी थी। राजा का स्वयं का तथा उसकी कुल-परम्परा का धर्म जैनधर्म था। उसके इष्टदेव भगवान् शान्तिनाथ थे, जिनका अति सुन्दर जिनालय उक्त नगरी की शोभा बढ़ाता था। वस्तुतः इस मन्दिर में भगवान् चर्मनाथ, शान्तिनाथ और कुन्धुनाथ के तीन चैत्य थे, जिनके कारण वह रत्नत्रय-जिनालय कहलाता था। इस मन्दिर के आचार्य मूलसंघ-काणूरमण-तिन्निणिगच्छ-नुन्नवंश के भानुकीर्तिसिद्धान्ति थे, जो रावणान्दि के प्रशिष्य और पद्यनन्दि के शिष्य मुनिचन्द्र के शिष्य थे तथा नयकीर्तिव्रती के गुरु थे। इस बोप्पदेव राजा के महाप्रधान शंकर सामन्त ने उसकी सहमति एवं सहयोग से मागुडि में जो शान्तिनाथ जिनमन्दिर बनवाया था उसके दर्शन के लिए वह नरेश ही रेचण-दण्डाघीश को अपने साथ लिया ले गया था। बन्दलिके के 1203 ई. के शिलालेख में इन्हीं कदम्बरवंशी सोमनृपात्मज बान्धवपुराधिप बोप्पदेव की रेच-चमूपति के अनन्तर बन्दलिके तीर्थ की उन्नति करनेवाला कहा है। उस समय बोप्प का पुत्र

ब्रह्मभूपाल राजा था। उसका नगरसेठ कवडेय बोणिसेठि था, जिसने राजा ब्रह्म की अनुमति और सहयोग से बन्दलिके-शान्तिनाथदेव का सुन्दर मण्डप बनवाया था। इस शिलालेख में नागरखण्ड के तत्कालीन जैनों में प्रमुख प्रतिष्ठित धार्मिक एवं दानी जनों का भी उल्लेख है, यथा सेठिकब्बे का पुत्र बनजुधर्मनिवासी शंकरसेठि, कच्छवियूर का स्वामी विहियरस, बेगर का प्रभुमाल गौड़, कण्णसोगे का एरिकोटे गौड़, मलविल्ले का एरहगौड़, अब्बूर का सोमगौड़ और शंकर एवं जकब्बे का पुत्र सामन्त मुहकि, जिसकी पत्नी लब्बाम्बिके, दो पुत्र और एक पुत्री थी, स्वामी बल्लालनरेश और गुरु भानुकीर्तिसिद्धान्ति थे।

शंकर सामन्त—नण्डु वंश में उस कुल का तिलक सिंगम उत्पन्न हुआ। उसकी पत्नी माणियक्के थी और पुत्र एक्क-गौड़ और केरेयम थे। केरेयम की पत्नी रेसब्बे थी और पुत्र बोप्प-गावुण्ड था। उसकी पत्नी चाकिगीडि थी, और इन दोनों का पुत्र यह संक, शंकर या शंकर सामन्त था। उसकी पत्नी का नाम जक्कणब्बे था, ज्येष्ठ पुत्र सोम था और छोटा पुत्र मुहय्य था। शंकर सामन्त बान्धवपुर के कदम्बनरेश बोप्पदेव का प्रधान सचिव और महासामन्त था। उस नरेश के राज्याभ्युदय में वही प्रधान सहायक एवं साधक था। राजा उसका बड़ा सम्मान करता था और रेच चमूपति तथा होयसल नरेश बल्लालदेव भी उसे मान देते थे। उसके गुरु पूर्वोक्त भानुकीर्ति और नयकीर्ति व्रती थे। उक्त गुरुओं के निकट आगम का अध्ययन करके वह जिनसमय-चिन्तामणि (जैनधर्म के लिए चिन्तामणि-रत्न) कहलाया। वह बड़ा वीर, पराक्रमी, कुशल प्रशासक, उदार, दानी, धर्मात्मा, जिनदेव और गुरुओं का किंकर था। याचकों के लिए वह कल्पवृक्ष था और निरभिमानी था। निश-दिन धर्मार्थकाम, त्रिवर्ग के सम्पादन में रत और सन्मार्ग के हित की कामना के लिए चिन्तित रहता था। मागुडि नामक स्थान के साथ उसका सम्बन्ध था—सम्भवतया वह उसका मूल निवास था—अतएव उक्त स्थान में उसने तीर्थंकर शान्तिनाथ का एक अत्यन्त मनोरम मन्दिर बनवाया था। उसमें प्रतिष्ठापित भगवान् का प्रतिबिम्ब अत्यन्त सातिशय एवं चमत्कारी था। बलिपुर के शैवाचार्य सूर्याभरण त्रिपुरान्तकसूरि ने यह देखकर कि यह देवालय तीर्थंकर-जिन और शिव, दोनों के ही भक्तों के लिए समान रूप से प्रिय है, उसके लिए सुपारी के 500 वृक्षों का एक बाग, एक पुष्पोद्यान, उत्तम धान्य का एक क्षेत्र और तेल के एक कोल्हू के रूप में प्रभूत स्थलवृत्ति-प्रदान की थी। उक्त धार्मिक कार्य को जारी रखने तथा अपनी न्यायोपार्जित सम्पत्ति को अपने आश्रितों की आवश्यकतापूर्ति के लिए सुरक्षित करने के उद्देश्य से इस शंकर-देव-चक्री ने महाराज बल्लाल और रेच चमूपति का आश्रय लिया। परिणामस्वरूप जब महाराज ताणगुण्ड में निवास करते थे तो वह रेचरस और अपने स्वामी बोप्पदेव को उक्त मन्दिर में दर्शन-पूजन करने के लिए अपने साथ लाया। रेचरस ने प्रसन्न होकर मन्दिर के लिए एक ग्राम शंकर के गुरु और मन्दिर

के अधिष्ठाता भानुकीर्ति सिद्धान्तदेव को समर्पित किया। दानशासन की व्यवस्था का भार बल्लालदेव के प्रधान मन्त्री मुरारिकेशव को सौंप दिया गया। मन्दिर के लिए चार स्थानों के वाणिज्य निगमों तथा मुम्मुरिदण्ड ने भी दान दिये। शंकर सामन्त का सारा परिवार परम जिनभक्त था। उसके पुत्र सामन्त मुद्दव ने दो नगरखण्ड और विशेषकर बन्दलिके-तीर्थ की उन्नति में अपने पिता की ही भाँति योग दिया। राजा बल्लालदेव के प्रसिद्ध मन्त्री कम्मट-मल्ल-दण्डाधिनाथ ने तथा उसके सचिव सूर्य-चमूपाति ने बन्दलिके-शान्तिनाथ तीर्थ की बहुत प्रेम के साथ रक्षा की थी। उक्त सामन्त शंकरगावुण्ड ने 1176 ई. में गावणिगवंशीय करेयमसेष्टि के पुत्र देविक-सेष्टि के साथ मिलकर एलम्बलिल में भी एक शान्तिनाथ जिनालय बनवाया था, जिसके लिए उन दोनों ने गुरु भानुकीर्ति को भूमि का दान दिया था।

होयसल राजवंश

राष्ट्रकूट, चोल, चालुक्य और कलचुरि नामक सम्राट्-वंशों के बाद दक्षिण भारत में इस युग का सर्वाधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण राज्यवंश होयसलों का था, जो प्रारम्भ में कल्याणी के चालुक्य सम्राटों के अधीन महासामन्त रहे और उनकी सत्ता समाप्त होने पर, कम से कम सम्पूर्ण कर्णाटक में सर्वोपरि राज्यशक्ति के स्वामी हुए। कर्णाटक के प्राचीन गंगवाडि राज्य की भाँति ही होयसल राज्य की स्थापना का श्रेय भी एक जैनाचार्य के आशीर्वाद को है। द्वारावती (द्वारसमुद्र या दोरसमुद्र) का यह शक्तिशाली एवं पर्याप्त स्थायी होयसल-महाराज्य जैन प्रतिभा की दूसरी सर्वोत्कृष्ट सृष्टि थी।

वंश संस्थापक सल—कर्णाटक की पार्वतीय जाति के एक अभिजात्य, किन्तु विपन्न कुल में उत्पन्न सल वीर युवक था और पश्चिमी घाटवर्ती, मैसूर राज्य में कडूर तिले के मुदगेरे तालुके में स्थित अंगडि अपरनाम सोसवूर (शशकपुर) का निवासी था। यह स्थान पहले से ही जैनधर्म का एक अच्छा केन्द्र था। दसवीं शताब्दी में द्रमिलसंघी मौनी भट्टारक के शिष्य विमलचन्द्र पण्डितदेव वहाँ निवास करते थे। वहीं उनका समाधिमरण हुआ और उनके भक्त महाराज इविवेडेग ने उनका स्मारक बनवाया था। नगर के बाहर 9वीं-10वीं शती ई. की कई सुन्दर बसदियाँ थीं, जिनमें एक का नाम मकर-जिनालय था। उसके निकट ही भगवान् पार्श्वनाथ की यक्षी पद्मावती देवी का विशाल मन्दिर था। ग्यारहवीं शती के प्रारम्भ में वहाँ जैनाचार्य सुदत्त वर्धमान का विद्यापीठ अवस्थित था, जिसमें अनेक गृहस्थ, त्यागी और मुनि शिक्षा प्राप्त करते थे। यह मुनीन्द्र उपर्युक्त विमलचन्द्र पण्डितदेव के ही सम्भवतया निकट-परम्परा शिष्य थे। एक अनुमान है कि वह सुप्रसिद्ध जगदेकमल्लवादी वादिराज के शिष्य थे। निस्सहाय एवं साधनविहीन किन्तु तेजस्वी और महत्वाकांक्षी युवक सल इन्हीं सुदत्त वर्धमान का प्रिय छात्र था। उसकी जननी गंगवंश की राजकन्या थी, और सम्भवतया उसके पितृकुल में भी जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। एक दिन देवी के मन्दिर के निकट वन में वह गुरु के निकट एकाकी ही अध्ययन कर रहा था कि एकाएक एक भयंकर शार्दूल वन में से निकलकर गुरु के ऊपर झपटा। गुरु ने अपनी मयूरपिच्छी सल की ओर फेंककर कहा, 'फोय सल' (हे सल, इसे मार)। वीर सल

ने तुरन्त उस पिच्छिका (उसके मूठे या गुण्ड) के प्रहारों से सिंह को मार गिराया। कहा जाता है कि सल के पराक्रम और वीरता की परीक्षा करने के लिए ही उन्होंने अपने मन्त्रबल से उस कृत्रिम सिंह की सृष्टि की थी। अस्तु, गुरु बहुत प्रसन्न हुए, उसे आशीर्वाद दिया और उसे अपने लिए स्वतन्त्र राज्य स्थापन करने का आदेश दिया। लोल-शार्दूल ही उन्होंने उसका राज्य-चिह्न, मुकुटचिह्न एवं ध्वजचिह्न निश्चित किया। यह घटना 1006 ई. के लगभग की है। तभी से सल 'होयसल' कहलाने लगा, जो कालान्तर में 'होयसल' शब्द में परिवर्तित हो गया और सल द्वारा स्थापित राज्यवंश का नाम प्रसिद्ध हुआ। जिनेन्द्र उसके इष्टदेव, मुनीन्द्र सुदत्त वर्धमान धर्मगुरु एवं राजगुरु और पद्मावती अपरनाम वासन्तिकादेवी उसके कुल एवं राज्य की अधिष्ठात्री देवी हुई। उक्त यक्षी के प्रसाद से उक्त घटना के समय एकाएक वसन्त ऋतु हो गयी थी, इसलिए यह स्वयं तभी से वासन्तिकादेवी कहलाने लगी। इस प्रकार अहिंसा धर्म के उत्कट पक्षपाती होते हुए भी जैनाचार्यों ने देश के राजनीतिक अभ्युत्थान में महत्वपूर्ण सक्रिय योग दिया। इस तथ्य का जहाँ तक दक्षिण भारत का सम्बन्ध है, यह कम से कम दूसरा उदाहरण था। आगामी पन्द्रह-सोलह वर्षों में अंगडि (शशकपुर) को अपनी राजधानी बनाकर होयसल ने चोलों और चालुक्यों के कौगाल्य आदि कई सामन्तों से युद्ध करके उनके प्रदेश हस्तगत किये, अपने राज्य की नींव जमा दी और चालुक्यों के प्रमुख सामन्तों में परिगणित होने लगा। इस सब उन्नति में गुरु सुवर्णकर्णोपदेश, अरावली और पश्चिमोत्तराधिकार्य करतार रहा। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी विनयादित्य प्रथम (1022-1047 ई.) और पौत्र नृपकाम होयसल (1047-60 ई.) ने उसके द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्यों को चालू रखा। राज्य की शक्ति और विस्तार बढ़ता गया। उन दोनों राजाओं के भी धर्मगुरु एवं राजगुरु उक्त सुदत्त वर्धमान ही थे, जो शासनप्रबन्ध एवं राज्य-संचालन में भी उनका सक्रिय मार्गदर्शन करते थे। गंगवाडि के जैन मुनियों में ये दोनों नरेश अपनी धार्मिकता के लिए प्रसिद्ध थे।

विनयादित्य द्वितीय (1060-1101 ई.)—होयसल वंश का यह चौथा राजा बड़ा उदार, दानी, धर्मात्मा और प्रतापी था। उसके गुरु द्रमिलसंघ के जैनाचार्य शान्तिदेव थे। श्रवणबेलगोल की 1129 ई. की मल्लिषेण प्रशस्ति नामक शिलालेख के अनुसार 'गुरु शान्तिदेव की पादपूजा के प्रसाद से होयसल नरेश विनयादित्य ने अपने राज्य को श्रीसम्पन्न किया था।' अपने इन राजगुरु के उपदेश से विनयादित्य होयसल ने अनेक जिनमन्दिरों, देवालयों, सरोवरों, ग्रामों और नगरों का निर्माण प्रसन्नतापूर्वक कराया था। इस कार्य में वह सुप्रसिद्ध बलीन्द्र से भी आगे बढ़ गया था। अंगडि के ही 1062 ई. के एक भग्न शिलालेख से प्रकट है कि उसी वर्ष वहाँ जब उसके गुरु शान्तिदेव ने समाधिभरण किया तो स्वयं राजा ने और उसके नागरिकजनों की निगम ने मिलकर उनकी स्मृति में वहाँ एक स्मारक स्थापित किया

था। स्पष्ट है कि यह आचार्य मात्र राजा के नहीं बल्कि राजा-प्रजा सभी के, पूरे राष्ट्र के गुरु माने जाने लगे थे। उसी वर्ष के एक अन्य शिलालेख के अनुसार इस राजा ने मूलसंधी मेघचन्द्र के शिष्य बेलवे के अभयचन्द्र मुनि को दान देकर सम्मानित किया था। राजा ने राज्य के प्रधान धान्यक्षेत्र मलावर नगर की सिंचाई के लिए एक नहर निकलवायी थी। वह पूरी हो गयी तो 1069 ई. में राजा उसका निरीक्षण करने के लिए वहाँ गया और उस अवसर पर जब वह ग्राम के निकट पहाड़ी पर स्थित जिनमन्दिर के दर्शन करने के लिए भी गया तो उसने मामिक्कसेट्टि आदि नगरप्रमुखों से पूछा कि नगर के भीतर उन्होंने कोई जिनालय क्यों नहीं बनवाया। उन्होंने विनयपूर्वक निवेदन किया कि यह कार्य उनकी सामर्थ्य से बाहर है। महाराज के पास अपार धनराशि है, वही यह शुभ कार्य सम्पन्न कराएँ। राजा ने प्रसन्न होकर उस नगर में भी एक सुन्दर जिनालय बनवा दिया और उसके लिए उन लोगों से भी दान दिलवाया और स्वयं भी भूमि, द्रव्य, राजकर आदि का दान दिया। नगर का नाम भी बदलकर ऋषिहल्लि रख दिया। राजधानी अंगडि के मगर-जिनालय की भी उसने उन्नति की। शान्तिदेव के शिष्य 'शब्दचतुर्मुख' उपाधिधारी अजितसेन भट्टारक का भी राजा ने सम्मान किया प्रतीत होता है। यह नरेश चालुक्य सम्राट् विक्रमादित्य षष्ठ का महासामन्त एवं माण्डलिक नृप था। अपने जीवन के पिछले भाग में विनयादित्य द्वितीय ने राज्यकाय अपने पुत्र युवराज एरेयंग की सौंपकर स्वयं धर्मसाधन में जीवन व्यतीत किया था। अब वास्तविक राजा एरेयंग ही था। वह भी बड़ा पराक्रमी वीर था। होयसल राजे मेलप्पशिरोमणि (पहाड़ी राजाओं में शिरमौर) और महामण्डलेश्वर कहलाते थे। एरेयंग ने 1094 ई. में सुप्रसिद्ध दार्शनिक, तार्किक एवं वादी जैनाचार्य गोपनन्दि का सम्मान किया था, और उन्हें बेलगोल के कलवण्ण तीर्थ की अनेक बसदियों (जिनमन्दिरों) के जीर्णोद्धार आदि के लिए कई गाँव दान दिये थे। गोपनन्दि के उपरान्त 'जगद्गुरु' उपाधिधारी प्रसिद्ध विद्वान् अजितसेन (सम्भवतया शार्दीभसिंह) इस राजा के गुरु हुए। यह होयसल राजे गंगमण्डल के अयोध्वर कहलाते थे और जिनधर्म की प्रभावना एवं हितसाधन में प्राचीन गंगनरेशों का अनुकरण करने में स्वयं को धन्य मानते थे। एरेयंग ने 'वीरगंग' उपाधि भी धारण की थी। विनयादित्य द्वितीय और त्रिभुवनमल्ल एरेयंग की मृत्यु थोड़े ही अन्तर से हुई, सम्भवतया युवराज का निधन पिता के जीवन-काल में ही हो गया था। अपनी सामरिक वीरता के लिए वह चालुक्य सम्राट् का बलद-भुजवण्ड (दाहिनी भुजा) कहलाता था। एरेयंग की राणी एचलदेवी से उसके तीन पुत्र बल्लाल, विट्टिंग और उदयादित्य तथा एक पुत्री थी। यह राजकुमारी गंगवंशोत्पन्न हेम्मडिदेव के साथ विवाही गयी थी, जो परम जिनभक्त था।

बल्लाल प्रथम (1101-1106 ई.)—एरेयंग का ज्येष्ठ पुत्र था। उसके धर्मगुरु एवं राजगुरु चारुकीर्ति पण्डितदेव थे, जो कुन्दकुन्दान्वय-नन्दिसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-

इंगुलेश्वरबलि के आचार्य महान् वादी श्रुतकीर्तिदेव के शिष्य थे, और स्वयं व्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, योगशास्त्र, मन्त्रशास्त्र, आयुर्वेद आदि सभी विषयों में निष्णात, विविध-विद्या-पारंगत थे। जिस समय राजा बल्लाल दुर्धर शत्रुओं का घेरा डाले पड़ा था और उसकी अश्वारोही सेना शत्रुसैन्य को आतंकित कर रही थी, वह स्वयं एक असाध्य रोग से पीड़ित हो गया। उस अवसर पर गुरु चारुकीर्ति ने अपने अद्भुत औषधि प्रयोग से राजा को शीघ्र ही मरीरोग एवं स्वस्थ कर दिया था। किंवदन्ती है कि उन मुनिराज के शरीर को चरकर बालेवाली चादु की रोग शान्त कर देती थी। सन् 1103 ई. में इस राजा ने अपने एक सेनापति मरयन्ने दण्डनायक की तीन सुन्दरी कन्याओं का विवाह सुयोग्य वरों के साथ स्वयं करा दिया था। अगले वर्ष उसने चंगाल्व नरेश को पराजित करके अपने अधीन कर लिया। जगदेव सान्तर ने जब उसकी स्वयं की राजधानी पर आक्रमण किया तो उसे पराजित करके भगा दिया और उसके कोष एवं प्रसिद्ध रत्नहार को हस्तगत कर लिया। बल्लाल प्रथम ने शशकपुर से हटाकर अपनी राजधानी बेल्लूर में बनायी।

विष्णुवर्धन होयसल (1106-1141 ई.)—बल्लाल प्रथम का अनुज एवं उत्तराधिकारी था। उसका मूल नाम बिट्टिम या बिट्टिदेव था, किन्तु इतिहास में वह विष्णुवर्धन होयसल के नाम से विशेष प्रसिद्ध है। वह होयसल वंश का सर्वप्रसिद्ध नरेश है, जो भारी योद्धा, महान् विजेता एवं अत्यन्त शक्तिशाली था। साथ ही वह बड़ा उदार, दानी, सर्वधर्मसहिष्णु और भारी निर्माता था। उसने द्वारसमुद्र (हलेबिड) को अपनी राजधानी बनाया—उस सुन्दर नगर के निर्माण एवं विकास का मुख्य श्रेय इसी नरेश को है। उसने चालुक्यों की पराधीनता से स्वयं को प्रायः मुक्त कर लिया, चोलों को भी अपने देश से निकाल भगाया और इस प्रकार अपने राज्य को साम्राज्य का रूप देना प्रारम्भ कर दिया था। उत्तरकालीन वैष्णव किंवदन्तियों के आधार से आधुनिक इतिहास पुस्तकों में प्रायः यह लिखा पाया जाता है कि वैष्णवाचार्य रामानुज ने इस राजा के समक्ष जैनों को शास्त्रार्थ में पराजित करके राजा को वैष्णव बना लिया था; परिणामस्वरूप राजा ने अपना नाम विष्णुवर्धन रख लिया, जैनों पर अत्याचार किये, उनके गुरुओं की घानी में पिलाया दिया, श्रवणबेलगोल के बाहुबलि की मूर्ति को तथा अन्य अनेक जैन मूर्तियों और मन्दिरों को तुड़वा दिया, उनके स्थान में वैष्णव मन्दिर बनवाये और वैष्णव धर्म के प्रचार को अपना प्रधान लक्ष्य बनाया था। किन्तु यह सब कथन सर्वथा मिथ्या, अय्यार्थ एवं भ्रमपूर्ण है। रामानुजाचार्य चोल राज्य के अन्तर्गत श्रीरंगम के निवासी, विशिष्टाद्वैती दार्शनिक थे और उन्होंने श्रीवैष्णव मत के नाम से मध्यकालीन वैष्णव धर्म का आविर्भाव किया। उस मत के पुरस्कर्ता एवं समर्थ प्रचारक वह थे, इतना तो सत्य है। परन्तु वह स्वयं धार्मिक अत्याचार के शिकार थे। चोलनरेश अधिराजेन्द्र कडूर शैव था। उसके पूर्वजों के समय में तो रामानुज जैसे-तैसे रहे, किन्तु वह स्वयं इन पर अत्यन्त कुपित था और उसी

के अत्याचारों से पीड़ित होकर वह अपनी जन्मभूमि से किसी तरह प्राण बचाकर भागे थे। उसका उत्तराधिकारी कुलोत्तुंग चोल जैनधर्म का पोषक था, अतएव उसके समय में भी वह वापस स्वदेश न जा सके और धूमते-धूमते अन्ततः कर्णाटक में उन्होंने इस नवीदित एवं शक्तिशाली नरेश विष्णुवर्धन की शरण ली। यह घटना 1116 ई. के लगभग की है, और उस समय रामानुज पर्याप्त वृद्ध हो चुके थे। विष्णुवर्धन विद्वानों का आदर करनेवाला, उदार, सहिष्णु और समदर्शी नरेश था। उसने इन आचार्य को शरण दी, अभय और प्रश्रय भी दिया। सम्भव है कि उसकी राजसभा में कतिपय जैन विद्वानों के साथ रामानुज के शास्त्रार्थ भी हुए हों, इनकी विद्वत्ता से भी राजा प्रभावित हुआ हो और उन्हें अपने राज्य में स्वमत का प्रचार करने की छूट भी उसने दे दी हो। एक-दो विष्णु-मन्दिर भी राजधानी द्वारसमुद्र में उस काल में बने, और उनके निर्माण में राजा ने भी द्रव्य आदि की कुछ सहायता दी हो, यह भी सम्भव है। यह सब होते हुए भी विष्णुवर्धन होयसल ने न तो जैनधर्म का परित्याग ही किया, न उस पर से अपना संरक्षण और प्रश्रय ही उठाया और न वैष्णव धर्म को ही पूर्णतया अंगीकार किया—उसे राज्यधर्म घोषित करने का तो प्रश्न ही नहीं था। राजा का मूल कन्नडिग नाम बिट्टिग, बिट्टिदेव या बिट्टिवर्धन था, जिसका संस्कृत रूप 'विष्णुवर्धन' था। यह नाम उसका प्रारम्भ से ही था, रामानुज के सम्पर्क या तथाकथित प्रभाव में आने के बहुत पहले से था, अन्यथा स्वयं जैन शिलालेखों में उसका उल्लेख इस नाम से न होता। इसके अतिरिक्त, 1121 ई. में महाराज विष्णुवर्धन ने अपने प्रधान सेनापति गंगराज के एक आत्मीय सौवर्ण की प्रार्थना पर हादिरवागिलु जैन बसदि के लिए दान दिया था और 1125 ई. में जैनगुरु श्रीपाल त्रैविद्य का सम्मान किया था। चामराजपट्टन तालुके के शल्य नामक स्थान से प्राप्त 1125 ई. के शिलालेख के अनुसार अदियम, पल्लव नरसिंहवर्म, कोंग, कल्पाल, अंगर आदि भूपतिधों के विजेता इस होयसल नरेश ने शल्यनगर में भक्तिपूर्वक एक जैन विहार बनवाया और इस बसदि के लिए तथा उसमें जैन मुनियों के आहार आदि की व्यवस्था के लिए 'वादीमसिंह', 'वादिकोलाहल', 'तार्किक-चक्रवर्ती' आदि विरुद प्राप्त, स्वर्णनायक विद्वान् जैनगुरु श्रीपालदेव को वही ग्राम तथा अन्य समुचित दानादि समर्पित किये थे। सन् 1129 ई. में राजा ने वेलूर-स्थित मल्लिनाथ जिनालय के लिए दान दिया था, और 1130 ई. में उसके महासेनापति गंगराज के पुत्र कोप्प ने रुवारि द्रोहघरट्टाचारि कन्ने द्वारा राज्याश्रय में शान्तीश्वर-बसदि नामक जिनमन्दिर का निर्माण कराया था। इसी नरेश के शासनकाल में उसके दो दण्डनायकों—वरत और मरियाने ने, जो परस्पर सहोदर थे, पाँच बसदियों निर्माण करायी थीं, जिनमें से एक काणूरगण के लिए और चार देशीगण के लिए थीं। इस उपलक्ष्य में काणूरगण-तिन्त्रिणीगच्छ के गुरु मुनिचन्द्र के शिष्य मेघचन्द्रसिद्धान्ति को दान दिया गया था। राजा के अनुचर-गुणशील-व्रतनिधि पेग्गडे मल्लिनाथ ने, जो

नयकीर्ति एवं मानुकीर्ति मनीन्द्रों का परम भक्त था, 1131 ई. में राज्याश्रय में एक सुन्दर जिनालय बनवाया, जिसे उसमें धन से पुष्ट किया और स्वयं महाराज ने भी उसमें योग दिया। हलेविड के निकट स्थित बस्तिहल्लि की प्रतिष्ठा पार्श्वनाथ-बसदि का 1133 ई. का शिलालेख भी विष्णुवर्धन होयसल को परम आस्थावान् जैन सिद्ध करता है। उसके महादण्डाधिप (सेनापति) बोण्य और एचिराज ने राजधानी द्वारसमुद्र (हलेविड, हस्तिहल्लि उसी का एक भाग था) में द्रोहधरट्ट नामक भव्य जिनालय का निर्माण कराया था। मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर हुए भगवान् जिनेन्द्र के अभिषेक का पवित्र गन्धोदक लेकर उस मन्दिर का पुजारी राजा के पास बंकापुर पहुँचा, जहाँ वह उस समय छावनी डाले पड़ा था। तभी-तभी वह मसण कदम्ब नामक एक दुर्धर शत्रु सामन्त का संहार करके विजयी हुआ था, और तभी उसकी रानी लक्ष्मी महादेवी ने एक पुत्र प्रसव किया था। इस त्रिविध संयोग से राजा अत्यन्त आनन्दित हुआ, पूजकाचार्य को देखकर बालाल सिद्धसे से उठा हुआ, करबल्ल नमस्कार करके उसका स्वागत किया और भगवान् के चरणोदक को भक्तिपूर्वक मस्तक पर चढ़ाकर कहा कि 'भगवान् विजय-पार्श्वदेव की प्रतिष्ठा के पुण्य फल से ही मैंने यह विजय और पुत्र प्राप्त किये हैं।' उसने उक्त मन्दिर का नाम भी विजय-पार्श्वदेव-बसदि निश्चित किया और उसके नाम पर ही सद्यःज्ञात राजकुमार का नाम भी विजय-नरसिंहदेव रखा तथा उक्त जिनालय के लिए जावगल नाम का एक पूरा ग्राम भेंट किया। उसी अवसर पर अन्य लोगों ने भी उक्त जिनालय के लिए भूमि आदि के दान दिये थे। उपर्युक्त अभिलेख में विष्णुवर्धन होयसल की अनेक विजयों और युद्ध-पराक्रमों का उल्लेख करते हुए उसकी विपुल गुण-प्रशंसा की है और अनेक विरुद दिये हैं जिनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं—वीरगंग, त्रिभुवनमल्ल, शरणागत-वज्र-पंजर, विबुध-जन-कल्पवृक्ष, चतुस्समय-समुद्धरण (मुनि-आर्यिका-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध संघ का संरक्षण करनेवाला), शस्तोदय-पुण्य-पुंज, वासन्तिकादेवी-लब्धवर-प्रसाद एवं मल्लिकामोद। सौम्यनाथकी जिनालय के 1137 ई. के शिलालेख में राजा के एक अन्य कृपापात्र दण्डनायक विट्टियण ने राजधानी द्वारसमुद्र में विष्णुवर्धन-जिनालय नाम का मन्दिर बनवाया था और उसके लिए राजा से प्राप्त करके एक गाँव तथा अन्य भूमियाँ प्रदान की थीं। इस लेख में भी राजा के वीर्य, शौर्य और विजयों एवं गुणों की प्रभूत प्रशंसा है और उसे सरस्वती-निवास बताया है। सिन्दगेरे के 1138 ई. के शिलालेख में तथा श्रवणबेलगोल आदि के कई अन्य अभिलेखों में भी उसके नाम के साथ 'सम्यक्त्व-चूडामणि' उपाधि प्रयुक्त की गयी है। उस शिलालेख में राजा द्वारा अपने दो अन्य जैन दण्डनायकों की प्रार्थना पर एक जिनालय के लिए ग्रामदान का उल्लेख है। रामानुजाचार्य के साथ सम्पर्क होने के बीस-बाईस वर्ष बाद भी, जब शायद उक्त आचार्य की मृत्यु भी हो चुकी थी, विष्णुवर्धन द्वारा अपने लिए 'सम्यक्त्व-चूडामणि'

विरुद का प्रयोग जैनधर्म के प्रति उसकी धार्मिक निष्ठा का ही सूचक है। यह प्रतापी नरेश प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म का उदार अनुयायी रहा, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वह स्वयं ही नहीं, बल्कि उसकी रानियाँ, पुत्र-पुत्रियाँ, परिवार के अन्य सदस्यों और मन्त्री, सेनापति, राजपुरुष, सामन्त-सरदारों में से अधिकतर जैनधर्म के अनुयायी थे। विशेषकर महारानी शान्तलदेवी, राजकुमारी हरियम्बरसि, युवराज विजय-नरसिंह परम जैन थे। इनके अतिरिक्त गंगराज, बोप्प, पुणिस, ऐचि, बलदेव, मरियाने, भरत और बिष्टियण नाम के उसके आठ महाप्रण्ड सेनापति परम जिनभक्त थे। इन्हीं जैन महावीरों ने विष्णुवर्धन को अनेक महत्वपूर्ण युद्धों में विजयी बनाकर होयसल राज्य को सुदृढ़, समृद्ध एवं शक्तिशाली बनाया था।

महारानी शान्तलदेवी—महाराज विष्णुवर्धन पोयसल की पहमहिषी थीं। राजा की लक्ष्मीदेवी आदि अन्य कई रानियाँ थीं, जिन सबमें प्रधान एवं ज्येष्ठ होने के कारण यह पहमहादेवी कहलाती थीं। क्योंकि अपनी सपत्नियों को यह नियन्त्रण में रखती थीं। इनका विरुद 'उद्वृत्त-सवति-गन्धवारण', अर्थात् उच्छृंखल सौतों के लिए मत्तहस्ति प्रसिद्ध हो गया था। अपनी सुन्दरता एवं संगीत, वाद्य, नृत्य आदि कलाओं में निपुणता के लिए वह विदुषीरत्न सर्वत्र विख्यात थीं। इनके पिता मारसिंगय्य पेग्गि कट्टर शैव थे, किन्तु जननी माचिकब्बे परम जिनभक्त थीं। रानी के नाना बलदेव, मामा सिमिमय्य, अनुज दुहमहादेव तथा मामी, बहन, भावजें आदि भी जैनधर्म के अनुयायी थे। स्वयं महारानी शान्तलदेवी बड़ी जिनभक्त और धर्मपरायण थीं। मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय के मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव के प्रधान शिष्य प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेव रानी के गुरु थे—उनकी यह गृहस्थशिष्या थी। इस धर्मात्मा महारानी ने श्रवणबेलगोल पर अपने नाम पर सवति-गन्धवारण-बसति नाम का एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय बनवाया था, जिसका श्रीमण्डप 69 फुट लम्बा और 35 फुट चौड़ा है। सन् 1122 ई. के लगभग महारानी ने उक्त जिनालय में भगवान् शान्तिनाथ की पाँच फुट उलुंग एवं कलापूर्ण प्रभावलि संयुक्त मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। जिन प्रतिमा के दोनों ओर दो चौरीवाहक खड़े हैं, सुकनासा में यक्ष-यक्षी, किम्पुरुष और महामानसी की मूर्तियाँ हैं। गर्भगृह के ऊपर सुन्दर शिखर हैं और मन्दिर की बाहरी दीवारें कलापूर्ण स्तम्भों से अलंकृत हैं। यह बसदि अब भी उस स्थान का अति सुन्दर मन्दिर माना जाता है। महारानी ने 1123 ई. में जिनाभिषेक के लिए वहाँ गंग-समुद्र नाम के सुन्दर सरोवर का निर्माण कराया था और बसदि में नित्य देवार्चन तथा उसके संरक्षण आदि के लिए राजा की प्रसन्नता से प्राप्त एक ग्राम स्वगुरु को भेंट किया था। उक्त बसदि के आचार्यपद पर उक्त प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तदेव के शिष्य मुनि महेन्द्रकीर्ति को नियुक्त किया गया था। अपने अनुज दुहमहादेव के साथ रानी ने एक ग्राम वीर-कोमाल्व-जिनालय के लिए भी प्रदान किया था। सन् 1028 की चैत्र शुक्ल पंचमी सोमवार के दिन महाप्रतापी विष्णुवर्धन

होयसल की इस प्रिय पट्ट-महादेवी महारानी शान्तलदेवी ने शिवगंगे नामक स्थान में, सम्भवतया स्वगुरु की उपस्थिति में, धर्मध्यान-पूर्वक स्वर्गगमन किया था। श्रवणबेलगोल के पीठाचार्य चारुकीर्तिदेव के गृहस्थ शिष्य बोकिमय्य नाम के लेखक द्वारा रचित तथा पूर्वोक्त सर्वाति-गन्धर्वारण-वसति के शिष्य के तीसरे स्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख में महारानी के स्वर्गगमन की घटना का वर्णन करते हुए उसके गुणों एवं धर्मकार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। लेख में उसे द्वितीय लक्ष्मी, अभिनवरुविमणी, पति-हित-सत्यमामा, पतिव्रता-प्रभाव-प्रसिद्ध-सीता, उद्वृत्त-सर्वाति-गन्धर्वारण, गीत-वाद्य-सूत्रधार, मनोजराज-विजय-पताका, निजकुलाभ्युदय-दीपक, प्रत्युत्पन्नवाचस्पति, विवेक-बृहस्पति, लोकैकविख्यात, व्रतगुणशील-चारित्र-अन्तःकरण, पुण्योपार्जनकरणकारण, सकलबन्दीजन-चिन्तामणि, मुनिजन-विमोचन-विनीत, चतुःसमय-समुद्धरण, जिनधर्म-कथा-कथन-प्रमोद, आहाराभयभैषज्यशास्त्रदान-विनोद, भव्यजन-वत्सला, जिनसमय-समुदित-प्राकार, जिनधर्मनिर्मल, जिनगन्धोदक-पवित्रीकृत-उत्तमांग और सम्यक्त्वचूडामणि कहा है। इसमें सन्देह नहीं है कि इस धर्मात्मा महारानी के उपर्युक्त विरुद्ध-सार्थक थे।

माचिकब्बे—महारानी की धर्मात्मा जननी माचिकब्बे दण्डाधीश नागवर्म और उनकी भार्या चन्दिकब्बे के पुत्र प्रतापी दण्डनायक बलदेवी की पुत्री थी और उनकी जननी का नाम वाचिकब्बे था। पति मारसिगय्य को छोड़कर माचिकब्बे का शेष समस्त परिवार परम जिनभक्त था। परिवार के सभी पुरुष कई पीढ़ियों से प्रसिद्ध पराक्रमी वीर सेनानायक एवं सामन्त रहते आये थे। पुत्री शान्तलदेवी के निधन से माता माचिकब्बे को अत्यन्त दुख हुआ और वह संसार से विरक्त हो गयीं। अतः उन्होंने श्रवणबेलगोल में जाकर अपने गुरुओं प्रभाचन्द्र, वर्धमान और रविचन्द्र की उपस्थिति में एक मास का अनशनपूर्वक सल्लेखना व्रत लिया और समाधिपरण किया। उक्त मुनिराजों ने उस साध्वी के तप-संयम एवं निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की थी।

राजकुमारी हरियम्बरसि—अपरनाम हरियलदेवी, विष्णुवर्धन होयसल की सुपुत्री थी, और उसके ज्येष्ठ पुत्र त्रिभुवनमल्लकुमार बल्लालदेव की छोटी बहनों में सबसे बड़ी थी। राजकुमार अपनी इस धर्मात्मा बहन से बहुत स्नेह करता था। राजकुमारी का विवाह सिंह नामक एक वीर सामन्त के साथ हुआ था और उसके गुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के माघनन्दि के शिष्य गण्डविमुक्त-सिद्धान्तदेव थे, जिनकी वह गृहस्थ शिष्या थी। वह गुरु भी अपनी विद्वता और प्रभाव के लिए जगत्-विख्यात थे। हन्तूर नामक स्थान के एक ध्वस्त जिनालय में प्राप्त 1130 ई. के शिलालेख से ज्ञात होता है कि उस काल में वह नगर कोडिंगिनाडु के पलेवाडि प्रान्त में स्थित था, और कोडिंगिनाडु का तत्कालीन शासक उपर्युक्त कुमार बल्लालदेव था। राजकुमारी ने अपने गुरु की प्रेरणा और भाई के सहयोग से, स्वद्रव्य से उक्त इन्तिवूर

नगर में एक अत्यन्त विशाल एवं मनोरम जिनालय बनवाया, जो रत्न-खचित तथा सुन्दर मणिमयी कलशों से युक्त शिखरोंवाला उत्तुंग चैत्यालय था। उक्त जिनालय में भगवान् की नित्य पूजा के लिए, साधुओं के आहारदान और असहाय वृद्धा स्त्रियों को शीत आदि से रक्षा हेतु आवास एवं भोजन आदि की सुविधा देने के लिए तथा जिनालय के खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धार आदि के लिए समस्त राज-करों से मुक्त कराकर बहुत-सी भूमि भाई बल्लालदेव द्वारा स्वगुरु गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक राजकुमारी ने समर्पित करायी थी। इस दान शासन को मल्लिनाथ नाम के लेखक ने रचा था और मणिभोज के पुत्र 'वेश्याभुजंग' विरुद्धारी शिल्पी बलकोज ने उसे उत्कीर्ण किया था। लेख में राजकुमारी हरियलदेवी की तुलना सीता, सरस्वती, सुसीमा, रुक्मिणी आदि प्राचीन महिलारत्नों के साथ की गयी है और उसे पतिपरायण, चतुर्विधदान-तत्पर, विदुषी, गुणवान्, भगवत्-अर्हत्-परमेश्वर के चरण-नख-मयूख से जिसका ललाट एवं पलक-युग्म सुशोभित होते रहते थे, और सम्यक्त्वचूडामणि लिखा है। उपर्युक्त दान में राजकुमारी के पिता महाराज विष्णुवर्धन की सहमति थी।

सेनापति गंगराज—गंग, गंगण, गंगपथ्य, गंगराज विष्णुवर्धन, होयसल के सेनापतियों में सर्वप्रधान था। वह जैसा शूरवीर, योद्धा और युद्धविजेता, सैन्यसंचालक और सुदक्ष राजनीतिज्ञ था, वैसा ही स्वामिभक्त, धर्मात्मा और परम जिनभक्त था। उसका प्रपितामह कौण्डिन्यगोत्रीय द्विज नागवर्म था, जो ब्राह्मण होते हुए भी 'जिनधर्माग्रणी' था। नागवर्म का पुत्र धर्मात्मा भारमथ्य था जिसकी पत्नी का नाम माकणब्बे था। इस दम्पती का पुत्र एच या एचिराज अपरनाम बुधमित्र था जो नृपकाम होयसल का आश्रित मन्त्री एवं सेनानायक था और मल्लूर के कनकनन्दि गुरु का गृहस्थ शिष्य था। उसकी भार्या अत्यन्त गुणवती एवं धर्मात्मा पोचिकब्बे थी जिसने अनेक धर्म कार्य किये थे, दान दिये थे, बेलगोल में भी अनेक मन्दिर बनवाये थे, और अन्त में 1121 ई. में समाधिमरणपूर्वक देह का त्याग किया था। इस धर्मात्मा दम्पती के सुपुत्र बम्मचमूप और गंगराज थे। बम्म भी होयसल नरेश के वीर सेनापति थे और उनका पुत्र एचिराज विष्णुवर्धन का प्रसिद्ध दण्डनायक था। बम्मचमूप के छोटे भाई और एचिराज के चाचा यह सुप्रसिद्ध गंगराज थे। इनकी भार्या विदुषी एवं धर्मपरायणा लक्ष्मीदेवी (लक्ष्मीमति, नागल्लदेवी या लक्कले) दण्डनायकिनी थीं जिन्हें अपने पति की 'कार्यनीतिवधू' और 'रणजयवधू' कहा गया है। आहार-अभय-औषधि-शास्त्र, इन चारों दानों को सतत देकर उन्होंने 'सौभाग्यस्नान' की उपाधि प्राप्त की थी। लक्ष्मीदेवी ने श्रवणबेलगोल में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था जो एरुक्कट्टे-बसदि के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होंने अन्यत्र भी कई जिनालय बनवाये थे, और अन्त में संन्यासविधिपूर्वक शरीर त्याग्य था। इस

महिलारत्न के गुरु शुभचन्द्र तिद्धान्तिदेव थे। स्वयं गंगराज के भी वही गुरु थे। गंगराज और लक्ष्मीमति का पुत्र शोण्य दण्डेश था।

अपनी शूरवीरता, महापराक्रम, राज्यसेवाओं और धर्मोत्साह के प्रताप से गंगराज ने समधिगत-पंचमहाशब्द, महासामन्ताधिपति, महाप्रचण्ड-दण्डनायक, महाप्रधान, वैरिभयदायक, द्रोहशरद्व, विष्णुवर्धन-भूपाल-होयसलमहाराज-राज्याभिषेक-पूर्णकुम्भ, गोत्रपवित्र, भव्यजनहृदयप्रमोद, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र-दान-विनोद, धर्महर्म्योद्धरण-मूलस्तम्भ, बुधजनमित्र, श्रीजैनधर्माभूताम्बुधि-प्रवर्द्धन-सुधाकर और सम्यक्त्व-रत्नाकर-जैसी सार्धक एवं महत्त्वपूर्ण पदवियाँ, विरुद और उपाधियाँ प्राप्त की थीं। होयसलों के शिलालेखों से प्रतीत होता है कि अपने बड़े भाई बल्लाल प्रथम की मृत्यु के उपरान्त, दूसरे भाई उदयादित्य के विरोध और पाण्ड्य एवं तान्त्रियों की शत्रुता के कारण जब विष्णुवर्धन की स्थिति अत्यन्त डौंदाडोल थी तो यह गंगराज का ही पराक्रम एवं कौशल था कि उसने समस्त शत्रुओं का दमन करके विष्णुवर्धन का मार्ग निष्कण्टक कर दिया और उसे सिंहासमारुह करके उसके विधिवत राज्याभिषेक कर दिया था। स्वभावतया वह महाराज विष्णुवर्धन होयसल का दाहिना हाथ बने गये, और अन्त तक बना रहा। इस नरेश के सम्मुख गंगवाडि प्रदेश से एवं उसकी राजधानी तलकाड से चोलों को निकाल बाहर करने की समस्या प्रमुख थी। यह कार्य भी उसने गंगराज को ही सौंपा, और 1117 ई. तक वह इस कार्य में पूर्णतया सफल हुआ। उसने कर्णाटक में नियुक्त राजेन्द्र चोल के तीनों सामन्तों, आदियम, दामोदर एवं नरसिंहवर्म को पूर्णतया पराजित करके चोलों को उस देश से बाहर निकाल भगाया और तलकाड पर अधिकार कर लिया। महाराज ने प्रसन्न होकर गंगराज से इच्छित पुरस्कार माँगने के लिए आग्रह किया तो उस धर्मवीर ने गंगवाडि देश को माँगा, क्योंकि वह प्रान्त प्राचीन जैन-तीर्थों और जिनमन्दिरों से भरा था जिनमें से अनेक को धर्मद्वेषी चोलों ने ध्वस्त या नष्ट कर दिया था, और गंगराज को उनका जीर्णोद्धार एवं संरक्षण करना था। यह महत् कार्य उसने बड़ी उदारता एवं तत्परता के साथ किया भी। पुरस्कार में प्राप्त गंगवाडि—96,000 प्रान्त की समस्त आय उसने प्राचीन ध्वस्त मन्दिरों के जीर्णोद्धार एवं संरक्षण, नवीन मन्दिरों के निर्माण, श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों की उन्नति तथा अन्य विविध रूपों में जिनधर्म की प्रभावना के हितार्थ व्यय की। शिलालेखों में उसकी तुलना गोम्मट-प्रतिष्ठापक गंग-सेनापति महाराज चामुण्डराय से की गयी है। देशीगण-पुस्तक-गच्छ के कुक्कुटासन-मलधारीदेव के शिष्य दर्शनमहोदधि शुभचन्द्र-सिद्धान्तिदेव उसके गुरु थे, जिन्हें उसने 1118 ई. में ही एक ग्राम पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित किया था। अन्य भी अनेक दान दिये थे। राजधानी द्वारसमुद्र की पार्श्वनाथ-बसदि में भी उसने अनेक जिनप्रतिभाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं, अन्यत्र भी अनेक मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण एवं प्रतिष्ठा करायी थी। अपनी धर्मपत्नी, पुत्र एवं परिवार के अन्य सदस्यों के द्वारा किये गये धार्मिक कार्यों में भी

उसका पूरा सहयोग रहता था। अपनी माता और पत्नी के समाधिमरण की स्मृति में उसने श्रवणबेलगोल में स्मारक भी स्थापित किये थे। उसने गोम्मटेश्वर का परकोटा बनवाया था और श्रवणबेलगोल के निकट जिननाथपुर नामक जैननगर बसाया था। वह प्राचीन कुन्दकुन्दान्वय के उद्धारक कहे गये हैं। धर्मबल से गंगराज अलौकिक शक्ति के स्वामी हो गये थे। एक शिलालेख में लिखा है कि जिस प्रकार पूर्वकाल में जिनधर्माग्रणी अतिथिव्वरसि (अतिमन्त्रि) के प्रभाव से गोदावरी नदी का प्रवाह रुक गया था, उसी प्रकार कावेरी नदी के पूर से घिर जाने पर भी, जिनभक्ति के प्रसाद से गंगराज की लेशमात्र भी क्षति नहीं हुई। जब वह कन्नौगल में चालुक्यों को पराजित करके लौटे तो विष्णुवर्धन महाराज ने उनसे वरदान माँगने के लिए कहा। उन्होंने परम नामक ग्राम माँगकर उसे अपनी माता तथा भार्या द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरों को भेंट कर दिया। इसी प्रकार राजा से गोविन्दवाडि ग्राम प्राप्त करके गोम्मटेश्वर को अर्पण कर दिया। जो पुरस्कार पाया, सदैव इस प्रकार दान देने में ही उसका उपयोग किया। ऐसा जिनभक्त एवं धर्मोत्साही होते हुए भी उसका धर्म उसकी राजनीति में और उसके स्वामी के कार्य में कभी बाधक नहीं हुआ, सदैव साधक ही हुआ। उसने खेलों के अतिरिक्त कौमुदेश और चंगेरि को भी अपने स्वामी के लिए विजय किया और कई दुर्धर सामन्तों का दमन किया। होयसलों ने चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ के सामन्त त्रिभुवनमल्ल पाण्ड्य को पराजित करके उससे उच्छङ्गी का प्रसिद्ध दुर्ग छीन लिया था, जिसका बदला लेने के लिए स्वयं चालुक्य सम्राट् ने अपने ब्राह्म महाबली सामन्तों सहित होयसल राज्य पर आक्रमण कर दिया। विष्णुवर्धन ने तुरन्त गंगराज को दक्षिण से बुलाकर चालुक्यों के विरुद्ध उत्तर में भेजा और इस महावीर सेनाधिपति ने चालुक्य सम्राट् तथा उसके उन महासामन्तों को बुरी तरह पराजित करके अपने राज्य की सीमा से बाहर कर दिया। यह घटना 1118 ई. की है। गंगराज की इन चमत्कारिक विजयों का महत्त्व असीम था। इन विजयों ने होयसलों को स्वतन्त्र ही नहीं, अत्यन्त शक्तिशाली भी बना दिया। इसी कारण शिलालेखों में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्द्र का वज्र, बलराम का हल, विष्णु का चक्र, शक्तिधर की शक्ति और अर्जुन का गाण्डीव था, उसी प्रकार विष्णुवर्धन नरेश के परम सहायक—उसकी वास्तविक शक्ति गंगराज थे। उन्हें 'विष्णुवर्धन पोयसल महाराज का राज्योत्कर्षकर्ता' ठीक ही कहा गया है। यह आदर्श जैन धर्मवीर एवं कर्मवीर जैसे उदार एवं प्रगतिवादी विचारों का प्रबुद्ध नरश्रेष्ठ था, यह इस बात से प्रकट होता है जो वह कहा करता था कि सात नरक तो वास्तव में यह हैं—झूठ बोलना, युद्ध में पीठ दिखाना, परदासरत होना, शरणार्थियों को शरण न देना, अधीनस्थ को अपरितृप्त रखना, जिन्हें पास रखना चाहिए उनका परित्याग करना और स्वामी से द्रोह करना। सन् 1132-33 ई. के लगभग गंगराज स्वर्गस्थ हुए।

दण्डनायक बोप्प—सेनापति गंगराज का सुयोग्य सुपुत्र दण्डेश बोप्पदेव भी

बड़ा शूरवीर और धर्मिष्ठ था। अपने स्वभामधन्य जनक-जननी का आदर्श उसका सतत प्रेरक था। शिलालेखों में उसे 'बुध-बन्धु', 'सतां बन्धु'—जैसे विरुदों के साथ याद किया गया है। आचार्य शुभचन्द्र, प्रभाचन्द्र और नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके गुरु थे। प्रसिद्ध दण्डनायक भरत और मरियाने उसके साने थे। सन् 1133 ई. में बोध्य ने अपने प्रिय पिता 'द्रोहघरट्ट' गंगराज की पुण्यस्मृति में द्रोहघरट्ट-जिनालय नाम का एक मनोहर जिनभवन राजधानी द्वारसमुद्र के केन्द्रस्थल में बनवाया था। इसी जिनालय के जिनाभिषेक का गन्धोदक मस्तक पर चढ़ाकर राजा ने उसका नाम विजय पार्श्व-जिनालय रखा था और उसके हेतु दान आदि दिये थे। तदनन्तर वीर दण्डनायक बोध्य ने राज्य के शत्रुओं पर आक्रमण किया और उनकी प्रबल सेना को खदेड़कर कोंगों को बुरी तरह पराजित किया था। सन् 1135 ई. में बोध्य ने अपने भाई (ताऊ के पुत्र) दण्डनायक एचिराज के समाधिभरण कर लेने पर उसकी निषद्या (स्मारक) निर्माण करायी और उसके द्वारा निर्मापित जिनमन्दिरों के लिए गंगसमुद्र की कुछ भूमि शुभचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्रदेव को प्रदान की। उसने श्रवणबेलगोल में 1138 ई. में बोध्यनैत्यालय अपरनाम त्रैलोक्यरंजन-जिनालय निर्माण कराया। उसमें प्रतिष्ठापित नेमिनाथ-प्रतिमा को उपयुक्त बन्धु एचण (एचिराज) की स्मृति संरक्षणार्थ प्रतिष्ठित कराया था। कदम्बहल्लि की श्रान्तीश्वर-बसदि भी इस बोध्य दण्डनायक ने ही बनवायी थी। वह भारी विद्वान् और विद्यारसिक भी था।

जक्कणब्बे दण्डनायककीर्ति—गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्मदेव चम्पूति की भार्या, बोध्य की ताई, एचिराज की माता या विमाता और शुभचन्द्रदेव की गृहस्थ-शिष्या बड़ी धर्मात्मा महिला थी। उसने मोक्षतिलक नामक व्रत किया था, पाषाण में नयणदेव की मूर्ति खुदवायी थी, श्रवणबेलगोल में एक सरोवर बनवाया था और जिनप्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। उस स्थान की चाभुण्डराय-बसदि के 1123 ई. के एक स्तम्भ लेख में इस महिलारत्न के गुणों, जिनभक्ति, गुरुभक्ति आदि की प्रशंसा है। लेख में गुरु शुभचन्द्र के स्वर्गरोहण का तथा जक्कणब्बे द्वारा उनकी निषद्या बनवाने का उल्लेख है।

दण्डनायक एचिराज—गंगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्मदेव चम्पूति का वीर पुत्र था। उसकी माता जक्कणब्बे मुनि भानुकीर्ति की गृहस्थ शिष्या थी। उसी का अपरनाम सम्भवतया जक्कणब्बे था, अथवा यह बम्मदेव की दूसरी पत्नी थी। जक्कणब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी। एक शिलालेख में स्वयं बम्मदेव को वशस्वी, धनपति, विद्यापति और जिनपति-पदाब्जभृंग चम्पूति (सेनापति) कहा है। उनका सुपुत्र यह एच चम्पूति भी बड़ा वीर और धर्मनिष्ठ था। अपने चाचा सुप्रसिद्ध गंगराज और बन्धु बोध्यदण्डेश के लौकिक एवं धार्मिक कार्यों में उनका परम सहायक था। कोप्यणा और श्रवणबेलगोल—जैसे तीर्थों पर उसने अनेक जिनालय बनवाये थे। उसकी भार्या एचिकब्बे भी रूप-गुण-निष्ठान, धर्मात्मा महिला थी और शुभचन्द्रदेव की गृहस्थ-शिष्या

थी। अन्त में जब 1135 ई. में इस कर्मवीर और धर्मवीर एचिराज दण्डनायक ने समाधिस्मरणपूर्वक शरीर का त्याग किया और उसकी स्मृति में बौद्धदेव ने जो स्मारक (निषद्या) बनवाया, दानादिक दिये, उनमें एचिराज की माता बागमह्वे और पत्नी एचिकुब्बे का भी योग था।

बूचण सामन्त—होयसल नरेशों का एक धर्मात्मा सामन्त था और नामले भाता का सुपुत्र तथा शुभचन्द्र-सिद्धान्तिदेव का गृहस्थ-शिष्य था। वह रूपवान्, गुणवान्, शूरवीर, तेजस्वी एवं धर्मिष्ठ राजपुरुष था। उसकी दो बहनें थीं, जिनमें एक देवमति (देवमति) थी जो चामुण्ड नामक प्रतिष्ठित एवं राजमान्य श्रेष्ठि के साथ विवाही थी, दूसरी लक्ष्मले या लक्ष्मीमति सुप्रसिद्ध गंगराज की धर्मात्मा पत्नी थी। ये तीनों भाई-बहन उक्त शुभचन्द्रदेव के गृहस्थ-शिष्य थे। धर्मात्मा देवमती ने 1120 ई. में और धर्मपरायण लक्ष्मीमती ने 1121 ई. में समाधिमरणपूर्वक देहत्याग किया था। उनका धर्मात्मा भाई बूचण उनके पहले ही, 1115 ई. में समाधिमरण द्वारा स्वर्गस्थ हो चुका था। बूचण की धर्मात्मा पत्नी चामले (चामियक्क) माचिराज-वेगडि और मरुदेवी की पुत्री तथा नयकीर्ति की गृहस्थ-शिष्या थी। गुरु के स्वर्गस्थ होने पर 1128 ई. में उसने उनकी स्मृति में तगडूर में जिनालय बनवाया था, जिसके लिए उसने, धर्मात्मा वीर सामन्त चामुण्ड ने और चामले नयकीर्ति को दान दिया था।

दण्डनायक बलदेवगण—विष्णुवर्धन होयसल का एक प्रसिद्ध मन्त्री और वीर सेनानी था। वह राजा आदित्य अपरनाम अरसादित्य की भार्या आचाम्बिके से उत्पन्न उनका तृतीय पुत्र था। उसके ज्येष्ठ भ्राता पम्पराय और हरिदेव तथा भतीजा माधिराज भी महाराज के वीर सेनानी थे और परम जिनभक्त थे। अभिलेखों में उसका मन्त्री चूकाग्रणी, गुणी, सकलसचिवनाथ एवं जिनपादाधि-सेवक-जैसे विशेषणों के साथ स्मरण किया गया है। वह राजा के शत्रुओं का दमन करनेवाला, महासाहसी, परदारविरत, सरस्वती का कण्ठाभरण, यशस्वी, रूपवान् और जिनभक्त था। वह और उसके भाई, तीनों कणाटक-कुल के आभूषण कहलाते थे।

दण्डनाथ पुणिसमय्य—पुणस, पुणिस या पुणिसमय्य महाराज विष्णुवर्धन होयसल का राजदण्डाधीश एवं सन्धिविग्रहिक-मन्त्री था और महासेनापति गंगराज के प्रमुख वीर साथियों में परिगणित था। उसके पूर्वज भी राज्य के अमात्य रहते आये थे। पितामह सकलशासन-वाचक-चक्रवर्ती पुणिसराज दण्डाधीश थे, जिनकी धर्मपत्नी का नाम पोचले था। इस दम्पती के तीन पुत्र थे—चावण (चामराज), कोरप और नागदेव। इनमें से चामराज चगूपति की प्रथम पत्नी अरसिकव्ये से प्रस्तुत मन्त्रीराज पुणिसमय्य दण्डनाथ का जन्म हुआ था। वह बड़ा वीर योद्धा और कुशल सेनानी एवं अनेक युद्धों का विजेता था। नीलगिरि के युद्धों में चोल-नरेश के कई सामन्तों को पराजित करके उसने अपने स्वामी की दक्षिण दिशा की कंजो ही प्रदान

कर दी थी और सुदूर दक्षिण की विजयों के लिए उसका मार्ग प्रशस्त कर दिया था तथा मलय एवं कर्नाट प्रदेशों पर उसका अधिकार करा दिया था। चामराजनगर की पार्श्वनाथ-बसदि के 1117 ई. के शिलालेख में उसकी सामरिक शूरवीरता, पराक्रम और विजयों का वर्णन है और उसके गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा है। उससे पता चलता है कि वह गंगराज के समान ही विशाल हृदय था और उसने धर्म एवं मानवता की समान रूप से सेवा की थी। युद्धों के कारण जो व्यापारी-व्यवसायी निर्धन और विषम हो गये थे, जिन किसानों के पास बोन के लिए बीज नहीं था, जो किरात सरदार हार जाने के कारण अपने परिवार से वंचित हुए यत्र-तत्र नौकरी-चाकरी ढूँढ़ते फिरते थे, उनकी तथा उन अन्य सबकी जिनकी हानि हुई थी, पुणिसमय्य ने क्षतिपूर्ति की, उन्हें सहायता दी और उनके पालन-पोषण की व्यवस्था की थी। इस प्रकार उसने अनगिनत असहाय, निस्सहाय व्यक्तियों की सहायता की। उसकी परोपकार वृत्ति का लाभ जैन और अजैन सबको समान रूप से प्राप्त होता था। उस उदारचेता एवं धर्मानुरागी मन्त्रीश्वर ने अनेक जिनमन्दिर भी बनवाये थे। बिना किसी भयसंचार के उसने प्राचीन गंगनरेशों की भाँति ही गंगवाडि देश की बसदियों को शोभा से सज्जित किया था। एण्णे-नाडु के अरकोट्टार स्थान में उसने त्रिकूट-बसदि बनवायी थी, जिसके लिए 1117 ई. में भूदान किया था। उसकी पत्नी दण्डनायिकिति जकणब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी। सीता और रुक्मिणी के साथ उसकी तुलना की जाती थी। उसी वर्ष उसने एक पाषाणनिर्मित सुन्दर जिनालय बनवाया था, जिसके उत्तर की ओर स्वयं पुणिस ने मूलस्थान-बसदि नामक मनोरम जिनालय बनवाया था। वह बसदि राजधानी के विष्णुवर्धन-पोयसल-जिनालय से सम्बद्ध थी। पुणिस की विमाता चोण्डले का पुत्र विट्ठिय था। महाप्रधान दण्डनायक पुणिसमय्य के गुरु अजितसेन-पण्डितदेव थे जो स्वयं द्रमिलसंघी अनन्तवीर्य के शिष्य थे।

मारियाने और भरत—विष्णुवर्धन होयसल के ये दोनों प्रसिद्ध वीर दण्डनायक एवं मन्त्री परस्पर सगे भाई थे। उनके पूर्वजों का सम्बन्ध होयसल नरेशों के साथ पुराना चलता आता था। राजा विनयादित्य प्रथम होयसल का एक वीर सेनानी मरियाने दण्डनायक (प्रथम) था, जो जाति से भारद्वाजगोत्री ब्राह्मण और धर्म से जैन था। राजा और उसकी रानी कैलेयम्बरति का वह कृपापात्र था। रानी ने राजधानी शशकपुर में ही स्वयं राजा की उपस्थिति में उक्त मरियाने प्रथम का विवाह देकवे-दण्डनायकिति के साथ 1045-46 ई. में करा दिया था और भेंट में उसे आसन्दिनाडु का सिन्दगेरी स्थान प्रदान किया था। देकवे से उसके भाचण और झकरस नाम के दो पुत्र उत्पन्न हुए। मरियाने प्रथम की दूसरी पत्नी चामवे से उत्पन्न तीनों पुत्रियों—पदुमल, चामल और बोप्पदेवी का विवाह बल्लाल प्रथम ने स्वयं 1103 ई. में एक ही मण्डप में सुयोग्य वरों के साथ किया था और उस अवसर पर दूध-पिलायी के रूप में सिन्दगेरी का स्वामित्व मरियाने प्रथम को पुनः प्रदान कर दिया

था। मरियाने प्रथम के पुत्र दण्डनाथ डाकरस की पत्नी येचिकक से प्रस्तुत मरियाने द्वितीय का जन्म हुआ था। उसका सहोदर नाकणधूम था और दूसरा भाई भरत (भरतमव्य, भरतेश्वर) था जो उसकी विमाला दुग्गब्बे से उत्पन्न हुआ था। मरियाने और भरत भ्रातृद्वय ने विष्णुवर्धन होयसल के समय में साथ-साथ अभूतपूर्व उन्नति की। इन वीरों की युगल जोड़ी अपने वीर्य, शौर्य, पराक्रम, राजनीति-कुशलता और धर्मनिष्ठा के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध हो गयी। महाराज ने इन दोनों भाइयों को संयुक्त रूप से सर्वधिकारी, माणिक-भण्डारी तथा प्राणाधिकारी पद प्रदान किये थे। मरियाने दण्डनाथक को अपना 'पट्टदाने' (राज्य-गजेन्द्र) समझकर राजा ने अपना सेनापति बनाया। अपनी धर्मनिष्ठा के लिए इन दोनों शूरवीरों को निरवध-लक्ष्मी-रत्नकुण्डल, नित्य-जिनाभिषेक-निरत, जिनपूजामहोत्साहजनितप्रमोद, चतुर्विध-दान-विनोद आदि विरुद्ध प्राप्त हुए थे। मरियाने गंगराज के जामाता थे और मरियाने एवं भरत की भगिनी गंगराज के पुत्र बोप्पदेव दण्डनाथक के साथ विवाही थी। सिन्धिगेरी की ब्रह्मेश्वर-बसदि के दालान में स्थित स्तम्भ पर उत्कीर्ण 1138 ई. के शिलालेख में भरत दण्डनाथक की अत्यन्त साहित्यिक कलापूर्ण प्रशस्ति प्राप्त होती है, जिससे पता चलता है कि उसका धन जिनमन्दिरों के लिए था, उसकी दया सभी प्राणियों के लिए थी, उसका चित्त जिनराज की पूजा-अर्चा में निरत था, उसका औदार्य सज्जनवर्ग के लिए था और दान सन्मनीन्द्रों के हितार्थ था। उसने श्रवणबेलगोल में अस्सी नवीन बसदियाँ निर्माण करायी थी और गंगवाड की दो सौ पुरानी बसदियों का जीर्णोद्धार करवाया था। ये दोनों भाई देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य माघनन्दि के शिष्य गण्डविमुक्तव्रती के गृहस्थ-शिष्य थे। ये दोनों विष्णुवर्धन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी नरसिंह प्रथम के समय में भी पदारूढ़ थे और उक्त नरेश से उन्होंने 500 होन्न देकर सिन्धिगेरी आदि तीन ग्रामों का प्रभुत्व एक बार फिर प्राप्त किया था। उनका सम्पूर्ण परिवार परम जिनभक्त था। भरतेश्वर ने श्रवणबेलगोल में तीर्थंकर ऋषभदेव के प्रतापी पुत्रों भरत और बाहुबलि की प्रतिमाएँ भी स्थापित की थीं। उनके चहुँओर एक परकोटा बनवाया था, एक विशाल गर्भगृह, रंगशाला और पक्की सीढ़ियाँ बनवायी थीं। भरत की धर्मात्मा पुत्री शान्तलदेवी, जो बृधिराज के साथ विवाही थी, के 1160 ई. के शिलालेख में भरत के उपर्युक्त धर्मकार्यों का विवरण दिया गया है। भरत की धर्मपत्नी हरियले के गुरु मुनि माघनन्दि थे। भरत के पुत्र विट्टिदेव और मरियाने तृतीय थे। मरियाने के पुत्र भरत द्वितीय और बाहुबलि भी बड़े वीर सेनानी और धर्मात्मा थे। बल्लाल द्वितीय के शासनकाल में उन्होंने प्रभूत प्रतिष्ठा प्राप्त की थी। मरियाने द्वितीय की पत्नी जक्कणब्बे से बिम्मलदेवी (बम्मल) नाम की पुत्री उत्पन्न हुई थी जो नरसिंह प्रथम के महाप्रधान जैन वीर पारिस्रण के साथ विवाही थी। मरियाने द्वितीय के पुत्र बोप्प और हेग्गडदेव थे, उनका ही अपरनाम भरत और बाहुबलि रहा प्रतीत होता है।

विष्णु दण्डाधिनाथ—अपरनाम इम्पडि बिहिमय्य महाराज विष्णुवर्धन होयसल का अत्यन्त स्नेहपात्र बालवीर दण्डनायक था। काश्यपगोत्री उदयादित्य की पत्नी शान्तिवर्मा से चिन्नराज उत्पन्न हुआ था जो एरेयंग होयसल का राजमन्त्री एवं दण्डाधीश था। उसकी पत्नी चन्दले से उदयण और बिहिमय्य अपरनाम विष्णु, ये दो पुत्र उत्पन्न हुए थे। विष्णु छोटा पुत्र था जो नव चन्द्रमा की भाँति आकार और यश में निरन्तर बढ़ता चला गया। बाल्यावस्था में ही उसके माता-पिता की मृत्यु हो गयी और स्वयं महाराज विष्णुवर्धन ने उसका पुत्रवत् पालन-पोषण किया तथा बड़े समारोह के साथ उपनयन संस्कार किया। वह बालक इतना व्युत्पन्न था कि थोड़ी ही आयु में अस्त्र-शस्त्र-संचालन तथा अन्य विविध विद्याओं में पारंगत हो गया और महाराज ने उसका विवाह अपने एक राजमन्त्री की कन्या के साथ कर दिया। युवावस्था को प्राप्त होने के पूर्व ही वह बालवीर महाप्रचण्डनायक बना दिया गया था। उसकी कुशाग्र बुद्धि, राजमक्ति, निस्पृहता, संयम और धैर्य से प्रसन्न होकर राजा ने न केवल उसे अपना दण्डनायक ही बनाया, वरन् उसे सर्वाधिकारी पद भी दे दिया। अब वह सकल-जनोपकारी कार्यों को करने की सामर्थ्यवाला हो गया था। एक पक्ष के भीतर ही इस बालवीर सेनापति ने कोंगुदेश पर भीषण आक्रमण करके शत्रु को बुरी तरह पराजित किया और अपने अधीन कर लिया था। अपनी चमत्कारी विजयों के कारण वह थोड़ी आयु में ही महाराज का दाहिना हाथ बन गया। बेलूर के सौम्यनायकी-जिनमन्दिर की छत में उत्कीर्ण 1137 ई. के शिलालेख के अनुसार महाराज विष्णुवर्धन के पादमूल से प्रभूत तथा उन्हीं के कारुण्य-स्नेहरूपी अमृतप्रवाह से परिवर्द्धित इस महाक्रमी दण्डनायक ने आधे महीने के भीतर ही पूरे दक्षिण की (होयसल राज्य के दक्षिणवर्ती देशों की) दिग्विजय कर ली थी—चेर, चोल, पाण्ड्य, पल्लव आदि समस्त देशों को विजय किया था। एतदर्थ उसने सुभद्रचूडामणि, चम्पूचूडारत्न, विष्णुम-प्रियपुत्र, विपुलयशःकल्पवल्ली-विलास, नयविनयवीरवितरण, गुणसम्पन्न, विपश्चित्तजनैकशरण, श्रीमद्-अहंस्परमेश्वर-पद-पयोज-धरचरण आदि विरुद प्राप्त किये थे। इस विष्णुदण्डाधिप ने अनेक पवित्र-तीर्थस्थानों को प्रचुर दानादि दिये थे और अनेक सर्वजनहितोपयोगी कार्य किये थे। तदुपरान्त राजधानी द्वारसमुद्र में विष्णुवर्धन-जिनालय नाम का एक विशाल एवं अत्यन्त भव्य जिनमन्दिर बनवाया था। उसका नामकरण अपने पितृतुल्य स्वामी महाराज के नाम पर ही किया था, और उसकी प्रतिष्ठा में वह सम्मिलित भी हुए थे। मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा कराके 1137 ई. की उत्तरायण संक्रान्ति के दिन विष्णुदण्डाधिप ने महाराज से पुरस्कार स्वरूप बोलसदर ग्राम तथा अन्य भूमि भी प्राप्त करके मन्दिर के खण्डप्रस्फुटित-जीर्णोद्धार, ऋषि-आहारदान और देव की पूजा-अर्चा की व्यवस्था के निमित्त दान कर दी थी। इस बालवीर दण्डनायक के गुरु द्रमिलसंघ-नमिदगण-अरुंग-लान्बय के मल्लिषेण-मल्लधारीदेव के शिष्य जगद्गुरु श्रीपाल-त्रैविद्यदेव थे।

मादिराज—हंगड़े मादय्य, माधव या मादिराज का पिता योगमय्य था और पत्नी उमयब्बे थी। वह विष्णुवर्धन का श्रीकरणद (महाकोष-लेखाधिकारी) एवं मन्त्री था और अपनी वक्तृता से राजसभा को प्रभावित रखता था। श्रीपाल-त्रैविद्य का वह शिष्य था। तुंगभद्रा नदी के किनारे उसने श्रीकरण-जिनालय बनवाकर 1145 ई. में उसके लिए भूमिदान दिया था।

नोलम्बिसेट्टि—विष्णुवर्धन के समय में चोयसल-सेट्टि एवं द्वारसमुद्र-पट्टणसामि, अर्थात् राज्यसेठ एवं नगरसेठ थे और शुभचन्द्र-सिद्धान्ति के गृहस्थ शिष्य थे। उनकी धर्मात्मा, दानशीला एवं जिनभूजाभक्त सेठानी देमिकब्बे ने त्रिकूट-जिनालय, सरोवर, दानशाला आदि बनवाकर 1125 ई. के लगभग बसदि के लिए प्रभूत दान दिये थे। अन्य सेठों से भी दितवाये। भूलनायक पार्श्वनाथ थे। दान दिया गया मुख्य ग्राम अर्हनहल्लि था।

मल्लिसेट्टि और चट्टिकब्बे—दम्बिसेट्टि के पुत्र मल्लिसेट्टि की चलदङ्कराव-होयसल-सेट्टि की उपाधि और अय्यावले (एल्लोर) के शासक का पद मिला था। उसकी जिनधर्म-परायणा, दानशीला भार्या चट्टिकब्बे तुरक्कम्मरस और सुगब्बे की पुत्री थी। उसका पुत्र बूचण्ण था। उन माता एवं पुत्र ने 1137 ई. के लगभग उक्त मल्लिसेट्टि की स्मृति में निषद्या बनवायी थी।

नरसिंह प्रथम होयसल (1141-73 ई.)—विष्णुवर्धन की रानी लक्ष्मीदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र विजय-नरसिंहदेव उसका उत्तराधिकारी हुआ। जन्म समय ही उसका यौवसंज्याभिषेक कर दिया गया था, और अपने पिता की मृत्यु के समय वह केवल 8 वर्ष का बालक मात्र था। वय प्राप्त करने पर भी वह आमोद-प्रमोद में अधिक व्यस्त रहा। उसके समय में साम्राज्य की महत्ता और प्रतिष्ठा की रक्षा उसके प्रतापी पिता के नाम के प्रभाव से तथा उसके स्वामिभक्त, सुयोग्य एवं वीर जैन सेनापतियों और मन्त्रियों की तत्परता के कारण ही हुई। पूर्वोक्त मरियाने, भरत आदि दण्डनायकों के अतिरिक्त देवराज, हुल्ल, पार्श्व, शान्तिगण्ण और ईश्वर जैसे अन्य कई सुयोग्य, कुशल, वीर एवं स्वामिभक्त जैन दण्डनायक तथा मन्त्री उसे प्राप्त हो गये थे। राजा स्वयं जैन था और देव-गुरु का आदर करता था। अपने उक्त जैनवीरों के धर्म कार्यों में वह उत्साह के साथ योग देता था। उनके निर्मापित जिनमन्दिरों में दर्शनार्थ जाता था, उनके लिए दान देता था और उनके नामकरण आदि में भी रुचि लेता था। उसकी 'जयदेकमल्ल' उपाधि यह सूचित करती है कि नाम के लिए ही नहीं, होयसल नरेश अभी तक चालुक्य सम्राटों का आधिपत्य स्वीकार करते थे।

मारि और गोविन्द सेट्टि—विष्णुवर्धन के कृपापात्र महाप्रभु पेम्पडि के ज्येष्ठ पुत्र भीमय्य की भार्या देवलब्बे से दो पुत्र, मसण्णिसेट्टि और मारिसेट्टि हुए। मारि ने द्वारसमुद्र में एक्कोटि-जिनालय नाम का अति उत्तुंग मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र गोविन्द ने मुगुलि में गोविन्द-जिनालय बनवाया था। वह पूरा परिवार परम धार्मिक

था। और दमिलसंधी, श्रीपालदेव एवं उनके शिष्य वासुपूज्य मुनि का वह गृहस्थ-शिष्य था। गोविन्द जिनालय के लिए स्वयं होयसल नरसिंह प्रथम ने 1147 ई. में वासुपूज्य गुरु को धारापूर्वक भूमि दान दिया था। उस अवसर पर भरत-दण्डेश भी उपस्थित थे। अन्य लोगों ने भी दान दिया था।

महाप्रधान देवराज—कौशिकगोत्रीय, विद्वज्जन-अनुरागी एवं जिनपदसेवी देवराज (प्रथम) नाम का ब्राह्मण सज्जन था। उसकी पत्नी कामिकव्ये से उदयादित्य नाम का यशस्वी एवं गुणवान् पुत्र हुआ। उदयादित्य की भार्या किरुगणव्ये से प्रस्तुत देवराज (द्वितीय), सोमनाथ और श्रीधर नाम के तीन सुपुत्र हुए। वह देवराज द्वितीय होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के महाप्रधान थे और उनके गुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के अर्हन्निन्द मुनि के शिष्य एवं नरेन्द्रकीर्ति-त्रैविद्य के सधर्मा मुनिचन्द्र भट्टारक थे। अपने वंश के भूषण उन महाप्रधान देवराज के विरुद्ध सम्यक्स्वरत्नाकर, निखिल-भव्यजनैकार्णवपूर्णचन्द्र, सुहृज्जन-विषद-विद्राघण, भव्यवृद्धामणि, कडुचरितेय आदि थे। उनकी भार्या कामलदेवी श्री जिनेन्द्रदेव के चरण-कमलों की भ्रमरी, अद्वितीय महिलारत्न थीं। देवराज को महाराज ने सूरनाहल्लि नाम का ग्राम पुरस्कार स्वरूप प्रदान किया था, जिसमें इस महाप्रधान ने पार्श्वजिनेन्द्र का अमरेन्द्र के भवन जैसा सुन्दर मन्दिर बनवाया था। उक्त मन्दिर के लिए महाराज से उक्त ग्राम की स्वगुरु मुनिचन्द्रदेव को पाद-प्रक्षालनपूर्वक भेंट करा दिया था। स्वयं महाराज ने मन्दिर के दर्शन करके और प्रसन्न होकर उस स्थान का नाम ही बदलकर 'पार्श्वपुर' रख दिया था। देवराज को होयसल-महीशराज्य-भूभुन्निलय-मणिप्रदीपकलश और श्री जिनधर्मनिर्मल-अम्यर-हिमकर भी कहा गया है।

सेनापति हुल्लराज—याजिवंशतिलक यक्षराज की सुशीला भार्या लोकाम्बिके से उत्पन्न उनके सुपुत्र हुल्ल (हुल्लप्प, हुल्लमय्य) होयसल नरसिंह प्रथम के सेनापतियों एवं मन्त्रियों में सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वमहान् थे। महाप्रधान-सर्वाधिकारी, सचिवाधीश, हिरियभण्डारी, चमूपति, दण्डाधिप आदि पदों पर आरुढ़, इन मन्त्रीश्वर को राजनीति में बृहस्पति से भी अधिक प्रवीण, शासन-प्रबन्ध में यौगन्धरायण से भी अधिक कुशल और साम्राज्य के संरक्षण में अभिनवगंगराज, तत्कालीन शिलालेखों में बताया गया है। वह नयकीर्ति-सिद्धान्तदेव के गृहस्थ-शिष्य थे, और कुक्कुटासनमलधारीदेव उनके व्रतगुरु थे, जिनके घरणों में नमन करने में वह अत्यन्त प्रसन्नता अनुभव करते थे। महामण्डलाचार्य देवकीर्ति तथा अन्य अनेक तत्कालीन मुनिनाथों के वह भक्त थे। उनकी सुन्दरी, विदुषी एवं धर्मात्मा पत्नी का नाम पद्मलदेवी या पद्मावती था, जो ललना-रत्न, रूप-शील-गुण-निधान थी। हुल्ल के लक्ष्मण और अमर नाम के दो छोटे भाई थे और पुत्र नरसिंह था जो बल्लाल द्वितीय का सचिवाधीश हुआ। महामन्त्रीश्वर एवं महासेनापति के रूप में तथा जैनधर्म के प्रभावक के रूप में सर्वत्र हुल्लराज की ख्याति थी। परम जिनभक्त होने के साथ

ही साथ वह अत्यन्त विचक्षण राजनीतिज्ञ एवं वीर योद्धा था। विष्णुवर्धन होयसल के समय में ही उसकी नियुक्ति हो गयी थी। नरसिंह के पूरे शासनकाल में वह राजा का दाहिना हाथ रहा और उसके उत्तराधिकारी बल्लाल द्वितीय के समय में भी अपने पदों पर बना रहा। इस प्रकार इस स्वामिभक्त वीर मन्त्रिराज ने तीन होयसल नरेशों की निष्ठापूर्ण सेवा की थी। इस धर्मात्मा राजपुरुष ने अनेक नवीन जिनमन्दिर बनवाये और अनेक गुरुओं का जीर्णोद्धार करवाया। इनके निर्माण कार्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय श्रवणबेलगोल का चतुर्विंशतिजिनालय है। यह विशाल एवं अत्यन्त मनोहर जिनभवन 266 फुट लम्बा और 78 फुट चौड़ा है जो गर्भगृह, सुकनासा, मुख्यमण्डप, उपभवन, अलिन्द, गोपुर आदि से सम्न्वित है। गर्भगृह में सुन्दर चित्रमय वेदी पर चौबीसों तीर्थकरों की तीन-तीन फुट उत्तुंग प्रतिमाएँ विराजमान हैं। गर्भगृह के तीन द्वार हैं, जिनके पार्श्वों में पाषाण की सुन्दर जालियाँ बनी हैं। सुकनासा में पद्मावती और ब्रह्मयक्ष की मूर्तियाँ स्थापित हैं। नवर्ग के चार स्तम्भों के मध्य दस फुट का वर्गाकार पाषाण लगा है। नवर्गद्वार के प्रस्तरांकन अत्यन्त मनोरम हैं, जिनमें पशु-पक्षी, लता-वृक्ष, मानवाकृतियाँ आदि उत्कीर्ण हैं। मुख्य भवन के चहुँओर बरामदा, तदनन्तर पाषाणनिर्मित परकोटा और उसके मुख्य द्वार के सम्मुख एक सुन्दर प्रस्तरमयी मानस्तम्भ है। इस देवालय में चौबीसी स्थापित होने से यह चतुर्विंशति-जिनालय कहलाता है। हिरियभण्डारी हुल्लराजद्वारा निर्मापित होने से भण्डारि-बसदि और महाराज नरसिंह ने इसके दर्शन करके प्रसन्न हो उसका नाम भव्य-चूडामणि-जिनमन्दिर रखा था। गोम्पटपुर के अलंकार इस जिनालय का निर्माण होकर 1159 ई. में उसकी प्रतिष्ठा हुई, और दानादि दिये गये। महामण्डलाचार्य नयकीर्ति-सिद्धान्त-चक्रवर्ती को इस जिनालय का आचार्य पद सौंपा गया। स्वयं महाराज नरसिंह ने अपनी दिग्विजय यात्रा पर गमन करने के पूर्व श्रवणबेलगोल के गोम्पटेश, पार्श्वनाथ और उक्त चतुर्विंशति तीर्थकरों की दर्शन-वन्दना की और अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक उक्त जिनालयों के लिए सवणेरु ग्राम समर्पित किया। तन् 1175 ई. के लगभग सेनापति हुल्ल ने तत्कालीन नरेश बल्लाल द्वितीय से पुनः यह ग्राम तथा अन्य दो ग्राम प्राप्त करके गोम्पटेश, पार्श्वनाथ और चतुर्विंशति-जिनालय के लिए समर्पित किये थे। श्रवणबेलगोल के अतिरिक्त कोप्पण, बंकापुर और कैल्लंगेरे प्रभृति अन्य तीर्थों की भी हुल्लराज ने उन्नत किया। कोप्पण के निवासियों से स्वर्ण के बदले बहुत-सी भूमि प्राप्त करके उसने उक्त तीर्थ के चतुर्विंशति जिनेन्द्रों को समर्पित कर दी। बंकापुर के दो प्राचीन महत्त्वपूर्ण किन्तु प्रायः पूर्णतया ध्वस्त जिनालयों का जीर्णोद्धार करके उनका अत्यन्त सुन्दर नवीनीकरण कर दिया—उनमें से एक तो इतना उत्तुंग बनाया कि कैलास पर्वत से उसकी उपमा दी जाती थी। चिरकाल से विस्मृत एवं लुप्त आदि तीर्थ कैल्लंगेरे में एक अत्यन्त सुन्दर उत्तुंग जिनालय तथा तीर्थकर भगवान् के पाँच कल्याणकों के स्मारक रूप पाँच अन्य महान्

जिनालय निर्माण कराये। श्रवणबेलगोल की उपर्युक्त भण्डारिबसदि के एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण 1159 ई. के शिलालेख में हुल्लराज के पराक्रम, गुणों एवं धार्मिक कार्य-कलापों का विवरण प्राप्त होता है। सन् 1163 ई. में उसने स्वगुरु देवकीर्तिदेव का समाधि-स्मारक कल्लगेर में बनवाया। प्रायः तभी उसने वहीं की प्रतापपुर-बसदि का पूर्णतया नवीनीकरण किया। यह बसदि कोल्लापुर की रूपनारायण-बसदि से सम्बद्ध थी। श्रवणबेलगोल से दो मील दूर स्थित जिननाथपुर में हुल्लराज ने एक सत्र (निःशुल्क भोजनालय) स्थापित किया। अभिलेखों में बताया गया है कि जिन-मन्दिरों का जीर्णोद्धार करने में, जिनेन्द्र की पूजा, अर्घ्य एवं सामूहिक पूजोत्सवों में, मुनिजनों को दान देने में, जिनचरणों के भक्तिपूर्वक गुणगान में, पुराणशास्त्रों के सुनने में, भयों द्वारा प्रशंसित इस मन्त्रीश्वर हुल्लराज समूह को अत्यन्त आनन्द आता था। इन्हीं कार्यों में उसका नित्य पर्याप्त समय व्यतीत होता था। गंगम्हारसिंह के मन्त्री चामुण्डराय और विष्णुवर्धन के मन्त्री गंगराज के साथ ही साथ जैनधर्म का सर्वाधिक समर्थ प्रभावक नरसिंह होयसल के मन्त्रीश्रेष्ठ हुल्लराज को बताया गया है। संश्रित सद्गुण, सकलभयानुत्, जिनभासितार्थ-निस्संशयबुद्धि, जैन-सूडामणि, सम्यक्त्व-चूडामणि, मन्त्रिमाणिक्यमौलि आदि उसके विरुद्ध थे।

दण्डनायक पार्श्वदेव (पारिषण्ण)—होयसल नरेशों का एक महाप्रधान काश्यपगोत्रीय दण्डनाथ भद्रादित्य था। भद्रादित्य का ज्येष्ठपुत्र तैलदण्डाधिप था, जिसका पुत्र चावुण्ड महाराज का सन्धि-विग्रहिक मन्त्री था। उसका अनुज वामन था और पत्नी देकणब्बे थी। चावुण्ड मन्त्री के तीन पुत्र थे—माघव, पार्श्व और रक्तिसम्य्य। इनमें से दण्डनायक पार्श्व, अपरनाम पारिसण्ण या पारिसम्य्य नरसिंह प्रथम के समय में राज्य का महाप्रधान-पट्टिसभण्डारी था और निरुगुण्डनाड के करिकुण्डनगर का स्वामी था। वह श्रीपाल त्रैविद्य के शिष्य वासुपूज्य-सिद्धान्तिदेव का गृहस्थ-शिष्य था और बड़ा धर्मात्मा था। उसकी पत्नी विम्मलदेवी प्रसिद्ध दण्डनायक मरियाने की पुत्री और दण्डेश भरत की भतीजी थी। वह भी परम विदुषी एवं धर्मात्मा थी। पार्श्व ने नित्तूर में एक जिनालय भी बनवाया था। उसकी पट्टिसभण्डारी पदवी से लगता है कि वह राज्य के शस्त्रागार का महाप्रबन्धक भी था, क्योंकि 'पट्टिस' का अर्थ भाला-बरछा होता है। इस पराक्रमी योद्धा ने आहवमल्ल को युद्ध में पराजित किया था और उसी युद्ध में वीरगति पायी थी। पारिसम्य्य और विम्मलदेवी का पुत्र दण्डनायक शान्तियण्ण था।

दण्डनायक शान्तियण्ण—पारिसण्ण (पार्श्व) जैसे युद्धवीर एवं निपुण मन्त्रीश्रेष्ठ और जिनमक्त विम्मलदेवी का सुपुत्र शान्तियण्ण भी अत्यन्त साहसी, वीर और धर्मात्मा था। उसके पिता के युद्ध में वीरगति प्राप्त करने पर महाराज नरसिंह ने शान्तियण्ण को उसके स्थान पर करिकुण्ड का स्वामी और राज्य का दण्डनायक बना दिया और उसकी वीरता से प्रसन्न होकर उसे एक ग्राम प्रदान किया। प्रसिद्ध

युद्धवीरों एवं मन्त्रियों के कुल में उत्पन्न शान्तिपण्ण भी वीर योद्धा और कुशल प्रशासक था। अपने कुल की मर्यादा के अनुसार, अपने जननी-जनक की भाँति ही शान्तिपण्ण भी परम जिनभक्त था। उसके गुरु वासुपूज्य-सिद्धान्तिदेव के शिष्य मल्लिवेषणपण्डित थे। अपने पूज्य पिता दण्डनाथ पार्श्व की स्मृति में दण्डाधिप शान्तिपण्ण ने अपने नगर करिकुण्ड में एक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया और 1158 ई. में उक्त जिनालय के लिए स्वगुरु मल्लिवेषण को राजा से प्राप्त ग्राम पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दिया। मल्लगौण्ड आदि ग्राम के प्रमुखों तथा समस्त प्रजाजन ने एक तेल का कोल्हू गाँव के घाट की आय और धान की फसल का एक भाग भी जिनालय के लिए दान कर दिया। उसी मन्दिर में प्राप्त तत्सम्बन्धी शिलालेख मल्लोजनामक शिली द्वारा उत्कीर्ण किया गया था।

ईश्वर चमूप—महाप्रधान-सर्वाधिकारी सेनापति-दण्डनायक एरेयंग का पाद-पद्मोपजीवी (सहायक या अधीनस्थ) यह ईश्वर चमूपति था, और सम्भवतया उक्त एरेयंग का ही सुपुत्र था। वह वीर योद्धा और धर्मात्मा था। मन्दारगिरि की प्राचीन बसदि का उसने जीर्णोद्धार कराया था। उसकी पत्नी धर्मात्मा माचियक्के थी।

माचियक्के—वह धर्मात्मा नारीरत्न नाकि-सेट्टि और नागदे की पौत्री थी, तथा साहणि-विट्ठि की पत्नी चन्द्र से उत्पन्न उत्तकी ज्येष्ठ पुत्री थी। ईश्वर चमूपति की वह भार्या थी और देशीगण-पुस्तकगच्छ के गण्डविमुक्तदेव की गृहस्थ-शिष्या थी। वह सुन्दरी, विदुषी, दानशीला, यशस्विनी, पुण्यवान् एवं धर्मात्मा युवती-रत्न थी। मयवोलल नामक तीर्थक्षेत्र पर उसने एक मनोरम जिनमन्दिर तथा पद्मावतीकोरे नामक सरोवर का निर्माण कराया था, और 1160 ई. में उक्त जिनालय के लिए बहुत-सी भूमियाँ अपने पति ईश्वर चमूप तथा महाराज नरसिंह की सहमतिपूर्वक स्वगुरु को दान कर दी थी। यह महिला चतुःसमय-समुद्धरण कहलाती थी।

जक्कले या जक्कळे होयसल नरेश नरसिंह प्रथम के महामन्त्री एवं प्रधान ताम्बूलवाहक चायिमय्य की धर्मात्मा पत्नी थी। हेरगु नामक स्थान की प्रशंसा सुनकर उसने वहाँ चेन्न-पार्श्वनाथ-बसदि नाम का सुन्दर जिनालय बनवाया, और समस्त क्षेत्रीय सामन्तों एवं अधिकारियों की उपस्थिति में महाराज से प्रार्थना करके भूमियाँ प्राप्त कीं, जिन्हें उक्त जिनालय के लिए उसने स्वगुरु परम विद्वान् नयकीर्ति-सिद्धान्तिदेव को पाद-प्रक्षालनपूर्वक समर्पित कर दी। उसकी बहन पाचियक्के भी बड़ी धर्मपरायण महिला थी।

सामन्त गोव—होयसल नरसिंह का यह जैन सामन्त हुलियेरपुर का स्वामी था। उसकी भार्या शान्तले बड़ी उदार थी। परम जिनभक्त होते हुए भी वह शैव, वैष्णव और बौद्धधर्मों को भी संरक्षण प्रदान करती थी। सम्भवतया इसी महिला का अपरनाम सिरियादेवी था, अथवा यह गोव सामन्त की द्वितीय पत्नी थी। एक अन्य पत्नी महादेवी नायकिति थी, या उक्त दोनों में से किसी की यह उपाधि थी। इस

परिवार के गुरु देशीगण के चन्द्रायणदेव थे, जिनकी प्रेरणा से तिरियादेवी ने अपनी हुलियेरपुर की बसदि में एक मनोज्ञ प्रतिभा प्रतिष्ठित करायी थी। जब 1160 ई. में महादेवी का स्वर्गवास हो गया तो उसकी स्मृति में गोव सामन्त ने हेगरे में चेन्न-पार्श्व-बसदि निर्माण करायी, जिसके लिए उसके पुत्र सामन्त बिष्टिदेव ने स्वगुरु माणिकनन्दि-सिद्धान्ति को भूमियाँ प्रदान कीं। राज्य के कई प्रमुख नागरिकों ने भी भूमि आदि के दान दिये थे। इस दान से एक सत्र की स्थापना भी की गयी। महासामन्त बल्लव्य नायक ने भी इस अवसर पर उक्त जिनालय के लिए कुछ भूमि स्थलवृत्ति के रूप में भक्तिपूर्वक दी थी।

शिवराज और सोमेय—नरसिंह होयसल के इन दोनों जैन राजमन्त्रियों ने 1165 ई. में माणिकबोलल स्थान के होयसल-जिनालय को मुनि-आहार-दान आदि की व्यवस्था के लिए प्रचुर दान दिया था।

सामन्त बिष्टिदेव—होयसल नरेशों के प्राचीन हुलियेरपुर का अधीश्वर वीरतलप्रहारि सामन्त भीम था। उसके चार पुत्र थे—माय, चट्ट, मल्ल और गोविदेव (गोव)। सामन्त चट्ट की पत्नी सातब्बे से यह सामन्त बिष्टिदेव (विष्णु) उत्पन्न हुआ था। इसे महाराज नरसिंह ने ऋथियों के खर्च के लिए हेगरे ग्राम दिया था। जब सामन्त गोविदेव ने 1161 ई. में अपनी महादेवी-नायकिति (शान्तलदेवी) की स्मृति रक्षार्थ उक्त ग्राम में चेन्न-पार्श्व-जिनालय निर्माण कराया तो उस धर्मात्मा महिल्ल (अपनी चाची) के पुत्रतुल्य इस सामन्त बिष्टिदेव ने अपनी पुण्य-समृद्धि के लिए उक्त जिनालय के हितार्थ भूमिदान किया तथा कालीमिर्च, अखरोट और पान के गड्डों की आय भी समर्पित कर दी थी। इसके गुरु भी वही माणिकनन्दि थे। यह पूरा सामन्त परिवार जैनधर्म का अनुयायी था।

सामन्त बाधिदेव—बाधि, बाचय, गुलबाधिग या बाचिराज होयसल नरसिंह का महासामन्त, मान्यखेडपुरवराधीश्वर, मरुगरेनाड का अधिपति, अदल लोगों के लिए सूर्य के समान, गुडुदगंग के पुत्र बसव नायक का वंशज और गंग का पुत्र था। उसकी माता का नाम बेनवाम्बिके था। यह अदलवंशी महासाहसी, पराक्रमी, वीर, यशस्वी, दानी, उदार एवं धर्मात्मा वर-विद्या-निधि महासामन्त बाधिदेव मरुगरेनाड की अपनी अतिशय शोभा से युक्त राजधानी कय्दाल में अतीव उच्च धर्म का पालन करते हुए सुखपूर्वक रह रहा था। अपने राज्य में उसने जिनेन्द्र, शिव, विष्णु सभी देवताओं के मन्दिरों का पोषण किया। उसने गंगेश्वरवास्त, श्रीनारायण गृह, चलवारिवेश्वर-मन्दिर, रामेश्वर-सदन, कई जिनमन्दिर तथा भीमसमुद्र एवं अदलसमुद्र नाम के दो सरोवर बनवाये, दिव्यूर के विप्री को दान दिया, इस प्रकार चारों सम्प्रदायों की वृद्धि की थी। अपने पिता सामन्त गंग की स्मृति में उसने गंगेश्वरदेव जिनालय 1150 ई. में बनवाया और उसके लिए प्रभूत दानादि दिये। अपनी बहन (या पुत्री) कुमारी चेन्नवेनायकित्ती की स्मृति में रामेश्वरदेव-मन्दिर बनवाया और उसमें मुनियाँ

के आहार की व्यवस्था के लिए दान दिये। अपनी स्वर्गीय प्रिय पत्नी, महासौभाग्य-शील-सौन्दर्य-सम्पन्न, परिवार-सुरभि, महासती रानी भीमले (भीमवे नायकिकि) की स्मृति (परोक्ष विनय) में उसने अति-विशाल एवं सुन्दर भीम-जिनालय बनवाया, जिसमें उसने चेन्न-पार्श्वदेव की प्रतिष्ठापना की तथा उसी से सम्बद्ध भीमसमुद्र नाम का सुन्दर एवं विशाल सरोवर बनवाया था। रानी भीमले की इच्छासे जिनैन्द्रदेव, पिता योदेरे नायक और जननी चिम्बले थी। वाचिराज ने उक्त जिनालय के चेन्नपार्श्वदेव के रंभोग-अष्टविद्यार्चन एवं ऋषिआहारदान के निमित्त भीमसमुद्र के आसपास की समस्त भूमि भेंट कर दी थी। उसी अवसर पर सम्यक्त्वचूडामणि सेनबीब मारमय्य ने भी सामन्त वाचिराज से भूमि प्राप्त करके मारसमुद्र नामक सरोवर बनवाया तथा उसे उक्त भीम-जिनालय के लिए दान कर दिया। राजा ने इन विभिन्न दानों को वाराणसी, प्रयाग आदि तीर्थों के समान पवित्र समझने का प्रजाजनों को आदेश दिया। यह महापराक्रमी, महादानी, सर्वधर्म-समभावी, महान् उदार जैन महासामन्त वाचिराज अपनी तरह का श्रेष्ठ उदाहरण है।

हेम्गाडे जकय्य और जक्कब्बे—ये दोनों पति-पत्नी थे। इस दम्पती ने दिङ्गुरु में एक जिनालय बनवाकर उसमें तीर्थंकर सुपार्श्व की प्रतिमा प्रतिष्ठित की और देवपूजा एवं आहारदान के लिए स्वर्गुरु, काणूरमणभेषपाषाणगच्छ के बालचन्द्रदेव को धारापूर्वक भूमिदान दिया था। लगभग 1160 ई. में यह जिनालय बना था।

सामन्त सोम—होयसलों का वीर सेनानी अय्यकण था जिसने चोल राज्य पर आक्रमण के समय एक जंगली मस्त हाथी को बाणों से मार गिराया और 'करिय-अय्यकण' उपाधि प्राप्त की थी। उसका प्रिय पुत्र नाग था, जिसका ज्येष्ठ पुत्र सुरधेनु और कल्पवृक्ष समान सुग-गवुण्ड था। उसका पुत्र यह सामन्त सोम या सोवेयनायक था, जो जिनपादकमलभृंग, जिननाथस्नपनजलपवित्रितगात्र, चतुर्विधदानविनोद, जिनसमयसमुद्धरण, भगवान् पार्श्वदेव का पादारधक, परनारीपुत्र और भानुकीर्ति-सिद्धान्त का गृहस्थ-शिष्य था। उसकी दो पत्नियाँ थीं—सीता, रेवती, अरुन्धती एवं अतिमब्बे के समान मारव्बे और रति-जैसी सुन्दरी तथा जिनपादभक्त माचले। पहली से कई पुत्रियाँ हुईं और दूसरी से चन्द्रदेव एवं कलिदेव नाम के अनुपम, गुणवान् पुत्र। स्वयं सामन्त सोम कलुकाणिनाड का शासक था। उसने एक्कोटि-जिनालय नामक पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति उत्तुंग एवं भव्य मन्दिर बनवाया और उसके लिए 1142 ई. में सूरस्थगण के ब्रह्मदेव मुनि को पादप्रक्षालनपूर्वक एक ग्राम दान दिया था। इस सुन्दर जिनालय का निर्माता कलियुगी विश्वकर्मा शिल्पी मात्रोज था। धर्मात्मा सोम विष्णुवर्धन और नरसिंह प्रथम का वीर एवं स्वामिभक्त सामन्त था।

होयसल बल्लाल द्वितीय (1173-1220 ई.)—वीर बल्लाल प्रथम के नाम से सुप्रसिद्ध यह नरेश नरसिंह प्रथम की रानी एचलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और अपने पितामह विष्णुवर्धन की भाँति ही प्रतापी, बड़ा वीर,

महापराक्रमी, भारसे विजेता और स्वाध्यायमत (जैनधर्म) का पोषक एवं पक्षपाती था। उसने अपने वंश एवं राज्य को पूर्णतया स्वतन्त्र कर लिया और उसमें शान्ति एवं सुख-समृद्धि की उल्लेखनीय वृद्धि की। चौदराज्यकाल में ही वह पिता के राज्यकार्य में सक्रिय सहयोग देता था, जैसा कि 1168 ई. के बन्दूर शिलालेख से प्रकट है। ऐसा लगता है कि उस समय वास्तविक राजा वही था। उसी से यह भी पता चलता है कि इस नरेश के गुरु द्रमिलसंघी श्रीपाल-त्रैविद्य के शिष्य वासुपूज्य-व्रती थे। सन् 1173 ई. की श्रावण शुक्ल एकादशी रविवार के दिन वीर बल्लाल का पट्टबन्धोत्सव (राज्याभिषेक) हुआ था और उस उपलक्ष्य में उसने प्रभूत दान दिये थे। तभी महासन्धिबिग्रहिक मन्त्री बूचिराज ने विक्रूट-जिनालय बनवाकर उसके लिए राजा से मरिंकलि नाम का ग्राम प्राप्त करके उक्त वासुपूज्य मुनि को भेंट किया था। उसके पिता के समय से चले आये महासेनापति हुल्लराज द्वारा श्रवणबेलगोल में निर्मापित चतुर्विंशति-वसदि के लिए हुल्ल के निवेदन पर राजा ने 1174-75 ई. में दो ग्राम भेंट किये थे। उसी स्थान की पदरनाथ-वसदि के लिए भी दान दिया था और अपने पिता नरसिंह प्रथम द्वारा दान किये गये तीन ग्रामों के दान की पुष्टि की थी। देवीसेहि नामक धनी सेठ ने 1176 ई. में राजधानी में वीर-बल्लाल-जिनालय नाम का एक सुन्दर मन्दिर राज्याश्रय से निर्माण कराया था और उसके लिए स्वगुरु बालचन्द्र मुनि को दान दिया था। स्वयं राजा ने भी उक्त मन्दिर के लिए कई ग्राम प्रदान किये। सन् 1192 ई. में राजधानी के चार प्रमुख सेठों ने समस्त नागरिकों तथा अन्य नगरों के व्यापारियों के सहयोग से नगर-जिनालय नाम का विशाल एवं मनोरम जिनमन्दिर बनवाया, जिसका अपरनाम अभिनव-शान्तिदेव भी था। राज्यश्रेष्ठ के साथ प्रतापचक्रवर्ती-वीर बल्लालदेव स्वयं उक्त जिनालय में देवदर्शन के लिए गया, भगवान् की अष्टोपचारी पूजा देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसके लिए गुरु वज्रनन्दि-सिद्धान्ति को कई ग्राम दान में दिये। सदैव की भाँति इस समय भी होयसलों की राजधानी द्वारसमुद्र जैनधर्म का केन्द्र और जैनों (भय्यों) की मढ़ थी। वीर बल्लाल ने स्वयं अनेक बार जैनतीर्थों की यात्रा की, जिनमन्दिरों के दर्शन किये और वसदियों एवं जैनगुरुओं को दानादि देकर सम्मानित किया था। जैनाचार्य श्रीपाल-त्रैविद्य और उनके शिष्य इस काल में होयसलों के राजगुरु थे। राज्य के अनेक मन्त्री, सेनापति, सामन्त, प्रमुख राजपुरुष एवं श्रेष्ठ जैनधर्म के अनुयायी थे। हुल्ल, नागदेव, रंघिमथ्य, बूचिराज, बाहुबलि, नरसिंह आदि ये जैन युद्धवीर, कुशल राजनीतिज्ञ एवं दक्ष प्रशासक ही वीर बल्लाल के राज्य के प्रधान स्तम्भ थे; उसकी सफलताओं और समृद्धि के आधार थे और उसके विस्तृत राज्य के समर्थ संरक्षक थे। कलशुरियों का सर्वप्रधान दण्डाधिनाथ रंघिमथ्य उनके अन्तिम नरेश की वीर बल्लाल के हाथों पराजय होने और फलस्वरूप उस वंश का पूर्ण पतन हो जाने पर, साथ ही इस होयसल नरेश एवं उसकी प्रजा की रत्नत्रयधर्म में निष्ठा जानकर उसकी

सेवा में आ गया था। वहाँ आकर भी उसने राज्याश्रय से अरसियकरों का सुप्रसिद्ध सहस्रकूट-चैत्यालय अपरनाम एल्कोटि-जिनालय तथा अन्य कई मवीन मन्दिर बनवाये, पुरानों का जीर्णोद्धार किया, श्रवणबेलगोल आदि तीर्थों पर भी निर्माण कराये और स्वगुरुओं को दानादि दिये। वीर बल्लाल ने साहित्य को भी प्रोत्साहन दिया। उसके राजकवि नेमिचन्द्र ने 'लीलावती' नामक प्रेमगाथा लिखी, राजादित्य (1190 ई.) ने 'व्यवहारगणित', 'क्षेत्रगणित' और 'लीलावती' नामक गणित-ग्रन्थ रचे। महाकाव्य-जैन (1209 ई.) ने 'यशोधरचरित', जगदल्ल-सामनाथ ने 'कल्याणकारक' नामक वैद्यक ग्रन्थ, बन्धुधर्म वैश्य ने 'हरिवंशाम्बुदय' और 'जीवसम्बोधन', शिशुमारन ने 'अजनाचरित' और 'त्रिपुरदहन' और आनन्दमय्य ने 'मदनविजय' की रचना की थी। ये सब विद्वान् जैन थे और कन्नड साहित्य के पुरस्कर्ता थे। इस काल के जैनमन्दिर भी होयसल-कला के श्रेष्ठ नमूने हैं। राज्य की विस्तारवृद्धि भी हुई और वह दक्षिण भारत की सर्वाधिक शक्तिशाली राज्यसत्ता हो गया था।

माधिराज—एक उच्च पदस्थ अधिकारी था, जिसने वीर बल्लाल के राज्याभिषेक के अवसर पर, 1173 ई. में, श्रवणबेलगोल के श्रीकरण-जिनालय के भगवान् पार्श्वदेव के लिए स्वगुरु अकलंक-सिंहासन पद्मप्रभस्वामी को एक गाँव दान दिया था। सम्भवतया यह विष्णुवर्धन होयसल के प्रसिद्ध मन्त्री दण्डनायक बलदेवण के भतीजे माधिराज ही हैं।

नागदेव—नाग या नागदेव हेगडे होयसल नरसिंह प्रथम के सचिव बम्मदेव का उसकी पत्नी जीगम्बा से उत्पन्न पुत्र था। स्वर्ण उसकी पत्नी का नाम चन्दाम्बिका (चन्दलें या चन्दम्बे) था और पुत्र का मल्लिनाथ। वीर बल्लाल का सचिवोत्तम एवं पट्टणसामि (नगराध्यक्ष) यह मन्त्रीश्वर नागदेव देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति-सिद्धान्तचक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य था। उसने 1177 ई. में श्रवणबेलगोल में स्वगुरु की निषथा तथा कलापूर्ण सुन्दर स्मारक स्तम्भ बनवाया था। गुरु की स्मृति में उसने नागसमुद्र नाम का एक सरोवर तथा उद्यान भी बनवाया था और गुरु के शिष्यों प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र एवं बालचन्द्र को दान दिया था। सन् 1196 ई. में उसने श्रवणबेलगोल में नगर-जिनालय अपरनाम श्रीनिलय और कमट-पार्श्वदेव-बसदि तथा उसके सम्मुख शिलाकुट्टम और रंगशाला बनवायी थीं तथा एतदर्थ गुरु के उपर्युक्त मुनि-शिष्यों को दान दिया था। उक्त नगर-जिनालय में महाराज बल्लालदेव एवं युवराज नरसिंह द्वितीय भगवान् की अष्टकारी पूजा देखकर बड़े प्रसन्न और प्रभावित हुए थे। मन्त्री नागदेव 'जिनमन्दिर-प्रतिपाल' कहलाता था।

दण्डनायक भरत और बाहुबलि—विष्णुवर्धन होयसल के प्रसिद्ध महादण्डनायक भरियाने द्वितीय के सुपुत्र और भरतेश्वर दण्डाधीश के भतीजे, दोनों वीर भ्राता वीर बल्लाल के प्रमुख सेनापतियों में थे। वीरता, स्वामिभक्ति और धार्मिकता इन्हें अपनी कुलपरम्परा से प्राप्त थी। जब 1183 ई. में वीर बल्लाल दो युवराज वीर नरसिंह

(नरसिंह द्वितीय) का जन्म हुआ तो उसकी खुशों में इन दोनों भाइयों ने देशीगण के देवचन्द्रपण्डित को अनेक बसदियों के लिए प्रभूत दान दिये थे। इन्होंने राजा से अपने कुल की परम्परागत सिन्दगीरे आदि की भूमियाँ प्राप्त करके पुनः दान कर दी थीं। इन भरत (भरतिमय्य) दण्डनायक की धर्मात्मा साध्वी पत्नी जक्कब्बे या जक्कले थी। इन भरत (भरतिमय्य) दण्डनायक की धर्मात्मा साध्वी पत्नी जक्कब्बे या जक्कले 1203 ई. में समाधिमरणपूर्वक देह त्याग किया था। इस महासती के गुरु अनन्तकीर्ति मुनि थे, माता लक्ष्म्ये और पिता मण्डनमुद थे। समाधिलेख में उसके शील, संयम, तप, जिनभक्ति आदि की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है।

बूचिराज—वीर बल्लाल का सन्धिविग्रहिक-मन्त्री, श्रीकरणद एवं दण्डाधिप बूचिराज वीर योद्धा, कुशल राजनीतिज्ञ एवं प्रशासक और धर्मात्मा होने के साथ-साथ चतुर्विध-पाण्डित्य का धनी था। वह संस्कृत और कन्नड दोनों ही भाषाओं का सुविज्ञ एवं सुकवि था और 'कविता विशारद' कहलाता था। उसकी पत्नी शान्तले भी विदुषी और धर्मिष्ठ महिला थी। वह भरत दण्डेश की पुत्री और दण्डाधिप मरियाने की भतीजी थी। महाप्रधान बूचिराज ने वीर बल्लाल के राज्याभिषेकोत्सव के उपलक्ष्य में 1173 ई. में सिगेनाड के मरिकली नगर में त्रिकूट-जिनालय नामक भव्य मन्दिर बनवाकर उसके लिए स्वर्ग्य-वासपूज्य-सिद्धान्ति को पाद-प्रक्षालनपूर्वक ग्रामादि दान दिये थे। वह नरसिंह प्रथम के समय से ही राज्य-सेवा में था, 1163 ई. के शिलालेख में उल्लिखित श्रीकरणद हेमोडे बूचिमय्य ही उन्नति करके वीर बल्लाल के समय में मन्त्रीश्वर बूचिराज हो गया था। वासुपूज्य-सिद्धान्ति से पूर्व उसके गुरु देवकीर्ति रहे प्रतीत होते हैं।

महादेव दण्डनायक—राज्यपशाधिकारियों के प्रतिष्ठित कुल में उत्पन्न हुआ था। उसके पिता सोमधर्म और माता सोवलदेवी थी। राम और केशव उसके अनुज थे। उसकी सुशीला एवं धर्मपरायणा पत्नी लोकलदेवी राज्य के एक प्रान्तीय शासक मत्तण सामन्त की पौत्री और सामन्त कीर्तिगावुण्ड की पुत्री थी। महादेव और लोकलदेवी काणूरगण के कुलभूषण के शिष्य सकलचन्द्र भट्टारक के गृहस्थ-शिष्य थे। इस महाप्रधान महादेव दण्डनायक ने 1187 ई. में धर्म-जिनालय का निर्माण कराके उसमें शान्ति-जिनेश की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी और स्वर्ग्य को 'भेरुण्ड' दण्ड से नापकर तीन मत्तण शालि-क्षेत्र, दो कील्हू और एक दुकान समर्पित की थी। उस अवसर पर वीर बल्लाल का एक प्रमुख महामण्डलेश्वर उद्धरे का शासक एकलरस भी उपस्थित था और स्वयं उसने, उसके षट्गणसामि (राज्यसेठ), तैलव्यापारियों एवं अनेक नागरिकों ने भी दान दिये थे। उस समय महादेव उक्त महामण्डलेश्वर का ही महाप्रधान दण्डनायक था। उसके श्वसुर कीर्तिगावुण्ड के आश्रित मल्लिसेट्टि और नेमिसेट्टि ने जब 1208 ई. में शान्तिनाथ-जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा की तो उस अवसर पर अपने श्वसुर और सालों के साथ महादेव दण्डनायक भी उपस्थित था और उसने भी दानादि में योग दिया था।

रामदेव विभु—मंगवाडि के मोनेगनकड़े का शासक था, जहाँ उसने शान्तिनाथ भगवान् का एक विशाल जिनालय निर्माण कराके उसके लिए स्वगुरु मेघचन्द्र को जो देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति के प्रशिष्य और बालचन्द्र अध्यात्मी के शिष्य थे, बनवसे के मोत्तदनायक तथा कई मवुण्डप्रभुओं से भूमिदान दिलाया था। जिनालय कनकाचलकूट पर बनाया गया था। दान 1186 ई. में लिखा गया था। रामदेव विभु को श्रेष्ठगुणनिधान, बुध-निधि और सत्य-युधिष्ठिर कहा गया है।

नरसिंह सचिवाधीश—महासेनापति हुल्लराज की पुण्यात्मा पत्नी पद्मलदेवी से उत्पन्न उसका जिनभक्त धर्मात्मा सुपुत्र था। मुनि नयकीर्ति का वह गृहस्थ-शिष्य था। गुणवान्, पराक्रमी, युद्धवीर और गुरुभक्त था। उसने 1173 ई. में बेक्कग्राम में एक जिनालय बनवाकर उसके लिए वही ग्राम राजा से स्वगुरु को दान में दिलवाया था।

हरियण्ण हेग्गडे—महाप्रधान सर्वाधिकारी-हिरिय-भण्डारी हुल्लराज का साला था और राजा का अश्वाध्यक्ष था। श्रीपाल योगी के शिष्य वादिराज की प्रेरणा से उक्त श्रीपाल के स्वर्गस्थ होने पर उनकी परोक्ष-विनय के रूप में परवादिमल्ल-जिनालय कुम्बेयनहल्लि ग्राम में 1200 ई. के लगभग निर्माण हुआ। यह जिनालय उक्त हरियण्ण के एक सम्बन्धी, कण्डच्चनायक की भार्या राजवेनायकिति के पुत्र कुन्दाड हेग्गडे नामक अधिकारी ने नयचक्रदेव की आज्ञा से बनवाया था और अश्वाध्यक्ष हरियण्णदेव ने उसमें जिनेन्द्रदेव की प्रतिष्ठा करायी थी।

कम्मटमाच्य्य—राज्य का महाप्रधान-सर्वाधिकारी-तन्त्राधिष्ठायक था। उसने और उसके श्वसुर बल्लय्य ने कुम्बेयनहल्लि के परवादिमल्ल-जिनालय के लिए जो दान दिये थे, उनमें नित्य दीप जलाने के लिए तेल का टैक्स भी सम्मिलित था। वादिराज ने उपर्युक्त अवसर पर (1200 ई. में) प्राप्त समस्त दान अपने सधर्मा शान्तिसिंह आदि को सौंप दिये थे।

अमृत दण्डनायक—होयसल बल्लाल द्वितीय का यह महाप्रधान, सर्वाधिकारी, महापसायत (आभूषणाध्यक्ष) एवं धेरुण्डन-मोत्त-दिष्ठायक (उपाधिधारियों का अध्यक्ष) दण्डनायक अमितय्य (अमृतचमूनाथ) चेट्टिसेट्टि और जकव्ये का पौत्र तथा हिरियमसेट्टि और सुगव्ये का पुत्र था। कल्ल, मसण और बसव उसके अनुज थे। लोककुगुण्डी उसका जन्मस्थान था, जहाँ उसने एक भव्य जिनालय एवं विशाल सरोवर बनवाया तथा एक सत्र, अग्रहार और ग्राम स्थापित किये थे। मन्दिर का नाम एककोटि-जिनालय था। अमृत दण्डाधीश के गुरु नयकीर्तिपण्डित थे। यद्यपि वह चतुर्थ वर्ण अर्थात् शूद्र जाति में जन्मा था, उसे कविकुलज, धर्मिष्ठ, शुभमति, पुण्याधिक, सौम्यरम्याकृति और मन्त्रिचूडामणि कहा गया है। उसके तीनों भाई भी दण्डनायक आदि पदों पर आसीन थे। उक्त जिनालय के लिए अमृत दण्डाधिप ने 1203 ई. में अपने भाइयों के साथ मिलकर प्रदेश के समस्त नायकों, नामरिकों एवं कृषकों की उपस्थिति में

मूलनायक भगवान् शान्तिनाथ का नित्य अष्टविध-पूजन, मुनियों के आहारदान आदि के निमित्त स्वगुरु को भूमि आदि दान दिये थे। वह इतना उदारचेता था कि ब्राह्मणों के लिए भी उसने एक अग्रहार स्थापित किया था और अमृतेश्वर-शिव का मन्दिर भी बनवाया था।

मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि—भरतागम, तर्क, व्याकरण, उपनिषद्, पुराण, नाटक, काव्य आदि में निष्णात एवं विद्वम्भान्व शैवधर्मानुयायी, विद्वान् ब्राह्मण चन्द्रमौलि होयसल बल्लालदेव का मन्त्रिलालाम और उसके दाहिने हाथ का दण्डस्वरूप था। यद्यपि वह स्वयं कट्टर शैव था, तथापि अपनी धर्मात्मा जैन पत्नी आचलदेवी के धार्मिक कार्यों में पूरा सहयोग देता था। उसके द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए राजा से स्वयं प्रार्थना करके उसने ग्राम आदि दान कराये थे। यह उसकी तथा उक्त राज्य एवं काल की धार्मिक उदारता का परिचायक है। चन्द्रमौलि के पिता का नाम शम्भुदेव और माता का अक्कबे था।

धर्मात्मा आचलदेवी—मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि की पत्नी आचियक्क, आचाम्बा या आचलदेवी परम जिनभक्त थी। उसके पितामह शिवेयनायक मासवाडिनाड के प्रमुख थे और सद्भ्रावक थे। उनकी धर्मात्मा पत्नी चन्दबे थी और पुत्र सोवणनायक था। सोवण की धर्मात्मा चन्दबे थी, पुत्र सोव और पुत्री यह आचलदेवी थी। देशीगण के नयकीर्ति-सिद्धान्तिदेव के शिष्य बालचन्द्र मुनि की वह गृहस्थ-शिष्या थी। उस रूप-गुण-शील-सम्पन्न महिलारत्न ने 1182 ई. में श्रवणबेलगोल में बहुत भक्तिपूर्वक एक अति भव्य एवं विशाल पार्श्व-जिनालय निर्माण कराया था और स्वगुरु से उसकी सप्तमारोह प्रतिष्ठा करायी थी। आचियक्कन का संक्षिप्त रूप 'अक्कन' होने से वह मन्दिर अक्कनवसदि के नाम से भी प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि मन्दिरों के उक्त नगर में यही एक जिनमन्दिर होयसल-कला का अवशिष्ट तथा उत्कृष्ट नमूना है। गर्भगृह, सुकनासा, नवरंग, मुख्यमण्डप आदि से युक्त इस सुन्दर जिनालय में भगवान् पार्श्वनाथ की सप्तफणी पाँच फुट उत्तुंग मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित है। सुकनासा के आग्ने-सामने धरणेन्द्र और पद्मावती की साढ़े तीन फुट ऊँची मूर्तियाँ हैं। द्वार के आजू-बाजू सुन्दर जालियाँ, नवरंग में कृष्ण पाषाण के चार चमकदार स्तम्भ, छत में कलापूर्ण नक्काश, गुम्बद पर विविध प्रस्तरांकन और शिखर पर सिंहललाट है। इस मन्दिर के निर्वाह के लिए स्वयं उसके पति मन्त्रीश्वर चन्द्रमौलि ने महाराज से प्रार्थना करके ब्रह्मेयनहल्लि ग्राम प्राप्त किया और उसके गुरु बालचन्द्र को दान दिताया था। गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए भी शैक्क नामक ग्राम को राजा से प्राप्त करके आचलदेवी ने दान कराया था। इस महिला ने अन्य जिनमन्दिर भी निर्माण कराये और धार्मिक कृत्य किये प्रतीत होते हैं।

महासति हर्षसे—एक वीर सामन्त की पत्नी थी और उसका सुपुत्र बूचयनायक भी वीर सामन्त था। उसका निवास स्थान करडालु था जहाँ उसने

जिनालय बनवाया, जो अब ध्वस्त है। उस ध्वस्त बसदि के 1174 ई. के लगभग के स्तम्भलेख के अनुसार 'अनुपम पुण्यभाजन, जिनेन्द्र पदाब्जविलीन-चित्त, पावन-सुचरित्र-महासति' हर्यले ने अपना अन्त समय निकट आने पर अपने प्रिय सुपुत्र बूबयनायक को अपने पास बुलाकर कहा, "वत्स! स्वप्न में भी मेरा ध्यान न करना, अपितु धर्म में चित्त लगाना। उसी का सदैव चिन्तन करना और सदैव धर्मकार्य करते रहना। ऐसा करने से ही नरेन्द्र, सुरेन्द्र, फणीन्द्र आदि के राज्य-वैभव और सुख तथा अन्त में मोक्षलक्ष्मी की प्राप्ति होगी। ऐसा निश्चय करके हे सत्यनिधि बूबयनायक, तू धर्म और दान में चित्त लगा। पुण्य की अनुमोदना से भी असीम पुण्य प्राप्त होता है। अतएव हे धर्मधुरीण बुविदेव, अपने और मेरे पुण्य के हेतु तू जिनमन्दिरों का निर्माण कराना। मेरे देव (स्वर्गीय पति) के मित्रों का सदैव आदर करना और अपने छोटे (बालक) चाचा का सदैव ध्यान रखना।" पुत्र को यह अन्तिम उपदेश देने के पश्चात् धर्मात्मा रानी ने जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक किया और इस दृढ़ विश्वास के साथ कि भगवान् का पवित्र गन्धोदक उसके समस्त पापों को धो देगा, उसे भक्तिपूर्वक मस्तक पर चढ़ाया। तदनन्तर भगवान् जिनेन्द्रचन्द्र के चरणों के सान्निध्य में, सदैव अपने स्मरण में रहनेवाले पंच-मंगल महापद (पंच-नमस्कार-मन्त्र) का उच्च स्वर से उच्चारण करते हुए और जिस मोहपाश से वह अब तक घिरी हुई थी उसे छिन्न-छिन्न करते हुए धर्मोत्साह महासती हर्यले ने विधिपूर्वक समाधिमरण किया और परिणामस्वरूप 'इन्द्रलोक' में प्रवेश किया। सुरेन्द्रलोक की देवियों ने वहाँ इस महानुभाव महिलारत्न का गीत-वाद्य-नृत्य आदि से महोत्सवपूर्वक भव्य स्वागत किया। इस सामन्त-पत्नी और सामन्त-जननी महासती रानी हर्यलेदेवी का उक्त सुमरण मृत्यु पर विजय प्राप्त करनेवाले धर्मात्माजनों के लिए आदर्श है। यह महासती हर्यले, हरियलदेवी या हरिहरदेवी कौण्डकुन्दान्वय के चान्द्रायणदेव की गृहस्थ-शिष्या थी।

ईचण और सोवलदेवी—वीर बल्लाल का मन्त्री ईचण और उसकी रूपवती एवं गुणवती भार्या सोवलदेवी, दोनों परम जिन-भक्त थे। इस इम्पती ने गौरग नामक स्थान में वीरभद्र नामक सुन्दर जिनालय निर्माण कराया था। वैसा जिनालय पूरे बेलगवत्तिनाड में दूसरा नहीं था। इस सुन्दर जिनालय के निर्माण द्वारा उस प्रदेश को ईचण मन्त्री और सोवलदेवी ने मानो दूसरा कोष्ण ही बना दिया था। यह मन्दिर 1205 ई. के लगभग बना था। इस सोवलदेवी ने 1207 ई. में उसी मन्दिर के लिए अनेक प्रकार के धान्य का तथा अन्य दान पादप्रक्षालनपूर्वक स्वगुरु यासुपूज्यदेव को दिये थे। उसने इस अवसर पर एक कन्यादान भी किया था—अर्थात् एक निधन कन्या का विवाह स्वयं सम्पन्न कराया था। विरुपय्य नामक व्यक्ति ने भी मन्दिर के लिए भूमिदान दिया था। नागगौड को उक्त पुण्य की रक्षा का भार सौंपा गया था। अपने अनुज की स्मृति में 1208 ई. में उक्त विख्यात सन्धिविग्रहिक-मन्त्री ईचण

की साध्वी पत्नी इस सोमलदेवी ने एक बसदि का निर्माण कराके उसके लिए दानादि दिया था। इस धर्मात्मा पतिपरायणा महिला की उपमा सीता और पावती से दी गयी है।

सोविसेट्टि—एसेगं नाम का एक सम्मान्त सज्जन था जिसने एक जिनालय, एक देवमन्दिर, एक तालाब, एक अण्डागार तथा मुदुबोलल में सुरासुर-युद्ध के चित्र बनवाये थे। उसका पुत्र बम्मिसेट्टि था, जिसकी भार्या का नाम माचियक्क था। इन दोनों का पुत्र गम्धिसेट्टि हुआ जिसकी पत्नी का नाम माक्कये था। इस दम्पती का पुत्र प्रस्तुत सोम या सोविसेट्टि था। उसकी सुशीला, गुणवान्, पुण्यवती सती भार्या का नाम मरुदेवी था और उसके गंजग, नारसिंग, सिंगण और वूचण नाम के चार पुत्र थे। इस प्रताप-होयसल-पट्टणसामि सोविसेट्टि ने समुद्र-जैसे विशाल तीन सरोवर तथा पर्वत-जैसा उत्तुंग पार्श्व-जिनालय अपना ही नाम धारण करनेवाले नगर (सोमपुर) में भक्तिपूर्वक बनवाये थे। वह देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य नयकीर्ति के शिष्य तथा दामनन्दि-त्रैविद्य के अनुज, चन्द्रप्रभु-पादपूजक बालचन्द्र मुनीन्द्र का गृहस्थ-शिष्य था। उस समय वीर बल्लालदेव के अधीनस्थ दक्षिण प्रदेश का राजा प्रभुगाविण्ड नरसिंह नायक था। इस सामन्त का आश्रित, उसका राज्यसेठ एवं नगरसेठ यह पट्टण-स्वामि सोविसेट्टि था। अपने स्वामी इस सामन्त नरसिंह-नायक की प्रसन्नता एवं अनुमति से सोविसेट्टि ने स्वनिर्मापित जिनालय में श्री पार्श्व-जिनेन्द्र की अष्टविधि-अर्चा, जिनालय का खण्ड-स्फुटित-जीर्णोद्धार और भुनि-आहार-दान की व्यवस्था के लिए 1178 ई. में स्वगुरु बालचन्द्र को पाद-प्रक्षालनपूर्वक भूमिदान दिया था। उसी अवसर पर माधव-दण्डनायक की आज्ञा से नारन-बेगडि ने मन्दिर के दीप के लिए एक तेल-मिल तथा घाट पर उतरनेवाले माल की चुंगी का दशमांश समर्पित किया था। अभिलेख में सोविसेट्टि को जितात्म, चारित्राराम, परनारीपुत्र, शरणागत-अञ्ज-पंजर, गुणधाम, अपरिमित दानी, मन्त्र-तत्त्वविद्, अभिमान-मेरु, सज्जन-मित्र, निजकुल-कुवलय-चन्द्र, यशस्वी, दानविमोद, जिनपद-कमल-मधुकर, जिनमार्ग अलंकार इत्यादि कहा गया है।

देविसेट्टि—कडूर जिले के कलसापुर स्थान के आजमेय-जिनालय में प्राप्त 1176 ई. के शिलालेख के अनुसार स्वगुरु देशीगच्छीय बालचन्द्र मुनि की प्रेरणा से धनकुव्वर देविसेट्टि ने राजधानी द्वारसमुद्र में वीरबल्लाल-जिनालय नाम का भव्य जिनमन्दिर बनवाया था और उसकी प्रार्थना पर महाराज वीरबल्लाल ने उक्त मन्दिर की पूजा, संरक्षण, पुजारियों आदि के लिए कई ग्राम तथा कतिपय सज्जकर उसके गुरु बालचन्द्र को दान दिये थे। सम्भवतया इसी श्रीमम्महा-वड्ड व्यवहारी (बड़े व्यापारियों के प्रमुख) देविसेट्टि और एक अन्य बड़े व्यापारी कवडमय्य ने राजधानी की शान्तिनाथ-बसदि के लिए तथा एक अन्य मल्लिनाथ-जिनालय के लिए दान दिये थे और अन्य लोगों से भी दिलवाये थे।

मारिसेट्टि, कामिसेट्टि, भरतिसेट्टि एवं राजसेट्टि—राजधानी द्वारसमुद्र के इन चार प्रधान जैन व्यापारियों एवं सेठों ने स्थानीय नागरिकों तथा समस्त विदेशी व्यापारियों के सहयोग से एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय भगवान् अभिनव-शान्तिनाथदेव के नाम से बनाया था, जो नगर का प्रमुख जिनमठ होने से नगर-जिनालय कहलाया। उक्त राज्यसेठों की प्रार्थना पर प्रताप-चक्रवर्ती वीरबल्लालदेव अपने कुमार (युवराज नरसिंह), समस्त प्रभु-गावुण्डों एवं नाड-गावुण्डों (सामन्त-सरदारों) के साथ उक्त जिनालय के दर्शन के लिए गया तो वहाँ भगवान् जिनेन्द्र के अष्टविध-पूजोत्सव एवं मुनियों को दिये जानेवाले आहारदान को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुआ और समस्त सामन्तों की प्रार्थना पर उक्त जिनालय के लिए उसने मुनि वज्रनन्दिसिद्धान्तिदेव को दो ग्राम प्रदान किये। वह वज्रनन्दि द्रमिलसंघी आचार्य श्रीपाल-त्रैविद्य के शिष्य थे। उपर्युक्त चारों सेठ भी उन्हीं श्रीपाल-त्रैविद्य के गृहस्थ-शिष्य थे।

आदिगवुण्ड—महाप्रधान आदिगवुण्ड कालगवुण्ड का पौत्र, होन्नगवुण्ड और जयके-गवुण्ड का पुत्र तथा मावुडि, भार, माच और नाक गवुण्डों का पिता था। वह वीरबल्लाल द्वितीय के दण्डेश ब्रह्मदेव का आश्रित था। यह परिवार द्रमिलसंघी शासुपूज्य मुनि के शिष्य पेरुमलदेव का गृहस्थ-शिष्य था। उक्त स्वगुरु के लिए आदिगवुण्ड और उसके पुत्रों ने एक विशाल जिनालय बनवाया था और उसके लिए 1248 ई. में भूमिदान दिया था जिसके देने में कोण्डलि के 40 जैन परिवारों के साथ समस्त ब्राह्मण भी सम्मिलित थे।

1220 ई. में वीरबल्लाल की मृत्यु के उपरान्त होयसल वंश की अवनति प्रारम्भ हो गयी। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी नरसिंह द्वितीय का राज्य अल्पकालीन रहा। तदनन्तर नरसिंह के पुत्र सोमेश्वर ने 1245 ई. तक राज्य किया। उसकी दो रानियाँ थीं, जिनके पुत्रों में परस्पर राज्य के लिए संघर्ष चलता। अन्ततः राज्य के दो टुकड़े हो गये—एक पर नरसिंह तृतीय (1254-1291 ई.) तथा दूसरे (दक्षिणी भाग) पर रामनाथ (1254-1297 ई.) पृथक्-पृथक् शासक रहे। ये दोनों ही राजे जिनधर्म-भक्त रहे प्रतीत होते हैं।

सोमेश्वर होयसल (1225-1245 ई.)—की परम्परागत उपाधि सम्यक्त्वचूडामणि उसका जैन होना सूचित करती है। उसकी अनुमति से उसके मन्त्री रामदेव नायक द्वारा एक व्यवस्थापत्र तैयार किया गया था, जिसके अनुसार श्रवणबेलगोल के भीतर राजकरों आदि पर सम्पूर्ण अधिकार वहाँ के जैनाचार्य का था। वहाँ व्यापारी भी प्रायः सब जैन ही थे। उनकी भी उक्त शासन में सहमति थी।

होयसल नरसिंह तृतीय—विज्जलरानी से उत्पन्न सोमेश्वर का पुत्र था और प्राचीन कर्णाटक साम्राज्य के पैतृक भाग तथा राजधानी द्वारसमुद्र पर अधिकृत हुआ था। जब 1254 ई. में वह राजधानी द्वारसमुद्र के सुप्रसिद्ध विजय-पार्श्वदेव-जिनालय

में दर्शनार्थ गया तो वहाँ उसने देव-पूजन किया, मन्दिर के पूर्ववर्ती शासनों (फर्मानों) को देखा, उन्हें स्वीकृत किया और स्वयं भी भूमिदान दिया। अपने बहनोई पद्मिदेव द्वारा प्रदत्त भूमि पर एक भवन बनवाकर भी उसने मन्दिर को दे दिया। अपने उपनयन-संस्कार के अवसर पर 1255 ई. में भी इस पन्द्रह वर्ष आयुवाले किशोर राजा ने भगवान् विजय-पार्श्वदेव की पूजा के लिए दान दिया था। उसके गुरु भूतसंघ-बलात्कारण के कुमुदेन्दुयोगि के शिष्य और 'सार-चतुष्टय' के रचयिता माघनन्दि-सिद्धान्ति थे। राजा ने 1265 ई. में राजधानी के कलि-होयसल-जिनालय में दर्शनार्थ प्रचारकर अपने महाप्रधान सोमेश्व दण्डनायक के सहयोग से त्रिकूट-रत्नकर-शान्तिनाथ-जिनालय के संरक्षण के लिए स्वगुरु को पन्द्रह ग्राम दान किये थे। तभी से वह मन्दिर नरसिंह-जिनालय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजधानी के नागरिकों ने 1257 ई. में द्रव्य एकत्रित करके भगवान् शान्तिनाथ की एक नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, जिसके लिए राजा ने दान दिया। उपर्युक्त सोमेश्व दण्डनायक ने 1271 ई. में राजधानी के निकट एक प्राचीन बसदि का पुनरुद्धार किया था। राजधानी के नगर-जिनालय के 1282 ई. के शिलालेख में स्पष्टतया लिखा है कि आचार्यश्रेष्ठ महामण्डलाचार्य माघनन्दि-सिद्धान्ति इस होयसल नरेश के राजगुरु थे, जिन्हें उस वर्ष भी उसने दान दिया था। राजा के माधव नामक एक अन्य दण्डनायक ने 1283 ई. में कोष्णतीर्थ की चतुर्विंशति-तीर्थकर-बसदि में एक नवीन जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित करके उन्हीं गुरु माघनन्दि को दान दिया था। उसी वर्ष श्रवणबेलगोल के समस्त जौहरियों (माणिक्य नगरंगल) ने उक्त स्थान के नगर-जिनालय के आदिदेव की पूजन के हेतु अपने गुरु उक्त माघनन्दि को भूमिदान दिया था और 1288 ई. में उन्होंने द्रव्य एकत्र करके उसका जीर्णोद्धार करवाया था तथा अपनी आय का एक प्रतिशत दान किया था। इसी राजा के प्रथम में मल्लिकार्जुन के पुत्र जैन विद्वान् केशिराज (1260 ई.) ने 'शब्दमणिदर्पण' नामक प्रामाणिक कन्नड़ व्याकरण लिखा था और कुमुदेन्दु ने 1275 ई. में कन्नड़ी भाषा में जैन-रामायण रची थी।

रामनाथ होयसल—सोमेश्वर की दूसरी रानी देवलदेवी से उत्पन्न उसका पुत्र रामनाथ तमिल प्रदेश एवं कोलर प्रान्त का शासक हुआ। कन्ननूर (विक्रमपुर) को उसने अपनी राजधानी बनाया और 1254 से 1297 ई. तक राज्य किया। उसने 1276 ई. में कोगलि नामक स्थान में चेन्न-पार्श्व-रामनाथ-बसदि का निर्माण कराया था, जिसके लिए उसके राज्य-सेठ नालप्रभु देवसेट्टि ने भूमिदान दिया था। दो लिथिरहित शिलालेखों में स्वयं राजा द्वारा उक्त जिनालय के लिए स्वर्ण-दान दिये जाने का उल्लेख है। कोगलि के जैनगुरु उभवाचार्य का भी इस राजा ने सम्मान किया था और कोल्हापुर के सामन्त-जिनालय को भी दान दिया गया था।

होयसल बल्लाल तृतीय (1291-1333 ई.)—नरसिंह तृतीय का पुत्र एवं

उत्तराधिकारी वीरबल्लाल तृतीय इस वंश का अन्तिम नरेश था। होयसलों की राज्यशक्ति पतनोन्मुख थी, जिसे अलाउद्दीन खिलजी और मुहम्मद तुगलक के बर्बर आक्रमणों एवं भयंकर लूटमार ने धराशायी कर दिया। तथापि यह वीरबल्लाल अन्त तक अपने स्वदेश की स्वतन्त्रता और राज्य की रक्षा के लिए वीरतापूर्वक जूझता रहा। धर्म की ओर ध्यान देने का उसे अवकाश ही नहीं था। स्वराज्य की रक्षा के प्रयत्न में उसने वीरगति पायी। यद्यपि अपने वंश एवं राज्य की रक्षा करने में वह सफल नहीं रहा तथापि मरने के पूर्व ऐसी व्यवस्था कर गया, जिसके फलस्वरूप उसकी मृत्यु के तीन वर्ष के भीतर ही विजयनगर साम्राज्य का उसके द्वारा बोया हुआ बीज अंकुरित हो उठा और शीघ्र ही लहलहाने लगा। इस वीरबल्लाल के शासनकाल में भी जैनधर्म ही कर्णाटक देश का सर्वोपरि एवं प्रधान धर्म था और यह राजा भी उसका पोषक और संरक्षक यथासम्भव रहा। जब 1300 ई. में राजधानी द्वारसमुद्र में महामुनि रामचन्द्रभलधारिदेव ने समाधिमरण किया तो समस्त जनता ने उत्सव मनाया और उक्त जैन-गुरु की मूर्तियाँ बनवाकर स्थापित कीं। उसी वर्ष रङ्गकवि नामक जैन विद्वान् ने राज्याश्रय में प्रकृति-विज्ञान पर 'रङ्गसूत्र' या 'रङ्गमाला' नाम का ग्रन्थ रचा। राजा के महाप्रधान-सर्वाधिकारी केतय दण्डनायक ने 1332 ई. में एडेनाड की कोलुगण-बसदि नामक जिनालय को दो ग्राम प्रदान किये थे।

सेनापति सातण्ण—सम्यक्त्व-चूडामणि आदि विरुद्धधारी होयसलनरेश सोमेश्वर के सैन्याधिनाथ (प्रधान सेनापति) शान्त-दण्डेश विजयण्ण मन्त्री के वंश में उत्पन्न हुए थे। यह सेनानाय-शिरोमणि बन्दिजन-चिन्तमणि, सुजन-बनज-बन-पतंगे थे। उनका अनुज काम श्रीजिनेन्द्र के चरण-कमलों का भ्रमर, यशस्वी राजपुरुष था। उसकी पत्नी नाकव्य की पुत्री दुर्गाम्बिका थी और सोम एवं राम नाम के दो पुत्र थे। यह सोम या सोवरस भी करण-गणाग्रणी अर्थात् राज्य के प्रमुख लेखाधिकारी थे। यह पुरुषरत्न अमल गुणगणधाम थे। सोवरस की धर्मात्मा पत्नी से उत्पन्न उनके पुत्र यह सात या सातण्ण थे। सातण्ण की पत्नी बनिता-गुण-रत्न बोधवे थी। यह परिवार देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य भानुकीर्ति के शिष्य माघनन्दि-व्रती का गृहस्थ-शिष्य था। सातण्ण को सातिशय-चरित-भरित, भूतभवद्भावि-मव्यजन-संसेव्य, अमलगुण-सम्भूत, विद्यादि-गुण-रूप-निलय, जिनपदपयोरुहाकरहंस इत्यादि कहा गया है। इस धर्मात्मा सातण्ण ने अपने इष्ट-गोत्र-मित्र-पुत्र-कलत्र आदि की सुखसम्भूति के निमित्त 1248 ई. में मनलकेने नामक स्थान में श्री शान्तिनाथ भगवान् का मन्दिर पुनः निर्माण कराकर उस पर स्वर्णकलश चढ़ाया था, प्रतिष्ठा करायी थी और मन्दिर में जिनार्चन एवं आहारदान के हेतु भूमि का दान स्वगुरु माघनन्दी-व्रती को दिया था।

नलग्रभु देविसेट्टि—होयसल रामनाथ के समय में प्रसिद्ध राज्यश्रेष्ठि था। जब 1276 ई. में उक्त राजा ने कोयलि में चेन्न-पार्श्व-रामनाथ-बसदि नामक जिनालय बनवाया था तो उसके लिए इस सेठ ने प्रभूत भूमिदान दिया था।

माधव दण्डनायक—होयसल नरसिंह तृतीय के समय में एक जैन सेनापति था जिसने कोप्पण तीर्थ पर एक व्रत के उद्घापनस्वरूप एक जिनालय का निर्माण कराया था और उसके लिए मूलसंघ-देशीगण के माधनन्दि सिद्धान्ति को दान दिया था। वह उनका गृहस्थ-शिष्य था।

सोमेय दण्डनायक—होयसल नरसिंह तृतीय के महाप्रधान सोमेय दण्डनायक ने राजधानी के त्रिकूट-रत्नत्रय-नरसिंह-जिनालय के लिए तथा उसमें शान्तिनाथ जिनेन्द्र की प्रतिमा प्रतिष्ठित करने के लिए राजा से तथा द्वारसमुद्र के नागरिकों से माधनन्दि मुनि को दान दिलाया था और उक्त दानशासन की व्यवस्था की थी।

केतैय दण्डनायक—वीरबल्लाल तृतीय का महाप्रधान, सर्वधिकारी एवं सेनापति केतैय दण्डनायक परम जैन था। उसने 1332 ई. में एडेनाड की कोलुगणबसदि (जिनालय) के लिए दो ग्रामों के राज्यकरी का दान दिया था।

* *परिचय* : आचार्य श्री सुविमलभास्कर जी महाराज

पूर्व मध्यकालीन दक्षिण के उपराज्य एवं सामन्त वंश

उत्तरवर्ती गंगराजे

बम्मदेव-पेम्माडि भुजबलगंग—गंगवंश के उत्तरवर्ती राजाओं में रक्कसगंग द्वितीय का भतीजा और कलियंग का पुत्र बम्मदेव अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसकी रानी गंग-महादेवी भी यशस्वी महिला-रत्न थी। ये दोनों राजा-रानी मल्लसंघ-काणूरगण-मेघपाषाणगच्छ के प्रभाचन्द्र सिद्धान्तिदेव के गृहस्थ-शिष्य थे। बम्मदेव महामण्डलेश्वर कहलाते थे। उनके चार पुत्र थे—मारसिंग, सत्य (नम्निय) गंग, रक्कसगंग और भुजबलगंग तथा पौत्र मारुसिंहदेव-नम्नियगंग था। बम्मदेव ने 1054 ई. के लगभग गंगों के प्राचीन मण्डलि-तीर्थ की पट्टद-बसदि की, जो पहले लकड़ी की बनी थी, पाषाण में निर्मित कराकर उसके लिए हुलियकरे ग्राम का दान दिया और अपने द्वारा शासित नाड (प्रान्त) के गाँवों में कुलदेवी पद्मावती को पाँच पण की शाश्वत भेंट दी। रानी गंगमहादेवी पाण्ड्यकुल में उत्पन्न हुई थी और रत्नत्रय-धर्म की आराधिका थी। बम्मदेव का छोटा भाई मोविन्दर था। जब गंग-पेम्माडिदेव (बम्मदेव) अपने उक्त भाई व अन्य परिवार के साथ सुख से राज्य कर रहा था तो 1079 ई. में उसने तट्टुकरे नामक स्थान में आकर उस प्रदेश का पूरा शासन-भार अपने धर्मात्मा सामन्त नोकक्य को सौंप दिया और उसके धर्म-कार्यों में प्रोत्साहन दिया था। स्वयं वह गंगमरेश इस काल में चालुक्य सम्राटों का महासामन्त था। उसने (या उसके पुत्र ने) धर्मात्मा केतब्बे के पुत्र बिट्टिदेव, बम्मगावुण्ड और नालप्रभु के साथ 1110 ई. में मुनिचन्द्र-सिद्धान्ति को दान दिया था।

सामन्त नोकक्य—गुणवान् फोलेयम्म की पत्नी रमणीरत्न केलेयब्बे से उनका कुलदीपक सुपुत्र पेम्माडि-नोकक्य हुआ। उसका विवाह मण्डलि के केंचगावुण्ड की पुत्रियों कालेयब्बे और मल्लियब्बे के साथ हुआ था। पहली रानी से गुज्जण नाम का पुत्र हुआ था जो पेम्माडि-गावुण्ड के नाम से विख्यात हुआ। दूसरी पत्नी से जिनदास नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। जब नोकक्य अपने दोनों पुत्रों के साथ सुख से रह रहा था तो 1079 ई. में उसके स्वामी गंगपेम्माडिदेव (बम्मदेव-भुजबलगंग) ने तट्टुकरे आकर वहाँ का समस्त शासन-भार नोकक्य को सौंप दिया। नोकक्य ने तट्टुकरे में एक जिनमन्दिर बनवाया और एक विशाल सरोवर खुदवाया। उसने और भी कई

जिनमन्दिर हरिगे और नेल्लवन्ति में बनवाये। लट्ठकोरे और नेल्लवन्ति की बसदियों के लिए राजा बम्मदेव ने उसे दो भेरी, एक मण्डप, चासर तथा बड़े नगाड़े राज्य की ओर से प्रदान किये और राजा को उसने जो भेंट दी थी उसके बदले राजा ने उसे आठ गौदों की गावुण्ड-वृत्ति, बीस घोड़े, पाँच सौ दास तथा पनसवाड़ी प्रदान की। राजा का यह प्रिय पेगडि-नोक्कय्य उसका महाप्रधान भी था। वह स्वामिभक्त, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, सौजन्यतीर्थ, कलियुग-साधक, गंगनरेश के लिए हनुमान् और जिनशरणों का आराधक था। उसके गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्ति थे। ऐसा लगता है कि उपर्युक्त पाँच या छह मन्दिरों में से एक उसने अपने पुत्र जिनदास की स्मृति (परोक्ष विनय) में बनवाया था। राज्य के सन्धि-विग्रहिक मन्त्री दामराज ने यह शासन लिखा था और सान्तोज पद ने उसे उत्कीर्ण किया था।

महारानी बाचलदेवी—आलहल्लि के 1112 ई. के शिलालेख में गंगनरेश बम्मदेव-भुजबलगंग-पेम्माडिदेव (गंगरस) के नाम के साथ प्राचीन गंगराजाओं की सभी परम्परागत उपाधियों का प्रयोग हुआ है और लिखा है कि उसकी पहिलानी गंगमहादेवी ने, जो परिवार-सुरभि और अन्तःपुर-मुख्यमण्डन थी, अपने छोटे भाई पट्टिगदेव के लिए गंगवाडि का मुकुट धारण किया था—सम्भवतया वह बम्मदेव के साथ उसका विवाह कराने में मुख्य कारण रहा होगा। समस्त रानियों और राजाओं में वह सर्वाधिक प्रतिष्ठित थी। उसके चारों पुत्र भी महान् वीर योद्धा थे। उसकी एक सपत्नी, महामण्डलेश्वर बम्मदेव की दूसरी रानी, बाचलदेवी थी। जब शेष परिवार मण्डलि-एक हजार प्रान्त में अपने निवास स्थान एडेहल्लि में 1112 ई. में सुखपूर्वक रह रहा था, रानी पेगडि-बाचलदेवी बन्निकेरे में निवास कर रही थी। लोक में जैसे समुद्र-परिवेष्टित गंगवाडि देश प्रसिद्ध है और उसमें भी मण्डलिनाड प्रान्त, उसी प्रकार मण्डलिनाड की नाक यह बन्निकेरे नगर था। इस रानी ने अपने बड़े भाई 'जिनपदाम्बुज-भृंग' बाहुबलि से परामर्श करके उस नगर में पार्श्वनाथ भगवान् का एक अति सुन्दर जिनालय बनवाया और अपने पति बम्मदेव, गंगमहादेवी, कुमार गंगरस, पारसिंगदेव, गोगिदेव, कलियंगदेव, समस्त मन्त्रियों और नाडप्रभुओं की उपस्थिति में उक्त जिनालय की प्रतिष्ठा कराके उसके लिए राजकर से मुक्त करके कुछ भूमि, एक बाग, दो कोल्हू और बन्निकेरे एवं बूदगेरे दोनों नगरों की चुंगी की आय का दान दिया था। अन्य लोगों ने भी दान दिया। दान देशीमण के शुभचन्द्र मुनि को दिया गया था। इस अभिलेख में रानी बाचलदेवी की प्रभूत प्रशंसा की गयी है। उसे दानचिन्तामणि, दानकल्पसता, पतिप्रिया, पतिपरायणा, यशस्विनी, संगीत एवं नृत्य विद्या में निपुण, चतुर-विद्या-विनोद, कस्तूरी-कामोद, जिनमन्थोदकपवित्रीकृत-विनीलनील-कुन्तल, निखिल-कुल-पालिका, सौभाग्यशाली, परोपकारकमलाकरचक्रवाक, जिनशासन-साम्राज्य-यश-पताका इत्यादि कहा गया है। उसने अपने पति राजा को भी 'पात्र-जग-दले' उपाधि दी थी।

नन्निय गंग—वर्मदेव और गंग-महादेवी का पुत्र था। अपने कुल की परम्परानुसार वह एक धार्मिक राजा था। वह चालुक्य सम्राट् त्रिभुवनमल्ल का माण्डलिक सामन्त था। जिस समय वह धर्म-महाराजाधिराज नन्नियगंग-वेम्माडिदेव सुख-शान्ति से राज्य कर रहा था, तो 1117 ई. में कलंबूरु नगर के अधिपति पट्टणसामि वर्म्मसेट्टि ने अपने नगर में एक भव्य जिनालय बनवाया और उसमें देव की पूजा-अर्चा तथा मुनि आहारदान आदि के लिए राजा नन्नियगंग से भूमि प्राप्त करके स्वगुरु मेघपाषाणगच्छ के गृहस्थ-शिष्य बुधचन्द्र की पट्टमहादेवी का नाम कंचलमहादेवी था। वह भी अपने पिता की भाँति प्रभाचन्द्र सिद्धान्तिदेव की गृहस्थ-शिष्या थी। उसने 1121 ई. में मण्डलि की पट्टदि-तीर्थ-बसदि में पचीस नवीन चैत्यालय बनवाये और उक्त बसदि के लिए स्वगुरु के शिष्य बुधचन्द्र-पण्डितदेव को भूमिदान दिया था। कल्लूरुगुड के इस 1121 ई. के शिलालेख से पता चलता है इन गंग-राजाओं का शासन अपनी पैतृक जागीर मण्डलि-हज़ार प्रान्त पर था और उसके एडदोरे-सत्तर विषय में स्थित पूर्वोक्त पट्टदि-बसदि गंगवंश का अति प्राचीनकाल से राज्यदेवालय रहता आया था। मूलतः गंगवंश-संस्थापक दक्षिण और माधव ने ही उस जिनालय की स्थापना की थी। अनेक उत्थान-पतनों के बीच से गुज़रते हुए भी अपने कुल के इस इष्ट देवावतन का सभी गंगराजाओं ने संरक्षण किया था। इस उत्तरकाल में भी वर्म्मदेव ने उस काष्ठ-निर्मित बसदि को पाषाण में 1054 ई. के लगभग बनवाया था और दान दिया था। तदनन्तर उसके पुत्र मारसिंग ने, जो माधनन्दि सिद्धान्ति का गृहस्थ-शिष्य था, 1065 ई. में उसके लिए स्वयं भूमिदान दिया तथा 1070 ई. में अपने भाई सत्य अपरनाम नन्नियगंग के साथ मिलकर दान दिया। तीसरे भाई भुजबलगंग ने जो मुनिचन्द्र सिद्धान्ति का गृहस्थ-शिष्य था, 1105 ई. में उसके लिए भूमिदान किया था। इस नन्नियगंग अपरनाम सत्यगंग ने 1112 ई. में कुरुलीतीर्थ में गंग-जिनालय बनवाकर उसके लिए गुरु माधवचन्द्र को पादप्रक्षालनपूर्वक भूमि का दान दिया था। इस राजा का पुत्र गंगकुमार वीर, दानी और धर्मात्मा था। गंग राजे इस समय चालुक्य सम्राट् के महामण्डलेश्वर होयसल-नरेशों के माण्डलिक सामन्त थे।

सिंगण दण्डनायक के पिता बोप्पण दण्डनायक थे, माता नागियक्के थी और गुरु हरिनन्दिदेव थे। उद्धरे के महामण्डलेश्वर एक्कलरस के इस समर-सुभटाग्रणी, जैनचूड़ामणि वीर दण्डाधिपति सिंगण ने जिनपदों का ध्यान करते हुए सद्गति प्राप्त की थी, सम्भवतया 1189 ई. में।

गंगराज एक्कलरस—गंगवंश की एक शाखा का शासन बनवासि देश के जिड्डुल्लिगे प्रदेश पर था और उद्धरे उसका मुख्य नगर था। इस शाखा में चडिम नाम का एक विख्यात वीर पुरुष हुआ। उसका पुत्र 'कीर्तिराज', 'रणमुखरसिक' आदि विरुद्धधारी मारसिंग नृप था, जिसका पुत्र एक्कलभूप था जो गंग-कुल-कमल-दिनकर,

दानविनोद, उत्तुंगधर, परमाधीन, रूपवान्, भारती का कण्ठहार, सत्यभाषी, सुभटोत्तम, पराक्रमी इत्यादि गुणसम्पन्न था और नाना देशों के विद्वानों एवं कवियों के लिए अंगराज कर्ण के जैसा दानी था। वह होयसल नरेश वीर बल्लाल का महाभण्डालेश्वर था। उसकी माता का नाम लकमादेवी था और उसकी बहन सुप्रसिद्ध चण्डियम्बरसि या चण्डलदेवी थी। राजा एक्कलरस के मन्त्री माल-चमूनाथ का वंशज होयसलों का वीर सेनापति महादेव-दण्डनाथ था। उसने जब 1197 ई. में एरग-जिनालय बनवाकर उसमें शान्तिनाथदेव की प्रतिष्ठा की और उसके लिए स्वगुरु सकलचन्द्र को भूमि आदि दान दिये उस अवसर पर एक्कलरस भी सपरिवार उपस्थित थे और उक्त धर्मकार्यों में उनका योग था।

सुगियम्बरसि—गंगानृप मारसिंग की बहन और एक्कलरस की बुआ थी। उसने पंच-बसदि का निर्माण कराया था, उसके लिए दान दिये थे और मुनियों के आहारदान की व्यवस्था की थी। वह भाधनन्दिब्रती की गृहस्थ-शिष्या थी तथा पंचपरमेष्ठी की परमभक्त, मुनिजनसेवी, चारुचरित्र, गुणपवित्र और दानशीला रमणी थी।

कमकियम्बरसि—सुगियम्बरसि की बहन थी। इस राजकुमारी ने अपनी बहन के धर्म कार्यों में सहयोग दिया, उसके दिये दान आदि में वृद्धि की, जहाँ जिनमन्दिर नहीं थे, वहाँ उन्हें बनवाया और जहाँ जिस जिनालय या गुरु को आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति के हेतु दान दिये।

चण्डियम्बरसि—उद्धरे के शासक गंगराज मारसिंग की पुत्री, एक्कलरस की छोटी बहन, दशवर्म की पत्नी, एरग, केशव और सिंगदेव की जननी थी। वह प्रसिद्ध धर्मात्मा महिला बड़ी दानशीला थी। कामधेनु और चिन्तामणि से उसकी उपमा दी जाती थी।

शान्तिधक्के—इस धर्मात्मा महिला के पिता का नाम कोटि-सेट्टि था, माता का बोपव्वे, चाचा का बोप्प-दण्डेश और पति का केत्ति-सेट्टि था। वह परिवार गंग भूपाल एक्कलरस के आश्रय में उद्धरे नगर में निवास करता था। उसके पति केत्तिसेट्टि को सम्यक्त्व-रत्नाकर कहा गया है। वह स्वयं परम जिनभक्त, गुरुचरणों की सेविका, भव-शिखामणि, दान-सत्त्व और सुभति-निवास थी। उसके गुरु भानुकीर्ति सिद्धान्ति थे। उसने और उसके पति ने उद्धरे की वह प्रसिद्ध बसदि बनवायी थी जो कनक-जिनालय के नाम से प्रसिद्ध हुई। स्वयं राजा एक्कलरस ने इस जिनालय के लिए उक्त गुरु को भूमिदान दिया था।

हुमच्च के सान्तर राजे

पोम्बुर्चपुर (हुमच्च) के सान्तर उग्रवंशी क्षत्रिय थे और सान्तलिगे—1000 प्रदेश के शासक थे। आठवीं शताब्दी में इस वंश का उदय हुआ और इसके राजे

पहले राष्ट्रकूटों और तदनन्तर कल्याणी के चालुक्यों के प्रमुख सामन्तों में से थे। यह वंश प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक जैनधर्म का मक्त अनुयायी रहा। दक्षिण भारत में जैनधर्म को शक्तिशाली बनाने में इस वंश का पर्याप्त योगदान था।

जिनदत्तराय—उत्तर मथुरा में राह नाम का राजा हुआ जो मथुरा-भुजंग (वीर) के नाम से प्रसिद्ध था। वह उसी उग्रवंश में उत्पन्न हुआ था जिसमें तीर्थंकर पार्श्व का जन्म हुआ था। उसके वंश में अनेक पीढ़ियों के उपरान्त सहकार नाम का दुष्ट राजा हुआ जो अन्ततः नरमांस-भक्षी हो गया। उसकी धर्मात्मा पत्नी से जिनदत्तराय का जन्म हुआ था, जिसे अपने पिता के आचरण पर बड़ी ग्लानि हुई। अतएव अपनी माता की सहमति से जन्मभूमि का त्याग करके वह दक्षिण देश चला गया। वहीं उसने सिंहलक्ष नामक असुर का वध करके लोक्कियब्धेदेवी को प्रसन्न किया और उससे सिंहलांछन प्राप्त किया, अन्धकासुर का वध करके अन्धासुरनगर बसाया, कनकासुर का वध करके कनकपुर बसाया और कुम्भ के दुर्ग से कर तथा करदूषण को भगाकर पद्मावतीदेवी को प्रसन्न किया। देवी वहीं एक लोक्कियवृक्ष पर निवास करने लगी और उसने लोक्कियब्धे नाम धारण करके वीर जिनदत्तराय के लिए सुन्दर राजधानी बसा दी जो कैनकपुर अपरनाम पोम्बुर्चपुर (वर्तमान हुमछ) के नाम से प्रसिद्ध हुई। हुमछ को यह जैन यक्षी पद्मावती ही उसकी इष्टदेवी एवं कुलदेवी हुई। इस देवी की साधना से जिनदत्तराय को अद्भुत मन्त्रसिद्धि हुई थी। उसने सान्तलिगे-हजार प्रदेश पर अधिकार करके अपने राज्य की और वंश की, जिसका नाम उसने सान्तर रखा, स्थापना की। सम्भवतया सिद्धान्तकीर्ति नाम के जैन्नाचार्य उसके धर्मगुरु एवं राजगुरु थे। एक अभिलेख में जिनदत्तराय को कलस-राजाओं के कनक-कुल में उत्पन्न हुआ बताया है। उसने सर्वप्रथम अपनी कुलदेवी लोक्कियब्धे (पद्मावती) का मन्दिर हुमछ में बनवाया और तदनन्तर अनेक जिनालय बनवाये थे और जिनाभिषेक के लिए कुम्भसेपुर गौड दान में दिया था। उसी प्रेरणा से उसके बोम्परस गौड आदि कई सामन्तों एवं सेट्टियों ने उक्त जिनालयों के लिए वार्षिक दान दिया था। जिनदत्त ने मथुराधीश्वर, पट्टि-पोम्बुर्चपुरादेश्वर, महोग्रवंशललाम, पद्मावती-लब्ध-वर-प्रसाद, वानर-ध्वज और जिनपाशाराधक आदि जो विरुद धारण किये थे, वे सब उसकी वंश परम्परा में चलते रहे। जिनदत्त का समय लगभग 800 ई. है।

तोलपुरुष-विक्रम सान्तर—जिनदत्तराय का पुत्र था पौत्र था जो बड़ा प्रतापी, वीर और धर्मात्मा था। महोग्र-कुल-तिलक, निर्दोषसम्यग्दृष्टि, नव-प्रताप-सम्पन्न, न्याय करने में प्रसिद्ध, शत्रु राजाओं के शूरवीरों की पकड़ने में दक्ष, राम-जैसे धनुर्धारी इस नरेश ने अपने गुरु कोण्डकुन्दाम्बय के मौनि-सिद्धान्त भट्टारक के लिए पाषाण का एक जिनालय बनवाकर उसके लिए उक्त मुनि को 897 ई. में दान दिया था। इस नरेश की महारानी पालियक्के ने अपनी माता सामियब्धे की स्मृति में पाषाण

की एक बसति (जिनालय) निर्माण कराकर उसकी प्रतिष्ठा बाधवचन्द्र त्रैविध्य के शिष्य नागचन्द्रदेव के पुत्र मादेय-सेनबोध से करायी थी और उसके लिए राजा की सहमतिपूर्वक बहुत-सा दान दिया था। अगले वर्ष स्वयं राजा ने हुमच्च में गुहूद-बसति बनवायी और उसमें भगवान् बाहुबलि की प्रतिभा प्रतिष्ठापित की थी। इस राजा ने एक महादान दिया था, जिसके कारण वह दानविनोद और कन्दुकाचार्य कहलाया। इस राजा का समय लगभग 850-900 ई. है। उसकी रानी का नाम लक्ष्मीदेवी था जिससे उसका पुत्र चागि-सान्तर हुआ जिसने चागि-समुद्र नामक सरोवर का निर्माण कराया था। चागि-सान्तर की पत्नी एज्जलदेवी से वीर-सान्तर हुआ, जिसकी पत्नी जाकलदेवी (शान्तिवर्मन की पुत्री) से कन्नर-सान्तर और कावदेव नामक दो पुत्र उत्पन्न हुए। वीर के पश्चात् कन्नर राजा हुआ और कन्नर के उपरान्त उसके भाई कावदेव की पत्नी चन्दलदेवी (वीरबलनाथ की पुत्री) से उत्पन्न कावदेव का पुत्र त्यागि-सान्तर राजा हुआ। त्यागि-सान्तर की रानी नागलदेवी कदम्बवंशी हरिवर्मा की पुत्री थी। उसका पुत्र मन्नि-सान्तर हुआ, जिसकी पत्नी अरिकेसरी की पुत्री सिरियादेवी थी। और पुत्र रंझ-सान्तर था। उसका पत्नी अक्कादेवी से चिक्क-वीर-सान्तर हुआ। चिक्कवीर की पत्नी विज्जलदेवी से अम्भणदेव-सान्तर हुआ। अम्भणदेव की रानी का नाम होचलदेवी था। उनका पुत्र तैलपदेव था और पुत्री बीरबरसि थी जो बंकियाल्य की रानी हुई। इस प्रकार लगभग 900 से 1050 ई. पर्यन्त, कोई डेढ़ सौ वर्ष के बीच, तैलपुरुष-विक्रम-सान्तर के ये विभिन्न वंशज क्रमशः उसके राज्य के अधिकारी होते रहे। वे सब जैनधर्म के अनुयायी थे, किन्तु उनके कार्यक्षेत्रों के विषय में विशेष ज्ञातव्य उपलब्ध नहीं है। उपर्युक्त तैलसान्तर (प्रथम) की दो रानियाँ थीं, एक तो बंकियाल्य की छोटी बहन (बीरबरसि की ननद) मांकब्बरसि थी और दूसरी गंगवंश-तिलक पायलदेव की सुता केल्लेयब्बरसि थी। इस राजा के तीन पुत्र थे—बीरदेव, सिंगन और बम्मदेव।

बीरदेव सान्तर—तैल-सान्तर प्रथम और महादेवी केल्लेयब्बरसि का ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्य मल्ल का वह महासामन्त था और अपने पैतृक राज्य सान्तलिगे-हजार का अधिपति तथा राजधानी पोम्पुर्न्वपुर का स्वामी था। वह जिनपादाराधक, शौर्यपरायण, कीर्तिनारायण, नीति-शास्त्रज्ञ, सर्वज्ञ, त्रैलोक्यमल्ल आदि विरुद्ध-धारी था। अपनी प्रसिद्ध राजधानी (हुमच्च) में इस वीर भूपाल ने अनेक जिनमन्दिर बनवाये थे, जिनमें नोकेयब्बेय था लोक्किय-बसदि सर्वोपरि थी। इस जिनालय को वस्तुतः उसके सहयोग एवं सहमति से उसके पट्टणासाभि नोक्कयब्बेसि ने बनवाया था, जिसके लिए उसने तथा राजा ने 1062 ई. में प्रभूत दान दिया था। वीर-देव सान्तर की धर्मात्मा रानी चागलदेवी ने उसी वर्ष उक्त जिनालय के सामने भकरलोरण बनवाया था, दान दिये थे और अन्य धार्मिक

कार्य राजा की प्रसन्नतापूर्वक किये थे। राजा की पट्टमहादेवी गंग-राजकुमारी कंचलदेवी अपरनाम वीर-महादेवी थी, जिससे उसके चार पुत्र—तैल, योगिंग, ओडुग और बर्म उत्पन्न हुए थे। इसकी दो अन्य रानियाँ विज्जलदेवी और अचलदेवी थीं। विज्जलदेवी मोलम्ब-नरेश नारसिंहदेव की पुत्री थी।

रानी चागलदेवी—त्रैलोक्यमल्ल-वीर-सान्तरदेव की मनो-नयन-वल्लभा प्रिय रानी चागलदेवी रूप, गुण और शीलसम्पन्न धर्मात्मा महिलारत्न थी। वह सान्तर नरेश की वाक्श्री, कीर्ति-वधू और विजय-श्री थी, विनययुक्त और पतिपरायणा थी, रूप में रति और पतिभक्ति में पार्वती से उसकी उपमा दी जाती थी। उसने 1062 ई. में अपने पति के कुलदेवतारूप नोक्कय्य (लोकिकय)-बसदि के सम्मुख एक अति सुन्दर मकर-तोरण बनवाया था, बल्लारगोटे में राजेश्वर मन्दिर का जिनालय बनवाया था, अनेक ब्राह्मणों को कन्यादान देकर अर्थात् अनेक ब्राह्मण कन्याओं का अपनी ओर से विवाह करके महादान पूर्ण किया था और प्रशंसकों तथा आधितों के समूह को घण्टे दान देकर स्वयं को दानी प्रसिद्ध किया था। चागलदेवी की जमनी अरसिकव्हे ने भी अपनी धार्मिकता के लिए बहुत प्रसिद्धि प्राप्त की थी। इस काल में सान्तर-राज्य का सर्वप्रधान ब्रह्माधिराज कालिदास था और लोकिकय-बसदि के लिए देकरस नामक श्रावक ने गुरु माधवसेन को एक ग्राम दान में दिया था।

पट्टणसामि नोक्कय—वीर-सान्तरदेव का आश्रित, उसका राज्यसेठ एवं नगर-सेठ, राजधानी की शोभा, सान्तर-राज्य का अभ्युदय करनेवाला, आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र-दान-तत्पर, विशद-यशोनिधान, श्री जैनधर्म का अतिशय प्रभावक, जिनागमोक्त आवरणवाला, जिनागम-निधि, जिनेन्द्र के चरणकमलों में लीन, 'सम्यक्त्ववारासि' विरुद्धधारी घनकुबेर एवं धर्मात्मा श्रेष्ठ पट्टणसामि-नोक्कय्य था। उसने 1062 ई. में राजधानी हुमन्न में पट्टणसामि-जिनालय अपरनाम नोक्कय्य (या लोकिकय) बसदि का निर्माण कराया, जो अत्यन्त भव्य, मनोहर और विशाल था। इस जिनालय के लिए उसने एक गाँव राजा से लेकर तथा एक अन्य गाँव स्वगुरु दिवाकरनन्दि-सिद्धान्ति के शिष्य और अपने सहधर्मा सकलचन्द्र-गण्डितदेव को समर्पित कर दिये। उसने मन्दिर में प्रतिष्ठित प्रतिमा को रत्नों से मढ़ दिया और स्वर्ण, रजत, मूंगा एवं विविध रत्नों की तथा पंच धातु की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठापित की थीं। उसके इष्टदेव जिनेन्द्र थे, गुरु 'तत्त्वार्थसूत्र' की कन्नड़ी बालावबोधवृत्ति के कर्ता और चन्द्रकीर्ति भट्टारक के अग्रशिष्य सिद्धान्त-रत्नाकर दिवाकरनन्दि थे, स्वामी और शासक वीरदेव-सान्तर थे और पिता अम्पण-श्रेष्ठ थे। पट्टणसामि नोक्कय्य-सेठि के नाम से पट्टणसामिगेरे नाम का गाँव बसा था, जिसमें तथा अन्य तीन ग्रामों में उसने चार सरोवर बनवाये थे और एक सौ स्वर्ण गद्याण देकर उगुरेनदी का सौलंग के गगिभगल सरोवर में प्रवेश कराया था। इस लेख को सकलचन्द्र मुनि के गृहस्थ-शिष्य मल्लिनाथ ने लिखा था। नोक्कय्य-सेठि का सुपुत्र वैश्य-वंश-तिलक, रूपवान्, विनयी,

परोपकारी, पुण्यनिधि इन्द्र था। एक दूसरा पुत्र मल्ल था जो विद्वान् और सुकवि था।

तैलपदेव (द्वितीय)-भुजबल-सान्तर-वीरदेव-सान्तर की ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह तैल या तैलप (द्वितीय) था जिसने अपने भुजबल से सान्तर-राज्य का मुकुट प्राप्त किया था और भुजबल-सान्तर के नाम से शान्तिपूर्वक राज्य किया था। यह भी चालुक्य सम्राट् त्रैलोक्यमल्ल का महामण्डलेश्वर था और इसने भी त्रैलोक्यमल्ल उपाधि धारण की थी तथा सर्वत्र ख्याति अर्जित की थी। यह बड़ा शूरवीर और जिनपादाराधक था। उसने अपनी राजधानी हुमच्छ में, 1065 ई. में, भुजबल-सान्तर-जिनालय का निर्माण कराके इसके लिए स्वगुरु कनकनन्दि को हरवरी गाँव का दान दिया था। इस राजा ने पट्टणसामि नौककय्य-सेट्टि द्वारा निर्मित तीर्थद-बसदि के लिए वीजकन-बयल का दान दिया था। अपनी पूज्या मौसी चङ्गलदेवी तथा अपने तीनों भाइयों के निर्माण एवं धार्मिक कार्यों में इसका पूरा सहयोग रहता था।

नम्नि-सान्तर-वीरदेव और वीरल-महादेवी का दूसरा पुत्र गोविन्द या गोविन्दर ही नम्नि-सान्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् 1077 ई. में जब यह जिनपादाराधक नरेश अपनी मातृतुल्या चङ्गलदेवी और छोटे भाइयों आङ्गिरस और वम्मदेव सहित शान्ति से राज्य कर रहा था तो इन लोगों ने हुमच्छ की सुप्रसिद्ध पंचकूट-बसदि का निर्माण प्रारम्भ कराया था और उसकी नींव श्रेयान्सपण्डित से रखवायी थी। उस अवसर पर बहुत-से दानादि भी किये थे। इस राजा के गुरु कमलभद्र थे जो श्रीविजय-ओडेयदेव के शिष्य थे। दान भी उन्हें ही दिये गये थे।

विक्रम-सान्तर-भुजबल और नम्नि-सान्तर का अनुज और वीरदेव का तीसरा पुत्र ओङ्गुग या ओङ्गिरस विक्रम-सान्तर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस राजा ने 1087 ई. में पूर्वोक्त पंच-बसदि के लिए स्वगुरु अजितसेन-वादीभसिंह को दान दिया था। वही आचार्य सुप्रसिद्ध 'क्षत्र-चूडामणि' और 'गद्यचिन्तामणि' नामक संस्कृत ग्रन्थों के रचयिता हैं। सेनबोव शोभनय्य दिगम्बरदास ने उक्त दान-प्रशस्ति को लिखा था। वीरदेव और उनके पुत्रों के प्रधानमन्त्री नगुलरस को भी 1081 ई. के एक शिलालेख में जिनधर्म का सुदृढ़ दुर्ग कहा गया है।

तैल (तृतीय)-सान्तर—अपरनाम त्रिभुवनमल्ल-सान्तर पूर्वोक्त ओङ्गुग अपरनाम विक्रम-सान्तर का ज्येष्ठ पुत्र था। उसकी जननी पाण्ड्य राजकुमारी चन्दलदेवी थी और छोटे भाई गोविन्द और शोप्पुग थे। यह राजा तार्किक-चक्रवर्ती अजितसेन-पण्डितदेव वादिघरट्ट का गृहस्थ-शिष्य था। उसने 1103 में अपनी पूज्या चङ्गलदेवी के साथ अपनी पितामही वीरलदेवी की स्मृति में पंचयसदि के सामने एक नवीन बसदि की नींव का पत्थर रखा था और उसके लिए तीनों भाइयों ने दानादि दिये थे। इस राजा की एक उपाधि 'जगदेकदानी' थी। उसकी रानी चङ्गलदेवी से उसके दो सन्तानें थीं,

पुत्री पम्पादेवी और पुत्र श्रीवल्लभ जो विक्रम-सान्तर (द्वितीय) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दूसरी रानी अम्बिकादेवी से काम, सिंगन और अम्पण नाम के तीन पुत्र हुए थे। यह रानी नन्नि-सान्तर की पत्नी की छोटी बहन थी।

महिलारत्न चङ्गलदेवी या चङ्गले, गंग-राजकुमारी थी। गंगनरेश रक्कसगंग प्रथम का उत्तराधिकारी उसका छोटा भाई नीतिमार्ग था। एक दूसरा भाई राजा वासव था, जिसकी पत्नी कंचलदेवी से पराक्रमी मोविन्ददेव और अरुमुलिदेव नाम के दो पुत्र हुए। इस अरुमुलिदेव अपरनाम रक्कसगंग द्वितीय की रानी गावब्बरसि मध्यदेशाधिपति हैहयवंशी अव्यण-चन्दरसंग की पुत्री थी। इन दोनों को सुपुत्री यह चङ्गलदेवी थी, जिसका भाई राजविद्याधर था और बहन कंचल अपरनाम बीरलदेवी थी। इस प्रकार चङ्गलदेवी रक्कसगंग प्रथम की पौत्री और रक्कसगंग द्वितीय की पुत्री थी। कांची के पल्लवनरेश कङ्कुवेष्टि की वह रानी थी। उसके पति की असमय मृत्यु हो गयी प्रतीत होती है, अतएव उसने अपनी छोटी बहन बीरलदेवी के पुत्रों को ही अपना पोष्यपुत्र बना लिया। बीरदेव-सान्तर की वह महादेवी बीरल अपने तैल (भुजबल), गौगिंग (नन्नि), ओङ्गुग (विक्रम) और बम्भदेव नामक चार शिशु पुत्रों को छोड़कर असमय कालकवलित हो गयी थी। कुछ समय उपरान्त राजा बीरदेव-सान्तर का भी निधन हो गया। अतएव उन मातृ-पितृ-विहीन चारों सान्तर राजकुमारों की माता एवं अभिभाविका का स्थान उनकी इस स्नेहवत्सला मौसी चङ्गलदेवी ने लिया। उसी ने मातृवत् उनका पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा एवं कुशल पथ-प्रदर्शन किया। वे चारों राजकुमार भी उसे अपनी सगी जननी ही मानते-समझते थे, उसे पूरा पुत्र-स्नेह, आदर और सम्मान देते थे तथा उसके आज्ञानुवर्ती रहने में स्वयं को धन्य मानते थे। द्रमिलसंघ-नन्दिगण की तियंगुडि के निडुम्बर-तीर्थ से सम्बद्ध अरुंगल्लाम्बय के आचार्य ओडेवदेव अपरनाम श्री-विजय 'पण्डित-पारिजात' की वह गृहस्थ-शिष्या थी। सान्तरों की राजधानी पोम्बुर्त्तपुर (हुमच्च) में, जिसे अब उसने अपना स्थायी निवासस्थान बना लिया था, चङ्गलदेवी ने अनेक जिनमन्दिर निर्माण कराये। इनमें प्रधान एवं सर्वप्रसिद्ध पंच-बसदि जिनालय था जो अपनी सुन्दरता के कारण उर्व्वितिलक-जिनालय (पृथ्वी का आभूषण) कहलाता था। वह विचार कर कि धर्म ही मनुष्य का सर्वप्रधान एवं चिन्तनीय कर्तव्य है, उसने निश्चय किया कि अपने पिता अरुमुलिदेव, माता गावब्बरसि, बहन बीरलदेवी और भाई राजावित्त की पुण्य-स्मृति (परोक्ष-विनय) में एक अद्वितीय पंचकूट-जिनमन्दिर निर्माण किया जाए। इस देवालय के निर्माण सम्बन्धी 1077 ई. के शिलालेख में लिखा है कि 'गौगि (नन्नि-सान्तर) की माता ने बहुत उत्सुकता से विश्व में अग्रगण्य स्थान प्राप्त करनेवाले पंचकूट-जिनमन्दिर को बनवाया। क्षितिज और आकाश से बात करनेवाले उक्त मन्दिर और एक नवीन सरोवर का निर्माण करके सान्तरों की मौं चङ्गलदेवी ने बहुत यश प्राप्त किया।' अपने चार सान्तर-पुत्रों के साथ उक्त जिनालय

की प्रतिष्ठा कराके उसके लिए उसने स्वर्गुरु श्रीविजय के शिष्य कमलभद्रदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक प्रभूत दान दिया था। इस धर्मात्मा राजमहिला ने अन्य अनेक जिनालय, चैत्यालय, सरोवर, कूप, बावड़ी, प्रपा, उद्यान, स्नान-घाट, सत्र आदि लोकोपकारी निर्माण किये और आहार-अभय-भैषज्य-शास्त्र (विद्या) रूप चतुर्विध दान सतत दिये। उसने अपने पौत्र और विक्रम-सान्तर के पुत्र तैल-सान्तर (तृतीय) के सहयोग से 1103 ई. में बहन बीरलदेवी की स्मृति में हुमच्च के आनन्दूर मोहल्ले में स्थित उक्त पंचवसदि के सामने एक अन्य वसदि (जिनालय) के निर्माण की नींव रखी थी और उसके लिए तथा पंचवसदि के लिए भूमिदान दिया था। यह दान वादिधरह अजितसेनपण्डित को दिया गया था। शिलालेखों में उस धर्मात्मा महिला के गुणों एवं धार्मिक कार्यकलापों की भूरि-भूरि प्रशंसा की गयी है और उसकी तुलना भुवन-स्तुता रोहिणी, चेलना, सीता, प्रमावती-जैसे प्राचीन नारी-रत्नों के साथ की गयी है। जैनधर्म में उसका अद्भुत अनुराग था, धर्मकथाओं के सुनने का उसे चाव था। सान्तरों के राज्य की अभिवृद्धि का वह आधार थी, जिनधर्म के लिए वह कामधेनु थी, उसकी कीर्तिपताका दिगु-दिगन्त-व्यापी थी।

विक्रम-सान्तर (द्वितीय)—तैल तृतीय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। यह वीर, पराक्रमी और धर्मात्मा था और अजितसेनपण्डितदेव का गृहस्थ-शिष्य था। अपनी धर्मात्मा बड़ी बहन पम्पादेवी के सहयोग से उसने उर्वितिलक-जिनालय में उत्तरीय पट्टशाले की स्थापना करके 1147 ई. में उसकी प्रतिष्ठा करायी थी और यासुपूज्य मुनि को उसके लिए दान दिया था। इसी राजा का अपरनाम श्रीवल्लभदेव था।

विदुषी पम्पादेवी—तैल तृतीय की पुत्री और विक्रम (द्वितीय)-सान्तर की बड़ी बहन राजकुमारी पम्पादेवी बड़ी धर्मात्मा थी। हुमच्च के 1147 ई. के शिलालेख के अनुसार उसके द्वारा नवनिर्मापित चित्रित चैत्यालयों के शिखरों से पृथ्वी भर गयी थी। उसके द्वारा मनाये गये जिनधर्मोत्सवों के तूर्य एवं भेरीनाद से दिगु-दिगन्त व्याप्त हो गये थे और जिनेन्द्र की पूजा के हेतु फहरायी जानेवाली ध्वजाओं से आकाश भर गया था। प्रसिद्ध महापुराण में वर्णित भगवान् जिननाथ के पुण्य चरित्र का श्रवण ही उसके कानों का आभूषण था, मुनियों को चतुर्विध दान देना उसके हस्त-कंकण थे, जिनेन्द्र की भक्ति और स्तवन ही उसकी कण्ठ-मालाएँ थीं। इन अनुपम अलंकारों के रहते क्या तैलभूप की वह सुता अपने शरीर पर सामान्य आभूषणों का भार ढोने की चिन्ता करती? एक मास के भीतर ही उसने उर्वितिलक-जिनालय के साथ सुन्दर शासन-देवता-मन्दिर निर्माण कराकर प्रतिष्ठापित कर दिया था। वह अनन्य पण्डिता थी, इसलिए साक्षात्-शासनदेवी भी कहलाती थी। उसने 'अष्ट-विधार्चन-महाअभिषेक' और 'चतुर्भक्ति' नामक ग्रन्थों की रचना की थी। आचार्य अजितसेन-वादीभसिंह की वह गृहस्थ-शिष्या थी। इस धर्मात्मा, विदुषी पम्पादेवी ने अपने अनुज विक्रम-सान्तर

के साथ उर्वित्तिलक-जिनालय की उत्तरी पट्टशाला बनवाकर प्रतिष्ठित करायी और उसके लिए वासुपूज्य गुरु को दान दिया था।

बाचलदेवी—पम्पादेवी की सुपुत्री, तैल-सान्तर (तृतीय) की दौहित्री और विक्रम-सान्तर (द्वितीय) की भानजी भी अपनी माँ की भाँति बड़ी धर्मात्मा राजकुमारी थी। वह अत्यन्त रूपवान्, शीलवान्, विनयी, दानशीला और परम जिनभक्त थी। इस पवित्र-चरित्र एवं शील-पुंज राजकुमारी की प्रथम एवं सतत रुचि जिनेन्द्र भगवान् की अष्टविध पूजा-अर्चा में, भगवान् के महा-अभिषेक में और त्रिसांध्यक चतुः-भक्ति में रहती थी। अपने उपर्युक्त सदगुणों के कारण वह नूतन या अभिनव अस्तिमब्धे कहलाती थी। अपनी जन्मनी और माया के धर्मकार्यों में सहयोगिनी थी, यथा 1147 ई. के निर्माण एवं दान आदि में। पम्पादेवी के गुरु अजितसेनपण्डितदेव ही बाचलदेवी के भी गुरु थे।

काम-सान्तर—विक्रम-सान्तर (द्वितीय) के उपरान्त उसका सौतेला भाई काम-सान्तर अपरनाम शान्तरादित्यदेव राजा हुआ जो तैल-तृतीय की पत्नी अक्कादेवी से उत्पन्न हुआ था। सन् 1159 ई. के हैरेकेरी शिलालेख में इस कामभूपति को पार्श्वनाथान्वयी, तीव्र-तेजोनिधि, कामदेव के समान रूपवान्, वीर और धर्मात्मा लिखा है। उसकी रानी विज्जलदेवी चाण्ड्य कुल में उत्पन्न हुई थी। वह बड़ी सुन्दर, शीलवती, पुण्यवती, दयालु, जिनेन्द्र भगवान् के चरणकमलों की भक्त, पति की विजयश्री एवं उसके कुल की अभिवृद्धि करनेवाली थी। उसके दो पुत्र जगदेव और सिंगिदेव थे तथा एक पुत्री अलियादेवी थी। दोनों पुत्र-शस्त्र-शास्त्रकुशल, दान-विनोद, सच्चरित्र और शूरवीर थे।

अलियादेवी—काम-सान्तर और रानी विज्जलदेवी की सुपुत्री तथा जगदेव और सिंगिदेव की भगिनी राजकुमारी अलियादेवी विशुद्ध आचार एवं निर्मल गुणोंवाली बड़ी धर्मात्मा नारीरत्न थी। उसका विवाह कदम्बकुल में उत्पन्न, कोंकण प्रदेश के रक्षपाल शूरवीर राजा होम्नेयरस के साथ हुआ था। इन दोनों का पुत्र जिनेन्द्र-पाद-पंकज-मद-भृंग, गुणवान् और पुण्यवान् कुमार जयकेशिदेव था। रानी अलियादेवी चतुर्विध दान में तत्पर, निर्मल सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य गुणसम्पन्न, जिनराज की भक्ति में निमग्न दूसरी अस्तिमब्धे ही थी। उसने 1159 ई. में सेतु में भक्तिपूर्वक एक भव्य जिनराजमठ (जिनमन्दिर) बनवाया और उसके लिए अपने पति एवं पुत्र सहित स्वगुरु भानुकीर्तिदेव को धारापूर्वक भूमिदान दिया था। यह गुरु काणूरगणतिन्त्रिणीगच्छ के मुनि थे और बन्दनिके-तीर्थ के आचार्य थे।

वीर-सान्तर—काम-सान्तर का पुत्र या पौत्र या जो 1178 ई. में विद्यमान था। इसका विरुध भी जिनपाद-भ्रमर था। इसके उपरान्त सान्तरवंश में लिंगायत मत की प्रवृत्ति होने लगी और साथ ही वंश की अवनति भी।

सौन्दरि के रट्ट-राजे

राष्ट्रकूटों की ही किसी शाखा से मूलतः उत्पन्न रट्टबाड़ी के शासक रट्ट-राजाओं का राष्ट्रकूट सम्राटों के स्वधर्मों के रूप में उदय हुआ। सुगन्धवर्ति (सौन्दरि) उनकी राजधानी थी। इस वंश में प्रारम्भ से अन्त पर्यन्त जैनधर्म की प्रवृत्ति रही।

पृथ्वीराम रट्ट—रट्टवंश में सर्वप्रथम प्रसिद्ध नाम पृथ्वीराम का है जो मैलापतीश्वर के कारेगण के गुणकीर्ति मुनि के शिष्य इन्द्रकीर्तिस्वामी का छात्र (विद्याशिष्य) था और सत्यनिष्ठ मेरड (या मेचड) का ज्येष्ठ पुत्र था। राष्ट्रकूट अमोघवर्ष प्रथम के समय उसका अभ्युदय हुआ और राष्ट्रकूट कृष्णराज द्वितीय के समय तक वह समधिगतर्पच-महाशब्द-महासामन्त हो गया था और उस सम्राट का दाहिना हाथ बन गया था। इस रट्टराज ने 876 ई. में अपने स्वस्थान सुगन्धवर्ति में एक जिनेन्द्रभवन का निर्माण कराया था और उसके लिए अठारह निवर्तन भूमि का सर्वनमस्य दान दिया था। तत्सम्बन्धी शिलालेख में पृथ्वीराम को कृष्ण राज का पादपशोपजीवी सेवक, महासामन्त, भृत्य-विन्तामणि, सुभटचूड़ामणि, वीरलक्ष्मीकान्त, विरोधि-सामन्त-नगवज्रदण्ड, विद्वज्जन-कमलमार्तण्ड आदि कहा गया है। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी वत्सरज था।

पतवर्म—पृथ्वीराम का पौत्र और वत्सरज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था। वह बड़ा वीर और पराक्रमी था। अजवर्मा नामक शत्रु राजा को युद्ध में पराजित करके उसने कीर्ति प्राप्त की थी। इस पिट्टग अपरनाम पतवर्म ने रट्ट-पट्ट-जिनालय बनवाया था, जिनेन्द्र का पूजोत्सव किया था और दीपावली पर्व को अपनी राजधानी में सोल्लास मनाया था। उसकी ज्येष्ठ रानी रूपवती, सुशीला, पतिभक्त एवं धर्मात्मा नीजिकब्बे थी जो अरुन्धती के समान थी। उनका पुत्र शान्तिवर्मन था।

शान्तिवर्म—पतवर्म (पिट्टग) का पुत्र एवं उत्तराधिकारी शान्तनृप या शान्तिवर्मरस जिनभक्त, विजेता, गुणगणालंकार, मार्ग का निर्णय करनेवाला, तस्य-विचार-मिपुण, गमक, चतुर्विधदान-सत्पर, वीर एवं धर्मात्मा राजा था। उसकी ज्येष्ठ रानी का नाम चन्दिकब्बे था। शान्तवर्म और उसकी जननी काणूरगण के बाहुबलि भट्टारक के गृहस्थ-शिष्य थे। इस राजा ने सौन्दरि में एक जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु को 98। ई. में 150 मत्तर भूमि का दान दिया था। उक्त ही दान उक्त जिनालय के लिए उसकी जननी नीजिकब्बे ने भी दिया था। शान्तनृप की रानी चन्दिकब्बे भी बड़ी धर्मात्मा थी और उक्त धर्मकार्यों में उसका सहयोग था। यह राजा कल्याणी के प्रथम चालुक्य सम्राट तैलदेव का महासामन्त था।

शान्तनृप का पुत्र नन्नभूष था जिसका पुत्र प्रतापी कान्तवीर्य (प्रथम) चालुक्य आहवमल्ल का पाद-पशोपसेवक था और कुहुण्डिदेश का शासक था। उसका अनुज कन्नमहीपति था, जिसके पुत्र वाद्या और परम थे। वाद्या की अग्रमहिषी मैलादेवी

से उत्पन्न उसका ज्येष्ठ पुत्र सेन (कालसेन) भूपति था। कन्न (कन्नकर) की नृत्य-गीतादि कोविद के रूप में ख्याति थी और उसके धर्मगुरु कनकप्रभ-सिद्धान्तिदेव थे, जिन्हें उसने भूमिदान दिया था। सेन का अनुज कार्तवीर्य (द्वितीय) था जो चालुक्य सोमेश्वर द्वितीय और त्रिभुवनमल्ल का महामण्डलेश्वर था। इस काल में ये रट्टराजे लाल्लूर्परधराधीश्वर भी कहलाते थे। कालसेन ने सौन्दर्य में भवितपूर्वक एक जिनमन्दिर बनवाया था, जिसके लिए 1096 ई. में भूमिदान दिया था। तदुपरान्त कालसेन, कार्तवीर्य, कन्नकर आदि कई राजा हुए, जो सब अपने पूर्वजों की भाँति जैनधर्म के अनुयायी थे। इनमें से कार्तवीर्य तृतीय ने शिलाहारों की राजधानी कोल्हापुर के गौकिजिनालय में भेमिनाथ भगवान् की प्रतिमा 1123 ई. में प्रतिष्ठित करायी थी और माघनन्दि-सिद्धान्ति को दान दिया था।

कार्तवीर्य-चतुर्थ—बारहवीं शती ई. के उत्तरार्ध में रट्टवंश का एक प्रतापी और धर्मात्मा नरेश कार्तवीर्य चतुर्थ था। वह कार्तवीर्य तृतीय का पौत्र और लक्ष्मी-भूपति का पुत्र था। शिलाहार नरेशों के राज्य में स्थित एकलाम्बी के नेमोश्वर-जिनालय की ख्याति सुनकर वह 1165 ई. में दर्शनार्थ वहाँ गया और उक्त जिनालय की पूजा, संगीतवाद्य, मुनियों के आहार-दान, खण्डस्कृतित संस्कार आदि के लिए यापनीयसंघ पुन्नामवृक्षमूलगण के मण्डलाचार्य विजयकीर्ति को उदार दान दिया। कार्तवीर्य ने अपनी माता चन्द्रिका-महादेवी द्वारा निर्मापित रट्टों के जैनमन्दिर के लिए 1201 ई. में तत्कालीन कुलगुरु शुभचन्द्र भट्टारक को कई गाँवों की भूमियाँ दान की थीं। इस राजा का अनुज मल्लिकार्जुन भी पारी योद्धा और धर्मात्मा था और वीर सेनापति बूचिराज भी परम जैन था, जिसने बेलगाश में रट्ट-जिनालय नाम का मन्दिर निर्माण कराया था। कार्तवीर्य का अनुज मल्लिकार्जुन ही उसके समय में युवराज था तथा उसके राज्यकार्य में योग देता था। कार्तवीर्य चतुर्थ ने 1204 ई. में भी अपनी माता द्वारा बनवाये गये मन्दिर के लिए दान दिया था, 1205 ई. में स्वगुरु को अन्य भूमिदान दिया और उसी वर्ष सेनापति बूचिराज द्वारा निर्मापित मन्दिर के लिए भी उदार दान दिया था।

लक्ष्मीदेव—कार्तवीर्य की मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र लक्ष्मीदेव द्वितीय राजा हुआ। उसके गुरु मुनिचन्द्रदेव थे। अपने उन राजगुरु की आज्ञा से लक्ष्मीदेव ने 1229 ई. में अनेक दान दिये थे, जो उसने स्वनिर्मापित मल्लिनाथ-मन्दिर के निमित्त दिये थे। मुनिचन्द्रदेव राजा के धर्मगुरु ही नहीं, शिक्षक और राजनीति पथप्रदर्शक भी थे। उन्हीं की देख-रेख में शासन-कार्य चलता था। स्वयं राजा लक्ष्मीदेव ने उन्हें 'रट्टराज्य-संस्थापक-प्राचार्य' उपाधि दी थी। कहा जाता है कि संकटकाल में उन्होंने प्रधान मन्त्री का पद ग्रहण कर लिया था और राज्य के शत्रुओं का दमन करने के लिए शस्त्र भी धारण किये थे। संकट की मिथुति के उपरान्त वह फिर से साधु हो गये थे। वह काणूरगण के आचार्य थे। राज्यकार्य में उनके प्रमुख सहायक एवं

परामर्शक शान्तिनाथ, भाग और मल्लिकार्जुन थे। यह मल्लिकार्जुन लक्ष्मीदेव के चाचा से भिन्न, साम्नासिग-वंशीय महादेव-नायक का पुत्र, गौरौ का पति और केशिराज का पिता था। यह परिवार लिंगायत मतानुयायी था। तेरहवीं शताब्दी के मध्य के लगभग सौन्दरि का रङ्गवंश समाप्त-प्राय हो गया।

कोंकण के शिलाहार राजे

पश्चिमी दक्षिणपथ के कोंकण प्रदेश में 10वीं शती ई. में कई शिलाहार (सेलार, सिलार) वंशी सामन्त घरानों का उदय हुआ। ये विद्याधरवंशी क्षत्रिय थे और स्वयं को पौराणिक वीर जीमूतवाहन की सन्तति में हुआ मानते थे। इनका मूलस्थान तमरपुर (पैठन से 95 मील दूर स्थित तैर) था, अतः अपने नाम के साथ तगर-पुरधराधीश्वर उपाधि प्रयुक्त करते थे।

रुद्रराज-शिलाहार—शिलाहारों की एक शाखा बलिपट्टन (बलबडे) दुर्ग में शासन करती थी और उसमें 1008-1010 ई. में धम्मियर का वंशज और इन्द्रराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी रुद्रराज सिलार चालुक्यों के अधीनस्थ बड़ा वीर, पराक्रमी और प्रतापी था और जैनधर्म का अनुयायी था। उसका सन्धिविग्रहिक मन्त्री 'महाश्री' देवपाल था। रुद्रराज ने अपनी वंशावली धम्मियर के प्रपितामह सिलार से प्रारम्भ की है और वह स्वयं धम्मियर की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। सिलार के पौत्र, सिंहल के पुत्र और धम्मियर के पिता सणफुल्ल को कृष्णराज का कृपापात्र बताया गया है, अतएव राष्ट्रकूट कृष्ण प्रथम ने दक्षिणी कोंकण की विजय करके अपने जिस शिलाहार सामन्त को उस प्रदेश का शासक नियुक्त किया था, वह यही प्रतीत होता है।

रुद्रराज के साथ ही सम्भवतया यह शाखा समाप्त हो गयी अथवा उस दूसरी शाखा में विलीन हो गयी जो 11वीं शती के प्रारम्भ में चालुक्यों के सामन्तों के रूप में उदित हो रही थी। इस दूसरी शाखा की प्रारम्भिक राजधानी करहाटक (करहद) थी और तदनन्तर वह कुल्लकपुर (कोल्हापुर) में स्थायी हुई। बलिपट्टन (बलबडे), करहद और कोल्हापुर के अतिरिक्त पन्हाला (पद्मालय) दुर्ग भी उनका एक प्रमुख गढ़ था, किन्तु प्रधान राजधानी कोल्हापुर ही थी, जिसके अपरनाम कोल्लपुर, कोल्लगिरि, कुल्लकपुर और पद्मालय थे। इस नगर की प्राचीन अधिष्ठात्री पद्मावतीदेवी को ही, जो महालक्ष्मी के नाम से भी प्रसिद्ध हो चली थी, शिलाहारों ने अपनी इष्टदेवी एवं कुलदेवी बनाया। इस शाखा का प्रथम ज्ञात राजा जतिग प्रथम था जो 10वीं शती ई. के मध्य के लगभग राष्ट्रकूट सम्राट् कृष्ण तृतीय का सामन्त था। उसका पुत्र ननिवर्मन और पौत्र चन्द्र था। चन्द्र का पुत्र जतिग द्वितीय (लगभग 1000-1020 ई.) कल्याणी के चालुक्यों का प्रसिद्ध सामन्त और अपने वंश की प्रतिष्ठा का संस्थापक था। गोंक, गुवल, कीर्तिराज और चन्द्रादित्य नाम के उसके

चार पुत्र थे। ज्येष्ठ पुत्र गोंक का राज्य अल्पकालीन रहा, किन्तु वह ऐसा जिनभक्त था कि उसने जो गोंक जिनालय बनवाकर प्रतिष्ठित किया था उसके अनुकरण पर इस प्रदेश में अगले सौ-डेढ़ सौ वर्ष में कई गोंक-जिनालय स्थापित हुए। उसके पश्चात् उसका अनुज गुवल प्रथम राजा हुआ, जिसने लगभग 1055 ई. तक राज्य किया। तदनन्तर गोंक का पुत्र मारसिंह राजा हुआ, जिसने लगभग बीस वर्ष राज्य किया। सम्भव है कि मारसिंह ने ही अपने पिता गोंक की स्मृति में वह प्रथम प्रसिद्ध गोंक-जिनालय निर्माण कराया हो। इस राजा के एक पुत्री और चार पुत्र हुए। पुत्री राजकुमारी विद्याधरा अपरनाम चन्द्रलदेवी या चन्द्रलेखा का विवाह चालुक्य विक्रमादित्य षष्ठ (1076-1128 ई.) के साथ हुआ था, जिसके कारण कोल्हापुर के शिलाहारों की प्रतिष्ठा और शक्ति बहुत बढ़ गयी। मारसिंह के उपरान्त उसके चारों पुत्रों ने क्रमशः राज्य किया—गुवल-गंगदेव (1076-1086), बल्लाल (1086-1095), भोज प्रथम (1095-1110) और चन्द्रादित्य (1110-1140 ई.)।

बल्लालदेव शिलाहार—अपने ज्येष्ठ भ्राता गुवल-गंगदेव का उत्तराधिकारी था। इस महामण्डलेश्वर ने अपने अनुज गण्डरादित्य के साथ पुन्नागवृक्षमूलमण के आचार्य रात्रिमतिकान्ति के गृहस्थ-शिष्य बम्बगावुण्ड द्वारा निर्मापित पार्श्वनाथ-बसदि के लिए एक पक्का विशाल भवन दान किया था। यह पार्श्वप्रतिमा कोल्हापुर जिले में कागल के निकट होन्नूर के जिनमन्दिर में है और लेख प्रतिमा के अभिषेकस्थल (पाण्डुक-शिला) के सामने उत्कीर्ण है।

भोज प्रथम शिलाहार—अपने भाई बल्लाल का उत्तराधिकारी था। उसने लगभग 1095 ई. से 1110 ई. तक राज्य किया। इस राजा के प्रश्रय में कोल्हापुर में कोण्डकुन्दाम्बय-देशीगण-पुस्तकगच्छ के आचार्य कुलचन्द्रदेव के शिष्य आचार्य पाधनन्दि-सिद्धान्ति ने शिलाहार नरेश गोंक या मारसिंह द्वारा निर्मापित गोंक-जिनालय के निकट सुप्रसिद्ध रूपनारायण-बसदि की स्थापना की और उसे ही अपना स्थायी निवास बनाया। अपनी उक्त बसदि को आचार्य ने जैन संस्कृति और शिक्षा का केन्द्र बनाया और उसमें एक विशाल एवं महत्त्वपूर्ण विद्यापीठ विकसित किया, जिसमें त्यागी, ब्रतियों, मुनियों आदि के अतिरिक्त सामन्तपुत्र, राजपुरुष तथा सामान्य जन भी शिक्षा प्राप्त करते थे। इस राजा का एक विरुद 'रूप-नारायण' भी रहा प्रतीत होता है—उसके भतीजे विजयादित्य का तो यह विरुद था ही। अब या तो आचार्य ने तत्कालीन राजा भोज के विरुद के नाम पर अपने संस्थान का नामकरण किया अथवा उसके प्रश्रयदाता एवं संरक्षक होने के कारण इन नरेशों ने उसके नाम को अपना विरुद बना लिया।

गण्डरादित्य (1110-1140 ई.)—भोज के उपरान्त उसका अनुज चन्द्रादित्य अपरनाम गण्डरादित्य राजा हुआ। वह इस वंश का प्रसिद्ध प्रतापी नरेश था और नाममात्र के लिए ही चालुक्यों के अधीन था। उसने अनेक युद्ध किये, विजय प्राप्त

की और शत्रुओं से अपने राज्य को सुरक्षित रखा। वह भारी दानी था और जैनधर्म का पोषक होते हुए भी सर्वधर्म-समदर्शी था। कोल्हापुर के निकट प्रयाग (नदी-संगम) में उसने एक हजार ब्राह्मणों को भोजन कराया था और निकट ही अजुंरिका (अजरेना) नामक स्थान में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। इसकुटि में गण्डु-समुद्र नामक एक विशाल सरोवर बनवाकर उसके तटपर उसने ऐसे देवालये बनवाये थे जिनमें जिनेन्द्र, शिव और बुद्ध तीनों देवताओं की मूर्तियाँ स्थापित थीं। उसका प्रधान सामन्त एवं सेनापति वीर निम्बदेव परम जैन था और उसके धार्मिक कार्यों में राजा का सहयोग था। इस राजा के समय के तेरिदाल स्थान के नेमिनाथ जिनालय में प्राप्त 1123 ई. के बृहत् शिलालेख में वीरगोक-क्षितादेव का वंशजा (पौत्र) का, जो चालुक्य त्रैलोक्यमल्ल से विवाही था, और उसके पुत्र पेम्माडिसय का उल्लेख है, जिसने अपने माना के राज्य में आकर अपनी जननी के पुण्यवर्धन हेतु उक्त धर्मकार्य में योग दिया था। सौन्दर्य के रङ्ग-राजा कार्तवीर्य तृतीय का भी उस कार्य में सहयोग था। ऐसा लगता है कि पूर्वोक्त गोक शिलाहार का ही एक वंशज गोकदेवरस था जो तेरदाल का शासक था। उसका पिता वीर मल्लिदेव था और माता धर्मात्म्य बाचलदेवी थी उक्त नेमिनाथ जिनालय का निर्माण, प्रतिष्ठा, दानादि में मुख्य प्रेरक वही थी। इन सबके गुरु रूपनारायण-वसति के आचार्य कोल्हापुरीय माघनन्दि-सिद्धान्ति चक्रवर्ती थे, उन्हीं के शिष्यों को दानादि दिये गये थे। एक अभिलेख में गण्डरादित्य को वैरिकान्ता-वैधव्य-दीक्षागुरु, धार्मिक धर्मज और सकलदर्शन-चक्षुष कहा है।

विजयादित्य शिलाहार (1140-1175 ई.)—गण्डरादित्य का पुत्र एवं उत्तराधिकारी बड़ा पराक्रमी वीर था। उसने अपने पिता के समय में ही गोआ के जयकेशिन को हराया था। उसने चालुक्यों की पराधीनता का जुआ उतार फेंका और वह विज्जलकलचुरि द्वारा चालुक्यों को पदच्युत करके उसके कल्याणी का स्वामी बनने में प्रधान सहायक था। किन्तु जब विज्जल ने उसे भी अपने अधीन करना चाहा तो दोनों में भयंकर युद्ध हुआ, जिसमें उसके सेनापति निम्बदेव ने वीरगति पायी, किन्तु कलचुरियों को भी पराजित करके भगा दिया। विजयादित्य को शत्रुओं के लिए धमराज कहा गया है। 'कलिकाल विक्रमादित्य' एवं 'रूपनारायण' उसके प्रसिद्ध विरुद्ध थे। अपने धार्मिक उत्साह के कारण वह 'धर्मैकबुद्धि' भी कहलाता था। वह परम जैन था, श्रावक के व्रतों का पालन करता था और अपने गुरु माणिक्यनन्दि-पण्डितदेव की बड़ी विनय करता था। कोल्हापुर तथा अन्य स्थानों के जिनमन्दिरों को उसने अनेक दान दिये थे। निम्बदेव के अतिरिक्त उसका वीर सेनापति, शोषण मन्त्री लक्ष्मीधर और सामन्त कालन भी परम जैनभक्त थे। उनके धार्मिक कार्यों में इस राजा की सहमति एवं सहयोग था। सन् 1143 ई. में उसने अपने एक सामन्त कामदेव के आश्रित वासुदेव द्वारा कोल्हापुर में निर्मापित जिनालय के लिए कई गाँवों की भूमियाँ माघनन्दि के शिष्य माणिक्यनन्दि को दान दी थीं।

उस समय राजा वलवाह में निवास कर रहा था। वहीं रहते हुए उसने 1150 ई. में अपने मामा तामन्त लक्ष्मण की प्रेरणा पर मडलूर में चौधोरे-कामगावुण्ड द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए माघनन्दि के एक अन्य शिष्य अहंनन्दि को कुछ भूमि, एक वाटिका तथा एक मकान दान दिया था।

भोज द्वितीय शिलाहार (1175-1215 ई.)—विजयादित्य का पुत्र एवं उत्तराधिकारी भोज द्वितीय इस वंश का प्रायः अन्तिम नरेश था, किन्तु बड़ा प्रतापी, उदार और धर्मात्मा था। प्रारम्भ से ही उसने सम्राट् पद के विरुद्ध धारण कर लिये थे। दक्षिण में उस समय कोई अन्य साम्राज्य-सत्ता रह ही नहीं गयी थी। अपने पूर्वजों की भाँति भोज द्वितीय भी जैनधर्म का पोषक और भक्त था। विशालकीर्ति-पण्डितदेव उसके गुरु थे। इसी और भोजदेव के शासनकाल में 1200 ई. में आचार्य सोमदेव ने जैनेन्द्र-व्याकरण की 'शब्दार्णवचन्द्रिका' नामक प्रसिद्ध टीका गण्डरादित्य द्वारा अर्जुनिका ग्राम में निर्मापित त्रिभुवनतिलक-नेमिनाथ-जिनालय में उक्त विशालकीर्ति के सहयोग से रची थी। राजधानी कुल्लकपुर (कोल्हापुर) को भी इस राजा ने अनेक सुन्दर जिनालयों से अलंकृत किया था। सन् 1212 ई. में सिंघण यादव के हाथों वह बुरी तरह पराजित हुआ और अन्ततः शिलाहार राज्य यादवराज्य में सम्मिलित हो गया।

बाचलदेवी—तेरिदाल के शिलाहार राजा गोंकिरस की माता और वीर मल्लिदेव की धर्मात्मा पत्नी थी। माघनन्दि-सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके गुरु थे और भगवान् नेमिनाथ उसके इष्टदेव थे। वह सीता के समान सती और धर्मात्मा रानी थी। तेरिदाल के नेमिनाथ-जिनालय की स्थापना और 1123 ई. में उसकी प्रतिष्ठा एवं उसके लिए दिये गये दानादि में मुख्य प्रेरक थी।

गोंकिरस—तेरिदाल का शिलाहार राजा गोंकिरस परम जिनभक्त था। उसकी माता बाचलदेवी, पिता मल्लमहीप (मल्लिदेव), गुरु कोल्हापुर की स्वप्नारायण-वसदि के आचार्य माघनन्दि-सिद्धान्ति और इष्टदेव भगवान् नेमिनाथ थे। वह कोल्हापुर के अपने सगे-प्राचीन गण्डरादित्य का माण्डलिक राजा था। उसका ध्वजचिह्न मयूर-पिच्छ था तथा इष्टदेवी एवं कुलदेवी पद्मावती थी। अतएव मयूर-पिच्छ-ध्वज, पद्मावतीदेवी-लब्धवरप्रसाद, जिनधर्म-केलिविनोद, जिनमताग्रणी, शौर्य-रघुजात, समर-ज्योत्संग, रणरंगसिंह आदि उसके विरुद्ध थे। अपनी राजधानी तेरिदाल में उसने एक अति सुन्दर श्री नेमिनाथ-जिनालय अपरनाम गोंक-जिनालय निर्माण करवाया था और 1123 ई. में बड़े समारोह से उसकी प्रतिष्ठा की थी, जिनमें चालुक्य विक्रमादित्य का राजकुमार पेम्माडिदेव, रहराज कार्तवीर्य तृतीय, सामन्त निम्बरस आदि कई पड़ोसी नरेश भी सम्मिलित हुए थे। उक्त जिनालय के लिए उसने स्वगुरु को प्रभूत भूमि आदि का दान प्रादप्रक्षालनपूर्वक दिया था। वह गुणवान् धर्मात्मा राजा जिन-व्रतों के पालन में भी दृढ़ था।

महासायन्त निम्बदेव—गण्डरादित्य शिलाहार का प्रधान सामन्त और वीर सेनापति निम्बरस या निम्बदेव राज्य का प्रमुख स्तम्भ था और शिलाहार नरेश का दाहिना हाथ बन गया था। शिलालेखों में इस वीर की बड़ी प्रशंसा पायी जाती है। उसे विजय-सुन्दरी-वल्लेभ, सामन्तशिरोमणि, शत्रुसामन्तों के संहार के लिए प्रचण्ड पवन, सृजन-चिन्तामणि, गण्डरादित्यमहावक्त्र, दक्षिण-मुजदण्ड इत्यादि कहा गया है। राजा ने उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर उसके नाम से निम्बसिरगौव नामक नगर बसाया था। गण्डरादित्य के उत्तराधिकारी विजयादित्य के समय में भी वह अपने पद पर आसीन रहा। विजयल कलचुरि के साथ इस शिलाहार नरेश का जो भीषण युद्ध हुआ उसका संचालन भी निम्बदेव ने ही किया था। उसी युद्ध में इसने वीरगति पायी थी, किन्तु मरते-मरते भी अपने शौर्य एवं युद्ध पराक्रम से यह कलचुरियों को इतना आतंकित कर गया कि वे मैदान छोड़कर भाग गये। वीर योद्धा होने के साथ-ही-साथ सामन्त निम्बदेव बड़ा धर्मात्मा था। उसकी जिनभक्ति असीम थी, जिसके कारण सम्यक्त्व-रत्नाकर, जिनचरण-सरसीरुह-मधुकर-जैसे विरुद्ध उसने प्राप्त किये थे। कोल्हापुर के आसपास कोई बसदि या जिनालय ऐसा नहीं था, जिसने उसकी उदार दानशीलता का लाभ न उठाया हो। स्वयं राजधानी कोल्हापुर में सुप्रसिद्ध महालक्ष्मी (पद्मावती) मन्दिर के निकट उसने अत्यन्त सुन्दर एवं कलापूर्ण नेमि-जिनालय बनवाया था। इस मन्दिर के शिखर की कर्णिका पर 72 खड्गवासन जिन-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। वर्तमान में इस मन्दिर पर वैष्णवों का अधिकार है। और मूल-नायक नेमिनाथ का स्थान विष्णुमूर्ति ने ले लिया है। तेरिवाल के गोंकि-जिनालय की प्रतिष्ठा के अवसर पर 1123 ई. में सामन्त निम्बदेव भी उपस्थित था और उक्त धर्मकार्य में सहयोगी था। कोल्हापुर की रूपनारायण-बसदि का वह प्रमुख संरक्षक था और उस संस्थान के आचार्य वही कोल्हापुरीय माधनन्दि-सिद्धान्तचक्रवर्ती उसके गुरु थे। श्रवणबेलगोल में महानवमी मण्डप के 1168 ई. के एक स्तम्भलेख में सामन्त निम्बदेव को 'दान-श्रेयांस' कहा है और उसे सामन्त केदारनाकरस एवं सामन्त कामदेव के साथ-साथ उक्त माधनन्दि का प्रमुख गृहस्थ-शिष्य बताया है। ये दोनों सामन्त भी परम जैन थे और निम्बदेव के साथी रहे प्रतीत होते हैं। कोल्हापुर में प्राप्त 1135 ई. के एक शिलालेख के अनुसार महासायन्त निम्बदेवरस ने कवडेगोल के सन्तैय-मुद्गोडे में भगवान् पार्श्वनाथ का एक भव्य मन्दिर बनवाया था और उसके लिए सात अन्य धर्मात्मा थावकों के साथ कोल्हापुर की रूपनारायण-बसदि के तत्कालीन आचार्य श्रुतकीर्ति-त्रैविध को, जो माधनन्दि के शिष्य थे, स्थानीय राजकरों आदि का दान दिया था। निम्बदेव मन्त्रशास्त्र का भी ज्ञाता था और शासनदेवी पद्मावती का उसे इष्ट था। वह धर्मशास्त्र का भी ज्ञाता था और थावकों को धर्मानुकूल आचरण करने के लिए सदैव प्रेरित एवं प्रोत्साहित करता रहता था। इस युद्धवीर, कर्मवीर और धर्मवीर महासायन्त निम्बदेव ने इतनी ख्याति अर्जित की थी

कि उसके कई सौ वर्ष बाद कन्नड़ कवि पांडवदेव ने 'भाम्बदेव-चरित्र' नामक काव्य रचकर उसकी यशोगाथा गायी थी। शुभयन्द्र के शिष्य पद्मनन्दि ने भी अपनी 'एकत्व-सप्तति' में उसे सामन्त-चूड़ामणि कहा है।

सेनापति बोप्पण—शिलाहार विजयादित्य का जैन सेनापति था, जिसके विषय में किदारपुर-शिलालेख में लिखा है कि वह राजा विजयादित्य के लिए वैसा ही था जैसा हरि के लिए गरुड़, राम के लिए मारुति (हनुमान्) और कामदेव के लिए बसन्त। युद्धभूमि में शत्रुओं का संहार करने में वह अद्वितीय था। राजा के लिए एक विशाल जिन-मन्दिर के निर्माण कराने का कार्य उसने अपने हाथ में लिया था, किन्तु उसके पूरा होने के पूर्व ही बोप्पण की मृत्यु हो गयी।

मन्त्री लक्ष्मीदेव या लक्ष्मीधर विजयादित्य शिलाहार का प्रमुख जैन मन्त्री था। वह पार्वतीय दुर्ग किलेकल के दुर्गपति गोवर्धन का पुत्र और उच्च पदाधिकारी गोपय का जामाता था। राज्यप्रबन्ध में कुशल और युद्धभूमि में निपुण सैन्यसंचालक लक्ष्मीदेव साहित्यरसिक और धर्मात्मा भी था। वह 'सम्यक्त्व-भण्डार' कहलाता था और नेमिचन्द्र मुनि का गृहस्थ-शिष्य था तथा कन्नड़ 'नेमिनाथपुराण' के कर्ता जैनकवि कण्णपाय का आश्रयदाता था।

सामन्त कालन—विजयादित्य शिलाहार का एक विद्वान्, शास्त्रज्ञ, कलामर्मज्ञ, धर्मात्मा जैन सामन्त एवं वीर सेनापति था। जब सेनापति कालन अपनी पत्नी, बच्चों और मित्रों के साथ सुखपूर्वक रह रहा था तो एकदा उसने विचार किया कि इस लोक और परलोक के परमार्थ साधन का एकमात्र उपाय धर्म ही तो है। अतएव उसने 1165 ई. में सन्तीनगर में नेमीश्वर-बसदि नाम का विशाल एवं कलापूर्ण एक जिनालय बनवाया था, जिसका उत्तुंग गोपुर कलापूर्ण प्रस्तरांकनों एवं भण्डि-खचित कलशों से युक्त था। उसके लिए स्वगुरु वापनीयसंघ-पुन्नागवृक्षमूलगण के मुनि कुमारकीर्ति के शिष्य महामण्डलाचार्य विजयकीर्ति को उसने प्रभूत दान दिया था। इस सुन्दर जिनालय की ख्याति सुनकर रघुराज कार्तवीर्य चतुर्थ उसके दर्शनार्थ आया था और प्रसन्न होकर उसके लिए उक्त गुरु को दान भी दे गया था। धर्मात्मा कालन सामन्त द्वारा स्थापित इस बसदि में नित्य देवपूजा, मुनियों एवं धर्मात्माजनों के आवास तथा चारों दानों की नियमित व्यवस्था थी। सामन्त कालन सप्तर्षमी-न्याय का वेत्ता था और पंच-महा-कल्याणक, अष्टमहाप्रातिहार्य तथा चौंतीस अतिशय सम्पन्न जिनेन्द्रदेव का परम भक्त एवं आराधक था।

श्रावक वासुदेव—ब्राह्मणजातीय धर्मात्मा श्रावक था जो विजयादित्य शिलाहार के एक सामन्त कामदेव का आश्रित था। कुल्लकपुर-श्रीरूपनारायण-जिनालयाचार्य माधनन्दि-सिद्धान्तचक्रवर्ती का यह प्रिय छात्र (विद्या-शिष्य) और गृहस्थ-शिष्य (श्रावक) था। शान्तरस-प्रधान जिनदेव ही उसके इष्टदेव थे। उसने 1143 ई. में पार्श्वनाथ भगवान् का एक सुन्दर जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करायी थी और

उसकी अष्टविध-अर्चा, खण्ड स्फुरित जीर्णोद्धार एवं मुनि आहार-दान के हेतु राजा विजयादित्य से अपने स्वामी सामन्त कामदेव की सहमतिपूर्वक कई ग्रामों की भूमि स्वगुरु के शिष्य माणिक्यनन्दि-पण्डितदेव को पादप्रक्षालनपूर्वक दान करायी थी। लेख में धर्मात्मा वासुदेव को सकल-गुणरत्नपात्र, जिमपादपद्मभृंग, विप्रकुल-समस्तुंग-रंग कहा गया है।

चौथीरे कामगावुण्ड—शिलाहार विजयादित्य के मातुल लक्ष्मण सामन्त के अधीन मडलूर का ग्राम-प्रमुख एवं शासक था। वह समागमय्य और चंघव्ये का पुत्र, पुन्नकब्बा का पति तथा जेन्तगावुण्ड और हेमगावुण्ड का पिता था। उसने 1150 ई. में मडलूर में पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाकर उसकी प्रतिष्ठा करायी थी और लक्ष्मण सामन्त के निवेदन पर राजा ने उक्त जिनालय के लिए कुछ भूमि, एक पुण्यवाटिका तथा एक मकान का दान आचार्य माकनन्दि के एक अन्य शिष्य अर्हणन्दि-सिद्धान्त चक्रवर्ती को पादप्रक्षालनपूर्वक समर्पित किया था।

महामात्य बाहुबलि—भोजराज द्वितीय शिलाहार के महाप्रधान एवं मन्त्रीशेखे। इन्हें पंचांगमन्त्र-बृहस्पति भोजराज के राज्य के समुद्धरण में समर्थ, बाहुबलियुक्त, दानादि-गुणोत्कृष्ट आदि कहा गया है। उनकी प्रेरणा से आचार्य माधवचन्द्र-त्रैविध ने कुल्लुकपुर में 1203 ई. में 'भारण्यसार' ग्रन्थ रत्नाकर पूर्ण किया था।

गंगधारा के चालुक्य

प्राचीन चालुक्यवंश की एक शाखा पुलिगेरे (लक्ष्मेश्वर) प्रदेश पर राष्ट्रकूटों के सामन्तों के रूप में लगभग 800 ई. से शासन करती आ रही थी। लक्ष्मेश्वर एक प्राचीन जैन तीर्थ था और विशेषकर भट्टकलंकदेव की परम्परा के देवसंघी मुनियों एवं विद्वानों का केन्द्र रहता आया था। दसवीं शताब्दी में इस वंश की राजधानी के रूप में गंगधारा का नाम मिलता है जो सम्भवतया पुलिगेरे का ही अपरन्तम या उपनगर था। इस वंश का प्रथम राजा युद्धमल्ल प्रथम सम्भवतया वातापी के अन्तिम चालुक्य कीर्तिवर्मन द्वितीय का ही निकट वंशज था। उसके उपरान्त अरिकेसरी प्रथम, मारसिंह प्रथम, युद्धमल्ल द्वितीय, बह्मिग प्रथम, मारसिंह द्वितीय और अरिकेसरी द्वितीय क्रमशः राजा हुए। अरिकेसरी द्वितीय कन्नड़ी भाषा के सर्व महान् कवि आदिपद्म (941 ई.) का, जो जैन थे, आश्रयदाता था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी बह्मिग द्वितीय के समय में देवसंघ के आचार्य सोमदेव ने उसी की राजधानी गंगधारा में निवास करते हुए, 959 ई. में अपने सुप्रसिद्ध यशस्तिलक-चम्पू की रचना की थी। नीतिवाक्यामृत नामक राजनीतिशास्त्र की रचना वह उसके कुछ पूर्व ही कर चुके थे। यह राजा इन आचार्य की बड़ी विनय करता था। और उनकी प्रेरणा पर उसने अपने राजधानी लंबूपाटक में शुभधान-जिनालय नामक मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी अरिकेसरी तृतीय ने 963 ई. में उन्हीं सोमदेवाचार्य को उसी जिनालय

के लिए ग्रामदान दिया था। सम्भवतया इसी नरेश के समय 968 ई. में गंगनरेश मारसिंह ने पुलिगेरी की प्राचीन शंखतीर्थ-वसतिमण्डल में गंगकन्दर्प-जिनालय बनावाकर उक्त तीर्थ के परम्पराचार्य देवगण के देवेन्द्र भट्टारक के शिष्य और एकदेव के शिष्य जयदेव पण्डित को भूमिदान दिया था। ये सब अकलंकदेव के परम्पराशिष्य थे। अरिकेसरी तृतीय के पश्चात् इस वंश का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता। इस वंश में प्रारम्भ से अन्त तक जैनधर्म की प्रवृत्ति थी।

नागरखण्ड के कदम्ब राजे

इनका वर्णन कल्याणी के बालुक्यों और कलचुरियों के अन्तर्गत आ चुका है, जिसके वे सामन्त थे। इस वंश में हरिकेसरीदेव, कीर्तिदेव, रानी भालदेवी, सोविदेव, वोप्पदेव आदि प्रसिद्ध जिनभक्त हुए हैं।

कोंगाल्व राजे

कोंगाल्ववंशी सामन्त राजे वर्तमान कर्णाटक राज्य के कुर्ग और हासन जिलों के अथवा कावेरी और हेमवती नामक नदियों के मध्य, स्थित कोंगलनाड 8000 प्रान्त के शासक थे। मूलतः वे प्राचीन उरैयूर (त्रिचनापल्ली) के चोल नरेशों की सन्तति में उत्पन्न हुए थे और अपने लिए उरैयूर-पुलकेश्वर, सूर्यवंश-शिखामणि, जेयचोलकुलोदयायल्लगभास्तमाली-जैस विरुद प्रयुक्त करते थे। सन् 900 ई. के लगभग गंग-राजकुमार एयरप्प ने इस वंश के प्रथम ज्ञात व्यक्ति को इस प्रदेश में अपना सामन्त नियुक्त किया था, किन्तु कोंगाल्वों का वास्तविक अभ्युदय तब से हुआ जब 1004 ई. में सम्राट् राजराजा चोल ने इस वंश के पंचव-महाराय को उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर क्षेत्रिय-शिखामणि कोंगाल्व विरुद दिया, मालव्य प्रदेश दिया और अपना प्रमुख सामन्त बनाया था। उसका उत्तराधिकारी बडियकोंगाल्व था। तदुपरान्त राजेन्द्रचोल-पृथ्वीमहाराज हुआ, जिसकी ज्ञात तिथि 1022 ई. है। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजेन्द्रचोल कोंगाल्व था।

राजेन्द्रचोल कोंगाल्व—इस राजा की प्रथम ज्ञात तिथि 1026 ई. है और उसने लगभग 1050 ई. तक राज्य किया प्रतीत होता है। यह राजा परम जैन था और उसके गुरु नन्दिसंघ-द्रविलगण-अरुंगलान्वय के गुणसेन पण्डितदेव थे। इस राजा ने मुल्लूर में एक जिनालय का निर्माण कराया था। उसकी रानी पोंचव्वरसि भी बड़ी धर्मात्मा थी तथा पुत्र राजेन्द्र कोंगाल्व भी परम जैन था। इसी राजा के समय में 1050 ई. के लगभग, उसके एक सरदार मयुवंगवाड के स्वामी और किरिवि के सामन्त अय्य ने बारह दिन के सल्लेखनाव्रत पूर्वक चंगाल्व बसदि में समाधिमरण किया था जहाँ उसके पुत्रों बाकि और बुकि ने उसका स्मारक बनवाया था। प्रायः उसी समय उसी स्थान में बिलियसेट्टि नामक धनी व्यापारी ने भी गुरुचरणों में

समाधिमरण किया था। प्रायः उसी वर्ष मुल्लूर में राजगुरु गुणसेन पण्डित ने नगर के व्यापारियों से एक नागवापी (बगड़ी) निर्माण करायी थी।

रानी पोचब्बरसि—राजेन्द्र-चोल कोंगात्व की धर्मपत्नी और राजेन्द्र कोंगात्व की जननी रानी पोचब्बरसि बड़ी धर्मात्मा और जिनभक्त थी। वह मुल्लूर के पूर्वोक्त द्रविलसंधी गुणसेन पण्डित की गृहस्थ-शिष्या थी। इस रानी ने 1058 ई. के लगभग पार्श्वनाथ-बसदि नामक भव्य-जिनालय बनवाया था और स्वगुरु गुणसेन पण्डित की एक मूर्ति भी बनवाकर स्थापित की थी।

राजेन्द्र कोंगात्व—राजेन्द्रचोल कोंगात्व और रानी पोचब्बरसि का सुपुत्र यह राजा बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा था। उसने राजधानी मुल्लूर में अपने पिता द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए स्वगुरु गुणसेन पण्डितदेव को 1058 ई. में कई ग्रामों में भूमियाँ प्रदान की थीं। उसकी माता के भी अधिकांश धर्मकार्य उसी के शासनकाल में उसकी सहमति और सहयोग से निष्पन्न हुए थे। राजा ने स्वगुरु गुणसेन पण्डित के रहने के लिए भी 1060 ई. के लगभग उपयुक्त स्थान मुल्लूर में बनवाया था। उसी काल के एक अभिलेख में कहा गया है कि वह गुरुदेव इतने प्रसिद्ध थे कि उनके गुणों का वर्णन नहीं किया जा सकता। मुल्लूर में ही 1064 ई. में गुणसेन पण्डित ने, जो परम-आर्हन्त्यादि-रत्नजय-सकल-महाशास्त्रागमादि-स्थिर-षट्-तर्क-प्रवीण व्रतपति थे और पुण्यतेन व्रतोन्द्र के शिष्य थे, मोक्षलक्ष्मी का निवास प्राप्त किया अर्थात् समाधिमरण किया था। अपनी माता के स्वर्गस्थ हो जाने पर उसकी पुण्यस्मृति में भी इस राजा ने एक जिनालय बनवाया था और उसके लिए दान दिये थे। लगभग 300 वर्ष बाद, 1391 ई. में किसी धर्मात्मा रानी सुधणीदेवी ने उक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। राजेन्द्र कोंगात्व ने अपने स्वामी चोल सम्राट की ओर से प्रारम्भिक होयसलों से जमकर लोहा लिया था। उसने लगभग 1066 ई. तक शासन किया। अब कोंगात्व राजे महामण्डलेश्वर कहलाने लगे थे।

राजेन्द्र पृथ्वीकोंगात्व-अटरादित्य (1066-1100 ई.)—राजेन्द्र कोंगात्व का पुत्र एवं उत्तराधिकारी भी बड़ा प्रतापी और धर्मात्मा नरेश था। उसकी धर्मात्मा रानी ने 1070 ई. के लगभग, सम्भवतया स्वगुरु की स्मृति में, स्मारक बनवाया था। स्वयं राजा ने 1079 ई. में कोंगात्व-जैनगृह अपरनाम अटरादित्य-चैत्यालय नाम का भव्य जैन-मन्दिर बनवाया था। और उसकी पूजादि के लिए भूमिदान दिया था। यह राजा मूलसंघ-काणूरगण-तगरिलगच्छ के आचार्य गण्डविमुक्त सिद्धान्तदेव का गृहस्थ-शिष्य था। स्वगुरु के लिए भी उसने एक बसदि निर्माण करायी थी। दान भी इन्हीं गुरु को दिये गये थे। यह राजा प्रभाचन्द्र-सिद्धान्ति की भी बड़ी विनय करता था। उसका यह दानशासन चार भाषाओं के ज्ञाता उसके सन्धि-विग्रहिक मन्त्री नकुलार्य ने लिखा था। लेख में इस महामण्डलेश्वर अटरादित्य को वीराग्रणी, गुणान्भोजराशि, विजेता, सद्भक्त, सद्गर्भी इत्यादि कहा है। उसके एक सामन्त नल्लरस ने 1080 ई. के

लगभग अरकेरे में स्वगुरु कलाचन्द्र के शिष्य-प्रमलचन्द्र भट्टारक के लिए एक बसदि बनवाकर राजा की अनुमति-पूर्वक दान दिया था।

इस राजा का पुत्र एवं उत्तराधिकारी त्रिभुवनमल्ल चोल कोंगाल्व-अटरादित्य था, जिसके पादाराधक रावसेट्टि के पौत्र सामन्त बूबेय नायक ने 1100 ई. के लगभग पद्मनन्दिदेव को भूमि का दान दिया था। तदनन्तर कोंगाल्वराज दुद्धमल्लरस ने जो सम्भव है कि उक्त त्रिभुवनमल्ल का सम्बन्धी, भाई आदि या सगेज्जी महासामन्त हो, प्रभाचन्द्रदेव को एक बसदि के निर्माण और जीर्णोद्धार आदि के लिए एक ग्राम प्रदान किया था। त्रिभुवनमल्ल-चोल कोंगाल्व का उत्तराधिकारी सम्भवतया वीर कोंगाल्वदेव था, जो देशीगण-पुस्तकगच्छ के मेघचन्द्र त्रैविद्य के शिष्य प्रभाचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य था। उसने सत्यवाक्य जिनालय बनवाकर उसके लिए स्वगुरु को ग्रामदान दिया था।

चंगाल्वंश

समयवृत्तिक : : सुमरुदेव की जयविरासत्तर की पारराज्य

इस वंश के राजे प्रारम्भ में चंगनाड (मैसूर राज्य का हनसूर तालुका) के शासक थे। बाद में मैसूर एवं कूर्ग जिलों में भी इनके अधिकार का विस्तार हुआ। ये स्वयं की यादववंशी क्षत्रिय कहते थे और प्रारम्भ में चोलों के, तदनन्तर होयसलों के सामन्त हुए। ग्यारहवीं से लगभग पन्द्रहवीं शती तक इस वंश का अस्तित्व रहा। इसके अधिकांश राजे शैवमतानुयायी थे, किन्तु कतिपय परम जैन भी थे।

राजेन्द्रचोल-नम्बि चंगाल्व—इस वंश का सर्वप्रसिद्ध जैन नरेश था। इस वीरराजेन्द्र नम्बि चंगाल्वदेव ने 1060 ई. के लगभग चिक्कहनसोगे में देशीगण-पुस्तकगच्छ की एक बसदि निर्माण करायी थी। उसी स्थल में प्राचीन काल में दाशरथी राम ने जो जिनालय मूलतः बनवाया था और उसके लिए भूमि समर्पित की थी, कालान्तर में गंगनरेश मारुतिह ने वैसा ही किया था। इस चंगाल्व नरेश ने उस बसदि को फिर से बनवाया और उसके लिए उक्त भूमि पुनः समर्पित की थी। इस राजा ने अन्य अनेक जिनालय बनवाये थे। हनसोगे की जिन-बसदि के नवरंग-मण्डप के द्वार पर उत्कीर्ण लगभग 1080 ई. के लेख से प्रकट है कि इस प्रसिद्ध चंगाल्व-तीर्थ की आदीश्वर-बसदि आदि समस्त जिनालयों पर देशीगण-पुस्तकगच्छ-कोण्डकुन्दान्वय के दिवाकरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के ज्येष्ठ गुरु दामनन्दि भट्टारक का अधिकार था। उनके पश्चात् उन तथा अन्य आसपास की बसदियों पर उक्त गुरु के शिष्य-प्रशिष्यों का अधिकार रहा। प्रायः उसी काल के उसी नगर की शान्तीश्वर-बसदि के द्वार पर उत्कीर्ण लेख के अनुसार मूलतः भगवान राम द्वारा प्रदत्त दान एवं बसदियों का संरक्षण इस काल में पनसोगे (हनसोगे) के देशीगण-होतोगच्छ पुस्तकान्वय के मुनिसमुदाय के हाथ में था। इन्हीं में परम तेजस्वी जयकीर्ति मुनि थे जो अनेक उपवास और चान्द्रावण व्रत करने के लिए विख्यात थे। इस तीर्थ पर भगवान राम

ज्ञान प्रतिष्ठापित 111 बसदियां बनीं आ रही थीं। इन्हीं में एक प्रसिद्ध जिनालय चन्द्रवीर-बसदि था, जिसके लिए पूर्वकाल में चामनरथों ने दान दिया था और अब उस बसदि का इस राजेन्द्रराज-जन्मि बंगालदेव ने पुनर्निर्माण कराया था तथा उसके निर्माण दान दिया था। यह राजा 1091 ई. के लगभग की अनुमानित की जाती है। इसके थोड़े बाद के एक विज्ञानलेख में, जो चामनराज की चन्द्रवीर बसदि के बारे में उल्लेख है, बंगाल देव द्वारा उक्त बसदियों के लिए पुरस्तन दानों की पुष्टि एवं नवीन भूमिदान का विवरण है। इस तीर्थ के तत्कालीन आचार्य जयकीर्ति अपरनाथ चान्दावादीदेव की गुरुपरम्परा भी दी है। वह चामनरथ भट्टारक के सधर्मा चन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और दिवाकरानन्दि के शिष्य थे।

1091 ई. के एक शिलालेख के अनुसार बंगालदेव मरियपेगडि चिन्दुवश्य ने चिन्दुवि-ईश्वरदेव नामक मन्दिर बनवाकर उसमें भुजियों के आहारदान के लिए भूमिदान दिया था। यह राजा और उसके द्वारा निर्मापित उक्त मन्दिर जैन थे, ऐसा विद्वानों का अनुमान है। ऐसा लगता है कि यह व्यक्ति उपर्युक्त जन्मिबंगाल का अनुज अथवा कोई निकट सम्बन्धी था।

अलुपवंश

अलुप या अलुपवंशी सामन्त राजे तुलुवनाड के शासक थे। इनका उदय 10वीं शती में हुआ, किन्तु यह प्रदेश उसके बहुत पूर्व से ही जैनधर्म का गढ़ रहता आया था। मूडविट्टी, गेरुसप्पे, भट्टकल, कर्कल, विलिंग, सोदे, केरेवासे, हाडुहल्लि, होन्नावर आदि उसके प्रायः सब ही प्रसिद्ध नगर जैनधर्म के केन्द्र थे और प्रायः पूरे मध्यकाल में भी बने रहे। भुजवल-अलुपेन्द्र (1114-55 ई.) इस वंश का प्रसिद्ध राजा था। उसके उत्तराधिकारी के समय में राजकुमार कुमारराय ने 1161 ई. में जैन केन्द्र केरेवासे में एक जिनालय के बनवाने में सहयोग दिया था। कुलशेखर-अलुपेन्द्र प्रथम (1176-1200 ई.) के समय में तुलुदेश में जैनधर्म को राजकीय प्रश्रय प्राप्त था। इस राजा ने भलवारिदेव, भावध्वज, प्रभाध्व आदि तत्कालीन जैन गुरुओं का सम्मान किया था। पाण्ड्यदेव-अलुपेन्द्र ने 1296 ई. में नल्लूर की जैन बसदि के लिए दान दिया था। कुलशेखर-अलुपेन्द्र तृतीय (लगभग 1384 ई.) बड़ा वैभवशाली राजा था, रत्नसिंहासन पर बैठता था और मूडविट्टी के पार्श्वनाथदेव का परम भक्त था।

बंगवाडि का बंगवंश

तुलुवदेश के एक भाग का नाम बंगवाडि था। इसके संस्थापक बंगराजे सोमवंशी क्षत्रिय थे और प्राचीन कदम्बों की एक शाखा में से थे। बंगवाडि के बंगों के अनुकरण पर उन्होंने स्वयं को बंग और अपने राज्य को बंगवाडि नाम दिया लगाता है। यह वंश प्रारम्भ से अन्त पर्यन्त, बंगों की ही भाँति जैनधर्म का अनुयायी रहा।

ये राजे क्रमशः राष्ट्रकूटों, चालुक्यों और होयसलों के सामन्त रहे। इस वंश के चन्द्रशेखरबंग प्रथम को 1140 ई. के लगभग विष्णुवर्धन होयसल ने पराजित करके युद्ध में मार डाला था और उसके राज्य को हस्तगत कर लिया था। परन्तु बंगराज के स्वामिभक्त पुरोहित, मन्त्री आदि ने उसके बालकपुत्र वीरनरसिंह को मलेनाड में छिपाकर रखा। होयसल नरसिंह प्रथम के समय में जब बालक वयस्क हुआ तो उसने अपना राज्य पुनः प्राप्त कर लिया और 1157 से 1208 ई. तक राज्य किया। तदनन्तर उसके ज्येष्ठ पुत्र चन्द्रशेखरबंग द्वितीय ने 1208 से 1225 ई. तक, द्वितीय पुत्र पाण्ड्यबंग ने 1225 से 1239 ई. तक और पुत्री विट्टलादेवी ने 1240 से 1244 ई. तक राज्य किया।

रानी विट्टलादेवी और कामिराय वीर नरसिंह बंगनरेन्द्र—राजपुत्री महारानी विट्टलादेवी बड़ी विदुषी, धर्मात्मा और सुयोग्य शासिका थी। अपने लगभग 4 वर्ष के शासनकाल में उसने राज्य की अच्छी अभिवृद्धि की और अपने पुत्र कामिराय को समुचित शिक्षा-दीक्षा दी। उसके वयस्क हो जाने पर राज्यकार्य उसे सौंप दिया और स्वयं उससे विराम लेकर अपना समय धर्मध्यान में व्यतीत किया। उसका प्रिय पुत्र एवं उत्तराधिकारी कामिराय वीरनरसिंह बंगनरेन्द्र विद्यारसिक, उच्चशिक्षित युवक एवं कुशल प्रशासक था। उसके विद्यागुरु, राजगुरु एवं धर्मगुरु आचार्य अजितसेन थे। उन्होंने अपने इस प्रिय शिष्य के लिए शृंगारमंजरी और अलंकार-चिन्तामणि नामक संस्कृत ग्रन्थों की रचना की थी और विजयवर्णी ने उसी के लिए शृंगारार्णव-चन्द्रिका की रचना की थी। इस राजा ने 1245 से 1275 ई. के लगभग तक राज्य किया। वह राय, रायभूप, जैनभूप और मात्र कामिराय भी कहलाता था। उसे गुणार्णव और राजेन्द्रपूजित भी कहा गया है। उसी प्रकार उसकी माता भी शैलविभूषण विट्टलाम्बा या विट्टलमहादेवी अपने गुणों के लिए सर्वत्र विख्यात थी।

वारंगल के ककातीय नरेश

11वीं शताब्दी ई. के मध्य के लगभग तैलंगाने में ककातीय वंश का उदय हुआ। वारंगल उसकी राजधानी थी। शीघ्र ही यह अच्छा स्वतन्त्र राज्य हो गया था और 13वीं शती में अपने चरम उत्कर्ष पर था। वारंगल अपरनाम एकशैलपुर पहले से ही जैनधर्म का केन्द्र रहा था। इस प्रदेश में जिला विशाखापट्टनम जैनों का गढ़ था और उसी जिले में समतीर्थ का जैन संस्थान दूर-दूर तक प्रसिद्ध था। इसी जिले के भोगपुर नगर में पूर्वी गंगनरेश अनन्तवर्मन के आश्रय में राज्यश्रेष्ठ कण्णम-नायक ने राज-राज-जिनालय नाम की बसवि का निर्माण कराया था तथा 1187 ई. में उसी सेठ के नेतृत्व में उस जिले के प्रमुख व्यापारियों ने उक्त मन्दिर के लिए प्रभूत दान दिया था। अनन्तपुर जिले के लाडपत्रीनगर के निवासी सोमदेव और कंचलादेवी के धर्मात्मा पुत्र उदयादित्य ने 1198 ई. में जैनमन्दिर बनवाकर उसके लिए स्वगुरुओं

को दान विधि। इसी काल में उसी क्षेत्र के देवगिरि-कान्ठ में सुप्रसिद्ध पार्श्वनाथ-बसदि विद्यमान थी, जिसके अध्यक्ष उस समय जिनभूषण भट्टारक थे। बेतारी जिले में तो कई जैन केन्द्र थे, जिनमें कोगुलि प्रमुख था। उसकी चेन्न-पार्श्व-बसदि को कल्याणी के चालुक्यों एवं होयसलों का भी संरक्षण प्राप्त था। सोमि, कोट्टर आदि अन्य जैनकेन्द्र थे। इस काल में वारंगल में रुद्रदेव प्रथम ककातीय का शासन था। उसका उत्तराधिकारी गणपतिदेव (1199-1260 ई.) इस वंश का प्रसिद्ध और शक्तिशाली नरेश था, किन्तु उसी के समय से उस प्रदेश में जैनधर्म की अवनति भी प्रारम्भ हुई। अन्तिम राजा रुद्रदेव द्वितीय (1291-1321 ई.) था, जिसे पराजित करके मुहम्मद तुगलक ने इस हिन्दू राज्य को समाप्त कर दिया। इसी राजा के समय में जैन कवि, अव्यपार्य ने कन्नड़ीकाव्य 'जिनेन्द्र-कल्याणाभ्युदय' की रचना की थी।

देवगिरि के यादव नरेश

इस वंश का संस्थापक सुएन प्रथम था जो 9वीं शताब्दी में राष्ट्रकूट सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम के अधीन एक छोटा-सा सामन्त था और सुएन देश का जागीरदार था। इसी कारण यह सुएन-वंश भी कहलाता है। इस वंश का भिल्लम द्वितीय कल्याणी के चालुक्यवंश के संस्थापक तैलप द्वितीय का सहायक था। उसकी छोटी पीढ़ी में सुएनचन्द्र तृतीय (1142 ई.) जैनधर्म का विशिष्ट पोषक था। उसका वंशज भिल्लम पंचम (1187-91 ई.) देवगिरि के यादवराज्य का वास्तविक संस्थापक था। वह और उसके उत्तराधिकारी होयसलों के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। होयसल राज्य की मूर्ति ही 14वीं शती के प्रारम्भ में मुसलमानों ने देवगिरि के यादववंश एवं राज्य का भी अन्त कर दिया था। इस वंश के राजे प्रायः जैन नहीं थे, किन्तु जैनधर्म के प्रति असहिष्णु भी नहीं थे। इनके राज्य में जैनधर्म जीवित रहा। कथ-से-कम एक प्रसिद्ध जैन वीर कूचिराज देवगिरि के यादव राज्य की देन है।

सुएन तृतीय या सेउणचन्द्र तृतीय इस वंश का 13वाँ राजा था। उसने 1142 ई. में अंजनेरी के चन्द्रप्रभ-जिनालय के लिए नगर की तीन दुकानें दान की थीं। उसी अवसर पर नगर के साहु वत्सराज, साहु लाहड और साहु दशरथ नामक तीन धनी व्यापारियों ने भी एक दुकान एवं एक मकान उसके लिए समर्पित कर दिया था। यह दान शासन कालेश्वर पण्डित के पुत्र दियाकर पण्डित ने लिया था।

सामन्त कूचिराज—देवगिरि के यादवनरेश कन्नरदेव अपरनाम कृष्ण (1247-60 ई.), उसके अनुज महादेवराय (1260-70 ई.) और पुत्र रामदेव अपरनाम रामचन्द्रराय (1270-1309 ई.) का जैन सामन्त कूचिराज या कूचदण्डेश यादव राजाओं की ओर से पाण्ड्यदेशान्तर्गत बेतूरप्रदेश का शासक था। वह अत्यन्त शूरवीर, सैन्यसंचालन-निपुण और कुशल प्रशासक होने के साथ-ही-साथ बड़ा धार्मिक था। उसके पिता का नाम सिंहदेव और माता का मल्लाम्बिका था। अत्यन्त रूपवान्, चम्पक-वर्ण-गात्र,

शीलवान्, विविधकला-प्रवीण, गुणमयी लक्ष्मीदेवी उसकी धर्मपत्नी थी, और बड़ा भाई विदुवज्जनबन्धु, ब्रतियों का आदर करनेवाला, मन्त्रीश्रेष्ठ चट्टराज था तथा सुपुत्र प्रतापी, शूरवीर, यशस्वी और दानी बौणदेव था। मन्त्री चट्टराज और सेनापति कूचिराज इन दोनों भाइयों की जोड़ी भरत और बाहुबलि तथा राम और लक्ष्मण के समान समझी जाती थी। भगवत् वीरसेन, जिनसेन और गुणमद की शिष्य सन्तति में उत्पन्न मूलसंघ-सेनगण पोगरिगच्छ के मुनि महासेन के शिष्य पशसेन यतिनाथ का यह परिवार गृहस्थ-शिष्य था। विशेषकर कूचिराज को उक्त योगीश्वर का पाद-पद्म-आराधक और उसके पुत्र बौणदेव को पाद-युग-भक्त कहा है। जब कूचिराज की प्रिय पत्नी धर्मात्मा लक्ष्मीदेवी का स्वर्गवास हो गया तो स्वगुरु पद्मसेन भट्टारक के उपदेश से उसने उसकी स्मृति में लक्ष्मी-जिनालय नाम का भव्य मन्दिर निर्माण कराकर उसमें मूलनायक के रूप में भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की और 1171 ई. में उस जिनालय के लिए एक ग्राम स्वगुरु को पादप्रक्षालन-पूर्वक समर्पित किया। वह ग्राम उसने पूर्व नरेश महादेवराय से प्राप्त किया था और तत्कालीन नरेश रामदेवराय की सहमति से उसे दान किया था। उसी अवसर पर उसको प्रेरणा से माचि के पुत्र हरियगौड़, भाक के पुत्र योगगौड़ और सोम के पुत्र रामगौड़ नामक उक्त मण्डल के प्रमुखों और सेट्टियों ने भी सुपारी का एक उद्यान, एक वृकोत्त तथा अन्य दान दिया था। लेख में लिखा है कि रामदेव भूपाल का पादपक्षोपजीवी यह सामन्त कूचिराज दण्डेश स्थिर-पुण्य, उत्तमयश-प्राप्त, साहित्य-सत्याश्रय था और परम राजगुरु श्रीमज्जिन-भट्टारकदेव की प्रभावना में सतत प्रयत्नशील रहता था।

दण्डेश माधव—अपरनाम माडिगौड़ राजा रामचन्द्रराय का एक सेनापति था, भट्टारक माधवचन्द्र का गृहस्थ-शिष्य था और महादेवपुत्र तथा रामा का पुत्र था। इस दण्डनायक नालप्रभु माडिगौड़ ने एक जिनालय बनवाया और समस्त सांसारिक बन्धनों का परित्याग करके 1292 ई. में समाधिमरण किया था।

शिरियमगौड़—यादव रामदेव के मण्डलेश्वर कोटिनायक का नालप्रभु शिरियमगौड़ रामचन्द्र-मलधारी का शिष्य और कल्लगौड़ का पुत्र था। उसने 1296 ई. में समाधिमरण किया था। उसकी भार्या शिरियमगौड़ ने 1299 ई. में समाधिमरण किया था। वह बड़ी गुणवान्, शीलवती, उदार और धर्मात्मा थी। अनेक जिनालयों का : गोर्णोद्धार कराया था। सम्यक्त्व-रत्नाकर, दानविनोद, जिनगन्धोदक-पवित्री-कृतोत्तमार्ग आदि उसके विरुद्ध थे।

निडुगलवंशी राजे

12वीं-13वीं शताब्दी में इस वंश का राज्य मैसूर प्रदेश के उत्तरी भाग के एक हिस्से पर था। ये राजे अपने आपको चोल महाराज, मार्तण्ड-कुलभूषण और उरैयूर-

पुरवराधोश्वर कहते थे। इस वंश का तीसरा राजा मंगिनृप था। उसका पुत्र अखिनृप था, जिसका पुत्र गोविन्दर हुआ। गोविन्दर का पुत्र इरुंगोल प्रथम गुणचन्द्र के शिष्य नयकीर्ति सिद्धान्तचक्रवर्ती का गृहस्थ-शिष्य (1177 ई.) था। उसका पुत्र भोमनृप हुआ। भोमनृप का पुत्र बर्म्मनृप था, जिसकी भद्र लक्ष्मीवाली रानी बावलदेवी कलियर्म की पुत्री थी। इन दोनों का पुत्र इरुंगोल द्वितीय था। इस राजा ने 1232 ई. में अपने आश्रित गंगेयन-मारेय के निवेदन पर उसके द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यही राजा अथवा इसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी इरुंगोलदेव-चोल-महाराज था, जिसने 1278 ई. में मल्लिसेट्टि द्वारा निर्मापित जिनालय के लिए प्रभूत दान दिया था। वे राजे निगलंक-मल्ल, परनारी-सहोदर, शरणामृतवज्रपंजर, महामण्डलेश्वर आदि विरुद्धधारी थे। उनके पहाड़ी दुर्ग एवं प्रधान गढ़ का नाम कालांजन था। उसकी छोटियाँ बहुत ऊँची थीं, जिसे देखकर लोक में उसका नाम निडुगल प्रसिद्ध हुआ। इस वंश में सामान्यतया जैनधर्म की प्रवृत्ति थी और कई राजे तो परम जैन थे, यथा इरुंगोल प्रथम, जिसे 1149 में विष्णुवर्धन होयसल ने एक युद्ध में पराजित किया था और जिसके धर्मगुरु देशीगण-पुस्तकगच्छ के नयकीर्ति-सिद्धान्तिदेव थे, और उपर्युक्त इरुंगोल द्वितीय एवं तृतीय।

गंगेयन-मारेय और बाचले—निडुगलवंशी राजा इरुंगोल द्वितीय के पदपद्मोपजीवी गंगेयनायक की पत्नी चामा से उत्पन्न पुत्र गंगेयन-मारेय बड़ा धर्मात्मा सम्भ्रान्त श्रावक था। उसने नेमिपण्डित से श्रावक के व्रत लिये थे और कोण्डकुन्दान्वय-पुस्तक-गच्छ-वाणन-बलिय के वीरनन्दि सिद्धान्तचक्रवर्ती के शिष्य विश्वविश्रुत पद्मप्रभमतधारिदेव की चरणसेवा करके उसने अपने मनोभिलषित अर्थ की प्राप्ति की थी। उसकी भार्या बाचले भी बड़ी धर्मात्मा थी। इस दम्पती ने निडुगल पर्वत के ऊपर, बदरताल के दक्षिण में एक शिला के अग्रभाग पर पार्श्वजिन-बसदि का निर्माण कराया था, जिसे जोगमहिमे-बसदि भी कहते थे। इस जिनालय में भगवान् की नित्यपूजा, महाभिषेक और चतुर्विधदान के लिए गंगेयन-मारेय की पत्नी बाचले की प्रार्थना पर महाराज इरुंगोल द्वितीय ने 1232 ई. में धारापूर्वक कुछ भूमियों का दान दिया था। गंगेयन-मारेयन-इल्लि नामक ग्राम के किसानों ने भी अखरोट, पान आदि का और तेलियों ने तेल का दान दिया था।

मल्लिसेट्टि—संगय का पौत्र और बोम्मिसेट्टि का पुत्र था। उसकी जननी का नाम मेलव्वे था। वह मूलसंध-देशीगण-पुस्तकगच्छ-इंगुलेश्वरवलि के आचार्य त्रिभुवन-कीर्ति-राकुल के प्रधान शिष्य बालेन्दुमलधारिदेव का प्रिय गृहस्थ-शिष्य था। उसने स्वस्थान तेलंगरे के जोगमहिमे मुहल्ले में ब्रह्मजिनालय निर्माण कराके उसमें प्रसन्न-पार्श्व-देव की प्रतिष्ठा की थी और 1278 ई. में जब इरुंगोलदेव-चोलमहाराज अपने पृथ्वी-निडुगल के प्रासाद में सुखपूर्वक रह रहे थे, उनकी सहमति-पूर्वक उक्त जिनालय के लिए सुपारी के 2000 वृक्षों की फसल के दो भाग (दो या दस प्रतिशत)

सदैव के लिए स्वगुरु को समर्पित करा दिये थे। श्री सयनगिरि और बालेन्दु-मलधारि के प्रिय शिष्य जहाँ वीरानन्द और सीनन्द के गृह-वेलागिरी को इस दान की व्यवस्था का भार सौंपा गया था।

अन्य विशिष्ट जन

भूपाल गोत्ताचार्य—गोल्लदेश के नूतनचन्दिल-वंशी राजा, जिनका नाम सम्भवतया भूपाल था, किसी कारण को पाकर संसार से विरक्त हो गये और जैन मुनि बने थे तथा गोत्ताचार्य के नाम से प्रसिद्ध हुए थे। गृहस्थ अवस्था में रहते ही वह परम जिनभक्त थे और 11वीं शती ई. के प्रारम्भ के लगभग उन्होंने सुप्रसिद्ध भूपाल-चतुर्विंशति-स्तोत्र की रचना की थी, जिसकी गणना भक्तामर, कल्याणमन्दिर आदि पंचस्तोत्रों में की जाती है। कोण्डकुन्दान्वय मूलसंघ-देशीगण-पुस्तकगच्छ के महेन्द्रकीर्ति के शिष्य वीरनन्दि उनके दीक्षा गुरु थे और उनके उपरान्त यही उनके पट्टधर हुए। गोत्ताचार्य के शिष्य त्रैकाल्ययोगी थे, जिनके प्रशिष्य सकलचन्द्र के पट्टधर मेघचन्द्र त्रैविद्य ने 1115 ई. में समाधिमरण किया था। तद्विषयक शिलालेखों में उन्होंने 'गोत्ताचार्य इति प्रसिद्धमुनिपोऽभूद्गोल्लदेशाधिपः', भूपाल-मौलि-द्युमणि, विदलिताङ्घ्रि-अब्ज-लक्ष्मीविलास, शुद्धरत्नत्रयात्मा, सिद्धात्माद्यर्थ-सार्थ-प्रकटन-पटु, सिद्धान्त-शास्त्राब्धि-वीचि आदि कहा गया है।

पार्श्वदेव—मन्त्रीश नैमदण्डेश के पुत्र थे और उनकी पत्नी मुहरसि गंववंश में उत्पन्न हुई थी। कम्बदहल्लि प्राचीन और प्रसिद्ध जैन केन्द्र था। वहीं इन धर्मात्मा पार्श्व ने विडिगनविले के प्राचीन जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार कराके मन्दिर के लिए, दिव्य व्रतियों के लिए और विद्यार्थियों के निर्वाह के लिए भूमिदान करके हनसोमे के जैनाचार्यों को 1167 ई. में समर्पित कर दिया था।

खचरकन्दर्प सेनमार—कोई विद्याधरवंशी राजा था। इसके राज्य में देवगण-पाषाणान्वय के अंकदेव भट्टारक के शिष्य महीदेव के गृहस्थ-शिष्य निरवधय्य ने महेन्द्रकोलल प्राप्त करके 1060 ई. के लगभग कडवन्ति में मेलसचहान पर निरवध-जिनालय नाम का मन्दिर बनवाया था। राजा सेनमार ने उससे प्रसन्न होकर कृपापूर्वक उसे एक मान्य प्रदान किया था, जिसे जक्किमान्य का नाम देकर उसने उक्त जिनालय की भेंट कर दिया था। उस प्रदेश के किसानों ने भी अपने धान्य की फसल का एक अंश उक्त जिनालय के लिए सदैव देते रहने का संकल्प किया था।

धर्मात्मा चिक्कतायि—अच्युतराजेन्द्र के सुपुत्र अच्युत-वीरेन्द्र-शिवयष नाम के राजा राजवैद्य धरणीय ब्रह्मकुल में उत्पन्न, जैनधर्माब्ज-भानु, समस्त शास्त्रों का ज्ञाता, बुधजन-सेवी, मुनिजनपद-भक्त, बन्धुसत्कारदक्ष, भिषग्वर था। उसकी कुलवनिता (पत्नी) चिक्कतायि त्रिवर्ग के संसाधन में सावधान, साध्वी, शुभाकारयुता, सुशीला,

जिनेन्द्रपदाम्बुज-भक्तिपुक्ता, महाप्रसिद्धा थी और विद्यानन्दस्याधो की गृहस्थ-शिष्या थी। उसका सुपुत्र मिथगराज विद्यासार भी सदाकार, सुमना, बन्धुपोषक, पूज्यहृदय और तत्त्वशील था। धर्मात्मा चिक्कतायि ने कनकाचल के भगवान् पार्श्वेश की पंचवर्षीय पूजा, मुनियों के निरुप आहारदान और सदैव शास्त्रदान के निमित्त 1181 ई. में किन्नरपुर का दान दिया था।

राजकुमारी उदयाम्बिका और वीराम्बिका—चालुक्य त्रैलोक्यमल्ल की ओर से जब दण्डनायक मने-बेगडे-अनन्तपालय्य बनवासि आदि सप्ताह-लक्ष देश का शासक था तो उसका उपसामन्त गोविन्दरस, बृहन्नि 2000 का राज्य था। इसका पुत्र राजभक्त सोम था सोवरत था, जिसकी पत्नी सोमाम्बिका रूप-लावण्य में रति के समान और सम्यग्दर्शन में रेवती रानी के समान थी। इस सोमनृप की दो पुत्रियाँ थीं—वीराम्बिका और उदयाम्बिका, जो साक्षात् जिन-शासन देवियों के समान धर्मरक्षक और धर्मात्मा थीं। उदयाम्बिका का विवाह जूजिननृप के महापराक्रमी एवं यशस्वी पुत्र जूजकुमार अपरनाम कुमार गजकेसरी के साथ हुआ था। इस राजपुत्री एवं राजरानी ने अपनी बहन के साथ सण्ड में, 1100 ई. के लगभग, देवेन्द्र-विमान और नागराज-भवन-जैसा सुन्दर और हेमाचल-जैसा उत्तुंग, मणिमाणिक्य-खचित भव्य जिनेन्द्रभवन बनवाया था।

बोदण्णगौड—1154 ई. में पार्श्वसेन भट्टारक ने, जो साधुओं के समस्त गुणों से सम्पन्न थे, होललकरे की शान्तिनाथ-बसदि का जीर्णोद्धार कराया था और विमान शुद्धि, नौदीमंगल, ध्वजारोहण, भेरीताड़न, अंकुरारोपण, बृहच्छान्तिक, मन्त्रन्यास, अंकन्यास, केवलज्ञान का महाहीम, महास्नपनाभिषेक, अग्रोदकप्रभावना, कलशप्रभावना आदि रूप से विधिवत् प्रतिष्ठोत्सव किया था। तदनन्तर जिनालय के संरक्षण तथा उसमें अक्षयतृतीया, अष्टाहिका, अनन्तचतुर्दशी, महावीर-निर्वाण एवं ऋषभनिर्वाणरूपी जिनरात्रि-महोत्सवों आदि समस्त धार्मिक पर्वों और महोत्सवों के मनाये जाने की व्यवस्था की थी। उनके इस धर्म-कार्य में मूलसंघ-आम्नायी बोदण्णगौड और उसके धर्मात्मा सत्पुत्रों सोमण्णगौड, शान्तण्णगौड और आदण्णगौड का पूरा सहयोग था। उक्त व्यय और भूमिदानादि का प्रधान अंश उन्होंने ही दिया था। स्थानीय शासक प्रताप-नायक से भी उन्होंने कुछ भूमि इस हेतु भेंट देकर प्राप्त की थी।

श्रावकोत्तम चक्रेश्वर—श्रीवर्द्धनापुर (श्रीवर्द्धनपुर) निवासी धनवान् एवं धर्मात्मा सेठ राणुगी श्रावक के पुत्र श्रावक म्हालुगि थे, जिनकी धर्मपत्नी का नाम स्वर्णा था। इनके चार पुत्रों में सबसे जेठे श्रावक चक्रेश्वर थे, जो महादानी, धर्मैकमूर्ति, स्थिर-शुद्ध-दृष्टि, दयावान्, सतीबल्लभ, अपनी उदारता में कल्पवृक्ष के समान और निर्मल धर्मरक्षक थे। प्राचीन धर्मतीर्थ एवं कलातीर्थ एलउर (एलोरा-महाराष्ट्र राज्य के औरंगाबाद जिले में स्थित) में पर्वत के ऊपर इन श्रावक चक्रेश्वर ने 1234 ई. में पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर भगवानों के विशाल बिम्ब समारोहपूर्वक प्रतिष्ठित

करावे थे। कहा गया है कि अपने इस कार्य से चक्रेश्वर ने इस स्थान (एलोरा) को ऐसा सुतीर्थ बना दिया था, जैसा कि पूर्व काल में भरत चक्रेश्वर ने अपने ऐसे ही कार्यों द्वारा कैलासपर्वत को बना दिया था।

बसुविसेहि और उसके पुत्र नाग्नि, बोकि, जिन्नि एवं बाहुबलि नामक सेद्धियों ने 1200 ई. के लगभग श्रवणबेलगोल की विन्ध्यगिरि पर चौबीसी प्रतिष्ठापित की थीं तथा अन्य निर्माण कराये थे। यह सेद्धि परिवार नयकीर्ति लिखान्तधर्मदर्शन की गुरुस्थ-शिष्य था।

शिलालेखों में दिण्डिकराज, सामन्त नागनायक, यशकीर्ति का सम्मान करनेवाले सिंहलनरेश, चतुर्मुखदेव को 'स्वामी' की उपाधि देनेवाले पाण्ड्यनरेश, वीरपल्लवराय, गरुडकोसिराज, वत्सराज बालादित्य, गण्डविमुक्त के श्रावक, शिष्य कोडय्य, दण्डनायक, हेग्गडे, बम्मदेव और नागदेव, सिंग्यपनायक, राजा मुम्मट, पण्डितार्य के शिष्य सामन्त हरियण्ण और सामन्त माणिक्यदेव, हेग्गडेयण्ण, युद्धवीर मावन, गन्ध-हस्ति, बोधिम आदि अन्य अनेक जैन राजाओं, सामन्त-सरदारों तथा गातुण्डों, सेद्धियों, धर्मात्मा महिलाओं आदि के पूर्व-मध्यकाल में नामोल्लेख मिलते हैं। अनेक धर्मात्माओं द्वारा श्रवणबेलगोल आदि में किये गये दान या अन्य धर्म-कार्यों के संकेत भी मिलते हैं।

उत्तर भारत

(लगभग 200 ई.-1250 ई.)

नाग-चकाटक युग

तीसरी शती ई. के मध्य के लगभग कुषाणों का पराभव होने पर मथुरा, कौशाम्बी, अहिच्छत्रा आदि में स्थानीय मित्रवंशी राज्य, कई प्रदेशों में चौधेय, मद्रक, अर्जुनायन आदि युद्धोपजीवी भणराज्य और अनेक क्षेत्रों में भारशिव नागों की स्वतन्त्र सत्ता स्थापित हुई। तीसरी शती में पूर्वी एवं मध्य भारत में शैवधर्मानुयायी नाग राजे ही सर्वाधिक शक्तिशाली थे। धर्म के विषय में वे प्रायः उदार और सहिष्णु थे। विदिशा, पद्मावतीपुर, मथुरा, अहिच्छत्रा आदि उनके कई प्रमुख केन्द्र जैनधर्म के भी पवित्र तीर्थ और अच्छे केन्द्र थे। जैन अनुश्रुतियों में नाग जाति को विद्याधरों का वंशज कहा है। बाद में श्रमणधर्मी श्रात्य-क्षत्रियों में इनकी गणना होने लगी। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ इस जाति का घनिष्ठ सम्बन्ध था। किन्तु इस काल में यह जाति शैवमतानुयायी थी। जैनधर्म को कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं था। कोई उल्लेखनीय जैन भी उस काल में नहीं हुआ। जैनों की पद्मावतीपुरवाल जाति यह अवश्य सूचित करती है कि नागों की एक प्रमुख राजधानी पद्मावतीपुर (ग्वालियर राज्य का पवाया) उस काल में जैनों का अच्छा मद रहा होगा।

नागों के प्रायः साथ-ही-साथ विशेषकर मध्य एवं पश्चिम भारत में चकाटकवंशी राजे हुए जो चौथी शती ई. के प्रायः मध्य तक अच्छे सत्ताधारी रहे। उनके युग एवं राज्य में भी जैनों की नागों के समय-जैसी स्थिति रही।

गुप्तकाल

320 ई. के लगभग गुप्त-राज्य की स्थापना हुई और चौथी शताब्दी के मध्य से लेकर प्रायः छठी शताब्दी ई. के मध्य तक गुप्त-साम्राज्य ही सम्पूर्ण उत्तर भारत की सर्वोपरि राज्यशक्ति था। यह युग भारतीय साहित्य और कला का स्वर्णयुग माना जाता है। देश समृद्ध और सुखी था। पाटलिपुत्र गुप्त-साम्राज्य की प्रधान राजधानी थी और उज्जयिनी उपराजधानी थी। गुप्तनरेश वैष्णव धर्मानुयायी परम-भागवत थे

और पौराणिक हिन्दू धर्म के विकास के साधक तथा उसके प्रबल पोषक एवं समर्थक थे। जैनधर्म के प्रति वे भी असहिष्णु नहीं थे, किन्तु उसे राज्याश्रय भी प्राप्त नहीं था। वंशसंस्थापक चन्द्रगुप्त प्रथम (319-325 ई.) का पिता श्री गुप्त बौद्ध था, किन्तु वह स्वयं शायद ब्राह्म धर्म का ही अनुयायी था, वैसे उसके अभ्युदय का मूलधार भगवान् महावीर के कुल में उत्पन्न पाटलिपुत्र के तत्कालीन लिच्छविनरेश की एकमात्र दुहिता कुमारदेवी के साथ उसका विवाह होना था। उसी लिच्छविरानी का पुत्र भारी विजेता समुद्रगुप्त हुआ। उसका उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र रामगुप्त (375-379 ई.) था, जिसका अनुज एवं उत्तराधिकारी चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य (379-414 ई.) इस वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध, प्रतापी एवं शक्तिशाली सम्राट् था। उसके पुत्र कुमारगुप्त (414-455 ई.) और पौत्र स्कन्दगुप्त (455-467 ई.) के समय में साम्राज्य की शक्ति एवं प्रतिष्ठा बनी रही, किन्तु तदुपरान्त अवनति प्रारम्भ हो गयी और विशेषकर श्वेत हूणों के आक्रमणों तथा सामन्तों के विद्रोहों के परिणामस्वरूप छठी शती ई. के मध्य के लगभग समाप्तप्राय हो गयी। गुप्त-युग में जैनधर्म की प्रायः कोई राज्याश्रय प्राप्त नहीं था। राज्यवंश के अतिरिक्त कोई बड़ा सामन्त-सरदार, राज्यपदाधिकारी और जेद-साहूकार भी प्रायः जैन नहीं था तथापि कुछ-एक उल्लेखनीय नाम प्राप्त होते हैं। अनेक पुराने जैन केन्द्र भी बहुत कुछ फलते-फूलते रहे। दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों ही सम्प्रदायों के जैन साधुओं का पश्चिमोत्तर सीमान्त से लेकर बिहार, बंगाल और उड़ीसा पर्यन्त स्वच्छन्द विहार था और चीनी-यात्री फाह्यान के यात्रावृत्त से प्रकट है कि साम्राज्य के जनसामान्य पर खान-पान सम्बन्धी जैसी अहिंसा का पूरा प्रभाव था—मद्य-मांस-सेवन का प्रचार अत्यन्त विरल था।

सर्वप्रथम प्राप्त उल्लेख गुप्त संवत् 57 (376 ई.) का है, जब मधुरा में एक जिन प्रतिमा प्रतिष्ठित की गयी थी।

महाराजाधिराज रामगुप्त द्वारा प्रतिष्ठापित कई जिनमूर्तियाँ विदिशा के निकट दुर्जनपुर से प्राप्त हुई हैं। उनमें से दो चन्द्रप्रभु (8वें तीर्थंकर) की हैं और एक पुष्पदन्त (9वें तीर्थंकर) की है। इन प्रतिमाओं की उक्त गुप्त सम्राट् ने पाणिपात्र (दिगम्बर) भुनि चन्द्रक्षमाचार्य श्रमण के प्रशिष्य, आचार्य सर्वसेन श्रमण के शिष्य और गौलकथान्त्य के सुपुत्र चेलु-श्रमण के उपदेश से प्रतिष्ठापित किया था।

दण्डनायक आमकारदेव—उन्दान का पुत्र और सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का एक वीर दण्डनायक था। गुप्त संवत् 93 (412 ई.) के सौची के एक शिलालेख के अनुसार इस जैन सेनानायक ने काकनाबोट के बिहार में नित्य जैन साधुओं के आहार-दान के निमित्त तथा रत्नगृह में दीपक जलाने के लिए ईश्वरवासक नाम का गौव और 25 स्वर्ण दीनारों का दान किया था।

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के नवरत्न—विठ्ठल्लों में परिगणित क्षणिक नायक

विद्वान् को आधुनिक इतिहासकार एक दिगम्बर मुनि मानते हैं। वस्तुतः सुप्रसिद्ध द्वात्रिंशिकाओं के रचयिता आचार्य सिद्धसेन (प्रथम) ही वह गुप्तकालीन क्षणिक थे जो श्रेष्ठकवि, महान् तार्किक और अत्यन्त उदार एवं प्रगतिवादी विद्वान् थे। उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में उनके द्वारा किये गये चमत्कारों को लेकर कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। सुप्रसिद्ध अमरकोषकार अमरसिंह भी जैन थे, ऐसा कई विद्वानों का विश्वास है और ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर निर्युक्तियों के रचयिता जैनचार्य भद्रबाहु के बड़े भाई थे, ऐसी मान्यता है।

अश्वपति सुभट के पुत्र संघल—गुप्तवंशी नरेश (कुमारगुप्त) के समय में पद्यावतीपुर निवासी और शत्रुओं का मान भंग करनेवाले 'अश्वपति' उपाधिधारी सुभट के पुत्र शम-दम-वाग संघल ने, जो भद्रान्वय के भूषण एवं आर्यकुल में उत्पन्न आचार्य गोशर्म के शिष्य थे, (मध्यप्रदेश में विदिशा के निकट) उदयगिरि पर स्थित गुहामुख में वीतराग जिनवर पार्श्वदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। इसमें उनका हेतु कर्मरूपी शत्रुओं का क्षय करना और पुण्य उपार्जन करना था। यह संघल विधिपूर्वक यतिमार्ग में स्थित होकर (मुनिदीक्षा लेकर) शंकर मुनि कहलाये थे। 'अश्वपति' उपाधि राजा-महाराजाओं या बड़े सामन्तों की होती थी, अतएव उपर्युक्त सुभट-अश्वपति गुप्तों के कोई बड़े सामन्त और पद्यावतीपुर के शासक रहे प्रतीत होते हैं। यह प्रतिष्ठा कार्तिक कृष्ण पंचमी, गुप्त-संवत् 106, अर्थात् 426 ई. में हुई थी। उपर्युक्त पार्श्व-प्रतिमा उसी स्थान में अखण्डितरूप में अभी भी विद्यमान है, लेख उसके निकट ही दीवार पर अंकित हैं।

श्राविका शामादूया—कोट्टियमण की विद्याधरी शाखा के दत्तिलाचार्य की गृहस्थ-शिष्या थी जो भट्टिभव की पुत्री थी और ग्रहमित्रपालित की कुटुम्बिनी (धर्मपत्नी) थी। उसका पति प्रातारिक (नदी के घाट का अधिकारी) था। इस धर्मात्मा श्राविका ने सम्राट् कुमारगुप्त के राज्य में, गुप्त सं. 118 अर्थात् 432 ई. में मथुरा में एक जिनप्रतिमा की प्रतिष्ठा करायी थी।

श्रावक भद्र—सोमिल का पुत्र, जैन साधुओं के संसर्ग से पवित्र, प्रचुरगुणनिधि महात्मा-भट्टिसोम था। उसका पृथुलमति-यशः पुत्र रुद्रसोम अपरनाम व्याघ्र था। व्याघ्र का पुत्र भद्र या मद्र था जो द्विज, गुरु और यतियों (जिन मुनियों) में प्रीति रखनेवाला, पुण्यस्कन्ध और संसार के आवागमन चक्र से भयभीत, धर्मात्मा श्रावक था। उसने अपने कल्याण के लिए सम्राट् स्कन्दगुप्त के राज्य में गुप्त सं. 141 (सन् 460 ई.) के ज्येष्ठ मास में, ककुभ (उत्तर प्रदेश के देवरिया जिले का कहायूँ) नामक ग्रामरत्न में, अर्हन्तों में प्रमुख पंच-जिनेन्द्र (आदिनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्व और महावीर) का गिरिवर के शिखर समान सुचारु शिलास्तम्भ बनवाकर प्रतिष्ठापित किया था। कहायूँ का यह प्रसिद्ध पंच-जिनेन्द्र स्तम्भ अब भी विद्यमान है।

वलभीनरेश-भटार्क—पौंचयीं शती ई. के मध्य लगभग गुजरात के वलभीनगर

में गुप्त सम्राटों का करद सामन्त और उस प्रदेश का शासक भटार्क था, जिसका अपरनाम सम्भवतः धरसेन या धुशसेन भी था। यही राजा वलभी के मैत्रकवंश का संस्थापक था। उसके प्रथम में 453 ई. (मतान्तर से 466 ई.) में आचार्य देवद्विगणि क्षमाश्रमण ने एक यतिसम्मेलन बुलाकर उसमें श्वेताम्बर परम्परा में प्रचलित आगम सूत्रों का वाचन और संकलन किया तथा प्रथम बार उन्हें लिपिबद्ध किया था। जैनश्वेताम्बर साहित्य के इतिहास में यह घटना सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। यों वलभी उसके दो-एक शताब्दी पहले से ही जैनों का एक गढ़ रहता आया था—चौथी शती के प्रारम्भ में भी नागार्जुनसूरि ने वहाँ आगमों की वाचना की थी।

हूणनरेश तौरमाण—पश्चिम सीमान्त से भारत में प्रविष्ट होनेवाले बर्बर हूणों के दुर्दान्त आक्रमणों ने गुप्त-साम्राज्यों को जर्जर कर दिया था। जिस बर्बर, क्रूर, भारतीय धर्म-विरोधी, विदेशी और अत्याचारी हूण सरदार ने लगभग 40 वर्ष पर्यन्त गुप्त सम्राटों और भारतीय जनता को त्रस्त किये रखा, वही जैन अनुश्रुति का, महावीर-निर्वाण के एक सहस्र वर्ष के भीतर होनेवाला चतुर्मुख कल्कि रहा प्रतीत होता है। और कल्कि की मृत्यु के उपरान्त उसके अजितंजय नामक जिस पुत्र के धर्मराज्य का उल्लेख आता है, वह उक्त हूण सरदार का पुत्र एवं उत्तराधिकारी तौरमाण या तौराराय ही प्रतीत होता है। चन्द्रभागा (चिनाब) के किनारे स्थित पवैया नामक नगरी उसकी राजधानी थी। सम्पूर्ण पश्चिमोत्तर सीमान्त, पंजाब, मथुरा पर्यन्त उत्तर प्रदेश और मध्यभारत के ग्वालियर, एरण आदि प्रदेशों पर उसका अधिकार था। वह शैव, वैष्णव, बौद्ध, जैन आदि सब धर्मों के प्रति सहिष्णु एवं उदार और अपेक्षाकृत सौम्य प्रकृति का था। एक जैन अनुश्रुति के अनुसार गुप्तवंश में ही उत्पन्न जैनमुनि हरिगुप्त ने उस बर्बर हूणनरेश पर आध्यात्मिक एवं नैतिक विजय प्राप्त करके उसे अपना भक्त बना लिया था। उसके आग्रह पर वह कुछ वर्ष उसकी राजधानी में भी रहे। लगभग 473 से 515 ई. तक उसका राज्यकाल रहा।

श्रावक नाथशर्मा—बंगाल देश के पहाड़पुर स्थान का निवासी वह सद्गृहस्थ और उसकी पत्नी, बड़े जिनभक्त और धर्मात्मा थे। पहाड़पुर-ताम्रपत्र के अनुसार गुप्त सम्राट् बुधगुप्त के शासन काल में, गुप्तसंवत् 139 अर्थात् 478 ई. में इस दम्पती ने राजपुरुषों की साक्षी से बंगदेशस्थ पुण्ड्रवर्धन के बटगोहाली नामक विशाल जैनविहार को स्वर्णमुद्राओं का दान किया था। इस संस्थान के संस्थापक एवं संरक्षक पंच-स्तूप-निकाय के वाराणसी-निवासी जैनाचार्य गुहनन्दि के शिष्य-प्रशिष्य थे। उक्त दान का मुख्य हेतु, जिन प्रतिमा की स्थापना और अर्हन्तों की नित्यपूजा की व्यवस्था थी। दिगम्बर मुनियों की पंचस्तूपान्वयी शाखा, जो कालान्तर में मूलसंघान्तर्गत सेनसंघ में परिवर्तित हो गयी और जिसका विकास मूलतः सम्भवतया हस्तिनापुर के पंचस्तूप से था, उस काल में पर्याप्त प्रभावशाली थी। उत्तर में हस्तिनापुर, मथुरा और काशी, पूर्व में बंगाल और दक्षिण में महाराष्ट्र एवं कर्णाटक पर्यन्त उसका प्रसार था।

राजर्षि देवगुप्त—गुप्तनरेश महासेनगुप्त के पुत्र कुमारामात्य देवगुप्त ने मालवा पर अधिपत्य करने वाली शासक वंश के समर्थन में अपना स्वतन्त्र शासन स्थापित किया था। वह जैनधर्म का अनुयायी था और श्रेष्ठ युद्धवीर एवं राजनीतिज्ञ था। धानेश्वर के राज्यवर्धन के हाथों पराजित होने पर वह संसार से विरक्त हो गया और अपने ही वंश के जैन मुनि हरिगुप्त से दीक्षा लेकर जैन साधु हो गया था।

गुप्तकाल के जैन मन्दिरों और मूर्तियों के भग्नावशेष बंगाल, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, मध्यभारत, उत्तरप्रदेश, पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमान्त तक में प्राप्त हुए हैं। मथुरा, हस्तिनापुर, देवगढ़, काण्व, वाराणसी, राजगिरि (बिहार), पुण्ड्रवर्धन, विदिशा, बल्लभी, उज्जयिनी आदि उस काल के प्रसिद्ध जैन केन्द्र थे।

कन्नौज के मोखरि और वर्धन

छठी शताब्दी के मध्य के लगभग गुप्तों के पराभव पर उनके ही एक मोखरि सामन्त ने कन्नौज को राजधानी बनाकर कन्नौज से बिहार पर्यन्त अपनी स्वतन्त्र सत्ता जमा ली थी। बंगाल के शशांक द्वारा अन्तिम मोखरि गृहवर्मा की युद्ध में मृत्यु हो जाने पर इस वंश का अन्त हुआ और उसका स्थान उसके साले, धानेश्वर के हर्षवर्धन ने लिया।

सम्राट् हर्षवर्धन (606-647 ई.) प्रतापी नरेश था और शीघ्र ही प्रायः पूरे उत्तरापथ पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने में सफल हो गया था। बौद्धधर्म की ओर उसका विशेष झुकाव था, तथापि वह सर्वधर्म-समदर्शी, विद्वानों का आदर करनेवाला उदार और दानी नरेश था। अपनी राजधानी कन्नौज में तथा प्रयाग में वह विद्वत्-सम्मेलन करता था, जिनमें वह बौद्ध, जैन (निर्ग्रन्थ), शैव और वैष्णव साधुओं एवं विद्वानों को आमन्त्रित करता और बथेच्छ दान देकर उन्हें सन्तुष्ट करता था। उसके समय में चीनी बौद्ध यात्री हेनसांग भारत आया था, राजधानी में भी रहा था। उसके यात्रा-वृत्तान्त से पता चलता है कि पश्चिम में अफ़ग़ानिस्तान से लेकर पूर्व में बंगाल पर्यन्त और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कुमारी अन्तरीप पर्यन्त प्रायः प्रत्येक प्रदेश में निर्ग्रन्थ (जैन साधु) और उनके अनुयायी पाये जाते थे। वीरदेव क्षपणक नामक जैन विद्वान् हर्ष के राजकवि बाण का मित्र था और सम्भवतया हर्ष की राजसभा का एक विद्वान् था। सुप्रसिद्ध 'भक्तामरस्तोत्र' के रचयिता जैनाचार्य मानतुंग भी इसी समय हुए माने जाते हैं। जैकोबी आदि कतिपय विद्वान् उनका सम्बन्ध हर्ष से जोड़ते हैं। सम्भव है कि उपर्युक्त वीरदेव क्षपणक मानतुंग के शिष्य हों। इसी काल में बलभी के मैत्रकवंशी नरेश शिलादित्य प्रथम के आश्रय में श्वेताम्बराचार्य जिनभद्रगणी-क्षमाश्रमण ने अपना सुप्रसिद्ध विशेषाग्रथेयक-भाष्य 609 ई. में रचा था और कर्णाटक के जैनाचार्य भट्टाकलंकदेव ने कलिंगनरेश

हिमशीतल की राजसभा में बौद्ध विद्वानों को बाद में पराजित किया था। बड़ौदा के निकट अक्कोटा नामक स्थान से प्रायः इसी काल की कई जैन धातुमूर्तियाँ खुदाई में प्राप्त हुई हैं। मूर्तियाँ अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण हैं। उनमें से कुछ लेखांकित भी हैं और एक पर जिनभद्र क्षमाश्रमण का नाम भी अंकित है। एक अन्य मूर्ति पर जो लेख पढ़ा गया है, उसके अनुसार चन्द्रकुल की जैन महिला नागेश्वरीदेवी ने देवधर्म के रूप में 'जीवन्तस्यासी' की यह मूर्ति निर्माण करायी थी। एक प्रतिमा ऋषभदेव की है, कुछ वक्ष-वक्षियों की हैं। सन् 623 ई. में चेदि के कलचुरि नरेश शंकरगण ने जैनतीर्थ कुल्पाक की स्थापना की थी।

हर्षवर्धन की मृत्यु के उपरान्त लगभग आधी शताब्दी उत्तर-भारत में अराजकता रही जो ऐतिहासिक दृष्टि से एक प्रकार का अन्धयुग है। इस काल की 687 ई. की दो लेखांकित जैन धातुमूर्तियाँ बसन्तगढ़ में प्राप्त हुई थीं, और लगभग 700 ई. में वारानगर के सति (शक्ति)-भूपाल के आश्रय में जैनाचार्य पद्मनन्दि ने अपने प्राकृत भाषा के जम्बूद्वीप-प्रज्ञप्ति-संग्रह नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

कन्नौज नरेश यशोधर्मन

8वीं शती के पूर्वार्ध में इस नरेश ने अराजकता को अन्त करके शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित की। वह अच्छा प्रतापी, विजेता और विद्यार्सिक नरेश था। कहा जाता है कि इस नरेश का राजकवि और प्राकृत काव्य 'मौडगहो' का रचयिता वाक्पति जैन था।

कन्नौज का आयुधवंश

यशोधर्मन की मृत्यु के कुछ समय उपरान्त कन्नौज पर आयुधवंशी नरेशों का अधिकार हुआ, जिनमें वज्रायुध, इन्द्रायुध और चक्रायुध ने 8वीं शती के उत्तरार्ध में क्रमशः राज्य किया। इनमें से इन्द्रायुध का उल्लेख 783 ई. में रचित अपने हरिवंश-पुराण में पुष्पाटसंघी जैनाचार्य जिनसेन ने उत्तर दिशा के राजा के रूप में किया है। उसी शती के अन्त के लगभग आयुधों की सत्ता का अन्त गुर्जर-प्रतिहारों ने किया।

गुर्जर-प्रतिहार नरेश

प्रामुख्यमकालीन राजपूत वंशों में प्रमुख गुर्जरप्रतिहार स्वयं को राम के प्रतिहार लक्ष्मण का वंशज कहते थे। मारवाड़ के भिन्नमाल अपरनाम श्रीमाल नगर को इन्होंने अपना प्रथम केन्द्र और राजधानी बनाया था। उस काल में यह स्थान जैनधर्म का प्रसिद्ध गढ़ था। जैनों की सुप्रसिद्ध श्रीमाल या श्रीमाली जाति का विकास इसी नगर से है। श्रीमाल के गुर्जरप्रतिहार वंश का संस्थापक हरिश्चन्द्र था, किन्तु

वंश और राज्य का अभ्युदय नागभट प्रथम (740-756 ई.) के समय से हुआ। उसने सिन्ध के अरबों को हराकर बड़ी प्रसिद्धि प्राप्त की थी और अनेक छोटे-छोटे राज्यों को अधीन करके पर्याप्त शक्ति बढ़ा ली थी। यह राजा जैनधर्म का पोषक और सम्भवतया अनुयायी भी था। उसका भतीजा एवं उत्तराधिकारी कक्कुल ती परम जैन था और उसने भिन्नमाल में एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जिसे उसने धनेश्वरमच्छ के यतियों को सौंप दिया था।

वत्सराज—कक्कुल के अनुज एवं उत्तराधिकारी देवराज का पुत्र वत्सराज (775-800 ई.) कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था। वह बड़ा प्रतापी, पराक्रमी और विजेता था। उसने इन्द्रायुध से कन्नौज छीनकर उसे अपने स्वोदित साम्राज्य की राजधानी मनोनीत किया था। यद्यपि उसके समय में प्रधान राजधानी भिन्नमाल ही बनी रही। समस्त पूर्वी राजस्थान, मालवा, मध्यभारत, गुजरात और उत्तर प्रदेश के पर्याप्त भाग उसके राज्य के अन्तर्गत थे। दक्षिण के राष्ट्रकूट और बंगाल के पाल उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी थे। जेनाचार्य उद्योतनसूर ने कुवलयमाला (778 ई.) में और जिनसेनसूरि पुन्नाट ने हरिवंश-पुराण (783 ई.) में इस 'रणहस्ति', 'परभट-भृकुटि-भञ्जक' आदि विरुद्धधारी गुर्जर-प्रतिहार नरेश वत्सराज का भारतवर्ष के तत्कालीन सर्वमहान् नरेशों में उल्लेख किया है। 'कुवलय' की रचना जाबालिपुर (जालोर) के ऋषभदेव-जिनालय में हुई थी। वह नगरी स्वयं वत्सराज की ही एक उप-राजधानी थी। राजा बहुधा वहीं रहता था। 'हरिवंश' की रचना वर्धमानपुर (मध्यप्रदेश में पुराने धार राज्य का बदनावर नगर जो उज्जैन से 40 मील पश्चिम में स्थित है) की नन्नराज-वसति में प्रारम्भ की गयी थी और उसके लगभग 12 मील पश्चिम में स्थित दोस्तटिका (डोतरिया) के शान्तिनाथ-जिनालय में उसे पूर्ण किया गया था। इसी काल में आचार्य हरिभद्रसूरि ने चित्तौड़ में निवास करते हुए अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रणयन किया था। वत्सराज जैनधर्म का बड़ा समर्थक एवं पोषक था। जैनयति बप्पभाट्टि का वह बड़ा सम्मान करता था। उसी के समय में मथुरा में श्वेताम्बर और विगम्बर मन्दिर सर्वप्रथम पृथक्-पृथक् बने लगते हैं। वह दोनों ही सम्प्रदायों के साथ समान व्यवहार करता था। श्रीमाल, ओसिका आदि नगरों में उसने विशाल जिन-मन्दिर निर्माण कराये थे। कन्नौज में उसने 100 हाथ ऊँचा भव्य जिन-मन्दिर बनवाया था, जिसमें भगवान् महावीर की स्वर्णमयी प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, और ग्वालियर में उसने एक 23 हाथ ऊँची तीर्थंकर प्रतिमा स्थापित की थी। मोधरा, अन्हिलवाड़ आदि स्थानों में भी उसने जिनमन्दिर बनवाये बताये जाते हैं। इसी काल में 781 ई. में श्रीपट्टन के मन्त्रीश्वर जिननाग की भार्या नारायणदेवी एक प्रसिद्ध धर्मात्मा जैन महिला थी।

नागभट्ट द्वितीय नागावलोक 'आम' (800-833 ई.)—वत्सराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी था और उसके समान ही प्रतापी, विजेता और जैनधर्म का पोषक था।

बीच में कुछ समय के लिए कन्नौज गुर्जरप्रतिहारों के हाथ से निकल गया था, किन्तु इस राजा ने उसपर पुनः स्थायी अधिकार करके अपने साम्राज्य की प्रधान राजधानी बनाया। यह गुर्जरेश्वर, मैनपुरी का आसी अश्वमेध था। जैन साहित्य और अनुश्रुतियों में उनकी प्रभूत प्रशंसा पायी जाती है। आचार्य बप्पभट्टिसूरि का वह परम भक्त था। अनेक विद्वानों के अनुसार बप्पभट्टिचरित्र में उल्लिखित ग्वालियर का राजा आम यह गुर्जरप्रतिहार नागभट्ट द्वितीय ही था। कुछ अन्य विद्वान् कन्नौज के पूर्वोक्त नरेश यशोवर्मन के पुत्र एवं उत्तराधिकारी के साथ 'आम' का समीकरण करते हैं। प्रभावक-चरित्र के अनुसार इस नरेश की मृत्यु 833 ई. में गंगा में समाधि लेकर हुई थी। मथुरा के प्राचीन जैनस्तूप का जीर्णोद्धार भी इसी के समय में हुआ बताया जाता है। यह धर्मात्मा राजा जिनेन्द्रदेव की भाँति विष्णु, शिव, सूर्य और भगवती का भी भक्त था।

मिहिरभोज (836-885 ई.)—नागभट्ट द्वितीय का पुत्र और रामभद्र या रामदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार वंश का सर्वाधिक प्रसिद्ध एवं सर्वमहान् नरेश था। उसके समय में इस साम्राज्य की शक्ति एवं समृद्धि चरमोत्कर्ष को प्राप्त हो गयी थी। अपनी कुलदेवी भगवती का वह उपासक था; किन्तु बड़ा उदार और सहिष्णु था तथा जैनधर्म का भी प्रश्रयदाता था। घटियाला के 861 ई. के शिलालेख से प्रतीत होता है कि इस समय उसके पूर्वज कक्कुल द्वारा निर्मापित जिनालय में कुछ संवर्धन हुआ था। काँगड़ा (पंजाब) में भी 854 ई. में कोई जिन-प्रतिष्ठा हुई थी। विक्रम सं. 919, शक 784 (सन् 862 ई.) की आश्विन शुक्ल चतुर्दशी, बृहस्पति के दिन उत्तर-भाद्रपदा नक्षत्र में इस परम महारक महाराजाधिराज परमेश्वर श्री भोजदेव के राज्य में और उसके द्वारा नियुक्त उसके महासामन्त विष्णुराम के साक्षात् शासन और प्रश्रय में लुजच्छगिरि (उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले का देवगढ़) में भगवान् शान्तिनाथ के मन्दिर के सामने आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव ने श्रावक बाजु और गंगा नामक दो भाइयों द्वारा कलापूर्ण मानस्तम्भ निर्मापित एवं प्रतिष्ठापित कराया था। धर्मात्मा भ्रातृद्वय की उपाधि गोष्ठिक थी, जिससे लगता है कि वे किसी व्यापारी निगम के सम्भ्रान्त सदस्य थे और उक्त शान्त्यायतन के ट्रस्टी थे। बड़नगर या बारी (पथारि के निकट ज्ञाननाथ पर्वत की तलहटी में एक झील के किनारे स्थित) नामक स्थान में 876 ई. में दिवह नामक धनपति ने कोई जिनालय बनाकर उसके लिए दान दिया था। उस स्थान में उस काल के मन्दिरों आदि के अनेक भग्नावशेष हैं। उन्हीं में गडरमर (गडरिये का मन्दिर) के पश्चिम ओर स्थित जैन मन्दिर समूह के चतुष्कीर्ण प्रांगण के बाहर यह शिलालेख मिला है। सौराष्ट्र के जैन तीर्थ गिरनार के नेमिनाथ-मन्दिर के दक्षिणी प्रवेशद्वार के निकट एक छोटे मन्दिर की दीवार पर अंकित भग्न शिलालेख में भगवान् नेमिनाथ को नमस्कार करके लिखा है कि किसी महीपाल नामक सामन्त राजा के

सम्बन्धी (या आश्रित) वरसिंह की भार्या फाउ, पुत्रों साइआ और मेलामेला तथा पुत्रियों रुडी एवं गांगी ने उक्त नेमिनाथ जिनालय बनवाकर उसे भद्रसूरि के पट्टधर मुनिसिंह (भन्द्र) द्वारा प्रतिष्ठित कराया था। वह प्रतिष्ठा फाल्गुन शुक्ल पंचमी गुरुवार की हुई थी। वर्ष नहीं दिया है, किन्तु अनुमान यही किया जाता है कि यह लेख उक्त भोजदेव के समय का है।

मिहिरभोज का पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (885-908 ई.) भी शक्तिशाली शासक और विद्वानों का प्रश्रयदाता था। तदनन्तर भोज द्वितीय (908-910 ई.) और महीपाल (910-940 ई.) राजा हुए। सम्भव है उपर्युक्त गिरनार शिलालेख का महीपाल यही राजा हो। उसका उत्तराधिकारी महेन्द्रपाल द्वितीय (940-946 ई.) भी भारी विद्याप्रेमी था। जैनाचार्य सोमदेव ने इसी राजा के लिए राजनीतिशास्त्र के अपने महान् ग्रन्थ 'नीतिवाक्यामृत' एवं 'महेन्द्र-मालति संजल्प' की रचना की थी, ऐसा विश्वास करने के कारण है। तदुपरान्त देवपाल आदि कक्षपाल पर्यन्त कई राजा हुए, किन्तु गुर्जरप्रतिहारों की यह अवन्ति का काल था। महमूद गजनवी के आक्रमण ने उनकी सत्ता पर मारणान्तिक आघात किया। कुछ दशकों तक अराजकता रही, कन्नौज पर बदायूँ के राष्ट्रकुटी का भी अधिकार रहा। तदनन्तर लगभग एक सौ वर्ष गहड़वालोंने शासन किया, जिसके अन्तिम राजा जयचन्द के साथ मुहम्मद गौरी के हाथों गहड़वालोंने का भी अन्त हुआ। इस काल की मधुरा में दो जैन मूर्तियाँ मिली हैं—एक 981 ई. की और दूसरी 1077 ई. की।

सौंभर के चाहमान

अजयमेरु (अजमेर) के निकट शाकम्भरी (सौंभर) में चाहमान (चौहान) राजपूतों का राज्य 700 ई. के लगभग प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे नाडौल, धोलपुर (धोलका), आबू, रणथम्भौर, परसापगढ़, चन्द्रवाड़ (इटवा के निकट यमुना तट पर) आदि कई स्थानों में भी इस वंश की शाखा-उपशाखाओं का राज्य हुआ। वसुदेव द्वारा संस्थापित सपादलक्ष या सौंभर का वंश इनमें सर्वप्रमुख था, जिसमें अनेक राजा हुए। इनमें पृथ्वीराज प्रथम जैनधर्म का परम भक्त था। उसने रणथम्भौर के जिन-मन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था। अजमेर में 1188 ई. में किन्हीं पं. गुणचन्द्र ने आचार्य गदानन्दि से शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। पृथ्वीराज द्वितीय भी परम जैन था और विजौलिया-पार्श्वनाथ तीर्थ के जैन गुरुओं का भक्त था। उसने एक जिनालय के लिए मोरकुटी (मोराझरी) गाँव का दान दिया था। राजा अर्णोराज को आचार्य जिनदत्तसूरि ने अपने उपदेशामृत से प्रभावित किया था।

सोमेश्वर चौहान—अर्णोराज का पुत्र, विग्रहराज चतुर्थ एवं पृथ्वीराज द्वितीय का अनुज और उत्तराधिकारी गुजरात के सोलंकीनरेश जयसिंह सिद्धराज का दीहित्र एवं दत्तक पुत्र, कुमार पाल सोलंकी का प्रतिद्वन्दी, दिल्ली के अलंगपाल तोमर का

जामाता और सुप्रसिद्ध रायपिछौरा (पृथ्वीराज तृतीय) का पिता, सोमेश्वर अपरनाम चाहड़, अजमेर के चौहानों में जैनधर्म का सर्वाधिक पोषक एवं भक्त नरेश था और 12वीं शताब्दी ई. के मध्य के लगभग विद्यमान था। वह बड़ा धीर और पराक्रमी था, अतः 'प्रतापलोकेश्वर' कहलाता था। स्वर्ग प्राप्ति की आकांक्षा से इस नरेश ने रेवातट स्थित श्रीपार्श्वनाथ-जिनालय के लिए रेवण नाम का ग्राम दान दिया था। विजौलिया-पार्श्वनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर भी उसके द्वारा अथवा उसके आश्रय में निर्मित हुआ था। उस तीर्थ पर उसके एक धर्मात्मा श्रावक श्रेष्ठिलोलाक ने तो 1169 ई. में अनेक निर्माण कार्य एवं उत्सव उसकी सहमति एवं सहयोगपूर्वक किये थे। जब सोमेश्वर दिल्ली आया था तो सम्भवतया उसने अपने नगरसेठ, अजमेर के देवपाल सोनी के साथ हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र की भी यात्रा की थी। उसी अवसर पर उक्त देवपाल सोनी ने हस्तिनापुर में 1176 ई. में भगवान् शान्तिनाथ की एक खड्गासन विशाल पुरुषाकार मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लगभग चालीस वर्ष हुए उक्त स्थान के एक टीले की खुदाई में वह मूर्ति प्राप्त हुई थी। साधु बुल्लह के पुत्र हालू ने अजमेर में 1177 ई. में पार्श्वप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। 1182 ई. में लाहड़ की पत्नी तोली ने तथा अन्य तीन श्राविकाओं ने मालिनार्थ की प्रतिमा और आर्यिका मदनश्री ने समस्त गोष्ठिकों के सहयोग से माणिक्यदेव के शिष्य सोमदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। अजमेर में ही साधु हाल्लण के पुत्र वर्धमान ने तथा महीपाल ने 1187 ई. में वासुपूज्य-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी, और महीपालदेव की सम्मानित माता श्राविका आस्ता ने 1190 ई. में पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित की थी। ये प्रतिष्ठाएँ दिल्ली-अजमेर के चौहान राजा पृथ्वीराज तृतीय के समय में हुई थीं।

श्रेष्ठ लोलाक—श्रीमाल शैलप्रवर के प्राग्वाट (पोरवाड़) वंश में उत्पन्न वैश्रवण नामक धर्मात्मा श्रावक ने मनोहर क्षेत्र तडागपत्तन में एक जिनमन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र श्रेष्ठ चच्चुल ने व्याघ्रेरक आदि स्थानों में जिनमन्दिर बनवाये थे। वह सद्बुद्धि, परोपकारी और यशस्वी था। उसका पुत्र कीर्तिवान् शुभंकर था, जिसका पुण्यवान् पुत्र श्रेष्ठ जासट था। आमुष्या और धर्मा नाम की जासट की दो पत्नियाँ थीं। पहली से अम्बर और पण्ड और दूसरी से लक्ष्मट और देसल नाम के पुत्र हुए थे। इन भाइयों ने कई जिनमन्दिर बनवाये थे। लक्ष्मट के मुनीन्दु और रामेन्दु नाम के गुणवान् एवं समानशीलवाले दो पुत्र थे और देसल के दुदल-नायक, सोसल, कामजित, देव, सीयक और साहक नाम के छह पुत्र थे जो षट्कर्मदश, षट्खण्डागम के भक्त, षडिन्द्रियों को वश में करनेवाले, षाड्गुण्य-चिन्ताकरा इत्यादि गुणसम्पन्न थे। इन भाइयों ने अनेक धर्मोत्सव किये थे और अजमेर नगर का आभूषण देवेन्द्र विमान-जैसा सुन्दर श्री वर्द्धमान भगवान् का मन्दिर बनवाया था। इन भाइयों में से श्रेष्ठभूषण सीयक ने मेण्डणकर महादुर्ग को जिन-मूर्तियों से अलंकृत किया था और देकाद्रिभृंग (देवगढ़) पर स्वर्णकलशों से मण्डित चमचमाता

नेमि-जिनालय बनवाया था तथा अष्टापदशीलशृंग पर भी जिनालय बनवाये थे। यह श्रेष्ठिप्रवर सीयक न्यायाम्बरसेधनैक-जलद, कीर्तिनिधान, सौजन्याम्बुजनि-विकासन-रवि, पापाद्रिभेदे-पवित्र, कारुण्यामृत-वारिधि और साधुजनोपकार-करण-ध्याहार-बद्धादर था। नागश्री और मामटा नाम की उसकी दो भायारें थीं। पहली से नागदेव, लोलार्क और उज्ज्वल नाम के तीन और दूसरी से महीधर एवं देवधर नाम के दो पुत्र हुए। सीयक सेठ के ये पाँचों सुपुत्र पंचाचार-परायण, पंचांगमन्त्रोज्ज्वल, पंचज्ञान-विचारणासुचतुर, पंचेन्द्रियार्थव्यवहारी, श्रीमत्पंचगुर, पणामाधनस, और पंचांगु-श्रद्धावता थे। उज्ज्वल सेठ के यशस्वी पुत्र दुर्लभ और लक्ष्मण थे। श्रेष्ठि लोलार्क की रूपगुण सम्पन्ना एवं पतिपरायणा तीन पत्नियाँ थीं, जिनके नाम ललिता, कमलश्री और लक्ष्मी थे। इनमें से सेठ की सेठानी ललिता विशेष प्रिय थी। एकदा सेठानी ललिता ने अपने प्रासाद में सुखपूर्वक शयन करते हुए एक सुन्दर स्वप्न देखा, जिसमें नागराज धरणेन्द्र ने उससे कहा कि श्री पार्श्वनाथ भगवान् का प्रासाद बनवाओ। सेठानी ने अपने पति से स्वप्न की बात कही और अनुरोध किया कि रेवती-तीरवती पार्श्वनाथ-तीर्थ का उद्धार करें। असत्तु, जलधि के समान गम्भीर, सूर्य के समान स्थिर-अंचल तेजस्वितावाले, चन्द्रमा के समान सौम्य और गंगा के समान पवित्र, पंचांगुव्रतधारी, पंचपरमेष्ठि के परम भक्त, सुकृति, ज्ञानी, दानी, उदार और धर्मात्मा श्रेष्ठि शिरोमणि लोलार्क (लोलार्क) ने धनधान्य-पूर्ण विन्ध्यवल्ली (बिजौलिया) के उस भीमाटवी नामक वन में जहाँ दुष्ट कमठ ने भगवान् पार्श्वनाथ पर यह पुराणप्रसिद्ध घोर उपसर्ग किया था, पार्श्वतीर्थ का उद्धार करने का संकल्प किया। उक्त स्थान में सुप्रसिद्ध रेवतीकुण्ड के तट पर उसने अत्यन्त भव्य एवं उत्तुंग पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाया और उसके चहुँओर छह अन्य जिनमन्दिर बनवाये। इस सप्तायतन के अवशेषों पर ही कालान्तर में वह पंचायतन या पाँच मन्दिरों का समूह—एक मध्य में और चार-चार कोनों पर—बना जो बिजौलिया-तीर्थ पर विद्यमान है। श्रेष्ठि लोलार्क ने निकट ही एक चट्टान पर उन्नतिशिक्षुर-पुराण नामक ग्रन्थ पूरा-का-पूरा उल्कीर्ण करा दिया था (अन्यत्र इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं है) और एक अन्य शिला पर अपनी वह बृहत् प्रशस्ति अंकित करायी थी जिसमें चौहान नरेशों की वंशावली और अपने पूर्वपुरुषों का तथा उसके धर्मकार्यों का उल्लेख करने के पश्चात् स्वयं उसके धर्मकार्यों का विवरण है। मन्दिरों का निर्माण कराके सेठ ने यहाँ एक महान् प्रतिष्ठोत्सव एवं पूजोत्सव किया, जिसमें असंख्य जनता एकत्र हुई, नृत्य-गीत-वाद्य आदि सहित अनेक उत्सव हुए। ये समस्त धर्म-कार्य सेठ ने अजयमेरु (अजमेर) के चौहान नरेश प्रतापलोकेश्वर सोमेश्वर के आश्रय में उसकी सहमतिपूर्वक विक्रम संवत् 1226 (सन् 1169 ई.) को फाल्गुन कृष्ण तृतीया, गुरुवार के दिन, हस्तनक्षत्र, धृतिपौर्णमासी और तैत्तिरी-करण में निष्पन्न किये थे। उस अवसर पर सेठ ने तथा विभिन्न ग्रामों के अनेक धार्मिक जनों ने तीर्थ के लिए भूमि आदि के दान भी दिये थे।

प्रशस्ति की रचना कवियों के कण्ठभूषण मायुरसंघी गुणभद्र महामुनि ने की थी, जो कि उक्त श्रेष्ठ लोलार्क के गुरु थे। आचार्य जिनचन्द्र का भी वह भक्त था। नैगम कायस्थ क्षितिय के पुत्र केशव ने उसे लिखा था। नालिम के पुत्र गोविन्द और पाल्हण के पुत्र देल्हण ने सेठ द्वारा निर्मापित कीर्ति-स्तम्भ के निकट यह प्रशस्ति उत्कीर्ण की थी। मन्दिरों का निर्माण सूत्रधार (शिल्पी) हरिसिंह के पुत्र पाल्हण और पौत्र नाहड ने किया था। उपर्युक्त तीर्थ इस सेठ के नाम पर 'लोलार्कवरतीर्थ' भी कहलाया। वहाँ उसने श्री जिनचन्द्रसूरि के चरणचिह्न भी स्थापित कराये लगते हैं। सन् 1170 और 1175 ई. में भी विजोत्था में कोई प्रतिष्ठा आदि धर्म-कार्य हुए थे।

उस काल के अन्य चौहान वंशों में धवलपुरी (धोलका) का चण्डमहासेन (942 ई.) अधिक प्रसिद्ध है और वह जैनधर्म का भी पोषक था। दिल्ली के चौहान भी जैनधर्म के प्रति असहिष्णु नहीं थे। नाडौल में चाहौन राज्य 960 से 1252 ई. तक रहा और इस वंश के लाखा, दादराव, अश्वराज, अहलदेव, कल्हण, गजेसिंह, कृतिपाल आदि राजे जैन थे। अश्वराज परम जैनभक्त था और उसने अपने राज्य में पशुहिंसा पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। उसका पुत्र अहलदेव अपने पिता से भी अधिक उत्साही जैन था और भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसके समय में 1161 ई. में नाडौल में एक प्रतिष्ठा हुई थी और स्वयं उसने 1162 ई. में नादरा में एक विशाल महावीर-जिनालय बनवाया था तथा उसके लिए कतिपय श्रावकों एवं मुनियों की सुरक्षा में बहुत-सी सम्पत्ति दान कर दी थी। अन्त में राज्य का त्याग करके वह जैनमुनि हो गया था। सन् 1228 ई. के एक ताम्रशासन से उसके दान और मुनि हो जाने का पता चलता है।

उत्तर प्रदेश में आगरा के निकट चन्दवाड (चन्द्रपाठ) के चौहानवंश में सर्वप्रथम नाम चन्द्रपाल का मिलता है। तदनन्तर क्रमशः भरतपाल, अभयपाल, जाहड और श्रीबल्लाल नाम के राजे 11-12वीं शती ई. में हुए। ये राजे स्वयं तो जैनी शायद नहीं थे, किन्तु उसके पोषक अवश्य थे और उनके मन्त्री तो बराबर जैन ही होते रहे। अभयपाल का मन्त्री सेठ अमृतपाल था जिसने चन्दवाड में एक जिनमन्दिर बनवाया था। जाहड का मन्त्री सोदू साहु था। यह चौहान वंश आगे भी 16वीं शताब्दी तक चलता रहा। इसी की एक शाखा इटावा जिले के असाईखेड़ा में स्थापित थी। उस स्थान से भी 11वीं-12वीं शती की कई जिन-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। स्वयं वंश-संस्थापक चन्द्रपाल ने और उसके लमेचूजातीय जैन दीवान रामसिंह-हारुल ने 996 और 999 ई. में अपने इष्टदेव चन्द्रप्रभु की स्फटिक की प्रतिमा चन्द्रपाठ में अपने बनाये मन्दिर में प्रतिष्ठापित की थी। इसी नगर में 1173 ई. में मायुरवंशी नारायणसाहू की देव-शास्त्र-गुरु-भक्त भार्या रूपिणी ने श्रुतपंचमीव्रत के फल को प्रकट करनेवाली भविष्यदत्त-कथा कवि श्रीधर से लिखवायी थी।

दिल्ली के तोमर

दिल्ली, दिल्ली, जोगिनपुर (योगिनीपुर) आदि नामों से प्रसिद्ध मध्यकाल के प्रारम्भ से आजपर्यन्त रहनेवाली भारत की राजधानी दिल्ली की प्रसिद्धि सर्वप्रथम तोमर राजाओं के समय में हुई। इस वंश का संस्थापक 8वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में रण्णा बज्जू था। उसका अथवा उसके उत्तराधिकारी का नाम अनंगपाल प्रथम था, जिसने 796 ई. में यह नगर बसाया था। इस वंश में अनेक राजे हुए जो जैनधर्म के प्रति सहिष्णु थे।

अनंगपाल तृतीय—दिल्ली का तोमर नरेश 1132 ई. में विद्यमान था। उसके समय में दिल्ली में कई जिनमन्दिर बने। उसका राज्य-मन्त्री नट्टलसाहु बड़ा धर्मात्मा श्रावक था, और उसके आश्रय में कवि श्रीधर ने अपना अपभ्रंश भाषा का पासपाह-चरित रचा था।

नट्टलसाहु—दिल्ली के अनंगपाल तृतीय तोमर का राज्यसेठ नट्टलसाहु, जो सम्भवतया राजा का एक मन्त्री या अमात्य भी था, श्री अग्रवाल-कुल-कमल-मित्र (सूर्य), निर्मल-गुण-रत्नराशि, शुभधर्म-कर्म में प्रवृत्ति करनेवाले साहु जेजा की शीलगुणालंकृत लज्जावती तथा बाम्भवजनों को सुख देनेवाली भार्वा भेमडि से उत्पन्न उसका तृतीय पुत्र था। उसके दो बड़े भाई राहव (राघव) और सोढल थे। साहु नट्टल अपने कुल-कमलाकर का राजहंस, गुणनिधान, रत्नत्रय का धारी, परदोष-प्रकाशन से विरक्त, चतुर्विधदान-तत्पर, परनारी-रति से विरत, रूपवान्, अपने वचन का पक्का, कीर्तिवान्, सदृशनामृत-धान-पुष्ट, उत्तमधी, जिनभक्त, विद्यारसिक, धर्मात्मा श्रावक और धनकुबेर था। उसका व्यापार देश-विदेश में दूर-दूर तक फैला था। उसके दोनों भाई भी बड़े विद्यारसिक और धर्मात्मा थे। उस समय हरियाणा का निवासी, गोल्लपिता और वील्हा माता का पुत्र, अग्रवालकुल में ही उत्पन्न श्रीधर नाम का सुकवि था। उसने 'चन्द्रप्रभु-चरित्र' की रचना की थी। उसे लेकर यमुनानदी पार करके वह दिल्ली में आया, जो सुदृढ़ दुर्ग, गोपुरों, मन्दिरों, मठों, हाट-बाजारों, उद्यान-वाटिकाओं आदि से सुशोभित सुन्दर महानगरी थी। वहाँ हम्मीरवीर का दमन करनेवाला प्रबल प्रतापी अनंगपाल नरनाथ राज्य करता था। वहाँ उसकी भेंट अल्लणसाहु नामक श्रावक सेठ से हुई जिसे कवि ने अपना 'चन्द्रप्रभुचरित्र' सुनाया। उसे सुनकर अल्लण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कवि को नट्टलसाहु से मिलाया। नट्टलसाहु के उदार आश्रय में रहते हुए उसके अनुरोध पर कवि ने 1132 ई. में अपने प्रसिद्ध 'पार्श्वनाथ चरित्र' की रचना की थी। उसी समय के लगभग नट्टलसाहु ने दिल्ली में भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) का अत्यन्त भव्य, कलापूर्ण एवं विशाल मन्दिर निर्माण करके उसकी प्रतिष्ठा करायी थी। इस जिन-मन्दिर तथा उसके आसपास स्थित अन्य जैन एवं हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करके उनकी सामग्री से ही

13वीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली के प्रथम सुल्तान गुलामवंशी कुतुबुद्दीन ऐबक ने वहाँ कुव्वतुल-इस्लाम मस्जिद बनवायी थी। इस मस्जिद के भग्नावशेष कुतुबमीनार के निकट विद्यमान हैं और उनमें आज भी उक्त जिनमन्दिर के अंश स्पष्ट लक्षित हैं।

मदनपाल तोमर—अनंगपाल चतुर्थ का पुत्र एवं उत्तराधिकारी, इस वंश का दिल्ली का अन्तिम नरेश था। यह श्वेताम्बराचार्य योगप्रधान जिनदत्तसूरि के पट्टधर मणिधारी जिनचन्द्रसूरि का परम भक्त था। यह बड़े प्रभावक आचार्य थे और अल्प वय में ही दिल्ली में उनका स्वर्गवास 1166 ई. में हुआ था। इसके थोड़े समय उपरान्त उसी वर्ष उनके भक्त इस राजा का भी देहान्त हो गया। सूरिजी के समाधिमरण के स्थान पर श्रावकों ने बड़े समारोह के साथ उनका अन्त्येष्टि संस्कार करके एक स्तूप का निर्माण कराया था। यह स्थान अब भी 'बड़े दादाजी' के नाम से प्रसिद्ध है। सूरिजी ने दिल्ली में एक पोसहसाला भी स्थापित की थी। दिल्ली में कुलचन्द्र, लोहड़, पाल्हण आदि उनके अनेक भक्त श्रावक थे। कुलचन्द्र तो अत्यन्त निर्धन था और उनकी कृपा से करोड़पति हो गया था, वह उनका अनन्य भक्त था। मदनपाल तोमर की स्थिति इतिहास में कुछ सन्दिग्ध है। अनंगपाल के उपरान्त पृथ्वीराज चौहान का ही बल्लेख मिलता है। सम्भव है कि चौहानों का दिल्ली राज्य पर अधिकार होने और पृथ्वीराज के वहाँ आकर रहने लगने के मध्य, तीन-चार वर्ष, यह मदनपाल तोमर स्थानापन्न शासक रहा हो।

घारा के परमार राजे

उपेन्द्र अपरनाम कृष्णराज या गजराज ने 9वीं शती के उत्तरार्ध में मालवा देश की घारामगरी में परमार राज्य की स्थापना की थी। उसका उत्तराधिकारी सीयक द्वितीय उपनाम हर्ष प्रतापी नरेश और स्वतन्त्र राज्य का स्वामी था। अपने पोषित पुत्र मुंज को राज्य देकर 974 ई. के लगभग सीयक परमार ने एक जैनाचार्य से मुनि दीक्षा लेकर शेष जीवन एक जैन साधु के रूप में व्यतीत किया था। वाक्पतिराज मुंज अपरनाम उत्पलराज बड़ा वीर, पराक्रमी, कवि और विद्याप्रेमी था। प्रबन्धचिन्तामणि आदि जैन ग्रन्थों में मुंज के सम्बन्ध में अनेक कथाएँ मिलती हैं। अनेक संस्कृत कवियों का वह प्रशयदाता था, जिनमें जैन कवि धनपाल भी था। जैनाचार्य महसेन और अमितामति का वह बहुत सम्मान करता था। उन्होंने उसके आश्रय में कई ग्रन्थ भी रचे थे। मुंज जैनी था या नहीं, किन्तु जैनधर्म का पोषक अवश्य था। सन् 995 ई. के लगभग उसकी मृत्यु हुई। उसका उत्तराधिकारी उसका अनुज सिन्धुल या सिन्धुराज (996-1009 ई.), जिसके विरुद्ध कुमारनारायण और नव-साहसांक थे, 'प्रद्युम्नचरित' के कर्ता मुनि महसेन का गुरुवत् आदर करता था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी भोजदेव परमार (1010-1053 ई.) प्राचीन वीर विक्रमादित्य की ही भाँति भारतीय लोक-कथाओं का एक प्रसिद्ध नायक है। वह वीर, प्रतापी और

पराक्रमी होने के साथ-ही-साथ परम विद्वान्, सुकवि, कलामंज, विद्वानों का प्रश्रयदाता और जैनधर्म का पोषक था। उसके समय में धारानगरी दिगम्बर जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र थी और राजा जैन मुनिवों एवं विद्वानों का बड़ा आदर करता था। अमित्रगति, माणिक्यनन्दि, नयनन्दि, महापण्डित प्रभाचन्द्र आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता दिगम्बर जैनधर्मियों के परमाचार्यदेवों के आश्रय एवं सम्मान प्राप्त किया था। आचार्य शान्तिसेन ने तो उसकी राजसभा में अनेक अजैन विद्वानों को शास्त्रार्थ में प्रसजित किया था। धनपाल आदि कई गृहस्थ जैन कवि और विद्वान् भी भोजदेव के आश्रित थे, और उसका सेनापति कुलचन्द्र भी जैन था। इस राजा ने जैन-मन्दिरों का निर्माण भी करवाया बताया जाता है। उस काल में प्रतिष्ठापित अनेक जैन-मूर्तियाँ मालवा प्रदेश में यत्र-तत्र प्राप्त होती हैं। राजधानी धारानगरी को भोजदेव ने अनेक सुन्दर भवनों से अलंकृत किया था। वहाँ सरस्वती-मन्दिर या शारदा-सदन नामक एक महान् विद्यापीठ की भी स्थापना की थी और बेतवा नदी से पानी काटकर भोजसागर (भोपाल-ताल) का निर्माण करवाया था।

भोज का उत्तराधिकारी जयसिंह प्रथम (1053-1060 ई.) भी विद्वानों का प्रश्रयदाता था। जैन पण्डित नयनन्दि ने अपना 'सुदर्शनचरित्र' उसके समय में धारा में रचा था। तदनन्तर परमार शक्ति निर्बल और सीमित हो गयी। राजा नरवर्मदेव (1104-1107 ई.) भी वीर योद्धा और जैनधर्म का अनुरागी था। उज्जैन के महाकाल-मन्दिर में जैनाचार्य रत्नदेव का शैवाचार्य विद्याशिववादी के साथ शास्त्रार्थ उसी के समय में हुआ था। इस राजा ने जैन धर्म समुद्रघोष और श्रीवल्लभसूरि का भी सम्मान किया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी यशोधर्मदेव ने भी जैनधर्म और जैन गुरुओं का आदर किया था। जिनचन्द्र नामक एक जैन को उसने अपने गुजरात प्रान्त का शासक नियुक्त किया था। तदनन्तर परमारनरेश विन्ध्यवर्मा, सुभट्टवर्मा, अर्जुनवर्मा, देवपाल और जैतुगिदेव ने आचार्यकल्प पं. आशाधर प्रभृति अनेक जैन विद्वानों को आश्रय दिया था और उनका सम्मान किया था। उस काल से, 1166 में मालवा प्रदेश के बम्हागंज नामक स्थान में कलिकाल के कल्मष का ध्वंस करनेवाले और राजाओं द्वारा सम्मानित लोकनन्दि मुनि के प्रशिष्य तथा संघ-तिलक, धर्मज्ञान-तपोनिधि देवनन्दि मुनि के शिष्य रामचन्द्रमुनि ने एक सुन्दर जिनालय बनवाया था। यह बड़े तपस्वी, सत्त्वनिष्ठ और कीर्तिवान् थे। अनेक राजा इनके चरण पूजते थे।

पण्डितप्रवर आशाधर--मूलतः सप्तदलक्ष्य के भूषण शाकम्भरी के अन्तर्गत मण्डलगढ़ दुर्ग के निवासी थे। यह जैनधर्मानुयायी व्याघ्ररवाल (बघेरवाल) वंशी श्रावक थे। इनके पिता सल्लाक्ष्ण मण्डलगढ़ के दुर्गपति या उच्चपदस्थ कर्मचारी थे और इनकी जननी का नाम रत्नी था। जब 1193 ई. में मोहम्मद गोरी ने पृथ्वीराज का अन्त करके और दिल्ली पर अधिकार कर लेने के उपरान्त अजमेर पर चढ़ाई करके

लूटमार मचायी और उस प्रदेश पर भी अधिकार कर लिया था तो सल्लक्षण ने अपने परिवार एवं अन्य अनेक व्यक्तियों सहित जन्मभूमि का परित्याग करके धारामगरी में परमारनरेशों के आश्रय में शरण ली। सल्लक्षण ने अपनी योग्यता से धाराधीश को प्रसन्न कर लिया और राज्य-सेवा में नियुक्त हो गये। धीरे-धीरे उन्नति करके राजा अर्जुनवर्मा (1210-1218 ई.) के समय में वह मालवराज्य के सन्धिविग्रहिक मन्त्री (परराष्ट्र सचिव) हो गये। स्वयं आशाधर ने धारा में आकर पण्डित महावीर-जैसे विद्वानों के निकट अपनी शिक्षा पूरी की और अपने अध्ययन से विविध-विषय-पटु प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उनकी पत्नी सरस्वती उनकी यथार्थ अनुगामिनी थी। राजधानी धारा के कोलाहल से बचने के लिए और शान्तिपूर्ण वातावरण में साहित्य साधना करने के उद्देश्य से आशाधर ने निकटवर्ती नलकच्छपुर (नालछा) को अपना आवास बनाया, वहाँ अपना एक विशाल विद्यापीठ स्थापित किया और एकचित्त हो ग्रन्थ-रचना में जुट गये। उन्होंने लगभग 1225 ई. से 1245 ई. के बीच विविध-विषयक साधक चालीस ग्रन्थ रचे। न्या-विश्व-चक्षु, प्रज्ञार्पण, कविराज, कवि कालिदास, सरस्वतीपुत्र, आचार्य-कल्प, सूरि आदि अनेक सार्थक विरुद्ध इन्हें तत्कालीन जैन और अजैन विद्वानों से प्राप्त हुए थे। पण्डितजी के अनेक शिष्य और भक्त थे जिनमें गृहस्थ श्रावक ही नहीं, त्यागी और मुनि भी थे। इनमें उदयसेन मुनि, वादीन्द्र विशालकीर्ति, जिन्हें पण्डितजी ने न्याय-शास्त्र का अध्ययन कराया था और उन्हें अनेक प्रतिद्वन्द्वियों पर वादविजय करने में समर्थ बनाया था, शासन-चतुर्विंशतिका के कर्ता यतिपति मदनकीर्ति, पं. देवचन्द्र जिन्हें पण्डितजी ने व्याकरणशास्त्र में पारंगत किया था, भट्टारक विनयचन्द्र जिन्हें पण्डितजी ने धर्म-शास्त्र का अध्ययन कराया था और जिनकी प्रेरणा पर उन्होंने स्वयं इष्टोपदेश-टीका की रचना की थी, भव्य-कण्ठाभरण-पंचिका, पुरुदेवचम्पू और मुनिसुव्रत-काव्य के रचयिता कवि अहंदास जिन्हें पण्डितजी की उक्तियों, सूक्तियों और सद्ग्रन्थों से बोध एवं सम्मार्ग प्राप्त हुआ था, और पं. जाजाक जिनके नित्य स्वाध्याय के लिए पण्डितजी ने त्रिषष्टि-स्मृतिशास्त्र की रचना की थी, इत्यादि प्रमुख हैं। राज्य के प्रधानामात्य विल्हणकवीश और बाल-सरस्वती महाकवि मदनोपाध्याय-जैसे अजैन प्रकाण्ड विद्वानों ने आशाधरजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। खण्डेलवाल श्रावक अल्हण के प्रपौत्र, पापा के पौत्र, पद्मसिंह के भतीजे, बहुदेव के पुत्र और उदयदेव एवं स्तम्भदेव के ज्येष्ठ भ्राता, धर्मात्मा हरदेव, पौरपाटान्वय (परवार या पोरवाड़) के समुद्रर श्रेष्ठि के पुत्र महीचन्द्र साहु, खण्डेलवाल श्रावक कैल्हण, श्रावक धनचन्द्र तथा खण्डेलवाल श्रावक महण और कमलश्री के पुत्र धीनाक उनके गृहस्थ भक्तों में प्रमुख थे, जिनकी प्रेरणा पर आशाधरजी ने विभिन्न ग्रन्थ रचे थे। स्वयं आशाधर के पुत्र छाहड़ अपने पितामह मन्त्रीश्वर सल्लक्षण के प्रशिक्षण में रहकर राजा अर्जुनवर्मा के प्रिय पात्र थे।

अन्तिम जीवन में पण्डितप्रवर आशाधरजी संसार-वेह-भोगों से विरक्त उदासीन त्यागी ब्रह्मी श्रावक के रूप में आत्मसाधन में रत रहे।

ग्वालियर के कच्छपघात राजे

ग्वालियर प्रदेश के कच्छपघात (या कच्छपघट)-वंशी राजाओं में 10वीं शती ई. के मध्य के लगभग माधव का नाम सर्वप्रथम मिलता है। सम्भवतया वही गुर्जर-प्रतिहार भोज के सामन्त के रूप में इस वंश एवं राज्य का संस्थापक था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महीचन्द्र ने 956 ई. में सुहोनिया नामक स्थान में विपुल द्रव्य व्यय करके एक जिनमन्दिर बनवाया था। इसी वंश में महाराजाधिराज वज्रदामन ने 977 ई. में सुहोनिया में ही एक जिनमन्दिर प्रतिष्ठापित किया था। यह नरेश परम जैन था। सुहोनिया का मूल नाम सुधीमपुर था जिसे ग्वालियर के संस्थापक राजा सुधनपाल या सूरजपाल ने बसाया था। उसकी रानी कोकनयती ने भी एक विशाल जिनमन्दिर यहाँ बनवाया था, किन्तु यह वज्रदामन के बहुत पूर्व की बात है। उसके समय के पूर्व से ही वहीं कई जिनमन्दिर थे और जायसवाल जैनों की बस्ती भी उस प्रदेश में 10वीं 11वीं शती ई. से तो थी ही।

राजा विक्रमसिंह कच्छपसिंहघात—अर्जुन भूपति के प्रपौत्र, भोज परमार से प्रशंसित राजा अभिमन्यु के पौत्र और राजा विजयपाल के पुत्र महाराजाधिराज विक्रमसिंह कच्छपघात ने 1088 ई. में चण्डोभ (दूबकुण्ड) में, जो उसकी राजधानी थी, अपने राज्य के धनी श्रेष्ठियों द्वारा बनवाये गये जिनमन्दिर के लिए एक गाँव की भूमि, एक पुण्योद्यान, अनाज पर लगनेवाले राज्यकर का एक अंश, तेल इत्यादि का दान दिया था। राजा स्वयं परम जैन था।

श्रेष्ठि दाहड—चण्डोभ (दूबकुण्ड) में जायस से निकलनेवाले (जायस) वंश में उत्पन्न वणिक्-श्रेष्ठ जासूक था जो सम्यन्दृष्टि, पात्रों को चतुर्विध दान देने में सदैव तत्पर, जिनेन्द्र के चरणों का भक्त-पूजक, यशस्वी, धनी सेठ था। उसका वैभवशाली पुत्र जयदेव था जो सज्जनता की सीमा था। जयदेव की भार्या यशोमती स्त्रियों के रूप, शील, कुल आदि सम्पत्तियों में पूर्ण थी। इस दम्पती के ऋषि और दाहड नाम के दो अत्यन्त गुणवान् पुत्र थे। वे दोनों महाराज विक्रमसिंह के अति प्रियपात्र थे। अतएव राजा ने उन्हें नगरसेठ के पद पर प्रतिष्ठित किया था। लाटवर्मन्-गच्छ के गुरुदेवसेन के प्रशिष्य और दुर्लभसेन के शिष्य मुनि शान्तिषेण के षड्धर विजयकीर्ति मुनि के परमागमसारभूत धर्मोपदेश को सुनने से प्रबोध को प्राप्त श्रेष्ठिवर दाहड ने तथा उनके साथी अन्य कई श्रेष्ठि-श्रावकों ने विचार कि लक्ष्मी, बन्धु-बान्धवों और शरीर का समागम नाशवान् है। अतएव धर्मात्मा सेठ दाहड ने, विवेकवान् कूकेक, सुकृति सूर्यट, शुद्ध धर्म-कर्म धुरन्धर देवधर, गुणवान् महीचन्द्र तथा अन्य भी कई दान-विचक्षण श्रावकों के सहयोग से चण्डोभ में एक अत्यन्त

विशाल (लगभग 10,000 फुट क्षेत्रफल का) एवं मनोहर जिनमन्दिर बनवाया, उसमें भगवान् ऋषभनाथ, जिनेश्वर और सरस्वती देवी की मूर्तियाँ भी, बड़े समारोह के साथ प्रतिष्ठापित कीं, और उक्त जिनेश्वर-मन्दिर में नित्यपूजन तथा उसके संरक्षण के लिए महाराजाधिराज विक्रमसिंह से ग्राम, वाटिका, बागी, गेहूँ के राजकर का अंश, मुनियों के अभ्यञ्जनार्थ दो घड़े नियमित तैल आदि का प्रभूत दान दिलाया, जो धर्मात्मा राजा ने सहर्ष समर्पित किया। यह दानोत्सव 1088 ई. की माघपद शुक्ला तृतीया, सोमवार के दिन सम्पन्न हुआ। शुद्धधी उदयराज ने यह प्रशस्ति लिखी और शिलाकूट तील्हण ने उसे अंकित किया था। उसी नगर (दूबकुण्ड) में काष्ठासंघ के महाचार्य देवसेन का स्वर्गवास होने पर 1095 ई. की वैशाख सुदि पंचमी के दिन उनकी चरणपादुकां समारोह स्थापित की गयी थी।

12वीं शती के मध्य के लगभग तक कच्छपघात राजाओं का शासन ग्वालियर प्रदेश में चलता रहा। स्वयं ग्वालियर के दुर्ग में उनके द्वारा प्रतिष्ठापित उस काल की तीर्थंकर पार्श्वनाथ की विशाल प्रतिमा अभी तक विद्यमान है। वंश की एक शाखा का शासन नरवर में था और उस कुल के इष्टदेव भगवान् पार्श्वनाथ थे। सम्भवतया ग्वालियर की प्रतिमा नरवर के राजाओं की कृति हो। कालान्तर में ग्वालियर के कच्छपघातों के वंशज ही आपेर के कछवाहा राजपूतों के रूप में प्रसिद्ध हुए।

बयाना के यादव

वर्तमान राजस्थान के भरतपुर ज़िले के बयाना नगर का मूल नाम श्रीपथ था और यह प्रदेश भद्रानक कहलाता था, जिसका प्राकृत-अपभ्रंश में भयानय हुआ और मुसलमानों ने भियाना या बयाना कर दिया। मथुरा (महावन) के यदुवंशी राजा इन्द्रपाल या जयेन्द्रपाल (966-992 ई.) के 11 पुत्रों में से एक विजयपाल था, जिसने महमूद गज़नवी द्वारा मथुरा का विध्वंस एवं यादव राज्य का अन्त कर दिये जाने के उपरान्त बयाना में स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया और 1040 ई. में इसी प्रदेश में विजयमन्दिरगढ़ नामक दुर्ग का निर्माण किया। उसके 18 पुत्रों में सर्वाधिक प्रतापी एवं पराक्रमी त्रिभुवनपाल (तिहुणपाल या तवनपाल) था, जिसने परमभट्टारक महाराजाधिराज-परमेश्वर, उपाधि धारण की और बयाना से 15 मील पश्चिम-दक्षिण में त्रिभुवनगिरिदुर्ग (त्रिभुवनगढ़, तिहुनगिरि, ताहणगढ़ या तवनगढ़) नामक सुदृढ़ क़िला पहाड़ के ऊपर निर्माण किया। वह राजा जैनधर्म का परम पोषक था। उसी के समय में जायसवालवंशीय जैनों के एक बड़े दल ने उसके राज्य में आश्रय लिया। उनमें से कुछ को दुर्ग के अन्दर स्थान मिला और उनके वंशज उपरोक्तिया कहलाये। जो दुर्ग के बाहर पर्वत के नीचे बस्ती में रहे वे तिरोक्तिया कहलाये। कहा जाता है

कि एक होनहार जैन युवक के साथ राजा ने अपने वंश की एक राजकन्या भी विवाह दी थी। ये जैसवाल बड़े पुरुषार्थी और प्रभावशाली थे। आसपास के कई राज्यों में राज्यश्रेष्ठि, भन्त्रो आदि पद पाते रहे। कवि तक्ष्मण-जैसे विद्वान् साहित्यकार भी उस काल में उनमें हुए। श्वेताम्बर यतियों का भी इस राजधानी में आना-जाना था और 1044 ई. में उन्होंने वहाँ कोई प्रतिष्ठोत्सव किया था। उक्त दुर्ग और बयाना में उस काल के दिगम्बर जैन-मन्दिरों और मूर्तियों के अवशेष अभी तक प्राप्त होते हैं। त्रिभुवनपाल का पुत्र हरपाल था जिसका पुत्र कोशपाल था। कोशपाल का पुत्र यशपाल इस वंश का अन्तिम राजा रहा प्रतीत होता है। 12वीं शती के अन्त में लगभग मुसलमानों ने बयाना पर अधिकार कर लिया। कालान्तर में बयाना के इन्हीं यादवों के वंशज करौली के राजाओं के रूप में चले आये।

अलवर के बड़गूजर

10वीं से 12वीं शती ई. के मध्य किसी समय बड़गूजर राजा बाघसिंह ने (अलवर के निकट) राजगढ़ नाम का नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था और उसके बाहर बघोला-बाँध का निर्माण करवाया था। यह राजा जैनधर्मानुयायी रहा प्रतीत होता है। उस काल की अनेक जैन-मूर्तियों और मन्दिरों के अवशेष उक्त राजगढ़ के खँडहरों में प्राप्त हुए हैं। सम्भवतः इसी राजगढ़ का अपरनाम राजधनगर था। राजा लक्ष्मीनिवास के राज्यकाल में कुम्भनगर में दुर्गदेव ने 'रिष्ट-समुच्चय' शास्त्र की 1032 ई. में रचना की थी और कुम्भनगर में ही कालान्तर में भीमभूषाल के समय में पं. योगदेव ने 'तत्त्वार्थ सूत्र-सुबोधवृत्ति' की रचना की थी।

श्रावस्ती के ध्वजवंशी राजे

प्राचीन कोसल राज्य की उत्तरवर्ती राजधानी श्रावस्ती (उत्तरप्रदेश के बहराइच जिले का सहेट-महेट) में 9वीं-11वीं शताब्दी में एक जैनधर्मानुयायी वंश का राज्य था, जिसमें सुधन्वध्वज, मकरध्वज, हंसध्वज, मोरध्वज, सुहिलध्वज और हरिसिंहदेव नाम के राजा क्रमशः हुए। यह वंश, सम्भव है सरयूपारवती कलचुरियों (चेदियों) की कोई शाखा हो, अथवा प्राचीन भर-जातीय हो। उन दोनों में ही जैनधर्म की प्रवृत्ति थी। मोरध्वज का उत्तराधिकारी सुहिलध्वज या सुहेलदेव बड़ा वीर और पराक्रमी होने के साथ ही साथ जिनभक्त था। उसने 1033 ई. के लगभग महमूद गज़नवी के पुत्र के सिपहसालार सैयद-मसऊद-शाजी को बहराइच के भीषण युद्ध में बुरी तरह पराजित करके सैन्य समाप्त कर दिया बताया जाता है। स्थानीय लोककथाओं और किंवदन्तियों में वीर सुहेलदेव प्रसिद्ध है और उनसे उसका जैन होना भी प्रकट है। सुहेलदेव का पुत्र हरिसिंहदेव इस वंश का अन्तिम नरेश था, जिसके राज्य का अन्त 1134 ई. के लगभग कन्नौज के गहड़वालों ने कर दिया।

अयोध्या के श्रीवास्तव राजे

उत्तरप्रदेश के अवध आदि पूर्वी भागों में बहुलता के साथ पायी जानेवाली कायस्थों की प्रसिद्ध उपजाति श्रीवास्तव का निवास मूलतः श्रावस्ती नगरी से हुआ बताया जाता है। इनके एक नेता चन्द्रसेनीय श्रीवास्तव त्रिलोकचन्द्र ने 918 ई. में सरयूनदी को पार करके अयोध्या पर अधिकार किया और वहाँ अपना व्यवस्थित राज्य जमाया था। उसके वंशज वहाँ लगभग 300 वर्ष तक राज्य करते रहे। उनके राज्य का अन्त 12वीं शताब्दी के अन्त के लगभग (1294 ई. में) मुहम्मद गोरी के भाई खजूरन शाहजूरन गोरी ने किया। उसी ने अयोध्या का भगवान् ऋषभदेव का प्राचीन मन्दिर ध्वस्त करके उसके स्थान पर मस्जिद बनायी थी। भगवान् आदिदेव ऋषभ के उक्त जन्मस्थान पर, जो 'शाहजूरन का टीला' नाम से प्रसिद्ध है, उक्त भग्न मस्जिद के पीछे भगवान् की टोंक अभी है। श्री पी. कारनेगी (1870 ई.) के अनुसार अयोध्या का यह सरयूपारी श्रीवास्तव राज्य-वंश जैन धर्मानुयायी था। अनेक प्राचीन देहुरे (जिनायतन), जो वर्तमान काल में प्राप्त हैं, वे मूलतः इन्हीं श्रीवास्तव राजाओं के बनवाये हुए थे; यद्यपि इधर उनमें से जो बचे थे उनका जीर्णोद्धार हो चुका है। अवध सप्टेम्बर (1877 ई.) से श्री इस राज्य की पुष्टि होती है और श्री सीताराम कृत अयोध्या के इतिहास में भी लिखा है कि 'अयोध्या के श्रीवास्तव अन्य कायस्थों के संसर्ग से बचे रहे तो मद्य नहीं पीते और बहुत कम मांसाहारी हैं। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि यह लोग पहले जैन ही थे।'।

अवध आदि के भर राजे

जिस काल में श्रावस्ती में ध्वज और अयोध्या में श्रीवास्तव राजाओं का शासन था, उत्तरप्रदेश के पूर्वी जिलों में अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे भर राज्य स्थापित थे। ये भर लोग पुराने भारशिव नागों के वंशज थे, वा अन्य आदिम द्राव्य जातियों की सन्तति में से थे, किन्तु वे वीर, स्वतन्त्रता के उपासक और ब्राह्मण विद्वेषी। राजपूत लोग भी उनसे घृणा करते थे और राजपूतों एवं मुसलमानों ने मिलकर ही अन्ततः 14वीं-15वीं शती तक उनकी समस्त सत्ताओं का अन्त कर दिया। फैजाबाद, रायबरेली, उन्नाव आदि जिलों से भरों के समय की अनेक जिन-मूर्तियाँ मिली हैं। अंगरेज सर्वेक्षक कारनेगी, कनिंघम आदि का भी मत है कि उस काल के ये भर लोग जैनधर्म के अनुयायी थे।

मेवाड़ के गुहिलोत रणा

राजस्थान के मेवाड़ (मेदपाट) प्रदेश की पुरानी राजधानी चित्तौड़ (चित्रकूटपुर) प्राचीन काल में भी एक प्रसिद्ध नगरी थी। आठवीं शती ई. के मध्य तक वहाँ

मौर्यवंश की एक शाखा का राज्य रहा। चित्तौड़ का अन्तिम मौर्य नरेश राहष्यदेव था जो धवलम्पदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी और सम्भवतया उन वीरम्पदेव का ज्येष्ठ भ्राता था जो आगे चलकर श्रीधवल आदि विशाल आगमिक टीकाओं के कला वीरसेन-स्वामी के रूप में प्रसिद्ध हुए। चित्रकूटपुर में निवास करनेवाले एलाचार्य के निकट इन्होंने सिद्धान्त शास्त्रों का अध्ययन किया था और तदनन्तर राष्ट्रकूटों के राज्य के अन्तर्गत वाटनगर में अपना विद्यापीठ बनाया था, जहाँ उन्होंने अपने उक्त महान् ग्रन्थों की रचना की। राष्ट्रकूट दन्तिदुर्ग ने राहष्यदेव को पराजित करके उसकी श्रीवल्लभ उपाधि और श्वेतच्छत्र भी अपना लिये थे। राहष्यदेव निस्तन्तान था, अतएव उसके पश्चात् उसका भानजा बप्पारावल कालभोज उपनाम खोम्भण प्रथम, 730 ई. के लगभग, चित्तौड़ का प्रथम सूर्यवंशी, मुहिलोत एवं सीसौदिया राणा हुआ। उसके समय में चित्तौड़ के एक राजमान्य ब्राह्मण विद्वान् श्वेताम्बर आर्विका याकिनी-महत्तरा के उपदेश से प्रभावित होकर साधु हो गये और हरिभद्रसूरि के नाम से प्रसिद्ध हुए। वहीं इन महान् आचार्य ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं में विविध-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। इसी शती में इस वंश के राजा शक्ति कुमार के समय में चित्तौड़ का सर्वप्रसिद्ध जैन जयस्तम्भ सम्भवतया मूलतः बना था। राजाओं का कुलधर्म शैव था, किन्तु जैनधर्म के प्रति के प्रारम्भ से अन्त तक अत्यन्त उदार और सहिष्णु रहे। कई राजे, राजवंश के कितने ही स्त्री-पुरुष तथा मन्त्री, अमात्य, दीवान्, भण्डारी, सामन्त-सरदार, दण्डनायक एवं अन्य कर्मचारियों में से अनेक जैनी होते रहे हैं। कहा जाता है कि मेवाड़ राज्य में दुर्ग की वृद्धि के लिए जब-जब उसकी नींव रखी जाती थी तो साथ ही एक जैनमन्दिर बनवाने की प्रथा थी। चित्तौड़ के प्राचीन महलों के निकट प्राचीन जिनमन्दिर आज भी खड़े हैं। अनेक जैनमन्दिर मेवाड़ नरेशों ने स्वयं या अपनी अनुमति से बनवाये और कितने ही जिनायतनों आदि के लिए दान दिये। मेवाड़ के सुप्रसिद्ध जैनतीर्थ कैसरियानाथ ऋषभदेव को जैन ही नहीं, शैव, वैष्णव और भील लोग भी आज तक पूजते आते हैं। सूर्यास्त के उपरान्त भोजन करना राज्य-भर में सजाझा द्वारा मना था। जैन साधु-साध्वियों का राज्य में निर्बाध विहार होता रहा है। यह राजवंश अनेक उत्थान-पतनों के बीच से होता हुआ वर्तमान पर्यन्त चला है और मध्यकाल में तो बहुधा राजपूत राज्यों का शिरमौर रहा है। मेवाड़ के राहड़पुर एवं नलोटकपुर के निवासी सेठ नेमिकुमार बड़े धर्मात्मा, विद्वान्, दानी और यशस्वी थे। उन्होंने नेमिनाथ एवं पार्श्वनाथ के दो मन्दिर बनवाये थे। उनके बड़े भाई राहड़ ने 22 जिनमन्दिर बनवाये थे। नेमिकुमार के पुत्र वाग्भट ने 12वीं शती में 'छन्दोगनुशासन' की रचना की थी।

हथूण्डी के राठौड़ राजे

राजस्थान के हथूण्डी (हस्तिकुण्डी) नामक नगर में 10वीं शताब्दी में राठौड़वंशी जैन धर्मानुयायी राजपूत राजाओं का शासन था। सम्भवतः ये राठौड़ क्षत्रियों का ही है। के राष्ट्रकुटों की ही किसी शाखा से सम्बन्धित थे। दसवीं शती के प्रारम्भ में हथूण्डी का राठौड़नरेश विदग्धराज जैनधर्म का परम भक्त था। उसने 916 ई. में अपनी राजधानी हथूण्डी में तीर्थंकर ऋषभदेव का विशाल मन्दिर बनवाया था और उसके लिए पुष्कल भूमिदान किया था। उसके गुरु बलभद्र या वासुदेवसूरि थे। इस राजा ने स्वयं को स्वर्ण से तुलवाकर वह सारा सोना उक्त मन्दिर एवं स्वगुरु को दान कर दिया था। उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज मम्मट ने भी 939 ई. में उक्त जिनालय के लिए विपुल द्रव्य दान किया था और उसने अपने पिता द्वारा प्रदत्त दान-शासन की भी पुष्टि की थी। मम्मट का पुत्र महाराज घवल भी परम जिनभक्त था। उसने 997 ई. में उपर्युक्त मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया। उसमें भगवान् ऋषभदेव की एक नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की और उसके लिए दान दिया था। इस राजा के गुरु वासुदेवसूरि के शिष्य शान्तिभद्रसूरि थे और किन्हीं सुराचार्य ने उसकी दान-प्रशस्ति लिखी थी। जैनधर्म की प्रभावना के लिए इस नरेश ने अन्य भी अनेक कार्य किये थे।

अर्यणा का भूषण सेठ

राजस्थान के स्थानि प्रदेश में तलपाटक नाम का सुन्दर नगर था। वहाँ नागरवंश के तिलक, अशेष-शास्त्राम्बुधि, जिनकी अस्थि-मज्जा जैनेन्द्राम की वासना के रसामृत से ओत-प्रोत थी, ऐसे अम्बर नाम के गृहस्थ वैद्यराज थे जो संयमी एवं देशव्रती थे। वह षट्पञ्चायश्यक कर्मों का निष्ठापूर्वक पालन करते थे। उनकी उपासना के फलस्वरूप उन्हें चक्रेश्वरीदेवी सिद्ध हो गयी थी, जिसके प्रताप से उन्होंने अनेक चमत्कारी इलाज किये थे। उनके सुपुत्र पापाक विमल बुद्धिवाले, श्रुत के रहस्य के ज्ञाता, सम्पूर्ण आयुर्वेद में पारंगत और अनुकम्पापूर्वक विभिन्न रोगों से पीड़ित रोगीजनों को मीरोग करने में दक्ष थे। उनके आलोक, साहस और लल्लुक नाम के तीन शास्त्र-विशारद सुपुत्र हुए। उनमें ज्येष्ठ आलोक सड्ड विषद प्रज्ञा से भासमान, सकल इतिहास एवं तत्त्वार्थ के ज्ञाता, संवेग आदि गुणों के सम्यक् प्रभाव की अभिव्यक्ति, दानी, अपने परिवार के आधार, साधुसेवी, सबको आनन्द देनवाले, भोगी और योगी एक साथ थे। वह मधुरान्वयरूपी आकाश के सूर्य तथा अपने व्याख्यानों से समस्त सभाजनों का रंजन करनेवाले श्री छत्रसेनगुरु के चरणारविन्द के अनन्य भक्त थे। इन आलोक की प्रशस्त अमल शीलवती हेला नाम की श्रेष्ठ धर्मपत्नी थी और उससे उनके नव-विवेकवन्त तीन पुत्ररत्न उत्पन्न हुए, जिनके नाम

क्रमशः बाहुक, भूषण और लल्लाक थे। इनमें पाहुक या बाहुक गुरुजनों के भक्त और ऐसे कुशाग्रबुद्धि थे कि जिनवाणी-विषयक उनके प्रश्नजाल में गणधर भी विमुग्ध हो जायें, और किसी की तो बात क्या? करणानुयोग, चरणानुयोग-विषयक अनेक शास्त्रों में प्रवीण, इन्द्रिय-विषय-त्यागी, दान-तत्पर, शमनियमितचित्त, संसार से विरक्त और उपासकीय व्रतों के धारी थे। बाहुक की सीडका नाम की पत्नी थी और अम्बट नाम का शुभ लक्षणवाला पुत्र था। बाहुक के छोटे (मझले) भाई संसार प्रसिद्ध भूषण थे जो कल्याण के पात्र, सरस्वती के क्रीड़ागिरि, अमल-बुद्धि, क्षमावल्या-कन्द, सक्रिय कृपा के निलय, कामदेव-जैसे रूपवान् बलिष्ठ, कुबेर के समान सम्पत्तिशाली, विवेकवान्, गम्भीरचित्त, विद्याधर-जैसे, जैनेन्द्रशासन-सरोवर-सजहंस, मुनीन्द्रपाद-कमलद्वय-चंचरीक, अशेष-शास्त्र-सागर में अवगाहन करनेवाले, सीमन्तिनी-नयन-कैरव-धारुचन्द्र, विदग्ध-जनवल्लभ, सरस-सार-शृंगारवानुदार-चरित, सुभग, सौम्यमूर्ति, सुधी, सबको सुख देनेवाले, भयंकर विपत्ति में भी स्थिरपति रहनेवाले और वैभव के शिखर पर रहते हुए भी अत्यन्त विनीत थे। ऐसे इन याज्ञकीय भूषण की लक्ष्मी और सीली नाम की चरित्रगुण-मूर्धित एवं पतिव्रता दो भार्याएँ थीं। सीली से भूषण के आलोक, साधारण, शान्ति आदि पुत्र हुए जो सुयोग्य, गुरु-देव-भक्त और स्वबन्धु-चिसाब्जविकासमानु थे। भूषण का छोटा भाई लल्लाक नित्य देव-पूजा करनेवाला और अपने माई (भूषण) का आज्ञाकारी था। अपने इस भरे-पूरे परिवार में सांसारिक सुखों का उपभोग करते हुए भूषण सेठ ने चिन्तवन किया कि आयु तो लक्ष-तोहे पर बड़ी जलविन्दु के समान नश्वर है और लक्ष्मी द्विपकार्ण से भी अधिक चंचला है, अतएव शास्त्रों से यह सुनिश्चित रूप से जानकर कि अपने वंश को स्थायी बनाने और परमार्थ साधने का उपाय पृथ्वी का आभूषण हो ऐसा जिनगृह बनाया जाए, भूषण ने उच्छृणक-नगर (डूंगरपुर का अर्धूणा नामक स्थान) में श्री वृषभनाथ भगवान् का भव्य जिनालय निर्माण कराकर वि. सं. 1166 (सन् 1109 ई.) की वैशाख शुक्ल तृतीया (अक्षय तृतीया) सोमवार के दिन उसमें भगवान् की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की। उस समय उक्त प्रदेश पर धाराधिप सिन्धुराज परमार के मण्डलीक कन्ह के पौत्र और चामुण्डराज के पुत्र विजयराज का शासन था, जो स्वयं सम्भवतया परमारवंशीय ही था। श्रावक भूषण की इस प्रशस्ति को बुध कटुक ने तथा भाइल्लवंशी द्विज साकड़ के पुत्र भादुक ने रचा था, बलभी कायस्थ राजपाल के पुत्र सन्धिविग्रहिक-मन्त्री वास्तव ने उसे लिखा (और रजिस्ट्री किया) था, और वैज्ञानिक सूपाक ने उसे उत्कीर्ण किया था।

सिन्ध देश

सिन्ध प्रान्त (अब पाकिस्तान) में गौड़ी-पार्श्वनाथ का प्रसिद्ध जैनतीर्थ था। वहाँ पौरनगर (पाकर) के सोडवंशी राजपूत राजे 10वीं-12वीं शती में जैन थे और

गौड़ी-पार्श्वनाथ उनके कुलदेवता थे। मुलतान (मूलस्थान) नगर भी जैनों का प्रसिद्ध केन्द्र था और आधुनिक युग तक—पाकिस्तान बनने के पूर्व तक बना रहा।

बंगाल

बंगाल में जैनधर्म का गढ़ रहा। सातवीं शताब्दी में चीनी यात्री हेनसांग ने इस प्रान्त के समस्त (व्याघ्रतटी) पुण्ड्रवर्धन, ताम्रलिप्ति आदि स्थानों में अनेक जिनमन्दिर और निर्ग्रन्थ (दिगम्बर जैन) साधु देखे थे। पुण्ड्रवर्धन से प्राप्त प्राचीन खण्डित जिनप्रतिमा, बटर्घाट जिले के सीताकुण्ड के निकट चन्द्रप्रभु और सम्भवनाथ के प्रसिद्ध प्राचीन मन्दिर, टिपरा जिले में कमिल्ला के निकट स्थित मैनावती और लालेमाई की पहाड़ियों में विद्यमान प्राचीन जिनमन्दिरों के भग्नावशेष, बाँकुडा जिले में वर्दमान (वर्धमान) और आतनसोल के मध्य प्राचीन जैन स्तूपों के ऊपर निर्मित ईंटों का सुन्दर बना प्राचीन मन्दिर जिसमें शिवमूर्ति के साथ तीर्थंकर पार्श्व की प्राचीन मूर्ति अब भी विद्यमान है, छोटानागपुर में दुलमी, देवली, सुइसा, पाकबीरा आदि स्थानों में तथा आसपास अनेक प्राचीन जैनमन्दिर, जिनप्रतिमाएँ, यक्ष-यक्षिणियों की मूर्तियाँ आदि, और बंगाल-विहार-उड़ीसा के कई भागों में प्राचीन जैन श्रावकों के वंशज सराकजाति के लोग, उस प्रान्त में प्राचीन काल में जैनधर्म के व्यापक प्रसार के सूचक हैं। बंगदेश के विभिन्न भागों में बिखरे उपर्युक्त जैन अवशेष इसकी सन् के प्रारम्भ से लेकर 10वीं-11वीं शताब्दी पर्यन्त के हैं।

कलिंगदेश

कलिंगदेश (उड़ीसा) अति प्राचीन काल से जैनधर्म का गढ़ रहता आया था। जैन सम्राट् महामेघवाहन ऐल खारवेल के पश्चात् वहाँ लगभग दो-तीन शताब्दियों तक उसके वंशजों का राज्य चलता रहा। इसकी सन् की प्रथम शताब्दी में उनकी दो शाखाएँ, एक कपिलपुर में और दूसरी सिंहपुर में स्थापित थीं, जिनकी आधसी फूट का लाभ उठाकर सातवाहनों ने इस प्रान्त पर अधिकार कर लिया था। दूसरी शती ई. के अन्त के लगभग कलिंग में इक्ष्वाकु वंश का राज्य स्थापित हुआ। लगभग चौथी शताब्दी तक वहाँ जैनधर्म ही प्रधान बना रहा। बौद्ध ग्रन्थ दाशार्कश के अनुसार उक्त शती में हुए कलिंगनरेश गुहाशिव ने जैनधर्म का परित्याग करके बौद्धधर्म अंगीकार किया था और कहा जाता है कि उसने सब निर्ग्रन्थों को देश से बाहर निकाल दिया था। किन्तु निष्कासन अल्पकालीन ही रहा प्रतीत होता है क्योंकि 7वीं शताब्दी में हेनसांग ने कलिंग में जैनधर्म और उसके निर्ग्रन्थ मुनिवों की विद्यमानता का उल्लेख किया है। जैनसाहित्य के अनुसार उस काल में पुरी जिले का केन्द्रीय नगर पुरिय (पुरिमा या पुरी) अपनी 'जीवितस्वामी' प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध था।

लगभग छठी-सातवीं शताब्दी के बाणपुर-शिलालेख से प्रकट है कि उस समय कलिंग के शैलोद्भववंशी नरेश धर्मराज की रानी कल्याणदेवी ने धार्मिक कार्यों के लिए एक जैन मुनि को भूमिदान दिया था। निशीधचूर्णि के अनुसार पूरी एक प्रसिद्ध जलपट्टण (बन्दरगाह) और समुद्री व्यापार का प्रधान केन्द्र था। इसी प्रकार कांचनपुर भी सिंहलद्वीप आदि के साथ व्यापार का प्रमुख केन्द्र था। पाँचवीं-छठी शताब्दी में कलिंगदेश में चार राज्यवंशों का उदय हुआ। पहला पूर्वी-गंगों का था जो कर्णाटक के पश्चिमी गंगों की ही एक शाखा थी। वह वंश किसी-न-किसी रूप में मध्यकाल तक चलता रहा और जैन न होते हुए भी जैनधर्म के प्रति सहिष्णु था। दूसरा वंश तोसलि के भीमकरों का था। कियोँडर का भंजी-राज्य उन्हीं की सन्तति में हुआ। इस राज्य के आनन्दपुर तालुक में नगर से 10 मील दूर वन में सिंगडि और बदखिया नाम की प्राचीन बस्तियाँ हैं, जिनके आसपास वनों और पहाड़ियों में जैन तीर्थंकरों एवं देवी-देवताओं की प्राचीन मूर्तियों, मन्दिरों, स्मारकों, सरोवरों आदि के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। जैन अनुश्रुतियों में वर्णित ऋषितडाग, जो वार्षिक अष्टादिकोत्सव के लिए प्रसिद्ध था, वहीं रहा प्रतीत होता है। तीसरा वंश कौंगद के शैलोद्भव नरेशों का था। इसी वंश के आठवें राजा महाभील धर्मराज की रानी कल्याणदेवी द्वारा जैन मुनियों को दान देने का ऊपर उल्लेख किया गया है। चौथा वंश कलिंगदेशान्तर्गत कोसल के सोमवंशियों का था। इस वंश की प्रथम शाखा ने 4वीं से 6वीं शती पर्यन्त और दूसरी ने छठी से 12वीं शती पर्यन्त राज्य किया। हेनसांग ने अपने वृत्तान्त में इसी वंश के कलिंग-नरेश का वर्णन किया है। अकलंकदेव सम्बन्धी जैन अनुश्रुति का त्रिकलिंगाधिपति हिमशीतल इस वंश का राजा रहा प्रतीत होता है।

राजा हिमशीतल—जैनाचार्य अकलंकदेव के समय (7वीं शती ई. के मध्योत्तर काल) में कलिंगनरेश महाराजाधिराज हिमशीतल था। वह बौद्धों के महायानी सम्प्रदाय का अनुयायी था, किन्तु उसकी राजमहिषी मदनावती परम जिनभक्त थी। एक समय जब वह उड़ीसा के हीरकगुट पर स्थित अपनी उपराजधानी रत्नसंघयपुर में निवास कर रहा था तो कार्तिकी-अष्टादिका निकट थी। महारानी तथा उसके प्रश्रय में स्थानीय जैनों ने पर्व को विशाल रथोत्सव द्वारा समारोहपूर्वक मनाने का विचार किया, किन्तु राजा के बौद्ध गुरु इस कार्य में बाधक हुए। अन्ततः राजा ने निर्णय दिया कि यदि कोई जैन विद्वान् बौद्ध विद्वानों को शास्त्रार्थ में पराजित कर देंगे तो जैनों को अपना उत्सव मनाने और रथ निकालने की अनुमति दे दी जाएगी। रानी तथा अन्य जैनीजन बड़े चिन्तित हुए। उनके सौभाग्य से उसी समय नगर के बाहर उद्यान में महाराष्ट्र के दिग्गज जैनाचार्य भट्टकलंकदेव पधारे थे। रानी के साथ श्रावक लोग तुरन्त उनके दर्शनार्थ वहाँ गये और उनसे अपनी समस्या निवेदन की। आचार्य ने बौद्धों की चुनौती स्वीकार की। हिमशीतल नरेश की राजसभा में यह शास्त्रार्थ शोर-शोर के साथ चला—कोई कहते हैं कि छह महीने तक चला। बौद्धाचार्य घट

में स्थापित तारादेवी की सहायता से शास्त्रार्थ कर रहे थे। अन्त में अकलंकदेव ने तारा का विस्फोट करके बीहड़ों को शास्त्रार्थ में पूर्णतया पराजित किया। राजा बड़ा प्रभावित हुआ और उसने तथा उसके अनेक प्रजाजनों ने जैनधर्म अंगीकार कर लिया। परिणामस्वरूप अनेक छोटे-बड़े राज्यों सम्भवतया सुदूरपूर्व के भारतीय राज्यों एवं उपनिवेशों में चले गये। जैनों ने बड़े उत्साह से यह विजयोत्सव एवं अपना धर्मोत्सव मनाया। आचार्य अकलंकदेव ने वापस स्वदेश पहुँचकर अपने भक्त वातापी के पश्चिमी चालुक्य-नरेश साहसतुंग, सम्भवतया विक्रमादित्य प्रथम (643-680 ई.) को, जैनधर्म की रक्षार्थ क्यों और कैसे उन्होंने यह वादविजय की थी, उसका वर्णन सुनाया था। कलिंगदेश का उपर्युक्त राजा हिमशीतल सोमवंशी त्रिकलिंगाधिपति नगहृद महाभक्तगुप्त चतुर्थ प्रतीत होता है।

कलिंगनरेश उद्योतकेसरी ललाटेन्दु—। ११वीं शताब्दी में कलिंग का प्रसिद्ध जैन नरेश उद्योतकेसरी था जो देशीयगणनीय भट्टारक कुलचन्द्र के शिष्य खल्ल शुभचन्द्र का भक्त एवं गृहस्थ-शिष्य था। उड़ीसा की उदयगिरि-खण्डगिरि की गुफाओं में इस नरेश के राज्यकाल के 5वें वर्ष से 18वें वर्ष तक के कई शिलालेख मिले हैं। उसके 5वें वर्ष के ललाटेन्दुगुफा (या सिन्धराजगुफा) के लेख के अनुसार इस राजा ने सुप्रसिद्ध कुमारीपर्वत पर नष्ट सरोवरों एवं जिनमन्दिरों का पुनर्निर्माण कराके वहाँ 24 तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। उसने खण्डगिरि की नवमुनिगुफा में अपनी-अपनी यक्षियों (शासन-देवियों) सहित दस तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण करायीं, और बारभुजीगुफा में चौबीसों तीर्थंकरों की उनकी पृथक्-पृथक् यक्षियों सहित मूर्तियों अंकित करायीं। हनुमानगुफा में भी प्रायः उसी काल के मूर्तांकन हैं। भुक्तेश्वर मन्दिर की चहारदीवारी की बाहरी रथिकाओं पर उत्कीर्ण तीर्थंकर प्रतिमाएँ भी प्रायः उसी काल की हैं। राजा के गुरु कुलचन्द्र और खल्ल-शुभचन्द्र भी इन्हीं गुफाओं में निवास करते थे। एक लेख में इन शुभचन्द्र के छात्र विजो का भी उल्लेख है। सम्भवतया उड़ीसा (कलिंग) का वह परम जैन नरेश उद्योतकेसरी ललाटेन्दु सोमवंशी ही था।

महाकोसल के कलचुरि राजे

कलिंग के पश्चिमी भाग अर्थात् दक्षिण कोसल, विदर्भ और मध्य-प्रदेश के कुछ भागों से महाकोसल राज्य का निर्माण हुआ था। मगध के नन्द, मौर्य आदि सम्राटों के पश्चात् कलिंग-चक्रवर्ती खारवेल और उसके वंशजों का, तदनन्तर आन्ध्र सातवाहनों का इस प्रदेश पर अधिकार रहा, जिनके उपरान्त वकाटकों का राज्य 3री से 5वीं शती पर्यन्त चला। सम्भवतया वकाटकों के सामन्तों के रूप में ही कलचुरि वंश की, जिसे हैहय या चेति वंश भी कहा गया है, और सम्भव है कि जो चेतिवंशी खारवेल के वंशजों की ही एक शाखा थी, 249 ई. में यहाँ स्थापना हुई। इसी वर्ष

से कलचुरि, चेदि या त्रैकूटक संघों का प्रारम्भ माना जाता है। डाहडमण्डल में त्रिपुरी (मध्यप्रदेश के जबलपुर जिले का तैवर) इन कलचुरियों की प्रधान राजधानी थी। दक्षिण चेदि या दक्षिण कोसल के कलचुरियों की राजधानी रतनपुर (विलासपुर) थी। कलचुरियों की एक शाखा सरयूपारी थी जिसका राज्य मोण्डा-बहाराइच में था। त्रिपुरी का कलचुरि वंश अति प्रतिष्ठित माना जाता था। विभिन्न राजवंशों के नरेश इनके साथ विवाह सम्बन्ध करने में गौरव मानते थे। इस वंश का उत्कर्ष काल 7वीं से 12वीं शताब्दी तक रहा। सातवीं शती में शंकरगण प्रथम इस वंश का प्रसिद्ध राजा था। उसने 623 ई. जैन-तीर्थ कुल्पाकशेख की स्थापना की थी। इस राज्य में जैनधर्म की प्रवृत्ति प्रायः बनी रही। जो राजे जैन नहीं थे, वे भी इस धर्म के प्रति सहिष्णु और उसके दोषों से बचे प्रतीत होते हैं। राजधानी त्रिपुरी (तैवर) के खंडहरों से तथा महाकोसल, विदर्भ आदि के अनेक स्थानों से पूर्वमध्यकाल की अनेक मनोज एवं कलापूर्ण जिनमूर्तियाँ तथा जैनमन्दिरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं। आठवीं शती में लक्ष्मणराज और कोक्कल प्रथम हुए, और 9वीं शती में शंकरगण द्वितीय या शंकिल (878-900 ई.) प्रतापी नरेश था। मुग्धतुंग, प्रसिद्धधवल और रणविग्रह उसके विरुद्ध थे। तदुपरान्त बालहर्ष और युवराज केयूरवर्ष (925-950) हुए। केयूरवर्ष ने रतनपुर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। उसकी पुत्री कुणालदेवी राष्ट्रकूट अमोघ तृतीय से विवाही थी और उसके उत्तराधिकारी लक्ष्मणराज तृतीय की पुत्री बोन्नादेवी चालुक्य तैलप द्वितीय की जननी थी। तदनन्तर शंकरगण तृतीय, युवराज द्वितीय, कोक्कल द्वितीय, गणेशदेव विक्रमादित्य (1015-41 ई.), कर्णदेव (1041-70 ई.), यशःकर्ण (1071-1125 ई.) और गयकर्णदेव (1125-54 ई.) नामक नरेश हुए। गयकर्णदेव भी जैनधर्म का आदर करता था। उसके महासामन्ताधिपति गोल्हणदेव राठौर ने, जो जैनधर्म का अनुयायी था, जलघपुर से 42 मील उत्तर में स्थित बहुरीबन्द के खनुवादेव नाम के प्रसिद्ध जैनतीर्थ की जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। तदनन्तर विजयसिंहदेव कलचुरि (1195 ई.) तो निश्चित रूप से परम जैन था। उसके समय में राज्य एवं राजा का प्रधान धर्म जैन ही था।

कलचुरियों के शासनकाल में महाकोसल प्रदेश में जैनाश्रित शिल्प-स्थापत्य एवं मूर्तिकला का अभूतपूर्व विकास हुआ। इनमें से कोई-कोई जैनकृतियाँ तो सम्पूर्ण तत्कालीन भारतीय कला की उत्कृष्टता का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता रखती हैं। अनेक जैनतीर्थ एवं सांस्कृतिक केन्द्र इस प्रदेश में स्थापित हुए, यथा कुल्पाक, खनुवादेव, रामगिरि, जोगीमारा, कुण्डलपुर, कारंजा, आरंग, एलोरा, अचलपुर, धाराशिव आदि। कारंजा प्राचीन काल से ही एक प्रसिद्ध जैन केन्द्र रहता आया है। अपभ्रंश भाषा के सुप्रसिद्ध जैन महाकवि पुण्ड्रिक इसी प्रदेश के रोहणखेड स्थान के निवासी थे। रायपुर जिले के आरंग नामक स्थान में एक प्राचीन जैन-मन्दिर है, जिसके निर्माता तत्कालीन राजा को राजर्वितुल्य कहा गया है। सम्भवतया वह राजर्षि

खारवेल की सन्तति में उत्पन्न हुआ था। विदर्भ का अचलपुर नगर भी प्राचीन जैन केन्द्र था, जहाँ से 7वीं शती ई. का एक जैन ताम्रपत्र प्राप्त हुआ था। श्वेताम्बराचार्य जयसिंहसूरि ने अपनी 'धर्मोपदेशमाला-वृत्ति' (856 ई.) में लिखा है कि 'इस अचलपुर में दिगम्बर-शैल-श्राम्भार-का भक्त अरिसिंह-बाबक राजा राज्य करता है, जिसने अनेक महाप्रासाद निर्माण कराके उनमें तीर्थकर प्रतिभाएँ प्रतिष्ठापित करायी हैं।' इसी नगर में 987 ई. में जैनकवि धनपाल ने अपना 'धर्मपरीक्षा' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचा था। विदर्भ-नरेश ईल या ऐल (1085 ई.) भी जैनधर्म का अनुयायी और आचार्य अभयदेवसूरि का भक्त था। एलउर (एलोरा) तो और भी पूर्वकाल से जैनतीर्थ रहता आया था। उपर्युक्त 'धर्मोपदेशमाला-वृत्ति' (856 ई.) में ही यह भी लिखा है कि समयज्ञ नामक श्वेताम्बर मुनि भृगुकच्छ से चलकर एलउर नगर आये थे और इस स्थान की दिगम्बर बसही (बसदि या संस्थान) में ठहरे थे। इससे प्रकट है कि इस काल में एक दिगम्बर जैन केन्द्र के रूप में एलोरा की दूर-दूर तक प्रसिद्धि थी। उसके इन्द्रसभा, जगन्नाथसभा आदि गुहामन्दिर उस काल के पूर्व ही निर्मित हो चुके थे। इस प्रकार कलचुरि (चेदि) नरेशों और उनके अधीनस्थ राजाओं, सामन्तों आदि के द्वारा घोषित जैनधर्म पूर्व मध्यकाल में महाकोसल, विदर्भ आदि प्रदेशों में खूब फल-फूल रहा था।

जेजाकभुक्ति के चन्देलवंशी राजे

गुप्त सम्राटों के समय में वर्तमान बिन्ध्यप्रदेश (बुन्देलखण्ड) उनके साम्राज्य की एक प्रसिद्ध भुक्ति (प्रान्त) थी। देवगढ़, खजुराहो आदि उसके प्रमुख नगर थे। इस प्रदेश में कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार नरेशों के सामन्त के रूप में, 831 ई. में नन्नुक चन्देल ने अपने वंश और राज्य की स्थापना की और खर्जुराहक (खजुराहो) को अपनी राजधानी बनाया। चन्देलों का मूल सम्बन्ध चेदि से रहा प्रतीत होता है और इनका उद्गम भर एवं गोंड जातियों से हुआ अनुमान किया जाता है; यद्यपि ये स्वयं को आग्नेय ऋषि और चन्द्र की सन्तान बताते हैं। जो हो, चन्देल राजपूतों का यह राज्य मुसलमान-पूर्व युग के उत्तर भारत के सर्वप्रमुख, समृद्ध एवं शक्तिशाली राज्यों में से था। नन्नुक का उत्तराधिकारी बाक्पति था, जिसके पुत्र जेजा (जयशक्ति, और बेजा) (विजयशक्ति) थे। जेजा के नाम से ही वह प्रदेश जेजाकभुक्ति कहलाया, जिसका विगड़कर जुझौती हो गया। बेजा के बाद रहिल और तदनन्तर हर्ष चन्देल (900-928 ई.) राजा हुआ। इसी के समय से चन्देलों का वास्तविक उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ और सम्भवतया खजुराहो के उन जैन, शैव और वैष्णव मन्दिरों का भी निर्माण प्रारम्भ हुआ जो शनैः-शनैः अगले दो-अढ़ाई सौ वर्ष पर्यन्त बनते रहे और जिनके अवशेषों के कारण खजुराहो विश्व-प्रसिद्ध कलाधाम तथा देशी-विदेशी पर्यटकों का प्रायः सर्वोपरि आकर्षण केन्द्र आज भी बना हुआ है। कहते हैं कि चन्देल काल में

खजुराहो में 84 विशाल मन्दिर बने थे, जिनमें से लगभग आधे छे अब बचे हैं। इनमें श्री जैन-मन्दिरों की संख्या 32 मानी जाती है, किन्तु 22 हो शिखरबन्द हैं और उनमें से भी प्रमुख एवं विशेष दर्शनीय चार हैं—घण्टाई, आदिनाथ, पारसनाथ (जिननाथ) और शान्तिनाथ। इन चारों महान् कलापूर्ण जिन-मन्दिरों का तथा उस स्थान के अन्य अधिकांश जिनालयों का निर्माण हर्ष चन्देल और उसके उत्तराधिकारियों यशोधर्मन् अपरनाम लक्षवर्मन् (925-54 ई.), धंगचन्देल (954-1002 ई.), गण्ड, विद्याधर, कीर्तिवर्मन् और मदनवर्मन् के शासन-कालों में विभिन्न समयों में हुआ। ये सब प्रबल प्रतापी और पराक्रमी तथा कलाप्रेमी नरेश थे। चन्देल राजे प्रायः सब शिवभक्त थे और मनियादेवी उनकी कुलदेवी थी, तथापि वे सर्वधर्म सहिष्णु थे और उनके शासनकाल में जैनधर्म को पर्याप्त प्रश्रय प्राप्त था। धंगचन्देल के प्रथम वर्ष (954 ई.) में ही पाहिल्ल-श्रेष्ठि ने जिननाथ का भव्य भवन बनवाकर उसके लिए प्रभूत दान दिया था। विद्याधर के समय में 1028 ई. में खजुराहो के शान्तिनाथ-मन्दिर में आदिनाथ की विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी थी। कीर्तिवर्मन् के शासनकाल में, 1063 ई. में देवगढ़ में सहस्रकूट-वैद्यालय का तथा 1066 ई. में अहार-मदनपुरा में एक जैनमन्दिर का निर्माण हुआ था और 1085 ई. में बीबतसाह ने खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। कीर्तिवर्मन् के मन्त्री बत्सराज ने 1097 ई. में देवगढ़ का नवीन दुर्ग बनवाकर उसका नाम कीर्तिगिरी रखा था और सम्भवतः उस समय वहाँ कोई जिन-मन्दिर भी बना था। कीर्तिवर्मा के उत्तराधिकारी जयवर्मा के समय में महोबा में, 1112 ई. में, कई जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई थीं। बारहवीं शताब्दी के मध्य में चन्देलनरेश मदनवर्मा भारी निर्माता था। अनेक नगरों, सरोवरों तथा जैन और वैष्णव मन्दिरों का उसने निर्माण कराया था। उसके समय में महोबा में, 1154 ई. में, रूपकार लाखन द्वारा निर्मित नेमिनाथ-प्रतिमा की, उसी शिल्पी द्वारा निर्मित सुमतिनाथ-प्रतिमा की 1156 ई. में तथा एक अन्य प्रतिमा की 1146 ई. में प्रतिष्ठा हुई थी। वहीं 1163 ई. में साहु रत्नपाल के परिवार ने कई प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। सन् 1145 ई., 1158 ई. आदि की जैन-प्रतिमाएँ महोबा से मिली हैं। इस काल में चन्देलों की राजधानी महोबा ही हो चला था। मण्डलिपुर (बुन्देलखण्ड का एक नगर) में महीपति नाम के सेठ के परिवार ने 1151 ई. में नेमिनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, और खजुराहो में 1148 ई. में साहु पाणिधर ने कई मन्दिर और प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। वहीं 1155 ई. में रूपकार कुमारसिंह द्वारा निर्मित वीरनाथस्वामी (भगवान् महावीर) की प्रतिमा प्रतिष्ठित हुई थी और 1158 ई. में साहु सोहो ने सम्भवनाथ का मन्दिर और प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। मदनवर्मा का उत्तराधिकारी परमादिदेव अपरनाम चन्देल परमाल (1165-1203 ई.) इस वंश का अन्तिम महान् नरेश था। जगनिक के आह-खण्ड ने उसे सर्वत्र प्रसिद्ध कर दिया। उसके शासनकाल में भी अनेक

जिनमन्दिर और जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित हुई। राजधानी महोबा में इस कालंजराधिपति परमार्थदेव के शासनकाल के तीसरे वर्ष, 1167 ई. में एक जैन-मन्दिर का निर्माण और प्रतिष्ठा हुई लगती है और 1177 ई. में खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठा हुई थी। अहार-क्षेत्र की तीर्थकर शान्तिनाथ की विशाल मनोज्ञ खड्गासन प्रतिमा की प्रतिष्ठा भी इसी राजा के शासनकाल में 1180 ई. में हुई थी। इस प्रतिमा का निर्माता कुशल रूपकर कापट था। इस नरेश के राज्य में खिलासपुर नगर में आचार्य गुणभद्र ने अपने 'धन्यकुमार-चरित्र' की रचना आचार्य शुभचन्द्र के गृहस्थ-शिष्य लम्ब-कांचुक (लम्बेचू)-वंशी श्रावक बल्लभ के लिए की थी। तेरहवीं शती के उत्तरार्ध में चन्देलराज वीरधर्मनदेव के समय की, 1274-78 ई. की लेखांकित जैन मूर्तियाँ मिलती हैं। अन्ततः मुसलमानों द्वारा चन्देल राज्य का अन्त 1310 ई. के लगभग हो गया। अकेले देवगढ़ में 959 से 1250 ई. तक के डेढ़ दर्जन से अधिक जैन प्रतिमालेख, शिलालेख आदि प्राप्त हुए हैं।

चन्देल नरेशों के शासनकाल में देवगढ़-खजुराहो, महोबा, कालंजर, अजयगढ़, अहार-मदनपुरा, मदनसागरपुर, बानपुर, पपौरा, चन्देरी, दूदाही, चन्दपुरा आदि चन्देल राज्य के प्रायः सभी प्रमुख नगरों में समृद्ध जैनो की बड़ी-बड़ी बस्तियाँ थीं। उनके श्रीदेव, वासवचन्द्र, कुमुदचन्द्र आदि अनेक निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधुओं एवं विद्वान् आचार्यों का राज्य में उन्मुक्त विहार था। अनेक भव्य विशाल जिनमन्दिरों एवं जैन-कलाकृतियों का उक्त स्थानों में निर्माण हुआ। जैनकला के चन्देल-कालीन अवशेष तत्कालीन भारतीय कला के सर्वोत्कृष्ट उदाहरणों में परिगणित हैं और उस काल की कला शैली का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। राज्य के जैनों ने भी उस राज्य की सर्वतोमुखी उन्नति में पूरा योगदान दिया। अनेक उल्लेखनीय जैन निर्माता और धर्मात्मा श्रावक उस काल में हुए।

श्रेष्ठ पाहिल—अपने कुल की कीर्ति को धवल बनानेवाला, दिव्यमूर्ति, सुशील, क्षम-दम-गुणयुक्त, सर्व-सत्त्वानुकम्पी (समस्त प्राणियों पर दयाभाव रखनेवाला), स्वजनों से पूर्णतया सन्तुष्ट या सुजनों को सदा तुष्ट रखनेवाला, चन्देलनरेश धंगराज द्वारा सम्मान-प्राप्त और गुरु श्री वासवचन्द्र महाराज का भक्त एवं गृहस्थ-शिष्य श्रेष्ठ पाहिल (पाहिल्ल)। उसने भगवान् जिननाथ को प्रणाम करके उनके प्रासाद के संरक्षण के निमित्त राजा की सहमतिपूर्वक 954 ई. में पाहिलवाटिका, चन्द्रवाटिका, लघुचन्द्रवाटिका, शंकरवाटिका, पंचायतनवाटिका, आम्रवाटिका और धंगवाटिका नामक सात विस्तृत उद्यानों का दान किया था। दान-शासन के अन्त में भव्य पाहिल्ल ने यह भावना की थी कि कोई भी राजा इस पृथ्वी पर शासन करे, वह पाहिल्ल को अपना दासानुदास समझकर उसके द्वारा प्रदत्त उक्त सात वाटिकाओं की भूमि का संरक्षण करता रहे।

यह शिलालेख खजुराहो के तथाकथित पारसनाथ मन्दिर के द्वार की दाहिनी

और उत्कीर्ण है। यह मन्दिर खजुराहो में स्थित पूर्वी समूह के जैन-मन्दिरों में तीसरा है और उनमें सर्वाधिक विशाल, कलापूर्ण एवं भव्य है। मूलतः यह आदिनाथ भगवान् का मन्दिर था और जिननाथ-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध था। आदिनाथ की मूलनायक प्रतिमा के न रहने पर 1860 ई. में उसके स्थान पर पार्श्वनाथ की मनोहर प्रतिमा स्थापित कर दी गयी थी, जिसके कारण यह पार्श्वनाथ-मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध हो गया। मन्दिर में ऋषभदेव की भगवत्पत्नी चण्डिका की अष्टभुजा, गरुडारूढ़ सुन्दर मूर्ति और ऋषभपुत्र भगवान् बाहुबलि की भी प्रतिमा स्थापित है। द्वार के बायीं ओर चौतीस-यन्त्र उत्कीर्ण है। माहुल, मोहुल, देवशर्मा, जयसिंह और पीषन के नाम भी फ़र्श, दीवारों आदि पर अंकित हैं। ये उस अनुपम मन्दिर के कुशल शिल्पी रहे प्रतीत होते हैं। एक स्थान पर 'आचार्य श्री देवचन्द्र शिष्य कुमुदचन्द्र' अंकित है। इन मुनिराज का उक्त मन्दिर के साथ उस काल में अथवा कालान्तर में घनिष्ठ सम्बन्ध रहा प्रतीत होता है। सम्भव है कि उक्त देवचन्द्र पूर्वोक्त वासवचन्द्र के शिष्य या प्रशिष्य हों और इस संस्थान के परम्परागत आचार्य हों। मन्दिर नं. 25 के द्वार के स्तम्भ पर भी उक्त दोनों मुनियों के नाम इसी प्रकार अंकित हैं। बहुत सम्भव है कि इस महान् मन्दिर का निर्माण स्वयं उक्त श्रेष्ठि पाहिल ने किया हो। इसी मन्दिर के निकट घण्टाई, आदिनाथ और शान्तिनाथ के प्रायः उसी काल के अत्यन्त मनोहर जिनालय हैं।

ठाकुर देवधर—आचार्यपुत्र ठाकुर देवधर और उनके पुत्रों शिवचन्द्र एवं चन्द्रदेव ने 1028 ई. में खजुराहो में शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। लेख शान्तिनाथ-मन्दिर की मूलनायक शान्तिनाथ-प्रतिमा के नीचे अंकित है, अतएव सम्भवतया ये ही लोग उक्त मन्दिर के निर्माता और प्रतिष्ठाता थे।

श्रेष्ठि पाणिधर—गृहपति-अन्वय (गहोई जाति) के श्रेष्ठि पाणिधर और उसके तीन पुत्रों त्रिविक्रम, आल्हण और लक्ष्मीधर नामक श्रेष्ठियों ने खजुराहो में 1148 ई. की माघ वदि 5 के दिन एक श्यामवर्ण की जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। उन्हीं श्रेष्ठि पाणिधर का नाम उसी वर्ष की वहाँ की दो अन्य प्रतिमाओं पर भी अंकित है। ऐसा लगता है कि उन्होंने भी इस नगर में एक भव्य जिनालय निर्माण कराया था। ये लेख खजुराहो के मन्दिर नं. 27 में प्राप्त हुए हैं, वही वह जिनालय होगा।

श्रेष्ठि महीपति—गृहपति (गहोई) वंश के श्रेष्ठि माहुल के पुत्र श्रेष्ठि महीपति और जाल्ह थे। महीपति के पुत्र पापे, कूके, साल्हू, देटू, आल्हू, विवीके और सबपते थे। श्रेष्ठि महीपति ने अपने इस पूरे परिवार सहित 1151 ई. की चैशाख वदि 5 गुरुवार के दिन मण्डलिपुर में नेमिनाथ तीर्थंकर की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। यह प्रतिमा वर्तमान में हीर्निमन म्यूजियम लन्दन में है—1895 ई. में बिककर वहाँ पहुँची थी।

श्रेष्ठि बीबतसाह और सेठानी पद्मावती—इस धर्मात्मा दम्पती ने 1085 ई.

में खजुराहो में एक जिन-प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। यह प्रतिमा घण्टाई मन्दिर में थी। सम्भव है कि उक्त मन्दिर के निर्माण में भी इस श्रेष्ठि-दम्पती का योग रहा हो। यह मन्दिर भी अत्यन्त कलापूर्ण है।

साहु साल्हे—गृहपतिवंशी श्रेष्ठि देवू के पुत्र पाहिल्ल और उसके पुत्र साहु साल्हे थे। साल्हे के पुत्र महागण, महीचन्द्र, श्रीचन्द्र, जितचन्द्र, उदयचन्द्र आदि थे। महाराज मदनदेव के राज्य में 1158 ई. की भाद्र सुदि 5 के दिन साहु साल्हे ने अपने पुत्रों सहित खजुराहो में रूपकार (मूर्तिकार) रामदेव से निर्मित कराके तीसरे तीर्थकर सम्भवनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। श्यामपाषाण में निर्मित यह मूर्ति भी उस स्थान के मन्दिर नं. 27 में प्राप्त हुई है। इस लेख के साहु साल्हे के पिता पाहिल्ल को प्रायः पूर्वोक्त 954 ई. के भव्य पाहिल्ल से अभिन्न समझ लिया जाता है, किन्तु यह दोनों सर्वथा भिन्न व्यक्ति हैं, दोनों के बीच सौ वर्ष से अधिक का अन्तर है। वही संवत् 1215 (अर्थात् 1158 ई.) उसी मन्दिर की एक अन्य श्यामवर्ण पाषाण की आदिनाथ प्रतिमा की चरण-चौकी पर अंकित है और साथ में श्री चारुकीर्ति मुनि और उनके शिष्य कुमारनन्दि के नाम भी। सम्भव है वे मुनिराज प्रतिमा के तथा शायद मन्दिर के भी प्रतिष्ठाचार्य हों।

साहु रत्नपाल—साधु देवगन सांगव्य के पुत्र साधु श्री रत्नपाल ने अपनी भार्या साधा और पुत्रों कीर्तिपाल, अजयपाल, वस्तुपाल और त्रिभुवनपाल के साथ महोबा में 1163 ई. की ज्येष्ठ सुदि अष्टमी रविवार के दिन भगवान् अजितनाथ की तथा एक अन्य जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। सम्भवतया कोई जिनमन्दिर भी बनवाया था। नामों से लगता है कि यह परिवार सुशिक्षित एवं सम्भ्रान्त था।

पाड़ाशाह (भैंसाशाह)—बुन्देलखण्ड में बहुप्रचलित किंवदन्तियों के अनुसार वहाँ 12वीं-13वीं शताब्दी ई. के लगभग एक अग्रवाल जैन धनकुबेर हो गया है जो पाड़ाशाह या भैंसाशाह के नाम से प्रसिद्ध है। उसका मूल नाम क्या था, कोई नहीं जानता। प्रारम्भ में यह व्यक्ति अति साधारण श्रेणी का एक वणिक् था जो अपने पड़े या पाड़े (भैंसे) पर तेल के कुप्पे लादकर गाँव-गाँव जाकर तेल बेचा करता था। कहा जाता है कि एक दिन जब मार्ग के एक जंगल में वह सुस्ता रहा था तो उसने देखा कि उसके भैंसे के खुर की लोहे की नाल सोने की हो गयी है। आश्चर्यचकित हो उसने आसपास खोजा तो उसे उसका कारण, अर्थात् पारस-पथरी मिल गयी। अब क्या था, पारस-पथरी के प्रसाद से वह शीघ्र ही धनकुबेर हो गया। अपने उस भाग्यदूत भैंसे के कारण ही वह भैंसाशाह या पाड़ाशाह कहलाया। अपने अखूट धन का भी उसने सदुपयोग किया। बुन्देलखण्ड प्रदेश के विभिन्न स्थानों में हजार-आठ सौ वर्ष पुराने जो सैकड़ों जैनमन्दिर या उनके अवशेष पाये जाते हैं, प्रायः उन सबके निर्माण का श्रेय उक्त पाड़ाशाह को ही दिया जाता है। वह बड़ा उदार और दानी था। अनेक कूप, बाघड़ी, तड़ाग आदि लोकहित के निर्माण के अतिरिक्त कोई भी

यावक उसके द्वार से खाली हाथ नहीं लौटता था। जितना जो चाहता उसे दे डालता था। अन्त में वह अपने समाप्त न होने वाले धन से ऊब गया और उक्त पारस-पथरी को एक दिन एक गहरी झील में फेंककर सन्तोष को सौंस ली। पाड़ाशतह सम्बन्धी दन्तकथाओं में तथ्यांश कितना है, नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि पारस-पथरीवाली बात जनमानस की कल्पना-प्रसूत हो। किन्तु ऐसा कोई धर्मत्मा, दानी और भारी मन्दिर-निर्माता धनकुबेर अग्रवाल थावक उस काल में और उस प्रदेश में हुआ अवश्य है, भले ही उसका वास्तविक नाम पाड़ासाहु या भैंसाशतह न भी रहा हो। हो सकता है कि खजुराहो के विपुलद्रव्य साध्य मन्दिरों का निर्माता श्रेष्ठ साहिल या अन्य वैसा ही कोई सेठ इस उपनाम से प्रसिद्ध हो गया हो।

गुजरात-सौराष्ट्र

पश्चिम भारत का वह बड़ा भूभाग जो वर्तमान गुजरात राज्य (प्रान्त) के नाम से जाना जाता है, अत्यन्त प्राचीन काल से, कम-से-कम महाभारतकालीन ऋईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि या नेमिनाथ के समय से, जैनधर्म का एक प्रमुख गढ़ रहता आया है। इतिहासकाल में यदुवंशियों के उपरान्त मौर्यों, शक, क्षहसतों और महाक्षत्रपों तथा तदनन्तर कलभी के मैत्रकवंशी राजाओं का यहाँ शासन रहा। शैव, वैष्णव, बौद्ध आदि अन्य धर्म भी यहाँ फले-फूले, साथ ही जैनधर्म की प्रवृत्ति भी जनता में चलती रही। कई एक राजा भी जैन हुए और जो जैन नहीं थे वे भी इस धर्म के प्रति सहिष्णु और उसके प्रश्रयदाता रहे। मैत्रक नरेश शिलादित्य प्रथम (595-615 ई.) आदि के प्रथम में जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण-जैसे जैनाचार्यों ने विपुल साहित्य रचा। सातवीं शती के मध्य के लगभग मैत्रकवंश का अन्त हुआ। उस काल में यह भूभाग सौराष्ट्र के सैन्धव, भड़ौच के गुर्जर, लाट के चालुक्य, सौरमण्डल के वराह, अन्हिलवाड़े के चावड़ा आदि कई छोटे-छोटे राज्यों में बँटा हुआ था। जैनाचार्य जिनसेन के 'हरिवंशपुराण' (783 ई.) के अनुसार उस समय सौरमण्डल में महावराह के पुत्र या पौत्र जयवीर-वराह का शासन था। प्रायः उसी समय से गुर्जर-प्रतिहारों और राष्ट्रकूटों के बीच गुजरात को हस्तगत करने की होड़ लगी, जिसमें राष्ट्रकूट सफल रहे और 8वीं शती के प्रारम्भ से लेकर 10वीं शती के प्रथम पाद पर्यन्त राष्ट्रकूट मोविन्द तृतीय के अनुज इन्द्र के कर्क, ध्रुव, कृष्ण आदि वंशज मान्यखेट के सम्राटों के प्रतिनिधियों के रूप में गुजरात देश के बहुभाग के प्रायः स्वतन्त्र शासक रहे। यह राजे भी जैनधर्म के पोषक थे। जैन सम्राट् अमोघवर्ष प्रथम का चचेरा भाई एवं प्रतिनिधि लाटाधिप कर्कराज-सुवर्णवर्ष जैनधर्म का भक्त था। उसके शासनकाल में नवसारी (नवसारी) में एक जैन विद्यापीठ की स्थापना हुई थी, जिसके अधिष्ठाता दिगम्बरसाचार्य परवादिमल्ल के प्रशिष्य थे। उन्हें उक्त संस्थान के लिए कर्कराज ने अपने 821 ई. के नवसारी ताम्रशासन द्वारा भूमि आदि का प्रभूत दान दिया था।

वलभी के मैत्रकों के उपरान्त गुजरात में जो स्थानीय राज्यवंश उदय में आये उनमें जैनधर्म की दृष्टि से तथा ऐतिहासिक दृष्टि से भी ब्रूडासमाप्त, चापोलकट, चाप या चावड़ा वंश सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है।

वनराज चावड़ा—जयशेखर चापोलकट का पुत्र वनराज गुजरात के चावड़ा वंश एवं राज्य का संस्थापक था। उसने स्वगुरु जैनाचार्य श्रीलगुणसूरि के उपदेश, आशीर्वाद और सहायता से मैत्रकों का उच्छेद करके 745 ई. में अपने राज्य की स्थापना की थी और अन्हिलपुर पादम (अन्हिलवाड़ा) नाम का नवीन नगर बसाकर उसे अपनी राजधानी बनाया था। गुरुदक्षिणा के रूप में वह वनराज ने श्रीलगुणसूरि को अपना पूरा राज्य समर्पित करना चाहा तो उन्होंने उसके बदले में एक सुन्दर जिनमन्दिर बनवाने के लिए राजा से कहा। अतएव राजा ने अपनी राजधानी में पंचासर-पार्श्वनाथ नामक प्रसिद्ध जिनालय बनवाया था। जिनालय के लिए मूलनायक पार्श्व-प्रतिमा पंचासर से लाकर विराजमान की गयी थी, इसी कारण वह पंचासर-पार्श्वनाथ-जिनालय कहलाया। वनराज चावड़ा ने और भी कई जिनमन्दिर बनवाये थे। उसका प्रधान-मन्त्री चम्पा नामक जैन यणिक श्रेष्ठि था, जिसने चम्पानेर नगर बसाया। निम्नय नामक एक अन्य धनवान् जैन श्रेष्ठि ने, जिसे वनराज पितातुल्य मानता था, अन्हिलवाड़ा में भगवान् ऋषभदेव का मन्दिर बनवाया था। इसी निम्नय सेठ का पुत्र लाहोर वनराज का वीर सेनापति था। इस प्रकार स्वयं राजा वनराज चावड़ा के अतिरिक्त उसके राज्य के अधिकांश प्रभावशाली वर्ग, मन्त्री, सेनापति, उच्चपदस्थ कर्मचारी, महाजन और व्यापारी आदि जैन थे। वनराज के उपरान्त योगराज, रत्नादित्य, क्षेमराज, आकडदेव और भूयडदेव अपरनाम सामन्तसिंह नाम के राजा इस वंश में क्रमशः हुए। दसवीं शती ई. के उत्तरार्ध में मूलराज सोलंकी ने इस वंश का अन्त किया। वर्धमान नगर में भी चापवंश की एक शाखा का राज्य था, जिसमें चार-पाँच राजा हुए और गिरनार जूनागढ़ के ब्रूडासमाप्त राजे ती 10वीं से प्रायः 16वीं शती पर्यन्त चलते रहे। इन विभिन्न चावड़ा राज्यवंशों के क्षेत्रों में यद्यपि शैव और शाक्त धर्म भी राज्य-मान्य थे, जैनधर्म ही बहुधा राजधर्म रहा और जो राजे जैनी नहीं हुए, वे भी उसके प्रति सहिष्णु रहे।

अन्हिलवाड़ा का सोलंकीवंश प्राचीन चालुक्यवंश की ही एक शाखा थी, इसीलिए सोलंकी नरेश स्वयं को बहुधा चैलुक्य कहते थे। गुजरात के इतिहास में सोलंकीवंश का सर्वोपरि महत्त्व है। इनके समय में वह देश उन्नति के चरम शिखर पर पहुँचा और एक शक्तिशाली साम्राज्य का रूप लेने में समर्थ हुआ। साथ ही जैन इतिहास को उसने कम-से-कम एक जैन सम्राट्, दर्जनों जैन मन्त्री और वीरसेनानायक, सैकड़ों प्रसिद्ध धनाढ्य श्रेष्ठि, अनेक दिग्गज जैन विद्वान् और चिरस्मरणीय सांस्कृतिक उपलब्धियों प्रदान कीं। सन् 941 ई. में मूलराज सोलंकी ने इस वंश की स्थापना की थी। 974 ई. तक वह प्रायः सम्पूर्ण गुजरात पर अपना

एकाधिकार्य स्थापित करने और चावड़ा राजाओं की राजधानी अन्हिलवाड़न पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाने में सफल हो गया था, जिसके लगभग 20 वर्ष पश्चात् उसकी युद्ध में मृत्यु हुई। जैन न होते हुए भी उसने और उसके वंशजों ने जैनधर्म के प्रति अपने पूर्ववर्ती नरेशों की नीति को ही अपनाया। सोमनाथशिव इस वंश के कुलदेवता, राष्ट्रदेवता और इष्टदेवता थे, किन्तु जिनदेव को भी पूरा सम्मान और मान्यता दी गयी। फलस्वरूप जैन मन्त्रियों, सेनापतियों, दण्डनायकों और योद्धाओं, सेठों और साहूकारों, विद्वानों और कलाकारों ने स्वयं को सोलंकी राज्य की अतुल शक्ति और अपार समृद्धि का मूलधार एवं सृष्टि स्तम्भ निरन्तर चरितार्थ किया। इतिहास ने भी उनकी देन को स्वीकार किया। मूलराज का पुत्र एवं उत्तराधिकारी चामुण्डराज (995-1010 ई.) था, जिसके पुत्र दुर्लभराज ने कुछ मास ही राज्य किया। तदनन्तर दुर्लभराज का पुत्र भीमदेव प्रथम (1010-62 ई.) राजा हुआ, जिसके समय में महमूद गजनवी ने सोमनाथ का विध्वंस किया, और जिसका मन्त्री प्रसिद्ध विमलशाह था। भीमदेव का पुत्र एवं उत्तराधिकारी कणदेव (1063-93 ई.) था और उसका पुत्र सुप्रसिद्ध जयसिंहसिद्धराज (1094-1143 ई.) था। इसका उत्तराधिकारी सुप्रसिद्ध जैन सम्राट् कुमारपाल (1143-1173 ई.) था। तदनन्तर अजयपाल, भीमदेव द्वितीय, मूलराज द्वितीय और त्रिभुवनपाल नामक अपेक्षाकृत पर्याप्त निर्बल नरेश 1174 से 1243 ई. के मध्य हुए। अन्तिम सोलंकी राजा को गद्दी से उतारकर धोलका के सामन्त बीसलदेव ने 1243 ई. में गुजरात के सिंहासन पर अधिकार किया और बघेला (व्यासपत) वंश की स्थापना की। यह स्वयं सोलंकी नरेश भीम द्वितीय के अन्तःपुर-रक्षक लवणप्रसाद नामक जैन अधिकारी का वंशज, सम्भवतया पौत्र था। बघेलों का अन्त 1298 ई. में दिल्ली के मुसलमान सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी ने किया। जैनधर्म और जैनों के प्रति बघेले राजाओं की भी प्रायः वही नीति रही जो उनके पूर्ववर्ती सोलंकी नरेशों की थी।

मन्त्रीवर विमलशाह—श्रीमालजातीय एवं पोरवाडवंशी जैन श्रेष्ठि विमलशाह गुजरात के प्रतापी सोलंकी नरेश भीमदेव प्रथम (1010-1062 ई.) का कृपापात्र एवं स्वाभिभवत अमात्य था। सोलंकीयुग में राजधानी अन्हिलवाड़े का प्रथम नगरसेठ बनने का सौभाग्य विमलशाह को ही प्राप्त हुआ था। वह मात्र एक धनी वणिक् सेठ ही नहीं था, वरन् राजा का एक प्रमुख कुशल मन्त्री भी था और ऐसा प्रचण्ड सेनानायक भी था कि उसने गुजरात की सेना को सिन्धुनद के नीर में तैराकर राजनी की भी सीमा को पददलित किया था। अपने राजा के लिए उसने अनेक भयंकर युद्धों का सफल संचालन किया था। वह वीर योद्धा बड़ा धर्मानुरागी, उदार और दानी भी था। आबू-पर्वत (अर्बुदागिरि) का विश्वविख्यात कलाधाम भगवान् आदिनाथ का मन्दिर, जो विमल-बसहो भी कहलाता है, विपुल द्रव्य व्यय करके 1082 ई. में इस मन्त्रीराज विमल सेठ ने ही बनवाया था।

जयसिंह सिद्धराज—भीम प्रथम का पौत्र और कर्ण सोलंकी का पुत्र एवं उत्तराधिकारी गुजरात का चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज (1094-1143 ई.) बड़ा शक्तिशाली, प्रतापी, धार्मिक, विद्यारसिक, उदार नरेश था। वह महादेव का उपासक था, तो महावीर का भी भक्त था। उसने रुद्रमाल शिवालय बनवाया, तो महावीर-जिनालय भी बनवाया। शैवतीर्थ सोमनाथ का वह रक्षक था, तो जैनतीर्थ शत्रुजय की यात्रा करके उसने उक्त स्थान के आदिनाथ-जिनालय को बारह ग्राम समर्पित किये थे। सिद्धपुर में रामबिहार नामक सुन्दर आदिनाथ-जिनालय तथा गिरनार तीर्थ पर भगवान् नेमिनाथ का मुख्य मन्दिर बनवाने का श्रेय भी इसी राजा को दिया जाता है। वह मन्त्रशास्त्र का भी ज्ञाता था और सिद्ध-चक्रवर्ती कहलाता था। महाराज जयसिंह के शासन के पूर्वार्ध में उसका प्रधान मन्त्री मुंजाल मेहता नामक एक ओसवाल जैन था। वह उसके पिता कर्ण के समय से ही मन्त्रीपद पर आरूढ़ था। राजमाता मीनलदेवी (कर्ण की रानी और जयसिंह की जननी) मुंजाल मेहता को बहुत मानती थी। यह अत्यन्त स्वामिभक्त, कूटनीतिज्ञ, प्रशासनकुशल और युद्ध-विद्या-विशारद था और अपने स्वामी के राज्यविस्तार एवं शक्ति संवर्धन में उसका प्रधान सहायक था। उसके साथी और शिष्य उदयन, शान्तनु, आलिव, पृथ्वीपाल आदि राज्य के कई अन्य जैन मन्त्री राजा जयसिंह के शक्तिस्तम्भ थे। प्रायः ये सब राजनीति-कुशल, प्रशासनपटु वीरयोद्धा थे और साथ ही धनी व्यापारी-व्यवसायी भी थे। उन्होंने राज्यहित के अतिरिक्त अनेक धार्मिक कार्य और निर्माण भी किये थे। मन्त्री पृथ्वीपाल ने आशू के एक मन्दिर (विमलवसहो) में अपने साल पूर्वजों की हाथीनशीन (गजारूढ़) मूर्तियाँ बनवाकर स्थापित की थीं। मन्त्रीराज उदयन ने सोरठ के दुर्धर राजा खेंगार को पराजित करके जयसिंह की चौलुक्य-चक्रवर्ती विरुद्ध दिलाया था और कर्णावती (अहमदाबाद) में एक मध्य जिनालय निर्माण कराकर उसमें 72 बहुमूल्य प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। उदयन मन्त्री के पुत्र आहड, बाहड, अम्बड और सौल्ला भी विचक्षण राजमन्त्री और प्रचण्ड सेनानायक थे। राजा भोज परमार की धारानगरी की भौंति ही जयसिंह सोलंकी ने अपने अन्हिलपाटन को ज्ञान और कला का अनुपम केन्द्र बनाने का निश्चय किया और वहीं एक विशाल विद्यापीठ की स्थापना की। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य 'कलिकालसर्वज्ञ' उपाधिधारी हेमचन्द्रसूरि को उसने अपने आश्रय में होनेवाली साहित्यिक प्रवृत्तियों के नेतृत्व का भार सौंपा। राजा उनका बहुत आदर करता था। कक्कल, वाग्भट, रामचन्द्र, गुणचन्द्र, महेन्द्रसूरि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, वर्धमानगणी, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र, आनन्दसूरि, अमरचन्द्र आदि अनेक जैनगृहस्थ एवं साधु विद्वान् आचार्य के सहयोगी अथवा शिष्य थे। उन सबने राजा से सम्मान प्राप्त किया और संस्कृत एवं प्राकृत भाषा के बीसियों महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की उसके प्रश्रय में रचना की। इस राजा को दार्शनिक शास्त्रार्थ कराने और सुनने का भी चाव था। उनमें से एक स्याद्वादरत्नाकर

के कर्ता श्वेताम्बराचार्य देवसूरि और कल्याणमन्दिर स्तोत्र के रचयिता कर्णाटक के दिगम्बराचार्य कुमुदचन्द्र के मध्य जयसिंह सिद्धराज की राजसभा में ही शास्त्रार्थ हुआ था। इसमें सन्देह नहीं कि चौलुक्य-चक्रवर्ती सिद्धराज जयसिंह का शासनकाल गुजरात के इतिहास का स्वर्णयुग था और उसे वह रूप देने का प्रधान श्रेय उसके आश्रित जैन मन्त्रियों, सेनापतियों, सेठों, कलाकारों, विद्वानों और साधुओं को है। हेमचन्द्राचार्य ने इस राजा के लिए सिद्धहेम-शब्दानुशासन नामक प्रसिद्ध व्याकरण की रचना की थी। उसने उन्हें 'कलिकालसर्वज्ञ' की, उनके शिष्य नाट्यकार रामचन्द्रसूरि को 'कविकटारमल्ल' की, आनन्दसूरि को 'व्याघ्र-शिंशुक' की और अम्बरचन्द्रसूरि को 'सिंहशिंशुक' की उपाधियाँ प्रदान करके सम्मानित किया था।

सम्राट् कुमारपाल सोलंकी (1143-73 ई.)—जयसिंह सिद्धराज के कोई पुत्र नहीं था, केवल एक पुत्री कांचनदेवी थी जो सपादलक्ष (सौंभर-अजमेर) के चौहान नरेश अर्णोराज के साथ विवाही थी और जिसका पुत्र सोमेश्वर उपनाम चाहड था। अपनी मृत्यु के समय इस चाहड को ही जयसिंह ने अपना दत्तकपुत्र एवं उत्तराधिकारी घोषित कर दिया था। किन्तु राजमन्त्रियों का बहुमत, आचार्य हेमचन्द्र और राजपुरोहित देवश्री कुमारपाल के समर्थक थे, अतः राज्यसिंहासन उसे ही प्राप्त हुआ। वह भीमदेव की उपात्नी चौला नामक नर्तकी से उत्पन्न क्षेमराज का प्रपौत्र, देवप्रसाद (देवपाल या हरपाल) का पौत्र और त्रिभुवनपाल का ज्येष्ठ पुत्र था। राजा का ज्येष्ठ पुत्र होते हुए भी क्षेमराज अपने सौतेले अनुज कर्ण को राज्य देकर तपस्वी हो गया था। और उसका पुत्र देवपाल कर्ण की मृत्यु होने पर जीते जी चिता में प्रवेश कर गया था। उसका पुत्र त्रिभुवनपाल जो जयसिंह का भतीजा लगता था, बड़ा राज्यभक्त, सदाचारी और नीतिपरायण क्षत्रिय वीर था। राजा भी उसका आदर करता था, किन्तु अपने जीवन के अन्तिम पाद में उससे रुष्ट हो गया था और कहते हैं कि उसने त्रिभुवनपाल की हत्या करा दी थी तथा कुमारपाल की भी हत्या कराने का प्रयत्न किया था। त्रिभुवनपाल की पत्नी कश्मीरादेवी थी, जिससे उसके कुमारपाल आदि तीन पुत्र और प्रमिला एवं देवल नाम की दो पुत्रियाँ हुई थीं। प्रमिला का विवाह जयसिंह के एक दण्डनायक कन्हदेव के साथ हुआ था, जो कुमारपाल के प्रधान सहायकों में से था। कुमारपाल का जन्म अपने पिता की जागीर दधिस्थली (देहली) में 1093 ई. में हुआ था। राज्यवंश में जयसिंह का निकटतम उत्तराधिकारी वही था, किन्तु उसके पिता तथा स्वयं राजा की दीर्घायु के कारण उसे चिरकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ी और जब उसके पिता की भी हत्या करा दी गयी तो राजा की दुरभिसन्धि के कारण उसका जीवन संकट में पड़ गया। उस समय राजधानी के ही अलिंग नामक एक कुम्हार की सहायता से कुमारपाल की जीवनरक्षा हुई और वह भागकर भूमकच्छ चला गया जहाँ खम्भात के राजा केलम्बराज ने उसे आश्रय दिया। तदनन्तर वह पैठन, उज्जैन, खिलौड़ आदि विभिन्न स्थानों में विपन्न अवस्था में कई वर्ष

भटकता रहा। चित्तौड़ में उसकी एक दिगम्बर मुनि, सम्भवतया रामकीर्ति से घेंट हुई, जिसे उसने बहुत ज्ञान और उपदेश ग्रहण किया। अन्ततः वह नमेन्द्रपट्टन में अपने बहनोई कन्हदेव के पास चला गया। इस संकटकाल में उसने बड़े कष्ट सहें, हर समय राजा का भय बना रहता था, यदि कोई सम्बल दे तो वह स्वगुरु हेमचन्द्रसूरि की भविष्यवाणी और आश्वासन तथा अपने सहायकों एवं समर्थकों की सद्-इच्छा में विश्वास ही थे। अन्ततः लगभग 50 वर्ष की आयु में 1143 ई. में कुमारपाल सोलंकी गुजरात के सिंहासन पर बैठा। राज्य प्राप्त करते ही उसने अपने समर्थकों एवं संकटकाल के सहायकों को उदारतापूर्वक सन्तुष्ट किया। महामन्त्री उदयन के सुयोग्य पुत्र बाहड (बाग्भट) को उसने अपना प्रधानमन्त्री बनाया। उदयन के पुत्र आहड, बाहड और अम्बड भी राजा के मन्त्री और सेनानायक बने, केवल छोटा पुत्र सोल्ला व्यापारी हुआ। स्वयं वृद्ध मन्त्रीश्वर उदयन का भी परामर्श उसे प्राप्त रहा—उदयन की मृत्यु उसी के राज्यकाल में 1150 ई. के लगभग हुई थी। अपने रक्षक कुम्भकार अलिंग को कुमारपाल ने अपनी राजसभा का प्रमुख सदस्य बनाया और पुरोहित देवश्री आदि को विपुल द्रव्य प्रदान किया। चित्तौड़ के जिस साजन नामक कुम्भकार ने काँटों के ढेर में छिपाकर उसकी जयसिंह सिद्धराज के सैनिकों से रक्षा की थी, उसके नाम चित्तौड़ प्रदेश के 700 ग्रामों की वार्षिक आय का पट्टा लिख दिया। कुमारपाल की 1150 ई. की चित्तौड़ प्रशस्ति के रक्षयिता दिगम्बरवाद्य जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति मुनि थे। राज्य के प्रथम कुछ वर्ष तो कुमारपाल को अपने विरोधियों, प्रतिद्वन्द्वियों तथा अन्य आन्तरिक एवं बाह्य शत्रुओं से अपना भाग निष्कण्टक करने में बीते, तदनन्तर उसने राज्य एवं शासन को सुसंगठित किया और अपने विजय यात्रा अभियान चलाये। सौंभर के अर्णोराज चौहान, धारा के बल्लालदेव परमार, चन्द्रावती के विक्रमसिंह, भारवाड़ और चित्तौड़ के राजाओं, कोंकण के मल्लिकार्जुन, गोपालपट्टन (गोआ) के कदम्बरराजा इत्यादि अनेक नरेशों को पराजित एवं अपने अधीन करके सम्राट कुमारपाल सोलंकी ने अपने साम्राज्य का दूर-दूर तक विस्तार किया था। उत्तर में तुरुष्क देश (राजस्थानी सुल्तानों के अधीन पश्चिमी पंजाब), पूर्व में गंगातट, पश्चिम में समुद्रतीर और दक्षिण में सह्याद्रि के सुदूर शिखरपर्यन्त गुजरात का ताम्रचूड़-विजयध्वज फहराया। गुर्जर साम्राज्य में अब 18 देश सम्मिलित थे और वह उन्नति के चरम शिखर पर पहुँच गया था। स्वयं महाराज की महत्वाकांक्षा और शूरीरता के अतिरिक्त इस महती सफलता का प्रधान श्रेय उसके जैन मन्त्रियों एवं प्रचण्ड जैन सेनापतियों को था। उदयन-पुत्र अम्बड (आग्भट) उसका प्रधान सेनापति था। शिलाहारनरेश को पराजित करने के उपलक्ष्य में राजा ने उसे शिलाहारों का विशिष्ट विरुद्ध 'राजपितामह' प्रदान किया था। विन्ध्य-अटवी को पददलित करनेवाला और गजयूथों को प्रशिक्षित करके अन्हिलवाड़े की गजसैन्य को अजेय बना देनेवाला, धनुर्विद्या-प्रवीण महादण्डनायक लहर भी जैन

ही था। कुमारपाल के पूरे राज्यकाल में फिर कोई स्वयंक्र या परचक्र का उपद्रव नहीं हुआ, न कोई दुर्भिक्ष ही पड़ा। लक्ष्मी के समान प्रकृति भी देश पर प्रसन्न थी, जिसके कारण उसने अभूतपूर्व, तृप्ति और प्रजा ने अप्रतिम सुख और शान्ति का उपभोग किया। कहते हैं कि प्रायः राज्यप्राप्ति के समय तक कुमारपाल, अकबर की भाँति ही निरक्षर था, किन्तु अपने अध्यवसाय से वह थोड़े ही समय में सुविज्ञ हो गया। ज्ञान-विज्ञान और कला की उसने समय-समय पर अभिवृद्धि हुई और धार्मिकता के प्रवाह में राजा एवं प्रजा ने सुखपूर्वक निमज्जन किया। प्रारम्भ में अन्य सोलहों नरेशों की भाँति उसका भी कुलधर्म शैव और इष्टदेव सोमनाथ-शिव थे। पशुबलि में भी उसका विश्वास था और मद्य-मांस का भी सेवन करता था। रक्तपात करने और विनाशक युद्धों के छेड़ने में उसे कोई हिचक नहीं होती थी। किन्तु आचार्य हेमचन्द्रसूरि के संसर्ग से उसमें शनैः-शनैः सद्धर्म की भावना जाग्रत होने लगी और उनके उपदेशों के प्रभाव से वह जैनधर्म का परम भक्त हो गया। यहाँ तक कि 1159 ई. में उसने प्रकट रूप से जिनधर्म अंगीकार कर लिया। वह चरित्रवान् एवं एक-पत्नी-व्रत का पालक था और उसने श्रावक के व्रत धारण करके 'परम-आर्हत' विरुद्ध प्राप्त किया था। उसने युद्धों से विराम लिया, राज्य में पशु-हिंसा, पशुबलि, शिकार, मद्यपान, जुआ आदि का राजाज्ञा से निषेध किया, मृत्युदण्ड बन्द कर दिया, राज्य-भर में अमीरी घोषणा करा दी, दीन-दुखियों का पालन किया, निस्सन्तान विधवाओं के सत्य की रक्षा की और संघपति बनकर चतुर्विध संघ के साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि धर्म-क्षेत्रों की तीर्थयात्रा की। निर्माता भी ऐसा था कि उसने 1440 नवीन जैनमन्दिरों का निर्माण और 1600 पुराने मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया बताया जाता है। स्वयं अपनी राजधानी की उसने अनेक सुन्दर जमालयों से अलंकृत किया था, जिनमें सर्वोपरि त्रिभुवनपाल-विहार था, जिसे उसने अपने पिता की स्मृति में बनवाया था। विद्वानों की संगति एवं वाद-विवाद, तत्त्वचर्चा आदि में उसे आनन्द आता था। स्वयं आचार्य हेमचन्द्र के पथप्रदर्शन में राजकार्य एवं सांस्कृतिक कार्यों का संचालन होता था। उन्होंने तथा उनके बृहत् शिष्यमण्डल ने प्रभूत साहित्य की रचना की। कई शास्त्र-ग्रन्थों और ग्रन्थ-लिपि-कार्यालय भी स्थापित हुए। अनेक अन्य कवि, चरण, जैनजैन पण्डित और विद्वान्, साधु और तपस्वी उसके राजसभा की शोभा बढ़ाते थे। ब्राह्मण विद्वानों और कवियों ने तथा आधुनिक इतिहासकारों ने भी इस आदर्श एवं सर्वतः सफल जैन नरेश की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। किसी ने उसे राजर्षि कहा है तो किसी ने सम्राट् अशोक महान् से उसकी तुलना की है। श्रेष्ठिक, सम्प्रति, खारवेल और अमोघवर्ष-जैसे महान् जैन सम्राटों के समकक्ष उसे स्थान दिया जाता है। उसकी समस्त दिनचर्या ही अति धार्मिक श्रमणोपासक एवं आदर्श नरेश के उपयुक्त थी। प्रसिद्ध विद्वान् मुनि जिनविजय के शब्दों में "उसका जीवन एक महाकाव्य के समान था जिसमें शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक,

बीभत्स, अद्भुत और शान्त सभी रसों का परिपाक हुआ था। उसकी जीवन-कविता में माधुर्य, ओज और प्रसाद का अद्भुत सम्मिश्रण था। देशत्याग, संकट, सहाय-असहाय, क्षुधा-तृषा, भिक्षायाचन, हर्ष, शोक, अरण्याटन, जीवित-संशय, राज्यप्राप्ति, युद्ध-शत्रुसंहार, विजययात्रा, नीति-प्रवर्तन, धर्मपालन, अभ्युदयारोहण और अन्त में अनिच्छित भाव से भरण इत्यादि एक महाख्यायिका के वर्णन के लिए आवश्यक सभी रसोत्पादक सामग्री उसके जीवन में विद्यमान थी। काव्यमीमांसकों ने काव्य के लिए जो धीरोदात्त नायक की कल्पना की है उसका वह यथार्थ आदर्श था।" गुजरात के ही नहीं, सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में जैन सम्राट् कुमारपाल सोलंकी का विशिष्ट स्थान है। धार्मिक सहिष्णुता भी उसमें ऐसी थी कि यदि शत्रुंजय का संरक्षक था तो सोमनाथ को भी विस्मरण नहीं किया और अपनी गर्वोन्नत राजधानी अम्बिहलपुर में तीर्थंकर पार्श्वनाथ का कुमारविहार-जिनालय बनाया तो उसके निकट शम्भु का कुमारपालेश्वर-शिवालय भी बनवाया। उसके प्रिय गुरुवर हेमचन्द्राचार्य का 1172 ई. में अकस्मात् स्वर्गवास हो गया। यह विद्योम कुमारपाल के लिए असह्य हो गया और छह मास के भीतर ही वह स्वयं भी मृत्यु को प्राप्त हो गया। एक मत के अनुसार आचार्य की मृत्यु के 32 दिन बाद ही स्वयं उसके भतीजे अजयपाल ने विष द्वारा उसकी हत्या कर दी थी। इसी समय से सोलंकी राज्य की अवनति प्रारम्भ हो गयी। कुमारपाल की साध्वी रानी भोपलादेवी थी और एक मात्र सन्तान पुत्री लीलू थी, जिसके पुत्र प्रतापमल्ल को वह अपना उत्तराधिकारी बनाना चाहता था।

अजयपाल बड़ा धर्मविद्वेषी और अत्याचारी था। मन्त्री कापर्दि, कवि रामचन्द्रसूरि, महादण्डनायक अम्बडभट-जैसे कुमारपाल-भक्तों पर उसने भीषण अत्याचार किये। अजयपाल ने अम्बड से कहा कि उसे अपना स्वामी स्वीकार कर ले, तो उस वीर ने उत्तर दिया कि 'इस जन्म में तो अर्हत् भगवान् ही मेरे इष्टदेव, हेमचन्द्र मेरे गुरु और कुमारपाल ही मेरे स्वामी हैं—अन्य किसी व्यक्ति के सम्मुख यह सिर नहीं झुक सकता।' उस वीर ने अन्यायी के सामने झुकने के बजाय मृत्यु पसन्द की। उसके एक जैन मन्त्री यशपाल ने 'मोहपराजय' नाटक लिखा था। एक क्षारपाल ने 1177 ई. में अजयपाल की हत्या कर दी और भीम द्वितीय राजा हुआ।

पण्डित सालिकाहन ठक्कुर—श्री उज्जयन्त तीर्थ (गिरनार) के नेमिनाथ-मन्दिर की दीवार पर अंकित 1158 ई. के एक शिलालेख के अनुसार उक्त वर्ष ठक्कुर भरथ के पुत्र संघवी ठक्कुर सालिकाहन ने, जो एक विद्वान् पण्डित भी थे, शिल्पी जसहड और सावदेव से समस्त जैन देवताओं की प्रतिमाएँ बनवाकर उस वर्ष की चैत्र शुक्ल 8 रविवार के दिन उक्त तीर्थ पर प्रतिष्ठित करायी थीं और नागझरिशिर नामक कुण्ड बनवाकर, उसकी चहारदीवारी भी बनवायी और उसमें कुण्ड की अधिष्ठात्री अम्बिकादेवी की मूर्ति तथा अन्य चार बिम्ब निर्माण कराकर स्थापित किये थे।

सेनापति सज्जन—सोलंकी नरेश भीम द्वितीय का प्रधान सेनापति सज्जन भारी युद्धवीर और साथ ही परम धार्मिक जैन श्रावक था। भीम जब गद्दी पर बैठा तो बालक ही था। अतः उसका और उसके राज्य का वास्तविक संरक्षक यह जैन वीर सज्जन ही था। राजमाता का भी उसपर पूर्ण विश्वास था, जिसे सज्जन के विद्वेषियों की चुगली भी विचलित नहीं कर सकी। सज्जन के त्रिकाल सामायिक का नियम था। युद्धभूमि में हाथी के ऊपर बैठे-बैठे समय पर वह एकाग्रचित्त होकर दो घड़ी अपने इस आध्यात्मिक कृत्य का सम्पादन कर लेता और फिर रणभेरी फूँककर अपने क्षात्रधर्म का पालन प्रचण्डता के साथ करता। उसी के सेनापतित्व में संचालित गुजरात की सेना ने आबू पर्वत की तलहटी में शिहाबुद्दीन गोरी-जैसे प्रचण्ड यवन आक्रमणकारी और विजेता को पराजित करके भगा दिया था। इस तथ्य को मुसलमान इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं। उसके पश्चात् 1195 ई. में कुतुबुद्दीन ऐबक को पराजित करने का श्रेय भी वीर सज्जन को ही है। भीम द्वितीय का अन्तःपुररक्षक लवणप्रसाद भी जैन था जो उसके उत्तराधिकारियों के समय में राज्य का कुछ काल के लिए प्रायः सर्वेसर्वा था (धवलपुरी) इसकी ज़िम्मेदारी जागीर थी।

मन्त्रीश्वर वस्तुपाल-तेजपाल—लवणप्रसाद का पुत्र एवं उत्तराधिकारी धोलका का सामन्त वीरधवल पर्याप्त शक्तिशाली, समृद्ध और प्रभावशाली था। उस राजा के ही मन्त्री ये सुप्रसिद्ध भ्रातृद्वय वस्तुपाल और तेजपाल थे। वे उस पद पर उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी वीसलदेव के समय में भी बने रहे और उसके उपरान्त जय 1243 ई. में इस वीसलदेव बघेले ने अन्तिम सोलंकी त्रिभुवनपाल को गद्दी से उतारकर गुजरात के सिंहासन पर अधिकार कर लिया तब भी अपनी मृत्यु पर्यन्त पूर्ववत् उसके राजमन्त्री बने रहे। गुजरात राज्य के हास एवं अवनति के उस युग में उसके मौरव और प्रतिष्ठा की भरसक सुरक्षा जिन जैन वीरों ने की उनमें यह बन्धुयुगल-वस्तुपाल और तेजपाल, प्रमुख एवं सर्वाधिक स्मरणीय हैं। ये दोनों भाई ओसवाल जातीय धनकुबेर, राजनीति-विशेषज्ञ, भारी युद्धवीर और आदर्श जैन थे। मन्त्रीश्वर वस्तुपाल के गुजरात के स्वराज्य को नष्ट होने से बचाने के लिए अपने जीवन में त्रेसठ बार युद्धभूमि में गुर्जर सैन्य का संचालन किया था। इस प्रचण्ड वीर का स्वधर्माभिमान इतना उग्र था कि एक साधारण जैन याते का अपमान करने के अपराध में उसने स्वयं गुर्जरेश्वर महाराज वीसलदेव के मामा का हाथ कटवा डाला था। वह निर्माता भी अद्भुत था। आबू (दिलवाड़ा) का विश्वविख्यात जैन कलाधाम, भगवान् नेमिनाथ का अष्टितीय मन्दिर उसने 1232 ई. में करोड़ों रुपये के व्यय से बनवाया था। सेरिसा में पार्श्वनाथ का भव्य मन्दिर उसने बनवाया, अन्य अनेक स्थानों में नवीन जिनालय बनवाये और पुरानों का जीर्णोद्धार करवाया था। जैन धर्मावलम्बी के अतिरिक्त उसने सोमनाथ, भृगुक्षेत्र, शुक्लतीर्थ, वैद्यनाथ, द्वारिका,

काशी-विश्वनाथ, प्रयाग और गोदावरी आदि अनेक हिन्दू तीर्थस्थानों की पूजा-अर्चा के निमित्त लाखों रुपये का दान दिया, सैकड़ों ब्रह्मशालाएँ और ब्रह्मपुरियाँ बनवायीं। पण्डितों के लक्षण के लिए स्थान-स्थान में कूप और वापिकारें खुदवायीं, वाटिकाएँ लगवायीं, सरोवर बनवाये, विद्यापीठ स्थापित किये, अनेक ग्रामों की महारदीवारी बनवायी और अरक्षित स्थानों में दुर्गों का निर्माण किया, सैकड़ों शिवालकों का जीर्णोद्धार कराया, वेदपाठी ब्राह्मणों को वर्षाशन दिये, यहाँ तक कि मुसलमानों के लिए भी मस्जिदें बनवायीं और संगमरमर (आरसपत्थर) का एक कलापूर्ण सुन्दर तोरण बनवाकर मक्का-शरीफ भिजवाया। मुनि जिनविजयजी के अनुसार "जैनधर्म का प्रभाव बढ़ाने के लिए जितना द्रव्य उसने व्यय किया था उतना किसी अन्य ने किया हो, ऐसा इतिहास में नहीं मिलता। मध्ययुग के इतिहास में जितने भी समर्थ जैन थावक हो गये हैं, वस्तुपाल उन सबमें महान् थे और जैनधर्म का सर्वश्रेष्ठ प्रतिनिधि थे। अपने धर्म में अत्यन्त घुस्त होते हुए भी अन्य धर्मों के प्रति ऐसी उदारता बरतनेवाला और अन्य धर्मस्थानों के लिए इस ढंग से लक्ष्मी का उपयोग करनेवाला उसके समान अन्य कोई पुरुष भारतवर्ष के इतिहास में मुझे तो दृष्टिगोचर नहीं होता। जैनधर्म ने गुजरात को वस्तुपाल-जैसे असाधारण सर्वधर्मसमदर्शी और महादानी महामात्य का अनुपम पुरस्कार दिया है।" इसके अतिरिक्त वह वीर मन्त्रीश्वर और दानवीर धर्मात्मा भारी पण्डित, विद्वान्, सुकवि, विचारसिक्त और विद्वानों का भारी आश्रयदाता भी था। उसकी सुखद छाया के नीचे उसका निवासस्थान धोलका गुजरात का सर्वमहान् विद्याधाम बन गया था। वस्तुपाल के इस अप्रतिम विद्यामण्डल में राजपुरोहित सोमेश्वर, हरिहर पण्डित, मदन पण्डित, नानाक पण्डित, नाट्यकार सुभट, यशोवीर, अरिसिंह, अमरचन्द्रसूरि, विजयसेनसूरि, उदयसेनसूरि, नरचन्द्रसूरि, बालचन्द्र, जयसिंहसूरि, माणिक्यचन्द्र प्रभृति जैन और अजैन गृहस्थ एवं साधु विद्वान् सम्मिलित थे, जिन्होंने वस्तुपाल के आश्रय में विपुल एवं श्रेष्ठ साहित्य सृजन किया था। यशोधर, सोमादित्य, वैरिसिंह, कमलादित्य, दामोदर, जयदेव, विकल, कृष्णसिंह, शंकरस्वामी आदि अन्य अनेक कवियों को भी वस्तुपाल ने सहस्रों रुपये दान में दिये थे। मन्त्रीश्वर तेजपाल ज्येष्ठ भ्राता वस्तुपाल की छाया थे।

जगड़शाह—वीसलदेव बघेले के शासनकाल में ही, 1257 ई. में जब गुजरात देश में भीषण दुर्भिक्ष पड़ा तो वस्तुपाल और तेजपाल की मृत्यु सम्भवतया उसके पूर्व ही हो चुकी थी, किन्तु तबतक एक और जैन दानवीर उत्पन्न हो चुका था। उसका नाम था—जगड़शाह। इस दयाधर्म के पालक परोपकारी उदार जैन सेठ ने मुक्तहस्त से अन्न और धन वितरण करके असंख्य दुष्काल-पीड़ित गुजरातियों को जीवनदान दिया था। इसके अतिरिक्त जगड़सेठ ने 8000 मूड (स्वर्णमुद्राविशेष) राजा वीसलदेव को, 16,000 मूड हम्मीर को और 21,000 मूड सुल्तान को उक्त दुष्काल में सहायता दी थी, जैसा कि पुरातन-प्रबन्ध संग्रह से विदित होता है।

शाहसमरा और साहिग—पाटण (अन्हिलवाड़ा) के ये जैन बन्धुसुगत बड़े उदार, दानी, धर्मात्मा और धनसम्पन्न सेठ थे। जब 1298 ई. में दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलुगख़ौ और नसरतख़ौ ने गुजरात पर भीषण आक्रमण करके कर्ण बधेले की पराजित किया और उसकी रानी कमलादेवी और पुत्री देवलदेवी को पकड़कर दिल्ली सुल्तान के हरम में पहुँचा दिया, तो गुजरात की वस्तु जनता के सबसे बड़े रक्षक और सहायक यही दोनों जैन सेठ-बन्धु सिद्ध हुए। उक्त प्रलयकारी आक्रमणों के समय आक्रान्त जन-साधारण और धर्म की उन्होंने अतृप्त सेवा की थी। अपने धन और असाधारण राजकीय पहुँच के द्वारा उन्होंने सैकड़ों जैन एवं हिन्दू-मन्दिरों को मुसलमानों द्वारा विध्वंस किये जाने से बचा लिया और नष्ट-भ्रष्ट हुए देवालयों का पुनरुद्धार किया या कराया, सहस्रों लोगों को मुसलमानों के बन्दीखाने से मुक्ति दिलायी और जनता को सर्वप्रकार आश्वासन एवं सहायता प्रदान की थी।

मध्यकाल : पूर्वार्ध (लगभग 1200-1550 ई.)

गजनी के सुल्तान मुहम्मद गोरी द्वारा 1292 ई. में पृथ्वीराज चौहान के और अगले वर्ष जयचन्द गहड़वाल के पूर्णतया पराजित कर दिये जाने के परिणामस्वरूप दिल्ली, अजमेर और कन्नौज पर तुर्कों का अधिकार हो गया और कुछ वर्षों के भीतर दिल्ली को केन्द्र बनाकर पंजाब से लेकर बिहार-बंगाल पर्यन्त बहुभाग उत्तर भारत पर तुर्कों का शासन स्थापित हो गया। अगले लगभग डेढ़ सौ वर्ष पर्यन्त दिल्ली के सुल्तान ही उत्तर भारत तथा बहुभाग दक्षिण भारत में भी सर्वोपरि मुसलमान शासक थे, यद्यपि इस बीच गोरी, गुलाम, खिलजी और तुगलुक नाम के चार वंश परिवर्तन हुए। तदुपरान्त दिल्ली सल्तनत के मालवा, गुजरात, बंगाल, जौनपुर, बहमनी आदि प्रान्तों के सूबेदारों ने अपनी स्वतन्त्र सत्ताएँ स्थापित कर लीं और एक के स्थान में कई मुसलमानी सल्तनतें देश में फैल गयीं। साथ ही चन्दवाड़, ग्वालियर, मेवाड़, विजयनगर आदि की कई शक्तिशाली हिन्दू राज्य शक्तियाँ भी उदित हुईं। यह स्थिति 16वीं शती ई. के मध्य के कुछ बाद तक चली। उपर्युक्त तुर्क सुल्तानों द्वारा अधिकृत एवं शासित प्रदेशों में भारतीय धर्मों और उनके अनुयायियों की शोचनीय स्थिति थी। प्रत्येक व्यक्ति या वर्ग के लिए अपने जान, माल, इज्जत, धर्म और संस्कृति की रक्षा का प्रश्न सतत और सर्वोपरि था। इन विदेशी, विधर्मी, अत्याचारी, निरंकुश शासकों में धार्मिक सहिष्णुता का प्रायः अभाव था। फिर भी यदि हिन्दू, जैन आदि भारतीय जन और उनके साथ उनका धर्म और संस्कृति बचे रहे तो इसलिए कि उन्हें सर्वथा समाप्त कर देना या मुसलमान बना डालना इन शासकों के लिए भी अशक्यानुष्ठान था। दूसरे उनके राजनीतिक और आर्थिक हित में भी नहीं था। अतएव दिल्ली आदि के मुसलमान सुल्तानों द्वारा शासित प्रदेश में होनेवाले उल्लेखनीय जैनों की और उनके द्वारा किये जानेवाले प्रभावक धर्म-कार्यों की संख्या अत्यल्प है। तथापि कतिपय ऐसे महाभाग उस काल एवं उक्त प्रदेशों में भी हुए हैं जिन्होंने अपनी प्रतिभा, योग्यता एवं प्रभाव से प्रतिष्ठा प्राप्त की और जो सुल्तानों द्वारा सम्मानित हुए अथवा जिन्होंने अपने प्रभावक धर्मकार्यों द्वारा अपनी धर्मप्राणता का परिचय दिया।

तत्कालीन हिन्दू राज्यों में जैनों की स्थिति अपेक्षाकृत कहीं अधिक अच्छी रही और किन्हीं में तथा किन्हीं कालों में तो प्रायः सर्वोपरि भी रही।

दिल्ली सल्तनत

1206 ई. में मुहम्मद गोरी की मृत्यु से लेकर 1290 ई. तक गुलाम सुल्तानों का, 1290 से 1320 ई. तक खिलजी सुल्तानों का, 1321 से 1413 ई. तक तुगलकों का, 1414 से 1451 ई. तक सैयदों का, 1451 से 1526 ई. तक लोदी सुल्तानों का, 1526 से 1539 ई. तक मुगल बाबर और हुमायूँ का और 1540 से 1556 ई. तक औरंगजेब का दिल्ली का शासन रहा।

कहा जाता है कि मुहम्मद गोरी ने अजमेर में अपनी बेगम के आग्रह पर एक दिगम्बर जैन साधु, सम्भवतया वसन्तकीर्ति को राजदरबार में बुलाकर सम्मानित किया था और गुलाम सुल्तान गयासुद्दीन बलबन के समय में 1272 ई. में योगिनीपुर (दिल्ली) में ही एक अग्रवाल (अग्रोतक) परम श्रावक ने, जो जिनेन्द्र के चरण कमलों का भक्त था, कुन्दकुन्दाचार्यकृत 'पञ्चास्तिकाय' ग्रन्थ की प्रति लिखायी थी।

बीसलसाहु—पट्टणनिवासी छगे साहु के पौत्र और गुणवान् खेलासाहु के पुत्र थे। यह योगिनीपुर (दिल्ली) के धनी श्रावक थे। इनकी पत्नी का नाम बीरो था। बीसल साहु ने कण्ह के पुत्र ठक्कुर पण्डित उपनाम गन्धर्व-कवि से, जो इन्हीं के आश्रय में रहते थे, पुण्यवन्त विरचित 'यशोधरचरित' सुनाने के लिए कहा, और उसे सुनकर वह इच्छा प्रकट की कि उसमें राजा और कौल का प्रसंग, यशोधर का आश्रयजनक विवाह और भवान्तर भी रचकर सम्मिलित कर दिये जाएँ तो वह चरित्र पूर्ण हो जाय। कवि ने उन्हीं के घर सुख से सुस्थितिपूर्वक रहते हुए वि. सं. 1365 (सन् 1308 ई.) में प्रथम वैशाख की शुक्ल 3 (अक्षयतृतीया) सोमवार के दिन वे तीन प्रकरण रचकर पूर्ण किये और साहु की इच्छापूर्ति की थी। उस समय सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी का शासन था।

सेठ पूरणचन्द—अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल (1296-1316 ई.) में राजधानी दिल्ली के नगरसेठ पूरणचन्द थे जो जाति के अग्रवाल वैश्य और धर्म से दिगम्बर जैन थे। अपनी समाज में भी तथा सुल्तान के दरबार में भी उनका सम्माननीय एवं प्रतिष्ठित स्थान था। 'सुकृतसागर' नामक ग्रन्थ में उनके लिए 'अलाउद्दीन शाखनि मान्य' पद का प्रयोग किया है। राघो (माघो) और चेतन नामक दो नास्तिक दरबारियों की प्रेरणा पर सुल्तान ने दिल्ली के जैनों से कहा कि अपने धर्म की परीक्षा दें। उनके नेता पूरणचन्द ने कुछ व्यक्तियों को तत्कालीन भट्टारक माधवसेन के पास भेजा, जो उस समय दक्षिणपथ में निवास कर रहे थे। दिल्ली के जैनों की प्रार्थना पर आचार्य दिल्ली आये और अपनी विद्वत्ता, शास्त्रार्थ तथा चमत्कारों द्वारा सुल्तान और उसके दरबारियों को प्रभावित किया। उन्होंने दिल्ली

में अपने काष्ठासंग-माधुरगच्छ-पुष्करगण की गद्दी भी स्थापित कर दी, जो तब से लेकर गत शताब्दी के प्रायः अन्त तक बनी रही। आचार्य माधवसेन ने सुल्तान से कई फरमान भी प्राप्त किये थे। इसी समय के लगभग नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाकन्द ने भी दिल्ली में अपना पट्ट स्थापित किया था। सुल्तान का फरमान और सहायता प्राप्त करके सेठ पूरणचन्द दिल्ली और आसपास के जैनों का एक बड़ा संघ गिरनार-तीर्थ की यात्रा के लिए ले गये थे। उसी समय गुजरात के प्रसिद्ध श्वेताम्बर सेठ पेथडशाह भी संसंध गिरनार की वन्दना के लिए पहुँचे। पहले कौन से आम्नायवाले वन्दना करें, इस प्रश्न को लेकर कुछ विवाद हुआ, किन्तु दोनों नेताओं एवं अन्य वृद्धजनों की बुद्धिमत्ता एवं सौजन्य से दोनों दलों ने सद्भावपूर्वक एक साथ तीर्थ-वन्दना की।

पेथडशाह—तत्कालीन गुजरात के एक धनी मानी सेठ थे। वह श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सरकारी फरमान लेकर उन्होंने गिरनार तथा शत्रुंजय आदि अन्य तीर्थों की संसंध यात्राएँ की थीं। रत्नमण्डनगणिकृत 'सुकृतसागर' अन्तर्गत 'पेथडशाह-तीर्थयात्रा-द्वय-प्रबन्ध' में इस श्रावक सेठ की तीर्थ-यात्राओं का वर्णन है।

अलाउद्दीन खिलजी ने भड़ोच के दिगम्बर भुनि श्रुतवीरस्वामी का तथा श्वेताम्बर यति रामचन्द्रसूरि और जिनचन्द्रसूरि का सम्मान किया बताया जाता है। उसके उत्तराधिकारी कुतुबुद्दीन मुबारकशाह खिलजी (1316-20 ई.) को जैनाचार्य जिनप्रभसूरि ने प्रभावित किया बताया जाता है।

सेठ दिवराय—दिल्ली के श्वेताम्बर सेठ दिवराय (दिवराज) ने इसी समय के लगभग राजाजा लेकर संसंध शत्रुंजय की यात्रा की थी और धर्मप्रभावना के कार्य किये थे।

ठक्कुर फेरू—दिल्ली के खिलजी सुल्तानों के शासनकाल में ठक्कुर फेरू नाम के एक जैन शाही रत्नपरीक्षक और सरकारी टकसाल के अध्यक्ष थे। साथ ही वह बड़े विद्वान् और वैज्ञानिक लेखक भी थे। उन्होंने 1290 ई. में 'युगप्रधान-चौपाई,' 1315 ई. में 'रत्नपरीक्षा,' 'द्रव्य-धातु-उत्पत्ति,' 'वास्तुसार-प्रकरण' और 'जोईसार' नामक ग्रन्थों की रचना की थी और उसके उपरान्त भी कई अन्य ग्रन्थ रचे थे।

सूर और वीर—प्राग्वाटकुल में उत्पन्न यह दो जैन भ्राता थे जो बड़े सुकृती, दानी और यशस्वी थे। ये मण्डपदुर्ग (मौड़ू) के निवासी थे। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक (1320-25 ई.) ने इन दोनों भाइयों को प्रतिष्ठित सरदार बनाकर अपने मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित किया था। कहीं-कहीं वीर के स्थान में नानक लिखा है।

श्रावक रघुपति—श्रीमाल जातीय सेठ हंस के पुत्र, दिल्ली निवासी धनी एवं धर्मात्मा श्रावक थे। उन्होंने 1323 ई. में गयासुद्दीन तुगलुक से शाही फरमान प्राप्त करके संसंध तीर्थ-यात्रा की थी, जिसे पूरा करके 5 मास बाद वह दिल्ली लौटे थे।

पाटन के सेठ समराशाह—पाटन गुजरात के ओसवाल जैन सेठ समरशाह

(समरशाह या समरसिंह) उस काल के धनी, प्रभावशाली एवं राज्यमान्य था। खिलजी सुल्तानों के शासनकाल में ही उन्होंने शत्रुंजय तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया था और उनके प्रान्तीय सूबेदार अल्पखाँ की आज्ञा प्राप्त करके एक यात्रा संघ भी निकाला था, जिसकी रक्षार्थ उनकी प्रार्थना पर सूबेदार ने 10 भीर (सैनिक जमादार) उनके साथ कर दिये थे। सुल्तान गयासुद्दीन तुगलुक सेठ समरशाह को पुत्रवत् मानता था और राज्यकार्य से उसने उन्हें तेलिंगाना भेजा था। उसका उत्तराधिकारी मुहम्मद तुगलुक (1325-51 ई.) भी उन्हें भाई-जैसा मानता था, और उसने उन्हें तेलिंगाने का शासक नियुक्त किया था।

साहु बाधू—दिल्ली के एक प्रतिष्ठित जैन सेठ थे। जब मुहम्मद तुगलुक ने 1327 ई. में दिल्ली का परित्याग करके देवगिरि (दौलताबाद) को राजधानी बनाया तो दिल्ली उजाड़ हो गयी। उस समय साहु बाधू भी दिल्ली छोड़कर दफराबाद में जा बसे, जहाँ उन्होंने अनेक शास्त्रों की प्रतिलिपियाँ करायीं और 'श्रुतपंचमी-कथा' (भविष्य-दत्तकथा) स्वयं लिखी और या किसी विद्वान् से लिखाया था।

साहु महीपाल—दिल्ली के अग्रवालवंशी जैन थे, जिनके पुत्रों ने 1334 ई. में महाकवि पुष्पदन्त के 'भुत्तरपुराण' की प्रति लिखवायी थी।

साहु सागिया—मूलतः पाटननिवासी अग्रवाल जैन था और दिल्ली में आकर बस गया था। वह और उसका परिवार सम्पन्न होने के साथ-ही-साथ बड़ा धार्मिक था। राजधानी तुगलकाबाद (दिल्ली) के शाही किले के क्षेत्र में ही दरबार-चैत्यालय नाम का एक जैन-मन्दिर विद्यमान था, जिसके निकट ही साहु सागिया के पुत्र-पौत्रादिक रहते थे। इससे विदित होता है कि यह परिवार प्रतिष्ठित और राज्यमान्य था। इन लोगों ने 1342 ई. में उक्त चैत्यालय में एक महान् पूजोत्सव किया था। उक्त अवसर पर शास्त्रदान के रूप में अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी करायी गयी थीं, जिनका लेखक (लिपिकार) गन्धर्व का पुत्र पण्डित बाहड था। इस परिवार के गुरु काष्ठासंघी आचार्य नयसेन के शिष्य भट्टारक दुर्लभसेन थे, जिनका सुल्तान भी आदर करता था। यह गुरु सम्भवतया उक्त दरबार-चैत्यालय में ही विराजते थे। साहु सागिया और उनके पुत्रों ने विशेषकर पाँच ग्रन्थ सकल संघ के समक्ष विराजमान किये थे।

सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलुक (1325-51 ई.) एक विवादस्पद विचित्र चरित्रवाला निरंकुश किन्तु उदार और विद्याप्रेमी नरेश था। दिल्ली के सुल्तानों में उसका राज्य सर्वाधिक विस्तृत और शक्तिशाली था, किन्तु उसके सनकी स्वभाव, विचित्र योजनाओं एवं अभियानों के कारण उसके मरते ही सल्तनत का हुतवेग से पतन होने लग्न और एक-एक करके सभी प्रान्तीय सूबेदार स्वतन्त्र हो गये। तथापि उस युग की दृष्टि से धार्मिक सहिष्णुता भी उसमें अन्य सुल्तानों की अपेक्षा अधिक थी। अपने शासन के प्रथम वर्ष में ही उसने राज्य के जैनों (सयूरगान या सराओगान,

अर्थात् श्रावकों) के हितार्थ एक फरमान जारी किया था। प्रायः तभी नन्दिसंघ के भट्टारक रत्नकीर्ति के पट्ट पर भट्टारक प्रभाचन्द्र का भारी महोत्सव के साथ पट्टाधिपंक हुआ था और वह दिल्ली पट्टाधीश कहलाये थे, जैसा कि उनके शिष्य कवि धनपाल द्वारा रचित 'बाहुबलिचरित' के उल्लेखों से प्रकट है। उसी में यह भी लिखा है कि इन मुनिराज ने वादियों का मान भंजन करके उक्त मुहम्मदशाह का चित्त अनुरजित किया था। 'विविध तीर्थकल्प' के रचयिता जिनदेवसूरि का भी जिसने उक्त ग्रन्थ दिल्ली में ही 1334 ई. में पूर्ण किया था, सुल्तान ने सम्मान किया था और उन्हें कई फरमान दिये थे, जिनके आधार पर उक्त आचार्य ने हस्तिनापुर, मथुरा आदि अनेक तीर्थों की संव सहित यात्राएँ की थीं और अनेक धर्मोत्सव किये थे। राजदरबार में उन्होंने वादियों के साथ शास्त्रार्थ भी किये बताये जाते हैं। उनके शिष्य जिनदेवसूरि बहुत समय तक राजधानी में रहे और सुल्तान द्वारा सम्मानित हुए थे। यति महेन्द्रसूरि का भी सुल्तान ने सम्मान किया था। जिनदेवसूरि के कहने से सुल्तान ने कन्नाननगर की महाश्वीर-प्रतिमा दिल्ली में मँगायी जो कुछ दिन तुगलकाबाद के शाही खजाने में भी रही, तदनन्तर उपयुक्त देवालय में विराजमान कर दी गयी। एक पोषधशाला भी उस समय दिल्ली में स्थापित हुई थी। सुल्तान की माँ मखदूमजहाँ बेगम भी जैन गुरुओं का आदर करती थी। सुल्तान का कृपापात्र धराधर नामक ज्योतिषी भी सम्भवतया जैन था।

इस सुल्तान का उत्तराधिकारी उसका बड़े भाई फीरोजशाह तुगलक (1351-88 ई.) हुआ। भट्टारक प्रभाचन्द्र को, जो दिगम्बर मुनि थे, इस सुल्तान ने अपने महल में आमन्त्रित किया था। कहा जाता है कि इस अवसर पर उन्हें वस्त्र धारण करने पड़े थे। सुल्तान और बेगमों को दर्शन एवं उपदेश देकर मुनि जब स्वस्थान पर लौटे तो पुनः वस्त्र उतार दिये और उक्त असत्कर्म के लिए प्रायश्चित्त किया। तथापि उत्तर भारत में तभी से वस्त्रधारी भट्टारक प्रथा का प्रारम्भ हुआ कहा जाता है। सुकवि रत्न-शेखरसूरि का भी इस सुल्तान ने सम्मान किया बताया जाता है। मेरठ और टोपरा से यह सुल्तान अशोक-स्तम्भों को उखड़वाकर दिल्ली में ले आया था। उनपर अंकित लेखों को पढ़वाने के लिए उसने जिन विद्वानों को बुलाया था, उनमें ब्राह्मण पण्डितों के अतिरिक्त जैन (सयूरगान) विद्वान् भी थे। उसके समय में दिल्ली में 'भगवती-आराधना-धजिका', 'बृहद्-द्रव्यसंग्रह' आदि कई जैन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ बनी थीं। तुगलकवंश का अन्त 1414 ई. में हुआ और तदनन्तर 1450 ई. तक चार सैयद सुल्तानों ने दिल्ली पर क्रमशः राज्य किया।

साह हेमराज—हिसार निवासी अग्रवाल जैन साह हेमराज दिल्ली के सुल्तान सैयद मुबारकशाह के, जो सैयद खिज्रखाँ के उपरान्त 1421 ई. में गद्दी पर बैठा था, राजमन्त्री थे और काष्ठासंघी भट्टारक यशःकीर्ति के गृहस्थ-शिष्य थे। इन्होंने एक भव्य चैत्यालय का निर्माण कराया था, हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा के लिए एक संघ

चलाया था और स्वयं यशःकीर्ति से 'पाण्डवपुराण' की रचना 1440 ई. में करायी थी। हेमराज के पितामह का नाम जालपुसाहु, पितामही का निउजी, पिता का वील्हासाहु और माता का धेनाही था। पल्हण, सारंग, कउला और वसण उनके चार भाई थे। पल्हण का पुत्र गेल्हण था। हेमराज की पत्नी का नाम देवराजी था और डूंगर, उधरण तथा हंसराज नाम के तीन पुत्र थे। सारा परिवार जिनभक्त और धार्मिक था। जिनधर्म का दिन प्रतिदिन हास होता जा रहा है, यह देखकर गुणवान् मन्त्रीप्रवर हेमराज बड़े चिन्तित रहते थे और इसलिए धर्म के हित में किये जानेवाले कार्यों में आलस्य नहीं करते थे। उनके गुरु भट्टारक यशःकीर्ति तथा इनके ज्येष्ठ भाई (सधर्मा) एवं गुरु मुनि गुणकीर्ति स्वयं विद्वान् और संयमी सन्त थे। उन्होंने स्थान-स्थान में भ्रमण करके जन-सामान्य को धर्म का उपदेश दिया, अनेक ग्रन्थ रचे, पुराने ग्रन्थों की लिपियाँ करायीं और श्रावकों का स्थिरीकरण किया। डूंगर पण्डित, सुरजन पण्डित, पण्डितवर रङ्गू आदि विद्वानों और साह हेमराज-जैसे अनेक धर्मात्मा एवं धनी श्रावकों का उन्हें सहयोग प्राप्त था।

दिउडासाहु—योगिनीपुर (दिल्ली) में भव्यजनों के मन को हरनेवाले, अग्रवाल-कुल-कमल-दिनेश, गुर्गमोत्रीय दिउचन्द (देवचन्द) साहु निवास करते थे। अपने दानगुण के लिए प्रसिद्ध, सत्य और शील की आधार बालुहि नाम की उनकी मार्या थी। उनके चार पुत्रों में ज्येष्ठ यह संघही दिउडासाहु थे। अन्य तीन भाई इमाहि, आसराउ और चोचा साहु थे। दिवचन्द के भाई अम्गलदेव के पुत्र मोल्हण, लखमण और गोविन्द थे और गोविन्द का पितृभक्त पुत्र जिनदास था। दिउडासाहु की पुल्हाही और लाडो नाम की दो पत्नियाँ थीं। लाडो से उनका पुत्र गुणवान् वीरदास था, जिसका पुत्र उदयचन्द था। इस प्रकार यह भगपूरा सम्पन्न एवं जिनभक्त परिवार था। संघही दिउडासाहु ही उस समय परिवार के मुखिया थे। वह पंचपरमेष्ठी के आराधक, जिनेन्द्र की विकाल पूजा करनेवाले, रत्नत्रय के अर्चक, पंचेन्द्रियों को वश में रखनेवाले, पंच-मिथ्यात्व से दूर रहनेवाले, चतुर्विधसंध को दान देने में तत्पर और चतुरानुयोग के शास्त्रों के पठन-श्रवण में रुचि रखनेवाले धर्मात्मा श्रावक थे। सेठ सुदर्शन के साथ उनकी तुलना की जाती थी। उन्होंने अपने कुलगुरु विद्वान् मुनिराज यशःकीर्ति से अपभ्रंश भाषा में 'हरिवंशपुराण' की रचना करायी थी और मुनि ने 1443 ई. में इन्द्रपुर (सम्भवतया अलवर जिले में तिजारा के निकट स्थित) में, जहाँ नवाब जलालख़ाँ का शासन था, उसे पूर्ण किया था। जलालख़ाँ सैयद सुलतानों के अधीन सम्भवतया मेवात का अर्धस्वतन्त्र शासक था।

साहु वील्हा—भायाणदेश (भद्रानक, बयाना) के श्रीपथनगर (बयाना) के अग्रवालवंशी धर्मात्मा श्रावक सेठ थे। उस समय वहाँ औहदीवंशी नवाब दाऊदख़ाँ का शासन था। साहु वील्हा के पिता सेठ लखमदेव की वाल्हाही और महादेवी नाम की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम से खिउसी एवं होलू नाम के दो पुत्र थे और दूसरी से

देवसी, धील्हा, मल्लिदास और कुन्धदास नाम के चार पुत्र थे। यह पूरा परिवार धनी और धर्मात्मा था। साहु धील्हा इनमें प्रमुख थे। वह राज्यमान्य, उदार, दानी और विचारसिक्त थे। उनकी दो पत्नियाँ थीं और तिहुणपाल एवं रणमल नाम के दो पुत्र थे। साहु धील्हा ने मीतलगोत्रीय अग्रवाल जैन संघाधिप सीता के सुपुत्र सुकवि पण्डित तेजपाल से प्रार्थना करके उनसे अपभ्रंश भाषा के 'सम्भवनाथ-चरित' की रचना करायी थी। इन्हीं तेजपाल ने इसी श्रीपथनगर के निवासी खण्डेलवाल साहु जाल्हु के पौत्र और धर्मानुरक्त दयाधन्त सूजा साहु के ज्येष्ठ पुत्र रणमल तथा उसके पुत्र तातलु की प्रार्थना पर 1450 ई. में अपने 'वरांगचरित' की रचना की थी।

गढ़ासाव—दिल्ली के प्रथम लोदी सुल्तान बालोब (1451-85 ई.) के एक उच्चपदस्थ राजकर्मचारी थे। यह मध्यप्रदेश में सागर जिले के निवासी थे और सम्भवतया क्षेत्रीय शासन में किसी पद पर थे। उनके सुपुत्र तारणस्वामी प्रसिद्ध जैन सन्त हुए, जिन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और अपना तारण-पन्थ चलाया। इस पन्थ के अनुयायी समैया जैनी कहलाते हैं और आज भी मध्यप्रदेश के सागर आदि कई जिलों में पाये जाते हैं।

दीवान दीपग एवं संघाधिप कुलिचन्द्र—सुलतान बहलोल के राज्य में पाणीपथदुर्ग (पानीपत) में मीतलगोत्री अग्रवाल साहु चौधरी लौंग थे जो देश-विदेश में दीवान दीपग के नाम से विख्यात थे और चतुर्विधदानदायक थे। उनके पाँच में से तीसरे पुत्र संघाधिप कुलिचन्द्र थे। यह परिवार बहुत बड़ा था, सम्पन्न, राजमान्य और देवशास्त्रगुरु का भक्त था। काष्ठासंधी गुणभद्र उसके आम्नाय-गुरु थे। शुल्लिका जिनमती की प्रेरणा से 1485 ई. में कुलिचन्द्र के भाई इन्द्रराज के पुत्र वरम्भदास ने 'ज्ञानार्णव' की प्रति लिखायी थी। अन्य धर्म-कार्य भी किये गये।

चौधरी देवराज—सुल्तान सिकन्दर लोदी के समय में सिंगल-गोत्री अग्रवाल जैन चौधरी चीमा थे, जो व्यापारियों में प्रमुख थे, राजमान्य थे, देवशास्त्र-गुरुभक्त थे और दुखी जनों का पोषण करनेवाले गुणनिधान थे। कर्णाटक के जैन गुरु विशालकीर्ति ऐसे ही धर्मात्मा श्रावकों के प्रयास से इस सुल्तान द्वारा सम्मानित हुए थे। चौधरी चीमा के पुत्र करमचन्द, अरहदास और चौधरी महण (महणचन्द) थे। महणचन्द की पत्नी खेमाही से प्रसूत चौधरी देवराज का जन्म हुआ था, जो जिनधर्म-धुरन्धर, धर्मनिधि, धनकनकचन-सम्पन्न, अनेक सद्गुणों से युक्त थे और प्रबुद्ध थे। इनकी प्रेरणा से पं. भाणिक्यराज ने 'अमरसेनमुनि-चरित्र' की रचना की थी, जिसे उन्होंने 1519 ई. में पूर्ण किया था।

चौधरी टोडरमल्ल—जैसवाल इक्ष्वाकुवंशी चौधरी जगसी के सुपुत्र इन रायरंजन चौधरी टोडरमल्ल की प्रेरणा से कवि भाणिक्यराज ने 1522 ई. में अपभ्रंश भाषा के अपने 'नागकुमारचरित्र' की रचना की थी। कवि स्वयं जायसवाल कुल में उत्पन्न बुध सूर और उनकी भार्या दीपा के सुपुत्र थे।

संघाधिप साधारण—दिल्लीनिवासी गर्गगोत्री अग्रवाल साहु भीमराज थे, जिन्होंने हस्तिनापुर आदि तीर्थों के लिए संघ चलाया था, अतः संघाधिप कहलाते थे। उनके पंचमेरु के समान पाँच सुपुत्र थे, जिनमें से दूसरे पुत्र ज्ञानचन्द्र थे। इनकी भार्या का नाम शिवरानी था। उन्हीं के सुपुत्र महाभय्य संघाधिप साधारण साहु थे जो कुशल व्यापारी और अति धनवान् होने के साथ-साथ भारी विद्वान् और तीर्थभक्त भी थे। उन्हींने हस्तिनापुर, सम्मेदशिखर, पावापुर, शत्रुंजय आदि तीर्थों की संसंध यात्रा की थी। उनकी प्रेरणा से इल्तुतज के पुत्र कवि महिन्दु (महाचन्द्र) ने शाह बाबर के शासनकाल में दिल्ली में ही, 1530 ई. में 'शान्तिनाथचरित्र' (अपभ्रंश) की रचना की थी। साहु साधारण ने एक जिनालय का भी निर्माण कराया था।

1534 ई. में हुमायूँ के भाई और लाहौर के सूबेदार कामरान ने भावदेवपुरी की सहायता की थी।

वैद्यराज रेखापण्डित—रणस्तम्भ दुर्ग (रणथम्भौर) के निकटस्थ नवलक्षपुर (नालछा) के निवासी एक प्रसिद्ध जैन वैद्यवंश में उत्पन्न हुए थे। उनके पूर्वज हरिपति पण्डित को पद्मावतीदेवी सिद्ध थी और वह फ़ीरोजशाह तुग़लक़ द्वारा सम्मानित हुए थे। उनके सुपुत्र वैद्यराज पदमा पण्डित ने साकम्भरी नगर में एक सुन्दर जिनालय बनवाया था, जिनेन्द्र-पंचकल्याणक-प्रतिष्ठा की थी और मालवा के सुल्तान गयासुद्दीन से बहुत मान्यता प्राप्त की थी। उनके सुपुत्र प्रसिद्ध वैद्यराट् बिंझ दानपूजा में अद्वितीय, सर्वविद्याविदाम्बर थे और उन्हींने मालवा के सुल्तान नसीरुद्दीन से प्रभूत उत्कर्ष प्राप्त किया था। उनके भाई सुहजन विवेकवान्, सर्वजनोपकारी, जिनधर्माचारी और वादिगजेन्द्रसिंह थे। बिंझ के पुत्र सदैवशिरोमणि धर्मदास थे, जिन्हें पद्मावतीदेवी सिद्ध थी और मालवा के सुल्तान महमूदशाह ने बहुमानता प्रदान की थी। उनकी भार्या देवादिपूजारता, दीनोपकारता, सम्यग्दृष्टियुक्ता, सौभाग्यादि-गुणान्विता धर्मश्री थी। इनके सुपुत्र वरगुणनिलय, विविधजननुत, धैर्यमेरु, बुद्धिसिन्धु, प्रतापी, प्रसिद्ध वैद्याधीश रेखापण्डित थे। शेरशाहसूरी के रणथम्भौर आक्रमण के समय (1543 ई. में) रेखापण्डित ने इस सुल्तान की गम्भीर रोग से सफल चिकित्सा करके उससे बड़ा सम्मान प्राप्त किया था। रेखापण्डित की भार्या ऋषित्री से उसके जिनदास नाम का पण्डित एवं धर्मात्मा पुत्र हुआ था। जिनदास की पत्नी जवणादे से उसका पुत्र नारायणदास हुआ जो अपने पितामह (रेखापण्डित) की आँखों का तारा था। जिनदास ने 1551 ई. में नालछा के निकटस्थ सेरपुरे के शान्तिनाथ-चैत्यालय में, जो उसके द्वारा ही प्रतिष्ठापित था, संस्कृत भाषा के 'होली-रेणुका-चरित्र' की रचना की थी। वह मुनि ललितकीर्ति का शिष्य था। इस समय सलीमशाहसूरी का शासनकाल था। इसी सुल्तान के शासनकाल में दिल्ली में पुष्पदन्तकृत (अपभ्रंश) 'आदिपुराण' की अत्यन्त सुन्दर सचित्र प्रति बनी थी जिसमें 535 चित्र हैं और उनमें से अधिकांश

स्वर्णांकित हैं। सलीमशाहसूरी के समय में अन्य अनेक जैन ग्रन्थ-प्रतियाँ दिल्ली एवं अन्यत्र लिखी-लिखायी गयीं।

मालवा के सुल्तान

मालवा की स्वतन्त्र मुसलमानी सल्तनत 1387 ई. से 1564 ई. तक रही। इसकी राजधानी भाण्डू थी। इन सुल्तानों के शासनकाल में कई प्रसिद्ध राजमान्य जैन परिवार हुए हैं, जिनमें से नालछा के वैद्यराज रेखापण्डित के उक्त सुल्तानों द्वारा सम्मानित पुर्यजों का उल्लेख रेखापण्डित के परिचय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

संघपति होलिचन्द्र—त्रिमुचनपाल और अम्बिका का सुपुत्र संघेश्वर साहु होलिचन्द्र बड़ा धन-वैभव सम्पन्न, प्रतापी, उदार, दानशील, गुणवान् और धर्मात्मा सज्जन था। उसने कई जिनमन्दिरों का निर्माण कराया था और धर्मोत्सव किये थे। मूलसंधान्तर्गत नन्दिसंघ-शारदागच्छ-बलात्काराण के भट्टारक पद्मनन्दि के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र का वह भक्त शिष्य था। मण्डपपुर (भाण्डू) के सुल्तान आलमशाह (अलपरखी) उपनाम होशंगा गोरी के शासनकाल में, 1424 ई. में इस संघाधिप होलिसाहु ने देवगढ़ में स्वयं के उपदेश से मुनि वसन्तकीर्ति तथा पद्मनन्दि की और कई तीर्थकरों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। इस कार्य में स्वयं उससे पुत्र-पौत्रादि, साहु देहा के वंशज, गर्गगोत्री अग्रवाल साहु क्षीमा के पुत्र वील्हा और हरु के पुत्र तल्हन आदि अन्य श्रावकों का भी सहयोग था। मालवा में इस काल में दिगम्बर आम्नाय के मन्दी, काष्ठा और सेनसंघों के पृथक्-पृथक् पट्ट विद्यमान थे। देवगढ़ में 1436 ई. में भी एक प्रतिष्ठा हुई थी और 1459 ई. में बम्बराज में मण्डलाचार्य रत्नकीर्ति ने वृहत्पाश्व-जिनालय का जीर्णोद्धार कराकर उसमें दस बसंतिकाएँ कई धर्मात्मा श्रावकों के सहयोग से स्थापित की थीं।

मन्त्रीश्वर मण्डन—मालवा के राजमन्त्रियों के प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न हुआ था। उसका पितामह संघपति झम्पण पाटन के प्रसिद्ध सेठ पेयडशाह का सम्बन्धी था और 14वीं शती के मध्य के लगभग मालवा के सूबेदारों का राजमन्त्री था। वह सोमेश्वर चौहान के मन्त्री, जालौर के सोनगरगोत्री श्रीपाल आपू का वंशज था। उसके पुत्र बाहड और पद्म मालवा के अन्तिम सूबेदार और प्रथम सुल्तान दिलावरखाँ उपनाम शहाबुद्दीन गोरी (1387-1405 ई.) के मन्त्री थे। बाहड का पुत्र यह मन्त्रीश्वर मण्डन सुल्तान होशंगशाह गोरी (1405-32 ई.) का महाप्रधान था। वह बड़ा शासन-कुशल, राजनीतिज्ञ, महान् विद्वान् और साहित्यकार था। इस सर्वविधाविशारद, महामन्त्री ने 'काव्यमण्डन', 'शृंगारमण्डन', 'संगीतमण्डन', 'सारस्वतमण्डन' आदि विविधविषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। मण्डन के चचेरे भाई संघपति धनदराज ने 1434 ई. में 'शतकत्रय' की रचना की थी।

संभवतया सोनीगोत्री खण्डेलवाल धर्मात्मा सेठ थे। उन्होंने 1461 ई. में उज्जैन के निकट मक्सी में भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था जो मक्सी-पार्श्वनाथ-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

गुजरात के सुलतान—गुजरात में उस काल में भी अनेक लक्षाधीश एवं कोट्याधीश जैन व्यापारी और सेठ थे। अनेक जैन बस्तियाँ, मन्दिर और तीर्थस्थान थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का वहाँ प्राधान्य था, किन्तु दिगम्बर लाटबागड़-संघ का भी काफी प्रभाव था और सूरत, सोजित्रा, भड़ौच, ईडर आदि स्थानों में मन्दिसंघ आदि के दिगम्बरी भट्टारकों की गदियों भी स्थापित हो चुकी थीं। अनेक महत्त्वपूर्ण जैनग्रन्थों की, विशेषकर श्वेताम्बर विद्वानों द्वारा वहाँ रचना हुई। कई स्थानों में ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करने का कार्य भी बड़े पैमाने पर होता था। इसी काल में अहमदाबाद के लोकाशाह (1420-76 ई.) नामक एक सुधारक ने लुंकामत या लोकागच्छ की स्थापना की थी जो आगे चलकर जैनों का श्वेताम्बर-स्थानकवासी सम्प्रदाय कहलाया, जो मात्र साधुमार्गी था और मन्दिरों एवं मूर्तियों का विरोध करता था।

संघवी मण्डलिक—ऊकेश्वरवंशीय दरडागोत्रीय ओसवाल शाह आशा और उसकी भार्या सौखू के पुत्र संघवी मण्डलिक ने 1458 ई. में आबू के पार्श्वनाथ-मन्दिर में अम्बिका की मूर्ति और पार्श्वनाथ की चार प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। हीराई और रोहिणी उसकी पत्नियाँ थीं, साजन पुत्र था और जिनचन्द्रसूरि उसके गुरु थे।

संघवी सहसा—पोरवाल जातीय संघवी कुँवरपाल का पौत्र और संघवी साहिक का पुत्र था। उसने अचलगढ़ में, राजा जगमाल के राज्य में 1509 ई. में चतुर्मुख मन्दिर का निर्माण कराके आदिनाथ की पित्तलमय प्रतिमाएँ तपगच्छी मुनि जयकल्याणसूरि से प्रतिष्ठित करायी थीं।

इस काल में पाटन, अहमदाबाद, माण्डू आदि के अनेक ओसवाल श्रावकों ने

आबू, अचलगढ़, देलवाड़ा आदि स्थानों में भिन्न-भिन्न समयों पर सैकड़ों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं, यात्रा-संघ भी चलाये थे।

महासार-नरेश राजनाथदेव

इस राजा के राज्य एवं प्रश्रय में महासारनगर (बिहार प्रान्त के आस नगर के निकटस्थ मसाढ़ या मसार) में 1386 ई. की ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी गुरुवार के दिन काष्ठासंघी मुनि कमलकीर्ति ने एक जिनमन्दिर और आदिनाथ, नेमिनाथ आदि कई तीर्थंकर-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की थी। यह प्रतिष्ठा जैसवालवंशी रंगानाथ (सारंग?) के पुत्र लखणदेव ने करायी थी।

चन्द्रबाह के चौहान नरेश और उनके जैन मन्त्री

आगरा नगर के पूर्व-दक्षिण और ग्वालियर राज्य के उत्तर में, यमुना और यम्बल के मध्यवर्ती प्रदेश में असाईखेड़ा के भरो का राज्य था, जो जैनधर्म के अनुयायी थे। उनके पतन के उपरान्त इस प्रदेश में चन्द्रपाल चौहान ने अपना राज्य जमाया और चन्द्रबाह (चन्द्रपाट) को, जिसके भग्नावशेष आगरा जिले में फीरोजाबाद के निकट पाये जाते हैं, अपनी राजधानी बनाया। उसके अतिरिक्त इस चौहान राज्य में रायबहिय, रपरी, हथिकन्त, शौरिपुर, आगरा आदि कई अन्य नगर या दुर्ग थे। कालान्तर में अटोर, हथिकन्त और शौरिपुर में जैन भट्टारकों की गहिर्यों भी स्थापित हो गयीं। चन्द्रपाल स्वयं जैनी था और उसका दीवान रामसिंह हारुल भी जैनी था। चन्द्रपाल के उत्तराधिकारी भरतपाल और उसका नगरसेठ हल्लण नामक जैन था। तदनन्तर अमथपाल और उसके उत्तराधिकारी जाहड़ के शासनकालों में उक्त हल्लण का पुत्र अमृतपाल राज्य का प्रधानमन्त्री था जो जिनभक्त, सप्तव्यसनविरत, दयालु और परोपकारी था। तदनन्तर अमृतपाल का पुत्र साहु सोड़ मन्त्री हुआ जो जाहड़ और उसके पुत्र बल्लाल के समय में उस पद पर रहा। बल्लाल के उत्तराधिकारी आहवमल्ल (लगभग 1257 ई.) के समय में सोड़ का ज्येष्ठ पुत्र रत्नपाल (रत्हण) राज्य का नगरसेठ था और उसका अनुज कृष्णादित्य (कण्ह) प्रधानमन्त्री एवं सेनापति था। दिल्ली के गुलाम सुल्तानों के विरुद्ध इस जैन वीर ने कई सफल युद्ध किये थे। उसने अनेक जिनमन्दिरों का भी निर्माण कराया था और त्रिभुवनगिरि निवासी जैसवाल वंशी कवि लक्ष्मण (साखू) से अपभ्रंश भाषा में 'अणुव्रतरत्नप्रदीप' नामक धर्मग्रन्थ की रचना 1256 ई. में करायी थी। कवि ने इस धर्मप्राण वीर राजमन्त्री के सद्गुणों की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। कृष्णादित्य का भतीजा शिवदेव भी श्रेष्ठ विद्वान् एवं कलामर्मज्ञ था और अपने पिता रत्नपाल के पश्चात् राज्यसेठ बना था। कई पीढ़ी पर्यन्त राज्यमान्य बना रहनेवाला यह सम्पन्न सेठों और कुडाल राजमन्त्रियों के पूरे परिवार में धर्मधुरन्धर और अपने चौहान राज्य का स्तम्भ था।

इस समय तक सम्भवतया रायवहिय प्रमुख राजधानी रही और चन्द्रवाड उपराजधानी, तदनन्तर चन्द्रवाड ही मुख्य राजधानी हो गयी। कहा जाता है इस नगर (चन्द्रवाड) में 51 जैन प्रतिष्ठाएँ हुई थीं। तदुपरान्त राजा सम्भरिराय का मन्त्री यदुवंशी-जैसवाल जैन साहु जसधर या जसरथ (दशरथ) था और राजा सारंगदेव के समय में दशरथ का पुत्र गोकर्ण (कर्णदेव), जिसने 'सुपकारसार' नामक पाकशास्त्र की रचना की थी, मन्त्री रहा। गोकर्ण का पुत्र सोमदेव राजा अभयचन्द (अभयपाल द्वितीय) और उसके ज्येष्ठ पुत्र एवं उत्तराधिकारी जयचन्द के समय में राजमन्त्री रहा। इसी काल में 1381 (या 1371 ई.) में चन्द्रपाट दुर्गनिवासी महाराजपुत्र रायत गओ के पौत्र और रायत होतमी के पुत्र चुन्नोददेव ने अपनी पत्नी भट्टी तथा पुत्र साधुसिंह सहित काष्ठासंघी अनन्तकीर्तिदेव से एक जिनालय की प्रतिष्ठा करायी थी। जयचन्द के पश्चात् उसका अनुज रामचन्द्र राजा हुआ और उसके प्रधान मन्त्री उपर्युक्त मन्त्री सोमदेव के पुत्र साहु वासाधर थे। उनके छह अन्य भाई थे। मन्त्रीश्वर वासाधर सम्यक्ची, जिनचरणों के भक्त, देवपूजादि-भट्टकर्मों में प्रवीण, अष्टमूलगुणों के पालन में तत्पर, मिथ्यात्वरहित, विशुद्धचित्तवाले, बहुलोक-भिन्न, दयालु, प्रवीण, ज्ञानवान्, अत्यन्त धनी और राजनीति-चतुर थे। चन्द्रवाड में उन्होंने एक विशाल सुन्दर जिनमन्दिर भी बनवाया था और कई का जीर्णोद्धार करवाया था। उनकी भार्या उदयश्री पतिव्रता, सुशीला और चतुर्विधसंघ के लिए कल्पद्रुम थी। उनके जसपाल, रत्नपाल, पुण्यपाल, चन्द्रपाल आदि आठ पुत्र थे जो अपने पिता के समान ही योग्य, चतुर और धर्मात्मा थे। साहु वासाधर ने 1397 ई. में गुजरात देश के पल्लणपुर-निवासी कवि धनपाल से, जो भट्टारक प्रभाचन्द्र के भक्त-शिष्य थे और उन्हीं के साथ तीर्थयात्रा करते हुए चन्द्रवाड आ पहुँचे थे, अपभ्रंश भाषा के 'बाहुबलिचरित्र' की रचना करायी थी और दिल्ली पट्टाचार्य पद्मनन्दि (उक्त प्रभाचन्द्र के पट्टधर) से संस्कृत भाषा के 'श्रावकाचारसारोद्धार' नामक ग्रन्थ की रचना करायी थी। इस ग्रन्थ में वासाधर को लम्बकचक्र (लमेचू) वंश में उत्पन्न हुआ लिखा है। सम्भव है कि प्रारम्भिक जैसवालों की ही एक शाखा इस नाम से प्रसिद्ध हुई हो। इसी काल में चन्द्रवाड में एक अन्य प्रभावशाली धनकुवेर सेठ कुन्धदास थे जो पद्यावती-पुरवाल ज्ञातीय थे। उन्होंने रामचन्द्र और उनके पुत्र रुद्रप्रताप के समय में अपनी अथार सम्पत्ति से राज्य की आड़े वक्रत में प्रशंसनीय सहायता की थी। उन्होंने चन्द्रवाड में एक भव्य जिनालय निर्माण करा के उसमें हीरा, पन्ना, माणिक्य, स्फटिक आदि की अनेक बहुमूल्य प्रतिमाएँ भी प्रतिष्ठित करायी थीं। अपभ्रंश भाषा के ग्वालियर निवासी महाकवि रंझू के प्रशंसकों एवं प्रश्रयदाताओं में उनकी गणना है। कवि ने उनके लिए 'पुण्यास्रवकथा' और 'त्रेसठ-महापुरुष-गुणालंकार' (महापुराण) नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की थी। राजा रुद्रप्रताप द्वारा सम्मानित चन्द्रवाड के एक अन्य धर्मात्मा जैनसेठ साहु तोसड के ज्येष्ठ पुत्र साहु नेमिदास थे। उन्होंने धातु, स्फटिक

और मूंगे (विट्टम) की अनगिनत प्रतिमाएँ बनवाकर प्रतिष्ठित करायी थीं।

इटावा जिले के करहल नगर में भी एक चौहान सामन्त राजा भीजरज का राज्य था, जिसके मन्त्री यदुकंशी अमरसिंह जैनधर्म के सम्पालक थे। उन्होंने 1414 ई. में वहाँ रत्नमयी जिनविम्ब निर्माण कराके महत् प्रतिष्ठास्तप किया था। अमरसिंह की पत्नी कमलश्री और नन्दन, सोणिग एवं लोणा नाम के तीन सुपुत्र तथा चार भाई थे जो सभी धर्मात्मा थे। इनमें से लोणा साहु विशेष रूप से अपने धन का जिनयात्रा, प्रतिष्ठा, विधान-उद्घाटन आदि प्रशस्त कार्यों में सदुपयोग करते थे। वह 'मल्लिनाथ-चरित्र' के कर्ता जयमित्रहल्ल के प्रशंसक थे और 1422 ई. उन्होंने कवि असवाल से अपने भाई सोणिग के लिए भीजरज के पुत्र संसारचन्द (पृथ्वीसिंह) के शासनकाल में 'पार्श्वनाथचरित' की रचना करायी थी।

ग्वालियर के तोमर नरेश

फीरोज़ तुगलक के शासन के अन्तिम वर्षों में उद्धरणदेव तोमर ने ग्वालियर पर अधिकार करके अपना राज्य स्थापित किया था। उसके प्रतापी पुत्र वीरमदेव या वीरसिंह तोमर (1395-1422 ई.) ने राज्य को सुसंगठित करके स्वतन्त्र और शक्तिशाली बनाया। तदनन्तर गणपतिदेव (1422-24 ई.), डूंगरसिंह (1424-60 ई.), कीर्तिसिंह या करणसिंह (1460-78 ई.), मानसिंह (1479-1518 ई.) और विक्रमादित्य नामक राजा क्रमशः हुए। ये राजे धार्मिक, उदार, सहिष्णु और साहित्य एवं कला के प्रेमी थे। ग्वालियर प्रदेश में कच्छपघात राजाओं के समय से ही जैनधर्म का प्राधान्य चला आता था। बीच के अन्तराल में मुसलमानी शासनकाल अन्धकार और अशान्ति का युग था। तोमर राज्य की स्थापना के साथ पुनः पूर्ववत् स्थिति हो गयी। ग्वालियर नगर में काष्ठासंघ के दिगम्बर भट्टारकों का प्रधान पट्ट इस काल में रहा और वहाँ के अधिकांश श्रावक उसी आम्नाय के थे। यों नन्दिसंघ का भी एक पट्ट वहाँ स्थापित हुआ था। उपर्युक्त पट्टों से सम्बन्धित जैन मुनियों ने राज्य के सांस्कृतिक उत्कर्ष साधन में प्रभूत योग दिया। इनमें से यशःकीर्ति प्रभृति कई मुनि तो भारी विद्वान् और साहित्यकार थे और महाकवि रघू, पद्मनाभ कायस्थ, जयमित्रहल्ल इत्यादि कई जैन गृहस्थ विद्वान् तथा सुकवि भी हुए। कुशराज-जैसे राजमन्त्री और पद्मसिंह खेला, कमलसिंह आदि अनेक धनाढ्य धर्मात्मा सेठ हुए। राज्य में अनेक पुराने जिनमन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ और कितने ही नवीन निर्मित हुए। अनेक पुरातन एवं नवीन ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी बड़ी संख्या में करायी गयीं।

मन्त्रीश्वर कुशराज—जैसवाल-कुलभूषण जैन धर्मानुयायी थे और ग्वालियर के तोमर नरेश वीरमदेव के महामात्य थे तथा उसकी राजनीतिक सफलता एवं शक्ति के प्रमुख साधक थे। वह साहु भुल्लण और उदितदेवी के पौत्र तथा सेठ जैनपाल और उनकी भार्या लोणादेव के सुपुत्र थे। हंसराज, सैराज, रैराज और भदराज नाम

के चार बड़े भाई और हंसराज नाम का एक छोटा भाई था। मन्त्रीराज कुशराज की रत्नी, लक्षणश्री और कौशेरा नामक तीन पत्नियाँ थीं जो सती-साध्वी, गुणवती, जिनपूजानुरक्त धर्मात्मा महिलाएँ थीं। रत्नी से कुशराज के कल्याणसिंह नाम का

कुशराज ने ग्वालियर में चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्र का भव्य एवं विशाल जिनालय बनवाया था और उसका प्रतिष्ठा-महोत्सव बड़े समारोह के साथ सम्पन्न किया था। संस्कृत भाषा के विद्वान् सुकवि, जैन धर्मानुयायी पद्यनाथ कायस्थ से इन मन्त्रीधर ने 'यशोधरचरित्र' अपरनाम 'व्यासुन्दर-विधान' नामक सुन्दर काव्य की रचना करायी थी, जिसे कवि ने ग्वालियर के तत्कालीन महारक गुणकीर्ति के उपदेश से पूर्वसूत्रानुसार रचा था। उक्त काव्य की सन्तोष जैसवाल, विजयसिंह, पृथ्वीराज आदि साहित्य-रसिकों ने प्रशंसा की थी। महाराज वीरमदेव के समय में ही, 1410 ई. में ग्वालियर के निकट चैतनाथ में एक जिनमन्दिर-प्रतिष्ठा हुई थी।

महाराज ईंगरसिंह-कीर्तिसिंह—ग्वालियर के किले के भीतर दीवारों पर उत्कीर्ण विशालकाय जिन-प्रतिमाओं के निर्माण का श्रेय इन्हीं दोनों तोमर नरेशों को है। इनमें से आदिनाथ की प्रतिमा तो 'बदवनगजा' कहलाती है और लगभग 50 फुट ऊँची है। यह निर्माणकार्य महाराज ईंगरसिंह के समय में प्रारम्भ हुआ था और उसके पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज कीर्तिसिंह के समय में पूरा हुआ। लगभग 33 वर्ष इन मूर्तियों के निर्माण में लगे। इसी से उक्त दोनों नरेशों का जैनधर्म के प्रति अनुराग स्पष्ट है। ईंगरसिंह के शासनकाल में अन्य अनेक जिनबिम्ब-प्रतिष्ठाएँ हुई थीं, जिनमें से 1440 और 1453 ई. के तो कई अभिलेख भी उपलब्ध हैं। इन नरेशों के शासनकाल में ग्वालियर जैनविद्या का प्रसिद्ध केन्द्र रहा था, अनेक ग्रन्थ रचे गये—अनेक की प्रतिलिपियाँ हुईं। महाराज ईंगरसिंह की पहरानी साँदा भी बड़ी धर्मात्मा और जिनभक्त थी और पुत्र कीर्तिसिंह भी।

संधपति काला—मुद्गलगोत्री अग्रवाल जैन साहु आत्मा का पुत्र साहु भोपा था, जिसकी भार्या भान्ही थी और पाँच पुत्र क्षेमसी, महाराजा, असराज, धनपाल और पाल्का नाम के थे। क्षेमसी की भार्या नीरादेवी थी तथा दो पुत्र काला (कौल) और भोजराज थे। काला की प्रथम पत्नी सरस्वती से उसका पुत्र मल्लिदास और दूसरी पत्नी साध्वीसरा से पुत्र चन्द्रपाल था। भोजराज का पुत्र पूर्णपाल था। अपने इन समस्त परिजनों के साथ संधाधिपति साहु काला ने गोपाचलदुर्ग (ग्वालियर) में महाराजाधिराज ईंगरसिंह के राज्य में 1440 ई. में स्वगुरु महारक यशःकीर्तिदेव के उपदेश से भगवान् आदिनाथ का मन्दिर निर्माण कराके प्रतिष्ठाचार्य षण्डित रङ्गधू से उसकी प्रतिष्ठा करायी थी।

श्रीचन्द-हरिचन्द—गर्गगोत्री अग्रवाल साहु श्रीचन्द, उसके भाई हरिचन्द, पुत्र शेषा तथा अन्य परिजनों ने महारक विमलकीर्ति के उपदेश से गोपगिरि (ग्वालियर)

के राजा ईंगरेन्द्रदेव (ईंगरसिंह) के राज्य में 1453 ई. की माघ शुक्ल अष्टमी के दिन श्री महावीर-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

साहु लापू—उसी नरेश के राज्य में 1453 ई. की माघ शुक्ल दशमी रविवार के दिन (पूर्वोक्त प्रतिष्ठा से दो दिन पश्चात् ही), खण्डेलवाल जातीय बाकलीवालगोत्री सेठ लापू ने अपने पुत्रों साल्हा और पाल्हा तथा अपनी भार्या लक्ष्मणा और पुत्रवधुओं सुहागिनी एवं गौरी सहित अनेक जिन-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी। उनमें की विभिन्न तीर्थंकरों की 11 लेखांकित श्वेत संगमरमर की अखण्डित मनोज्ञ प्रतिमाएँ 1903 ई. में टोंक (राजस्थान) के नवाब के महल के पास खुदाई में अकस्मात् प्राप्त हुई थीं। उनपर महाराज ईंगरदेव का नाम भी अंकित है और काष्ठासंधी हेमकान्तिदेव के शिष्य विमलकीर्तिदेव का भी, जिनके उपदेश से सम्भवतया वह प्रतिष्ठा हुई थी।

महापण्डित रङ्गू—इस काल के सर्वमहान् साहित्यकार, महान् शास्त्रज्ञ, प्रतिष्ठाचार्य, अपभ्रंश के सुकवि और लगभग 30 ग्रन्थों के रचयिता रङ्गू थे जो पद्मावती-पुरवाल संघाधिप देवराज के पौत्र और बुधजनकुल-आनन्दन संघवी हरिसिंह के सुपुत्र थे तथा ग्वालियर-पट्ट के काष्ठासंधी भट्टारकों की आम्नाय के पण्डित थे। भट्टारक गुणकीर्ति, यशःकीर्ति, मलयकीर्ति आदि उनका बड़ा मान करते थे। श्रीपाल ब्रह्मचारी रङ्गू के गुरु थे। रङ्गू का रचनाकाल लगभग 1423-1458 ई. महाराज ईंगरसिंह के प्रायः पूरे शासनकाल को व्याप्त करता है। इन पण्डितप्रवर के प्रश्रयदाता एवं प्रशंसक धनी श्रावकों में ग्वालियर व आसपास प्रदेश के सडलसाहु, मुल्लणसाहु, अग्रवालवंशी हरसीसाहु और उनके पुत्र करमसिंह, एडिलगोत्री अग्रवाल महाभव्य खेमसीसाहु, राजा द्वारा सम्मानित अग्रवालवंशी बाहडसाहु, हिसार निवासी गोयलगोत्री अग्रवाल साहु जाल्हे के पुत्र सहजपाल, कुमारपाल आदि संघपति काला (कौल), चन्द्रबाड के राज्यसेठ कुन्धुदास इत्यादि थे, जिनकी प्रेरणा पर कवि ने विभिन्न ग्रन्थों की रचना की तथा प्रतिष्ठाएँ आदि करायी थीं।

ब्रह्मखेल्हा—अग्रवाल-वंशावतंस, संसार-देह-भोगों से उदासीन, धर्मध्यान से सन्तुष्ट, शास्त्रों के अर्थरूपी रत्नसमूह से भूषित, यशःकीर्ति गुरु के विनत शिष्य ब्रह्मचारी प्रतिमाधारी खेल्हा श्रावक ने ग्वालियर में ईंगरसिंह के समय में ही तीर्थंकर चन्द्रप्रभु की एक विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

साहु कमलसिंह—साहु खेमसिंह के पुत्र थे। इन्होंने दुर्गति की नाशक, मिथ्यात्वरूपी गिरीन्द्र को नष्ट करने के लिए यज्ञ के समान और रोष-शोक आदि दुखों की विनाशक भगवन्त आदिनाथ की ग्यारह हाथ ऊँची विशाल प्रतिमा इसी काल में ग्वालियर में प्रतिष्ठित करवायी थी।

साहु पद्मसिंह—ग्वालियर के सोमर नरेश कीर्तिसिंह के समय में काष्ठासंधी भट्टारक यशःकीर्ति के प्रशिष्य और मलयकीर्ति के शिष्य भट्टारक गुणभद्र की आम्नाय

के भक्त जैसवालकुलभूषण उल्लासाहु की द्वितीय पत्नी भावश्री से उत्पन्न उसके चार पुत्रों में ज्येष्ठ, यह उदार, दानी, धर्मात्मा धनकुबेर पद्मसिंह थे। उनकी पत्नी का नाम वीरा था और बालू, डालू, दीवड़ एवं मदनपाल नाम के चार पुत्र थे जो चारों विवाहित थे और उनके पुत्रादि थे। इस भरेपूरे परिवार के मुखिया सेठ पद्मसिंह ने लक्ष्मी के विजली-जैसे चंचल स्वभाव का चिन्तन कर उसका तनुपदार्थ करने का संकल्प किया। अतएव उस देव-शास्त्र-गुरु-भक्त धर्मात्मा ने चौबीस जिनालयों का निर्माण कराया और विभिन्न ग्रन्थों की कुल मिलाकर एक लाख प्रतियाँ लिखवायीं तथा अन्य धर्मकार्य किये थे।

राजस्थान-मेवाड़ राज्य

राजस्थान में कई छोटे-छोटे रजवाड़े यत्र-तत्र थे, किन्तु वे अत्यन्त गौण थे। प्रमुख राज्य मेवाड़ के राणाओं का ही था। दसवीं शती के राजा शक्तिसिंह की दसवीं पीढ़ी में विजयसिंह (1108-16 ई.) एक प्रसिद्ध राजा था। उसके पुत्र अरिसिंह का प्रपौत्र रणसिंह (कर्ण) था जिसके पुत्र क्षेमसिंह के वंशज रावल कहलाते थे और मूल राजधानी नागहद (नागदु) में राज्य करते थे। रणसिंह के एक अन्य पुत्र राहप के वंशजों ने सिसौद में राज्य किया और राणा कहलाये। क्षेमसिंह का पुत्र रावल सामन्तसिंह पृथ्वीराज चौहान और मुहम्मद गोरी का समकालीन था। तदनन्तर जैत्रसिंह या जैतल (1213-52 ई.) ने चित्तौड़ पर अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाया। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी तेजसिंह 1260 ई. के लगभग मेवाड़ का शासक था, जिसकी रानी जयतल्लदेवी थी।

राणी जयतल्लदेवी और वीरकेसरी समरसिंह—राणा तेजसिंह की पड़रानी जयतल्लदेवी परम जिनभक्त थी। उसने चित्तौड़ दुर्ग के भीतर, 1265 ई. के लगभग, श्याम-पार्श्वनाथ का सुन्दर जिनालय बनवाया था तथा कई अन्य मन्दिर, मूर्तियाँ आदि भी प्रतिष्ठित करायी थीं। उसके मातृभक्त, धर्मात्मा पुत्र वीरकेसरी रावल समरसिंह ने औचलगच्छ के मुनि अमितसिंहसूरि के उपदेश से अपने राज्य में जीवहिंसा बन्द करा दी थी।

साह रत्नसिंह—चित्तौड़ दुर्ग के शृंगार-चवरी नामक मन्दिर के निकट प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार वहाँ 1277 ई. की अक्षयतृतीया के दिन साह प्रह्लादन के पुत्र साह रत्नसिंह ने शान्तिनाथ-चैत्यालय का निर्माण कराया था, जिसमें साह सम्मथा के पुत्र साह महण की भार्या सोहिणी की पुत्री कुमरल नाम्नी श्राविका ने अपनी मातामह की स्मृति में एक देवकुलिका स्थापित की थी।

रणयम्मीर का राणा हम्मीरदेव—पृथ्वीराज चौहान का वंशज वीर शिरोमणि यह राणा नन्दिसंघ के भइरक धर्मचन्द्र का भक्त था। अलाउद्दीन खिलजी के भीषण आक्रमणों का उसने डटकर मुकाबला किया था, अन्त में स्वराज्य की रक्षा में

लड़ते-लड़ते ही उसने वीरमति पायी थी। जैन विद्वानों द्वारा रचित 'हम्मीरमहाकाव्य' एवं 'हम्मीर-रासो'-जैसे काव्यग्रन्थों का वह नायक है।

चित्तौड़ में उस काल में राणा भीमसिंह का शासन था, जिसकी विश्वप्रसिद्ध अनिन्द्य सुन्दरी रानी पद्मिनी के रूप से लुब्ध अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर भयंकर आक्रमण किया था। असंख्य राजपूत मारे गये और रानी पद्मिनी के साथ सहस्रों स्त्रियाँ जीवित चिता में भस्म हो गयीं। तदनन्तर सीसोदिया शाखा के राणा हम्मीर ने 1325 ई. के लगभग चित्तौड़ पर पुनः अधिकार किया और राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ।

महान् धर्मप्रभावक साह जीजा—14वीं शती ई. के उत्तरार्ध में मेदपाट देश (मेवाड़) के चित्रकूट-नगर (चित्तौड़) में उस प्रदेश के इस अभूतपूर्व जिनधर्म प्रभावक, खड़वालगोत्री साह जीजा बघेरवाल ने मगवान् आदिनाथ का वह अद्वितीय कीर्तिस्तम्भ (जयस्तम्भ) निर्माण कराया था जो वर्तमान पर्यन्त उस उदार धर्मात्मा सेठ की कीर्ति का स्मारक बना हुआ है। यह उत्तुंग, विशाल एवं अत्यन्त कलापूर्ण मानस्तम्भ पाषाण निर्मित सतखना है जिसके भीतर ऊपरी छतों पर कुम्हारों के द्वारा 67 सीढ़ियाँ बनी हैं। शीर्ष-स्थान पर चार तोरण-द्वारों से युक्त वेदिका है जिसमें प्रतिमा सर्वतोभद्रिका स्थापित थी। ऊपर छत और शिखर है। स्तम्भ की बाहरी दीवारें कलापूर्ण मूर्तिकर्तियों एवं पद्मासन, खड्गासन जिनमूर्तियों से पूरित हैं। साह जीजा के प्रपौत्र के एक अभिलेख (1484 ई.) में लिखा है कि उस महान् निर्माता ने यह निर्माण कार्य 'निजभुजोपार्जित-वित्त-बलेन'—स्वयं अपने हाथ से कमाये हुए द्रव्य से सम्पादित किया था। इतना ही नहीं, उस महानुभाव ने 108 उत्तुंग, शिखरबद्ध जिनमन्दिरों का और इतने ही जिनबिम्बों का उद्धार किया था, 108 श्री जिन-महाप्रतिष्ठाएँ करायी थीं, 18 स्थानों में अष्टादशकोटि श्रुतमण्डार स्थापित किये थे और सचा लाख राजबन्धियों को मुक्त कराया था। उपर्युक्त स्तम्भ जिस चन्द्रप्रभ-जिनेन्द्र-चैत्यालय के निकट बनवाया गया था, वह भी सम्भवतया साह जीजा का ही बनवाया हुआ था। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि वह कीर्तिस्तम्भ और भी पूर्वकाल का बना हुआ है—साह जीजा ने उसका जीर्णोद्धार कराया था। यदि कोई पुरातन स्तम्भ वहाँ रहा भी होगा तो वह मुसलमानों (अलाउद्दीन खिलजी) के आक्रमणों और शासन के समय प्रायः पूर्णतया ध्वस्त हो गया होगा। अपने वर्तमान रूप में यह महान् स्तम्भ साह जीजा की कृति है। इसी से प्रेरणा लेकर उसके लगभग एक सौ वर्ष पश्चात् राणा कुम्भा ने चित्तौड़ में अपना जयस्तम्भ बनवाया था। इसी साह जीजा बघेरवाल के प्रपौत्र, साह पुनसिंह के पौत्र और साह देठ के चार पुत्रों में से ज्येष्ठ साह लखमण ने स्वर्गुक्त सेनगण के भइरक सोमसेन के उपदेश से 1484 ई. में बराहदेश के कारंजानगर में सुषार्श्वनाथ-जिनालय बनवाकर उसका प्रतिष्ठोत्सव, महायात्रीत्सव और तीर्थक्षेत्रों की वन्दना की थी।

15वीं शती के प्रारम्भ में चित्तौड़ के राणा लाखा के समय में रामदेव नवलखा नामक जैन राज्य का एक पन्थी था। लाखा के पश्चात् हमीर मोकल और फिर कुम्भ गढ़ी पर बैठे। राणा हमीर के समय में उसकी पहुरानी के जैन कामदार मेहता जालसिंह ने बड़ी उन्नति की थी।

महाराणा कुम्भा—प्रबल प्रतापी नरेश थे। मालवा के सुलतान पर विजय प्राप्त करके उन्होंने चित्तौड़ में एक नौ-खना उत्तुंग एवं कलापूर्ण जवस्तम्भ बनवाया था। उन्हीं के आश्रय में ज्योत्सवाल भण्डारल गुणराज (ई. 1428 ई. में) पूर्वोक्त जैन कीर्तिस्तम्भ के निकट स्थित महावीरस्वामी के एक प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था। 1488 ई. में राणा के कोठारी (कोषाध्यक्ष) साह बेलारक ने, जो साह केल्हा का पुत्र था, राजमहल के निकट ही भगवान् शान्तिनाथ का एक छोटा-सा कलापूर्ण जिनालय बनवाया था जो शृंगार-चैवरी के नाम से प्रसिद्ध है, और 1457 ई. में श्री गुहिल पुत्र-विहार-श्री बड़ादेव-आदि जिन-मन्दिर के बायीं ओर स्थित गुफा में आप्रदेव-सूरि के उपदेश से साह सोमा के पुत्र साह हरपाल ने 21 देवियों की मूर्तियाँ स्थापित करायी थीं। स्वयं महाराणा ने मचीन्द-दुर्ग में एक सुन्दर चैत्यालय बनवाया था। राणा के अन्य जैन राजपुरुष बेलार भण्डारी, गुणराज आदि थे।

सेठ धन्नाशाह-रत्नाशाह—महाराणा कुम्भा के समय की कला के क्षेत्र की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि राणकपुर के अद्वितीय जिनमन्दिर हैं। राणा के राज्य में, पाली जिले के सादड़ी कस्बे से 6 मील दक्षिण-पूर्व में, अरावली पर्वतमाला से घिरे राणकपुर में, मघाई नदी-तीरवर्ती, सुरम्य प्रकृति की गोद में, हरीतिमा के मध्य मुक्ताफल की भाँति दप-दप करता भगवान् ऋषभदेव का यह चौमुखा घवल प्रासाद अत्यन्त मनोरम एवं बेजोड़ है। लगभग 48000 वर्ग फुट (205 × 198 फुट) क्षेत्र में, 36 सीढ़ियों से प्राप्त ऊँची कुरसी पर बने इस तिमसिले निर्दोष श्वेत संगमरमर से निर्मित जिनभवन में 1444 स्तम्भ, 44 मोड़, 24 मण्डप, 54 देवकुलिकाओं और मनोरम शिखरों से युक्त इस कलाधाम में, शिल्पियों का सुनियोजित हस्तकौशल पग-पग पर दर्शक का मन मोह लेता है। लगभग डेढ़ सठस स्तम्भ रहते भी तारीफ़ यह है कि किसी ओर और कहीं से भी मूलनायक के दर्शन में ये स्तम्भ बाधक नहीं होते। बेल-बूटे, पच्चीकारी, प्रस्तरांकन, मृत्तांकन, दृश्यांकन सभी अत्यन्त कलापूर्ण एवं दर्शनीय हैं। मोड़वाड़ की पंचतीर्थ में इस कलामर्मज्ञों में प्रशंसित जिनमन्दिर की गणना है, किन्तु उनमें यही सर्वश्रेष्ठ है। इसका निर्माण शिल्पसम्राट् दीपा की देख-रेख में हुआ और पूरा बनने में 65 वर्ष लगे। इसके स्थानामधन्य निर्माता महाराणा कुम्भा के कृपापात्र-सेठ धन्नाशाह पोरवाल थे, जिन्होंने महाराणा से ही 1433 ई. में इस मन्दिर का शिलान्यास कराया था। राणा ने 12 लाख रुपये अनुदान स्वयं दिया था। निर्माण में सम्पूर्ण व्यय 90 लाख स्वर्ण मुद्राएँ उस काल में हुआ बताया जाता है। सेठ धन्नाशाह और महाराणा कुम्भा के जीवनकाल में यह निर्माण पूरा नहीं हो सका।

सेठ के पश्चात् उनके सुयोग्य पुत्र सेठ रतनाशह ने उसी उत्साह और उदारता के साथ उसे राणा के उत्तराधिकारी राणा रायमल के समय में 1498 ई. में पूरा करके उसकी ससमारोह प्रतिष्ठा की थी। उनकी यह अनुपम कृति ही उक्त पिता-पुत्र सेटद्वय की महानता की परिचायक और उनकी अमर कीर्ति का सजीव स्मारक है।

राणा रायमल के समय में ही 1486 ई. में चित्तौड़ दुर्ग के गोमुखतीर्थ के निकट एक जिनमन्दिर का निर्माण हुआ था, जिसमें दक्षिण के कर्णाटक देश से लाकर ऋषभजिन की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की गयी बतायी जाती है। प्रतिष्ठापक खरतरगच्छीय आचार्य जिनसमुद्रसूरि थे।

शाह जीवराज पापड़ीवाल—इसी काल में राजस्थान के मुण्डासा नगर के सुप्रसिद्ध धनी सेठ, महान् धर्मप्रभावक एवं अद्भुत बिम्बप्रतिष्ठाकारक शाह जीवराज पापड़ीवाल हुए हैं। वह मुण्डासा के राव शिवसिंह के कृपापात्र राज्यश्रेष्ठि हैं। उन्होंने 1490, 1491 और 1492 ई. में लगातार तथा बाद में भी कई बृहद् जिनबिम्ब-प्रतिष्ठोत्सव किये थे। इनमें से 1491 ई. (वि. सं. 1548) की वैसाख शुक्ल 3 (अक्षय तृतीया) का प्रतिष्ठोत्सव तो अभूतपूर्व एवं अपरिचय था, जिसमें लाखों प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित की गयीं। कहा जाता है कि इस प्रतिष्ठा के उपरान्त वह अनगिनत छकड़ों में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं को भरकर संघसहित सम्पूर्ण भारत के जैनतीर्थों की यात्रार्थ निकले थे और मार्ग में पड़नेवाले प्रत्येक जिनमन्दिर में यथावश्यक प्रतिमाएँ पधराते गये थे। जहाँ कोई मन्दिर नहीं था, वहाँ नवीन चैत्यालय स्थापित करते गये। परिणाम यह है कि आज भी उत्तरप्रदेश, पंजाब, हरियाणा, बंगाल, बिहार, बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र एवं कर्णाटक पर्यन्त छोटे-बड़े नगरों एवं ग्रामों के अधिकांश जिनमन्दिरों में एक वा अधिक प्रतिमाएँ वि. सं. 1548 में शाह जीवराज पापड़ीवाल द्वारा प्रतिष्ठित पायी जाती हैं। इनमें से अधिकांश प्रतिमाएँ एक से दो फुट ऊँची पद्मासनस्थ, श्वेत संगमरमर की हैं, कुछ-एक अन्य कृष्ण, हरित, नील आदि वर्णों की भी हैं। प्रतिष्ठाचार्य शाह जीवराज के गुरु महारक जिनचन्द्र (1450-1514 ई.) थे जो बड़े विद्वान् एवं प्रभावक आचार्य थे। वह मूलनन्दिसंघ-सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण के दिल्ली पट्टाधीश पद्मनन्दि के प्रशिष्य और शुभचन्द्र के शिष्य थे। स्वयं उनके पट्टधर अभिनवप्रभावन्द थे जिन्होंने चित्तौड़ में अपना पट्ट स्थापित किया था। आचार्य जिनचन्द्र को तर्क-व्याकरणादिग्रन्थ-कुशल मार्गप्रभावक-चरित्रचूड़ामणि आदि कहा गया है। शाह जीवराज के अतिरिक्त उन्होंने अन्य श्रावकों के लिए भी विभिन्न समयों एवं स्थानों में अनेक बिम्बप्रतिष्ठाएँ की थीं। 'चतुर्विंशति-जिन-स्तीत्र' की रचना भी उन्होंने की थी। उनके अनेक मुनि और मेधावी पण्डित-जैसे गृहस्थ विद्वान् शिष्य थे। उपर्युक्त बृहद् प्रतिष्ठाओं में उनके शिष्यगण भी सहयोगी होते थे। आचार्य जिनचन्द्र और शाह जीवराज के कार्य के महत्त्व का मूल्यांकन करने में यह तथ्य ज्ञातव्य है कि पिछले लगभग 400 वर्ष से मुसलमान

शासकों द्वारा मन्दिरों और देवमूर्तियों की विध्वंसलीला प्रायः अनवरत चलती आधी थी और उस काल में भी चल रही थी।

राणा संग्रामसिंह (सौगा)—मवाड़ के सुप्रसिद्ध वीर, युद्धविजेता एवं प्रतापी राणा थे। उनके समय में महारक प्रभाचन्द्र (1514-24 ई.) चित्तौड़ में दिल्ली से स्वतन्त्र पट्ट स्थापित किया था। उनके पट्टधर मण्डलाचार्य धर्मचन्द्र (1524-46 ई.) थे। इन महारकों की प्रेरणा और राणा के प्रश्रय में साहित्य सृजन भी हुआ। लाला वर्णी की प्रेरणा पर कर्णाटक से आये आचार्य नेमिचन्द्र ने चित्तौड़ में जिनदासशाह के पार्श्व-जिनालय में 1515 ई. में 'गोमहसार' की संस्कृत टीका रची थी। कहा जाता है कि इस राणा ने जैनचार्य धर्मरत्नसूरि का भी हाथी, घोड़े, सेना और बाजेगाजे के साथ स्वागत-सत्कार किया था और उनके उपदेश से प्रभावित होकर शिकार आदि का त्याग कर दिया था। इन आचार्य का ब्राह्मण विद्वान् पुरुषोत्तम के साथ सात दिन तक राजसभा में शास्त्रार्थ हुआ था। राज्य में अनेक जैन उच्चपदों पर आसीन थे, यथा कुम्भलनेर का दुर्गपाल आशाशाह, रणथम्भौर का दुर्गपाल मारमल कावड़िया, राणा का मित्र तोलाशाह आदि।

तोलाशाह—बप्पभट्टसूरि द्वारा जैनधर्म में दीक्षित ग्वालियर के राजपूत आमराज की वैश्य पत्नी से उत्पन्न पुत्र राजकोठरी (मण्डारी) नाम से प्रसिद्ध हुआ था और ओसवाल जाति में सम्मिलित हो गया था, ऐसी अनुश्रुति है। उसका एक वंशज सारणदेव था, जिसकी आठवीं पीढ़ी में तोलाशाह हुआ जो राणा सौगा का परम मित्र था। कहा जाता है कि राणा ने उसे अपना अमात्य बनाना चाहा किन्तु उसने मना कर दिया, केवल श्रेष्ठिपद ही स्वीकार किया। वह बड़ा न्यायी, विनयी, ज्ञानी, मानी और धनी था तथा याचकों को हाथी, घोड़े, वस्त्रामूषण आदि प्रदान कर कल्पवृक्ष की भाँति उनका दारिद्र्य नष्ट कर देता था। जैनधर्म का वह बड़ा अनुरागी था।

कर्माशाह—तोलाशाह का पुत्र कर्माशाह (कर्मसिंह) राणा सौगा के पुत्र एवं उत्तराधिकारी रत्नसिंह का मन्त्री था। एक तत्कालीन शिलालेख में उसे 'श्री रत्नसिंह-राज्ये राज्यव्यापारभार-धारेण' कहा गया है। मन्त्री होने से पूर्व वह कपड़े का व्यापार करता था। बंगाल, चीन आदि देशों से करोड़ों रुपये का माल उसकी दुकान पर आता-जाता था। इस व्यापार से उसने विपुल द्रव्य कमाया था। गुजरात के सुलतान बहादुरशाह को उसके युवराज्यकाल में कर्माशाह ने एक लाख रुपये बिना शर्त के देकर शाहजादे की आवश्यकता पूरी की थी। अतएव जब वह गुजरात का सुलतान हुआ तो कर्माशाह की प्रार्थना पर उसने उसे शत्रुंजय तीर्थ का उद्धार करने के लिए सहर्ष फरमान प्रदान कर दिया था और मन्त्री कर्माशाह ने विपुल द्रव्य व्यय करके उक्त सिद्धाचल का जीर्णोद्धार किया तथा 1530 ई. की वैशाख कृष्ण 6 के दिन अनेक सतियों एवं श्रावकों की उपस्थिति में समारोहपूर्वक प्रतिष्ठा करायी थी।

इस जीर्णोद्धार के हेतु अहमदाबाद से 3 और चित्तौड़ से 19 सूत्रधार (मिस्त्री) बुलाये गये थे। राणा के दरबार में उसके इस प्रधान का अत्यधिक मान था।

आशाशाह और उसकी जननी—मेवाड़ के इतिहास में इन कर्तव्यानिष्ठ एवं स्वामिभक्त माता-पुत्र का महत्वपूर्ण स्थान है। रत्नसिंह की मृत्यु के उपरान्त उसका छोटा भाई विक्रमाजीत गद्दी पर बैठा, किन्तु वह अयोग्य था और उसका छोटा भाई उदयसिंह नन्हा बालक था। अतएव राज्य के सरदारों ने विक्रमाजीत को गद्दी से हटाकर दासीपुत्र बनवीर को राणा बना दिया। वह बड़ा दुराचारी और निर्दयी था। उसने विक्रमाजीत की हत्या कर दी और रात्रि में उदयसिंह की भी हत्या करने के लिए महल में पहुँचा। बालक राणा की परम स्वामिभक्त पन्ना धाय ने अपनी तुरतबुद्धि द्वारा स्वयं अपने पुत्र का बलिदान देकर छल से उदयसिंह की प्राण-रक्षा की और रातोंरात विश्वस्त सेवकों के साथ राजकुमार को लेकर चित्तौड़ से बाहर हो गयी। आश्रय की खोज में राज्य के अनेक सामन्त-सरदारों के पास भटकती, किन्तु अत्याचारी बनवीर के भय से कोई भी तैयार नहीं हुआ। अन्ततः वह कुम्भलगिर पहुँची जहाँ का दुर्गपाल आशाशाह देवरा नामक जैनी था। प्रारम्भ में वह भी बालक राणा को शरण देकर विपत्ति-मोल लेने में हिचकिचाया, किन्तु उसकी वीर माता ने कुपित होकर उसे अत्यन्त धिक्कारा और भूखी सिंहनी की भाँति अपने भीरु पुत्र का प्राणान्त करने के लिए झपटी। आशाशाह गदगद होकर वीर जननी के चरणों में गिर पड़ा और कहा कि “माँ! तुम्हारा पुत्र होकर भी क्या मैं यह भीरुता कर सकता था? क्या सिंहनीपुत्र शृगाल के भय से अपने कर्तव्य से विमुख हो सकता है और प्राणों के मोह में पड़कर शरणागत की रक्षा से मुँह मोड़ सकता है?” वीर माता हर्ष-विभोर हो पुत्र की बलैया लेने लगी, वही माता जो क्षण-भर पूर्व पुत्र को कायर एवं कर्तव्य-विमुख समझ उसके प्राण लेने पर उतारु हो गयी थी। आशाशाह ने कुमार को अपना भतीजा कहकर प्रसिद्ध किया और अथक प्रयास करके कुछ कालोपरान्त अन्य सामन्तों की सहायता से उदयसिंह को चित्तौड़ के सिंहासन पर आसीन कर दिया। इस जैन वीर माता और उसके पुत्र वीर आशाशाह ने राणावंश की इस प्रकार रक्षा करके मेवाड़ राज्य पर प्रशंसनीय उपकार किया था।

दीवान बच्छराज—जालोर के चौहान नरेश युद्धवीर सामन्तसिंह देवड़ा की सन्तति में उत्पन्न भारवाड़ के जेसलजी बोधा का पुत्र बच्छराज बड़ा चतुर, साहसी और महत्वाकांक्षी था। कुछ ही समय में वह मण्डौर के राव रिधमल का दीवान बन गया। रिधमल की हत्या कर दिये जाने पर उसने उसके ज्येष्ठ पुत्र राव जोधा को बुलाकर गद्दी पर बैठाया और उसका भी दीवान रखा। जोधा के पुत्र बीका ने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। उसने बीकानेर नगर 1488 ई. में बसाया और उसे ही अपनी राजधानी बनाया। बच्छराज राव बीका का प्रमुख परामर्शदाता और दीवान था। अपना परिवार भी वह बीकानेर ही ले आया था। उसने बीकानेर के निकट

बच्छासर नाम का गाँव भी बसाया। वह बड़ा उदार, दयालु और धर्मात्मा था। शत्रुंजयतीर्थ की उसने ससंघ यात्रा की थी और जैनधर्म की प्रभावना के अनेक कार्य किये थे। उसने प्रभूत मान, प्रतिष्ठा और दीर्घ आयु प्राप्त की थी। बच्छराज के वंशज ही बच्छावत कहलाये और उसके पुत्र करमसिंह और वरसिंह, पौत्र नगराज, प्रपौत्र संग्राम आदि बीका के उत्तराधिकारियों के दीवान होते रहे। यह पद इस वंश में मौखसी-जैसा हो गया था। बच्छराज का पुत्र वरसिंह और पौत्र नगराज भारी योद्धा और कुशल सैन्य-संचालक थे। बीकानेर में बच्छराज ने स्वयं नगर के मुख्य बाजार में 1504 ई. में चिन्तामणिजी का मन्दिर बनवाया था, जिसमें आदिनाथ-चतुर्विंशति धातु-प्रतिमा भण्डौर से लाकर स्थापित की थी और 1513 ई. में नेमिनाथ-मन्दिर बनवाया था। सन् 1521, 1526 आदि में भी उस नगर में जिनमन्दिर बने। बच्छराज के पूर्वज सगर, बोहित्य, श्रीकरण, समधर, तेजपाल, बील्हा, कडुवा और जेसल भी वीर और धनप्रभी थे। उसी प्रकार बच्छराज के वंशज भी धर्मात्मा होते थे। करमसिंह ने करमीसीसर गाँव बसाया, एक जिनालय बनवाया, यात्रासंघ चलाया और 1525 ई. के दुर्भिक्ष में तीन लाख व्यय करके नगराज ने सदावर्त बाँटा तथा शत्रुंजय का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया। उसने चम्पानेर के सुल्तान मुजफ्फर को भी प्रसन्न किया था।

मारवाड़ के मोहनोत, भण्डारी आदि कई प्रसिद्ध जैनवंशों का उदय भी इसी समय के लगभग हुआ और उन्होंने राज्य में प्रतिष्ठित पदों पर कार्य करके उसके उत्कर्ष में भारी योग दिया।

हुण्डाहड़ (जयपुर) प्रदेश में भी जैनधर्म फल-फूल रहा था। मालपुरा के आदिनाथ-मन्दिर में 1454 ई. को भट्टारक भुवनकीर्ति के उपदेश से हुयडजातीय श्रेष्ठी खेता एवं उसके परिवार द्वारा प्रतिष्ठापित धातु की चौबीसी प्रतिमा है। 1491 ई. में भट्टारक रत्नकीर्ति के उपदेश से गंगवालगोत्री खण्डेलवाल संघहो जालम के द्वारा प्रतिष्ठापित तौबे का यन्त्र है। 1512 ई. में भट्टारक धर्मचन्द्र के शिष्य मुनि भुवन-भूषण, ब्रह्म धारणा एवं पं. बस्ता द्वारा प्रतिष्ठित तीन धातुमयी चौबीसी प्रतिमाएँ हैं। एक आदिनाथ चौबीसी 1466 ई. की है, एक श्रेयांस चौबीसी 1497 की है, इत्यादि। इस प्रदेश के अन्य नगरों में भी उस काल की प्रतिमाएँ पायी जाती हैं।

राजस्थान के डूंगरपुर-बाँसवाड़ा, बूंदी, नागौर आदि अन्य क्षेत्रों में भी जैनीजन निवास करते थे।

विजयनगर साम्राज्य

इस भारतगौरव मध्यकालीन हिन्दू साम्राज्य के संस्थापक संगम नामक एक छोटे से यदुवंशी राजपूत सरदार के पाँच वीर पुत्र थे। अन्तिम होयसल नरेश वीर

बल्लाल तृतीय की सीमान्त चौकियों के वे रक्षक थे, साथ ही बड़े स्वदेशभक्त, स्वतन्त्रताप्रेमी, वीर, साहसी और महत्वाकांक्षी थे। मुसलमानों द्वारा दक्षिण भारत के होयसल, यादव और ककातीय राज्यों का अन्त कर दिये जाने पर ये वीर मुसलमानों को स्वदेश से निकाल बाहर करने के कार्य में जुट गये। अन्ततः वे 1336 ई. में अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने में सफल हुए। तुंगभद्रा नदी के उत्तरी तट पर हम्पी नामक स्थान को उन्होंने अपना केन्द्र बनाया और वहाँ विजयनगर (विद्यानगर या विद्यानगरी अपरनाम हस्तिनापुर) की नींव डाली, जो 1343 ई. में एक सुन्दर, सुदृढ़ एवं विशाल नगर के रूप में बनकर तैयार हुआ। इस बीच तीन भाइयों की मृत्यु हो चुकी थी और केवल दो—हरिहर और बुक्का बचे थे। अतएव बड़ा भाई हरिहरराय प्रथम (1346-65 ई.) विजयनगर राज्य का प्रथम अभिविक्त नरेश हुआ। तदनन्तर बुक्काराय प्रथम (1365-77 ई.), हरिहर द्वितीय (1377-1404 ई.), बुक्काराय द्वितीय (1404-1406 ई.), देवराय प्रथम (1406-1410 ई.), वीर विजय (1410-19 ई.), देवराय द्वितीय (1419-46 ई.), इम्पडि देवराय (1447-67 ई.), विरुपाक्षराय (1467-77 ई.) और पदियाराय (1477-86 ई.) क्रमशः राजा हुए। तत्पश्चात् वंश परिवर्तन हुआ और नरसिंह सालुव (1486-92 ई.), इम्पडि नरसिंह (1492-1505 ई.), वीर नरसिंह भुजबल (1506-9 ई.) और सुप्रसिद्ध सम्राट् कृष्णदेवराय (1509-30 ई.) क्रमशः सिंहासन पर बैठे। तदनन्तर अच्युतराय (1530-42 ई.) और सदाशिवराय (1542-70 ई.) राजा हुए। अन्तिम का मन्त्री और राज्य का सर्वेसर्वा रामराजा था। इसी शासनकाल में दक्षिण के मुसलमान सुल्तानों ने संगठित होकर विजयनगर पर भीषण आक्रमण किया और 1565 ई. में तालिकोट के ऐतिहासिक युद्ध में विजयी होकर महानगरी विजयनगर को जी भरकर लूटा और पूर्णतया नष्ट-ध्वस्त कर दिया। विजयनगर के हिन्दू साम्राज्य का अन्त हुआ; यद्यपि रामराजा के भाई तिरुमल ने भायकर पेनुगौण्डा में शरण ली और चन्द्रगिरि को राजधानी बनाकर राज्य करने लगा। उसके वंशज वहाँ 17वीं शती के अन्त तक छोटे से राजाओं के रूप में चलते रहे।

विजयनगर के राजाओं का कुलधर्म एवं राज्यधर्म हिन्दू धर्म था। प्रजा का बहुभाग जैन था। उसके पश्चात् श्रीवैष्णव और फिर लिंगायत (वीरशैव) थे, कुछ सद्शैव भी थे। राजा लोग प्रारम्भ से ही सिद्धान्ततः सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु, समदर्शी और उदार थे। जैनधर्म की उनसे प्रभूत संरक्षण एवं पोषण प्राप्त हुआ। कतिपय इतिहासकारों ने विजयनगर राज्य में दक्षिणभुजा और वामभुजा नामक दो जातियों या प्रधान वर्गों का उल्लेख किया है, जिनसे आशय क्रमशः 'भव्य' और 'भक्त' संज्ञाओं से सूचित जैनों और वैष्णवों का है। विजयनगर-नरेश उन्हें अपनी दक्षिण और वाम भुजाएँ समझते और मानते थे। राज्य की अधिकांश जनता और सम्भ्रान्तजन इन्हीं दो समकक्ष तथा प्रायः समसंख्यक वर्गों में बँटे हुए थे। राज्य में

दोनों ही धर्मों का समान रूप से मान था। प्रारम्भ में ही हरिहर और बुक्का ने समदर्शिता की जो नीति निर्धारित कर दी थी उसका प्रभाव उनके वंशजों पर भी हुआ और फलस्वरूप इस वंश के कई राजाओं, रानियों, राजकुमारों, सामन्त-सरदारों, राजकर्मचारियों तथा प्रजाजन ने भी जैनधर्म को उन्मुक्त प्रश्रय एवं पोषण प्रदान किया और अनेक जैन राजपुरुषों, मन्त्रियों, सेनापतियों एवं वीर योद्धाओं, श्रेष्ठियों और व्यापारियों, राज्यकर्मचारियों और भव्यों (श्रावकों), साधु-सन्तों और साहित्यकारों ने उक्त राज्य के सर्वतोमुखी उत्कर्ष तथा उसकी शक्ति और समृद्धि के संवर्द्धन में प्रशंसनीय योग दिया। स्वयं राजधानी विजयनगर (हम्पा, प्राचीन कम्पा) के वर्तमान खैंडहरों में वहाँ के जैनमन्दिर ही सर्वप्राचीन हैं। वे नगर के सर्वश्रेष्ठ केन्द्रीय स्थान में स्थित हैं और उनमें से अनेक तो ऐसे हैं जो विजयनगर की स्थापना के पूर्व भी वहाँ विद्यमान थे। कला और शिल्प की दृष्टि से भी विजयनगर के जैनमन्दिर अत्युत्तम हैं। स्वभावतः, मध्यकालीन भारतीय राजनीति की अद्वितीय सृष्टि, विजयनगर-साम्राज्य-युग ने इतिहास को अनेक उल्लेखनीय जैन विभूतियाँ भी प्रदान कीं।

हरिहर प्रथम (1346-65 ई.)—विजयनगर के इस प्रथम नरेश के राज्यकाल में, 1353 ई., में रामचन्द्रमलधारि के गृहस्थ-शिष्य नालप्रभु गोपगौड के पुत्र कामगौड और उसकी पत्नी ने हिरेआवलि में पंचनमस्कार-महोत्सव किया था। इस लेख में राजा का उल्लेख महामण्डलेश्वर हरियप्प-ओडेयर नाम से किया था। एक अन्य लेख के अनुसार इस महामण्डलेश्वर, शत्रुराजाओं के नाशक, हिन्दुव-राय-सुरताल (सुल्तान) वीर-हरियप्प-ओडेयर के राज्य में, 1354 ई. में नालप्रभु कामगौड के पौत्र और सिरियमगौड के सुपुत्र मालगौड ने संन्यास-विधि से मरण किया था और उसकी भार्या चेन्नके ने भी सहगमन किया था। हेमचन्द्र भट्टारक के शिष्य तेलुगु आदिदेव और ललितकीर्ति भट्टारक ने 1355 में कनकगिरि पर विजयदेव की प्रतिमा स्थापित की थी। इसी वर्ष भोगराज नामक एक प्रतिष्ठित राजपुरुष ने रायदुर्ग में अनन्त-जिनालय की स्थापना करके अपने गुरु नन्दिसंघ-सरस्वतीमच्छ-बल्लात्कारगण के मुनि अमरकीर्ति के शिष्य भाघनन्दिसिद्धान्त को समर्पित कर दिया था। इसी नरेश के शासनकाल में 1362 ई. में जब संगमेश्वर-कुमार वीरबुक्कमहाराय के अधीन राजकुमार विरुपाक्ष-ओडेयर भलेराज्य-प्रान्त का शासक था और अपनी प्रान्तीय राजधानी अरग में निवास करता था तो हेद्दूरनाड में स्थित तडताल के प्राचीन पार्श्व-जिनालय की सीमा को लेकर जैनों और वैष्णवों में विवाद हुआ। अपने सभामचन में उक्त राजकुमार ने महाप्रधान नामन्त, प्रान्त प्रमुख सामन्त-सरदारों, जन-नेताओं और जैन एवं वैष्णव मुखियाओं के समक्ष सर्वसम्मति से जैनों के पक्ष को न्यायपूर्ण घोषित किया, प्राचीन शासनों में जो सीमाएँ निर्धारित की गयी थीं वे ही मान्य की गयीं और एक शिलालेख में अंकित करा दी गयीं। हरिहर का अनुज बुक्काराय इस समय संयुक्त शासक वा वायसराय

का कार्य कर रहा था और विरूपाक्ष सम्भवतया हरिहर का पुत्र था। हरिहर के अन्तिम वर्ष 1366 ई. में कम्पा के जैन गुरु मल्लिनाथ को दान दिया गया था। इस काल के प्रमुख जैन विद्वान् वादी सिंहकीर्ति, 'धर्मनाथपुराण' के कर्ता उभयभाषा-चक्रवर्ती बाहुबलिपण्डित, 'गोमटसारवृत्ति' के रचयिता केशववर्णी, 'खमेन्द्रमणिदर्पण' के प्रणेता मंगरस और भट्टारक धर्मभूषण थे।

बुक्काराय प्रथम (1365-77 ई.)—हरिहर प्रथम का अनुज एवं उत्तराधिकारी था। उसके सम्मुख 1368 ई. में एक जटिल अन्तःसाम्प्रदायिक समस्या उपस्थित हुई। राज्य के समस्त नाडुओं (ज़िलों) के भव्यों (जैनों) ने उनके प्रति भक्तों (वैष्णवों) द्वारा किये गये अन्यायों का प्रतिकार कराने के लिए महाराज बुक्काराय की सेवा के लिए आवेदन-पत्र दिये। महाराज ने उनसे कहा कि उनसे नाडुओं के भक्तों, उनके आचार्यों, गुरुओं, पुरोहितों और मुखियाओं को तथा अपने प्रमुख सामन्तों आदि को एकत्र करके जैनियों का हाथ वैष्णवों के हाथ में दिया और घोषणा की कि हमारे राज्य में जैनदर्शन और वैष्णवदर्शन के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं है। जैनदर्शन पूर्ववत् पंचमहाशब्द और कलश का अधिकारी है और रहेगा। अपने द्वारा जैनदर्शन की हानि या वृद्धि करना वैष्णवजन अपने ही धर्म की हानि या वृद्धि समझे। जैन और वैष्णव एक हैं, उनके बीच कोई अन्तर करना ही नहीं चाहिए। श्रवण-बेलगोल-तीर्थ की रक्षार्थ वैष्णवजन अपनी ओर से 20 वैष्णव रक्षक नियुक्त करेंगे। राज्य के जैनी इसी कार्य के लिए एक 'हण' (सिक्का विशेष) प्रति घर के हिसाब से प्रदान करेंगे। रक्षकों के वेतन से अतिरिक्त द्रव्य का उपयोग जैन-मन्दिरों की लिपाई-पुताई, मरम्मत आदि में किया जाएगा। तातय्य नामक एक अधिकारी को इस द्रव्य के एकत्रित करने और तदनुसार व्यय करने का भार सौंपा गया। महाराज ने आज्ञा प्रचारित की कि जो कोई व्यक्ति उपर्युक्त शासन की अवज्ञा करेगा वह सजदोही, संधदोही और समुदाय-दोही समझा जाएगा और दण्ड का भागी होगा। जैन और वैष्णव दोनों समुदायों ने मिलकर जैन सेठ बसुविसेट्टि को अपना सामूहिक संघनायक बनाया। उपर्युक्त राजाज्ञा को राज्य की समस्त बस्तियों में अंकित करा दिया गया। बुक्काराय का यह ऐतिहासिक निर्णय उसके उत्तराधिकारियों की धार्मिक नीति का आधार बना। दोनों ही धर्मों के अनुयायियों को राज्य का संरक्षण और धर्मस्वातन्त्र्य समान रूप से प्राप्त हुआ, साथ ही उनमें परस्पर सद्भाव उत्पन्न किया गया। इसी राजा के समय में 1367 ई. में श्रुतमुनि के शिष्य और आदिदेव के गुरु देशीगण के देवचन्द्रव्रतिष ने कुम्पटूर में एक जिनालय का पुनरुद्धार कराया था तथा स्वर्गमग्न किया था, और करिसेनदेव के गृहस्थ-शिष्य मसणगीड के पुत्र गोरवगौड ने समाधिग्रहण किया था। सन् 1367 ई. में माणिकदेव ने अपने गुरु मेघचन्द्रदेव के निधन पर उनका स्मारक स्थापित किया था। लेख में बाहुबलिदेव और पार्श्वदेव नामक मुनियों की भी बहुत गुण-प्रशंसा है। उसी वर्ष माधवचन्द्र-मलधारी के प्रिय गृहस्थ-शिष्य लवनिधि के

माडिगौड के पुत्र बोम्भण ने समाधिभरण किया था। इसी हिन्दुराय-सुराय बुक्काराय के विजयराज्य में, 1371 ई. में, राय-राज-गुरु मण्डलाचार्य सिंहनन्द के प्रिय गृहस्थ-शिष्य सोरब के बिड़लगौड की सुपुत्री और तन्निधि के नाल-महाप्रभु ब्रह्म की अर्धांगिनी लक्ष्मि-बोम्भक ने समाधिभरण किया था (गौड या गवुण्ड और नालप्रभु राज्य के प्रतिष्ठित क्षेत्रीय एवं स्थानीय अधिकारी होते थे)। उसी वर्ष रामचन्द्र मलधारि के शिष्य चन्दगौड के पुत्र तथा अन्य कई गौड़ों एवं महाप्रभुओं ने समाधिभरण किया था और उनके स्मारक बने थे। उस काल के प्रसिद्ध जैन सन्त श्रुतमुनि, जिनके चरण राजाओं द्वारा पूजित थे, उनकी 1372 ई. की समाधि-प्रशस्ति में उनके प्रमुख मुनि एवं गृहस्थ-शिष्यों का वर्णन हुआ है। इनमें से एक थे—पुरुषोत्तम-राज-कामश्रेष्ठि और दूसरे थे—हुल्लनहलि के राजा पेरुमालदेव तथा पेम्पिदेव। ये माचिराज और मालाम्बिका के पुत्र थे और बुक्काराय के सामन्त थे। उन्होंने अपनी राजधानी में त्रिजगन्-मंगल नामक जिनालय बनवाकर माणिक्यदेव से उसकी प्रतिष्ठा करायी थी, तथा वहीं के प्राचीन परमेश्वर-चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया था और दोनों की विधिवत् सतत पूजा-अर्चा के लिए भूमिदान दिया था। पेरुमालदेव का निधन 1365 ई. में हुआ था और उनकी भावज धर्मात्मा अल्लाम्बा ने 1368 ई. में समाधिभरण किया था। उनका पुत्र राजा नरोत्तमश्री था जो बड़ा गुणवान् और यशस्वी था। सन् 1368 ई. के अवधुत्तमश्री के एक जिनालय में वसन्तकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, विशालकीर्ति, शुभकीर्ति, कलिकाल-सर्वज्ञ महारक धर्मभूषण, अमरकीर्ति और वर्धमानमुनि की गुण-प्रशंसा है। आवलि के नालमहाप्रभु चन्दगौड के पुत्र और रामचन्द्र मलधारि के गृहस्थ-शिष्य बेधिगौड ने 1376 ई. में समाधिभरण किया था। आवलि के 5-6 प्रभुओं ने मिलकर उसका स्मारक बनवाया था। महाराज बुक्काराय का प्रधान मन्त्री और सेनापति जैन वीर बैचप था। वह और उसके तीन वीर पुत्र ही राज्य के प्रमुख सैन्यसंचालक तथा बहमनी सुलतानों आदि उसके शत्रुओं पर बुक्काराय की यौद्धिक सफलताओं के प्रधान साधक थे। बैचप राजा हरिहर प्रथम के समय से ही मन्त्री रह आये थे और बुक्काराय के पुत्र एवं उत्तराधिकारी हरिहर द्वितीय के समय तक उसी पद पर आरुढ़ रहे। उसके पुत्र यण्डनाथ इरुगप ने 1367 ई. में एक जिनालय चेलुमल्लूर में बनवाकर उसके लिए दान दिया था।

हरिहर द्वितीय (1377-1404 ई.) का राज्यकाल मन्त्रीराज बैचप और उसके पुत्रों एवं पौत्रों के लौकिक तथा धार्मिक कार्यकलापों से भरा है। कूचिराज आदि अन्य जैन मन्त्री एवं राजपुरुष भी थे। अपने इन जैन वीरों की सहायता से इस प्रतापी नरेश ने अपने राज्य की शक्ति काफी बढ़ा ली थी, शासन-तन्त्र सुचारु एवं सुसंगठित किया और विविध उपाधियों से विभूषित सम्राट्-पद धारण किया था। इसके राज्य में जैनधर्म खूब फला-फूला। स्वयं सम्राट् की महासनी बुक्कवे जिनभक्त थी और उसने सेनापति इरुग द्वारा निर्मापित राजधानी के कुन्थुनाथ-जिनालय के

लिए 1397 ई. में दान दिया था। सन् 1379 ई. में आलुक्महाप्रभु, 18 कम्पणों के शिरोरत्न, महाप्रभुओं के सूर्य, तवनिधि के बोम्मगौड ने संन्वसन्निधिपूर्वक भरण करके स्वर्ग प्राप्त किया था। वह बड़ा धर्मात्मा, पुण्यकार, कीर्तिशाली, जिनेन्द्र के चरणों का आराधक और राज्यमान्य था। उसी समय उसके कुटुम्बी सरीखा, स्वामिभक्त एवं तवनिधि के शान्ति-तीर्थकर के चरणों का पूजक उसका एक सेवक भी समाधिभरण द्वारा मृत्यु को प्राप्त हुआ था। मन्त्रीश्वर बैद्य की मृत्यु 1380 ई. में हुई, उसी वर्ष के एक लेख में नयकीर्ति-व्रती के शिष्य (पुत्र) परम विद्वान् एवं ज्योतिर्विज्ञ बाहुबलि पण्डितदेव की प्रशंसा है। सन् 1383 ई. में कूरिगहल्लि के गौडों ने पार्श्वदेव-वसदि निर्माण करायी थी और 1384 ई. में मुनि आदिदेव ने स्वगुरु श्रुतकीर्तिदेव के स्वर्गस्थ होने पर रावन्दूर के चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराके उनकी तथा सुमतिनाथ तीर्थकर की मूर्तियाँ प्रतिष्ठापित की थीं। दण्डेश इरुग ने 1385 ई. में विजयनगर में कुन्धुनाथ-जिनेन्द्र का सुन्दर पाषाण-निर्मित मन्दिर बनवाया था। सेनापति इरुगप्प ने 1387 ई. में स्वगुरु पुष्पसेन को आज्ञा से उस वर्धमान-निलय के सम्मुख एक सुन्दर मण्डप भी बनवाया था, जिसे स्वयं उसने 1382 ई. में निर्माण करवाया था। इसी राज्यकाल में मुनिभद्रदेव ने हिसुगल-वसदि बनवायी थी और मुलगुण्ड के जिनेन्द्र-मन्दिर का विस्तार किया था। उनके समाधिभरण के उपरान्त 1388 ई. में उनके शिष्य पारिससेनदेव ने ऊद्री में उनका स्मारक स्थापित किया था। मुनिभद्र के गृहस्थ-शिष्य, चतुर्विधदानविनोद, रत्नत्रयाराधक, जिनमार्गप्रभावक, हिरियावलि नगर के स्वामी नालमहाप्रभु कामगौड के कुलदीपक सुपुत्र चन्द्रप्प ने 1389 ई. में समाधिभरण किया था। विजयकीर्तिदेव की शिष्या, कोंबाल्मवंश की रानी सुगुणदेवी ने 1391 ई. में अपनी जननी पोचवरसि के पुण्यार्थ अपने अंगरक्षक विजयदेव द्वारा मुल्लूर में एक जिनालय का पुनरुद्धार कराके उसमें जिनप्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी और दान दिया था। सौरव के तम्मगौड को असाध्य क्षयरोग हो गया था और कोई इलाज कारगर नहीं हो रहा था, अतएव उसने स्वगुरु की अनुमति से 1395 ई. में समाधिभरण किया। उसी वर्ष एक प्रतिष्ठित महिला, कानरामण की सती पत्नी कामी-गौडि ने समाधिभरण किया था। 1397 ई. में रामिगौडि ने, 1399 ई. में होम्बुच्च के पायण्ण ने तथा चन्द्रगौडि ने, 1400 ई. में उद्धरे के सिरियण्ण ने और 1403 में बोम्मिगौडि ने समाधिभरण किया था। लगता है कि उस युग में यह प्रथा बहुत लोकप्रिय थी। शुभचन्द्र के प्रियग्र शिष्य कोप्पण के चन्द्रकीर्तिदेव ने 1400 ई. के लगभग चन्द्रप्रभु की एक प्रतिमा अपनी निधि के लिए प्रतिष्ठित करायी थी। उसी वर्ष राजा के जैन मन्त्री कूथिराज ने कोप्पणतीर्थ के लिए दान दिया था। राज्य के अनेक जैन तीर्थों में श्रवणबेलगोल उस काल में भी सर्वप्रधान था। अनगिनत यात्री इस तीर्थ की वन्दना के लिए आते थे और जैसा कि 1398 ई. के एक शिलालेख से प्रकट है, उस प्रान्त के शासक राज्य के जैन सामन्त ये जो

तीर्थाध्यक्ष चारुकीर्ति पण्डितदेव के शिष्य थे। सन् 1400 ई. में इस तीर्थ पर एक भारी उत्सव, सम्भवतया गोम्पटेश्वर का महामस्तकाभिषेक हुआ था जिसमें दूर-दूर से असंख्य दर्शनार्थी सम्मिलित हुए थे। राजा हरिहर द्वितीय की 1404 ई. में हुई मृत्यु की घटना भी वहाँ एक शिलालेख में अंकित हुई थी। इस राजा ने कनकगिरि, मूडबिंद्री आदि को अनेक जैन-बसदियों को स्वयं भी उदार भूमिदान दिये थे। उसका राजकवि मधुर भी जैन था जो 'भूनाथस्थान चूड़ामणि' कहलाता था और 'धर्मनाथपुराण' एवं 'गोम्पटाष्टक' का रचयिता था। इसी काल में अभिनव श्रुतमुनि ने मल्लिकेणकृत 'सज्जनचित्तवल्लभ' की कन्नड़ी टीका, आयतवर्मा ने 'कन्नडीरत्नकरण्ड' और चन्द्रकीर्ति ने 'परमागमसार' लिखे थे।

अभिनव बुक्कराय या बुक्कराय द्वितीय (1404-6 ई.) के प्रथम वर्ष में आवलि के बैचगौड के पुत्र और चन्द्रगौड के अनुज ने, और 1405 ई. में सोरब के महाप्रभु की भार्या तथा बयिचराज की सुपुत्री मेन्नक ने समाधिभरण किया था और स्वयं इस राजा ने 1406 ई. में मूडबिंद्री की गुरु-बसदि को भूदान दिया था।

देवराय प्रथम (1406-10 ई.) और महारानी भीमादेवी—यह नरेश जैनाचार्य वर्धमान के पंडितशिष्य एवं महान् व्याख्याता धर्मभूषण गुरु के चरणों का पूजक था। कई तत्कालीन शिलालेखों में उसके द्वारा जैनधर्म के प्रति उदार रहने और जैनगुरुओं का आदर करने के उल्लेख हैं। इस काल में 1407 ई. में जिहुलमेनाड के नालमहाप्रभु रामगौड के सुपुत्र, भूषण के अनुज, मुनिभद्रदेव के गृहस्थ-शिष्य, जिनपद-नलिन-ध्रुव, जिनधर्मोद्धारक, जिनविम्बकारक एवं उदार भव्य हारुवगौड ने समाधिभरण किया था। प्रसिद्ध इरुगण और उसके भाई बैचप (द्वितीय) के अतिरिक्त उसका जैन मन्त्री गोप-चमूष था और मायण्ण, मोपण आदि कई अन्य जैन सामन्त थे। स्वयं महाराज की पहरानी भीमादेवी परम जिनभक्त थी। वह श्रवणबेलगोल के महाधीश पण्डिताचार्य की गृहस्थ-शिष्या थी और उसने 1410 ई. में उक्त तीर्थ की प्रसिद्ध मंगायि-बसदि का जीर्णोद्धार कराके उसमें शान्तिनाथ भगवान् की नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और उक्त जिनालय के लिए प्रभूत दान दिया था। इस अति सुन्दर बसदि को, जिसका नाम त्रिभुवन-चूड़ामणि-चैत्यालय था, पूर्वकाल में, 1325 ई. में अभिनवचारुकीर्ति-पण्डिताचार्य के शिष्य, सम्यक्त्वादि-अनेकगुणगणाभरण-भूषित, रायपात्र-चूड़ामणि, श्रवणबेलगोल के निवासी मंगायि नामक सज्जन ने बनवाया था। रानी भीमादेवी के साथ ही पण्डिताचार्य की एक अन्य शिष्या बसतायि ने वहाँ वर्धमान स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। उपर्युक्त मंगायि सम्भवतया प्रधान राजनर्तक (राय-पात्र) था।

देवराय के उपरान्त वीरविजय (1410-19 ई.) राजा हुआ। उसके भी इरुगण आदि जैन मन्त्री रहे। इसके समय में, 1412 ई. में, गेरसोप्पे निवासी गुम्पटण्ण ने श्रवणबेलगोल की पाँच बसदियों का जीर्णोद्धार करवाया था तथा उनमें आहारदान

आदि की व्यवस्था की थी। गोपण ने 1415 ई. में तथा प्रसिद्ध गोपगौड ने और अय्याप गौड की पत्नी कालि-गौडि ने 1417 ई. में समाधिमरण किया था, तथा 1419 ई. में मेरसोप्ये की श्रीमती अय्ये ने तथा उसके साथ समस्त गोष्ठी ने धर्मकार्यों के लिए श्रवणबेलगोल में दान दिये थे।

देवराय द्वितीय (1419-46 ई.)—वीरविजय का पुत्र एवं उत्तराधिकारी यह नरेश सगमवंश का अन्तिम प्रतापी एवं शक्तिशाली नरेश था। उसने अपने पूर्वजों की उदार नीति का ही अनुसरण किया। उसके समय में 1421 ई. में गोपगौड के पुत्र भैरवगौड ने और मुनिभद्रस्वामी के प्रिय गृहस्थ-शिष्य बेचगौड के सुपुत्र मदुकगौड ने समाधिमरण किया था। महाराज के पुत्र राजकुमार हरिहर ओडेयर ने 1422 ई. में कमकगिरि के विजयदेव-जिनालय के लिए मलेयूर ग्राम की सम्पूर्ण भूमि का तथा एक अन्य ग्राम का दान देवपूजा, अंग-रंग-भोग-वैभव, रथयात्रा, शासन-प्रभावना आदि के लिए दिया था। विद्या-विनय-विश्रुत स्वयं महाराज देवराय ने, 1426 ई. में, राजधानी विजयनगर की 'पर्णपूमीफल-आपणवीथी' (पान-सुपारी बाजार) में, राजमहल के निकट ही, 'मुक्तिबधूप्रियभर्ता' एवं 'करुणानिधि पार्श्व-जिनेश्वर' का पाषाणनिर्मित सुन्दर चैत्यालय निर्माण करवाया था, जिसका उद्देश्य अपने पराक्रमपूर्ण कृत्यों एवं कीर्ति को अजर-अमर बनाना, धर्मप्रवृत्ति, स्याद्वादविद्या का प्रकाश इत्यादि था। राजा के एक जैन दण्डनायक करियप्प ने, जो शम्भुचन्द्रसिद्धान्ति का गृहस्थ-शिष्य, चिक्कमय्य का पुत्र और मारसुनाड का शासक था, 1427 ई. में अपने पिता की स्मृति में चोक्किमय्य-जिनालय बनवाकर उसके लिए दान दिया था। चिक्कण्णगौड के पुत्र होन्नणगौड ने 1430 ई. में अपने पुत्र बोम्मणगौड की पुण्यप्राप्ति के लिए स्वस्थान आनेवाले में ब्रह्मदेव और पद्मावती की वसति बनवायी थी। इसी नरेश के उपराजा कर्कल नरेश वीरपाण्ड्य ने 1432 ई. में बाहुबलि की उत्तुंग प्रतिमा निर्माण करायी थी, जिसके प्रतिष्ठा समारोह में स्वयं महाराज देवराय सम्मिलित हुए थे। उस काल के प्रसिद्ध जैनगुरु श्रुतमुनि की ऐतिहासिक महत्त्व की बृहत् एवं सुन्दर काव्यमय प्रशस्ति श्रवणबेलगोल की सिद्धर-बसदि के एक स्तम्भ पर 1433 ई. में उत्कीर्ण की गयी थी। इसके रचयिता कवि मंगराज थे। जैनाचार्य नेमिचन्द्र ने देवराय की राजसभा में अन्य विद्वानों के साथ शास्त्रार्थ करके राजा से विजयपत्र प्राप्त किया था। इस नरेश के जैन होने में कोई सन्देह नहीं है। अपने राज्य के प्रथम वर्ष (1420 ई.) में ही उसने श्रवणबेलगोल के गोम्मटस्वामी की पूजा के लिए एक गाँव दिया था और अपने महाप्रधान बैम्पदण्डनायक को उसका उत्तरदायित्व सौंपा था तथा 1424 ई. में तुलुवदेशस्थ वरांग के मेमिनाथ-जिनालय को वही वरांग ग्राम दान में दिया था। राजा के अनेक भन्जी, सेनापति, राज्य पदाधिकारी, सामन्त आदि जैन थे जो उसकी शक्ति के स्तम्भ थे। अनेक तत्कालीन अभिलेख उस काल में जैनधर्म की प्रभावना, राज्याश्रय एवं प्रतिष्ठित स्त्री-पुरुषों तथा जनता की जिनभक्ति

और जैन गुरुओं के लोकोपकारी कार्यों के उल्लेखों से भरे पड़े हैं। 'जीवन्धर-चरित' के कर्ता भास्कर (1424 ई.), 'ज्ञानचन्द्राभ्युदय' आदि के कर्ता कल्याणकीर्ति (1439 ई.), 'श्रेणिकचरित्र' के कर्ता जिनदेव (1444 ई.), 'द्वयज्ञानुप्रेक्षा' के कर्ता विजय, महान् कर्ता जिनदेव, जिनदेव, जिनदेव आदि उस काल के उल्लेखनीय विद्वान् हैं। महाकवि कालिदास का सर्वप्रसिद्ध टीकाकार एवं 'वैश्ववंशसुधारणव' का रचयिता जैन विद्वान् मल्लिनाथ-सूरि-कोलाचल इसी सम्राट् वीरप्रताप-प्रौढ़-देवराय का आश्रित था। इस नरेश की मृत्यु की तिथि भी 1446 ई. के श्रवणबेलगोल के दो जैन शिलालेखों में अंकित है।

उसके उपरान्त तीन अपेक्षाकृत निर्बल शासक हुए। 1486 ई. में वंशपरिवर्तन हुआ और संगमवंशियों के स्थान में सालुववंशी राजा हुए।

बैचप दण्डाधिनायक—विजयनगर के प्रारम्भिक नरेशों के सर्वप्रसिद्ध जैन मन्त्री बैच, बैचप या बैचप-माधव अपरनाम माधवराय को 1385 ई. के एक शिलालेख में कुलकमागत-मन्त्री लिखा है। सम्भव है कि वह होयसल नरेशों के किसी जैन दण्डनायक के वंश में उत्पन्न हुआ हो। उसका पिता शान्ति-जिनेश का भक्त, सुजनों का मित्र, चतुर बैचप-नायक था, जो सम्भवतया संगम के पुत्रों के स्वातन्त्र्यप्राप्ति हित किये गये संघर्ष में उनका विश्वसनीय सेनानायक और मन्त्री था, हरिहर-बुक्का द्वारा विजयनगर राज्य की स्थापना में उनका सहायक था और शायद उसके उपरान्त भी हरिहर प्रथम के समय अपनी मृत्यु तक राज्य-सेवा में रहा। तदुपरान्त उसका योग्य सुपुत्र प्रस्तुत बैचप-माधव हरिहर प्रथम का दण्डनायक हुआ। बुक्काराय प्रथम के समय में वह दण्डाधिनायक (प्रधान सेनापति) और राजमन्त्री रहा। उसके वीर पुत्र मंगय, इरुग और बुक्कन भी उसके सामने ही राज्य की सेवा में दण्डनायकों के रूप में नियुक्त हो गये थे। हरिहर द्वितीय का तो बैच महाप्रधान (प्रधान-मन्त्री) एवं महादण्डाधिनाथ (प्रधान सेनापति) था। वह प्रभाव, उत्साह और मन्त्र इन शक्तित्रय से समन्वित था और महाराज हरिहर का तो समसंगण में तीसरा हाथ (तृतीय बाहु) था। इस परम वीर ने, विशेषकर कोंकणदेश की विजय में अद्भुत पराक्रम दिखाया था। मूलतः बैच कुन्तल-वनवासि देश स्थित जैनधर्म के गढ़ कम्पण-उद्वरे का निवासी था। इस अप्रतिम साहसी वीर, विचक्षण राजनीतिज्ञ और धर्मात्मा ने 1480 ई. की वैशाख शुक्ल त्रयोदशी भौमवार के दिन जिनेन्द्र के चरणकमलों का आश्रय लेकर समाधिविधान से स्वर्ग प्राप्त किया था। मन्त्रीश्वर बैच अपने साहस, वीरता, उदारता, विद्वत्ता और सर्वानुमोदित नीति के लिए प्रसिद्ध हुआ।

इरुग दण्डनाथ—महाप्रधान बैच-माधव का द्वितीय पुत्र था। उसका ज्येष्ठ भाई मंगय और अनुज बुक्कन भी राज्य के वीर दण्डनायक एवं मन्त्री थे, किन्तु इरुग तीनों भाइयों में सर्वाधिक योग्य था और पिता की मृत्यु के उपरान्त वही हरिहर द्वितीय का महाप्रधान हुआ। उसने 1367 ई. में चेन्नमलूर में एक जिनमन्दिर

बनवाया था और दान दिया था तथा 1382 ई. में तामिलदेशस्थ तिरुपतिक्कुन्तु के त्रैलोक्यवल्लभ-जिनालय की पूजा-अर्चा के लिए महेन्द्रमंगल नामक ग्राम दान किया था। इसी दण्डेश, धरणीश, शिलीश आदि उपाधिकारी इरुग ने, जो हरिहर महाराय के दण्डाधिनाथ वैच का लोकनन्दन-नन्दन था, बड़ा शूरवीर था, हरिहर भूपति की साम्राज्य लक्ष्मी की वृद्धि करनेवाला था और आचार्य सिंहनन्दि के चरणकमलों का भक्त था। 1385 ई. में कर्णाटक मण्डल के कुन्तल विषय में स्थित विचित्र-रुचिर रत्नों से विभूषित महानगरी विजयनगर में सुन्दर पाषाणनिर्मित कुन्तुनाथ-वैत्यालय निर्माण कराया था। इस आश्रय का लेख उक्त मन्दिर के सम्मुख दीपस्तम्भ (मानस्तम्भ) पर अंकित है। कालान्तर में यही मन्दिर गणिगिति-बसदि (तेलिन का मन्दिर) नाम से प्रसिद्ध हुआ। सम्भव है कि पीछे से किसी तेलिन ने उसका जीर्णोद्धार कराया है। इस सेनापति ने 1387 ई. में गुरु पुष्पसेन की आज्ञा से स्वयं द्वारा निर्मित तामिलदेशस्थ (कांची के निकटस्थ) मन्दिर के सम्मुख एक सुन्दर मण्डप बनवाया था। वह कुशल अभियन्ता भी था। 1394 ई. में एक विशाल सरोवर का उत्कृष्ट बाँध उसने बनवाया था। संस्कृत भाषा का भी वह भारी विद्वान् था और उसने 'नानार्थरत्नाकर' नामक महत्त्वपूर्ण कोष की रचना की थी। वह भारी धनुर्धर भी था। चन्द्रकीर्ति के शिष्य ब्राह्मणजातीय जैन मन्त्री कूचिराज आदि उसके सहयोगी थे और स्वयं उसके सहोदर मंगप और कुक्कन राज्य के प्रतिष्ठित मन्त्री एवं दण्डनायक थे। सेनापति इरुग के एक साथी दण्डनाथ गुण्ड ने 1397 ई. के एक शिलालेख में लिखाया था कि 'जितकी उपासना शैव लोग शिव के रूप में, वेदान्ती ब्रह्म के, बौद्ध बुद्ध के, नैयायिक कर्ता के, मीमांसक कर्म के और जिनशासन के अनुयायी अहन्त के रूप में करते हैं वे केशवदेव तुम्हारी मनोकामना पूरी करें।' यह उस युग के सर्वधर्म-समन्वय का एक उदाहरण है। तन् 1403 ई. में इरुग महाराज हरिहर द्वितीय का महाप्रधान सर्वाधिकारी था। उसके छोड़े समय पश्चात् ही उसकी मृत्यु हो गयी लगती है और उसके दोनों भाइयों की भी, क्योंकि तदनन्तर उन तीनों के बजाय इस इरुग के भतीजे और मंगप के पुत्र इरुगप (द्वितीय) और वैचप (द्वितीय) के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इरुग (प्रथम) के उल्लेख 1367 से 1403 तक के प्राप्त होते हैं। इस प्रकार लगभग 36 वर्ष उसने राज्य की सेवा की। हरिहर द्वितीय के शासनकाल में जब राजकुमार कुक्काराय (द्वितीय) राज्य के दक्षिणी भाग का शासक था (1382 ई. के लगभग) तब इरुग उसका प्रधान दण्डनायक था और शनैः-शनैः पदोन्नति करते हुए स्वयं सम्राट् का महाप्रधान सर्वाधिकारी बन गया था।

इरुगप दण्डेश—इरुग, इरुगेन्द्र, इरुगप या यिरुगप इस नाम के और एक ही वंश में उत्पन्न दूसरे जैन महासेनापति थे। वह दण्डाधिनायक महाप्रधान वैच-माधव के पौत्र, महाप्रधान-सर्वाधिकारी-इरुग (प्रथम) और दण्डनायक कुक्कन के भतीजे, दण्डनाथ मंगप की भार्या जानकी से उत्पन्न उसके सुपुत्र और दण्डनायक

मन्त्री-वैद्य (द्वितीय) के भाई थे। पिता दण्डपति मंगप अपने सद्गुणों के लिए लोकसम्मानित थे। जैनागम के ये अनुयायी और जिनधर्मरूपी बल्लरी के लिए समर्थ तरु थे। माता जानकी रायवप्रिया जानकी की मौति चारुशीलगुणभूषणोज्ज्वला थी। सहोदर दण्डनाथ वैद्य (द्वितीय) भारी युद्धवीर, विजेता और भव्याग्रणी था तथा 1420 के लगभग राजा का महाप्रधान था। स्वयं दण्डेश इरुगप महान् पराक्रमी, प्रतापी, वीर, राजनीतिपटु, उदार, दानी और परम जिनभक्त था। वह रत्नत्रय का परम आराधक था, चतुर्विध-पात्रदान में तथा दीन-दुखियों का दुःख-कष्ट दूर करने में सदा तत्पर रहता था, हिंसा-अनृत-चौर्य-परस्त्रीसेवन आदि कुव्यसनों से दूर रहता था, जिनेन्द्र की यशोगाथा सुनने में उसके कान, उनका गुण-कीर्तन करने में उसकी जिह्वा, उनकी वन्दना में उसका शरीर और उनके चरणकमलों का सौरभ सेवन करने में उसकी नासिका स्वयं को धन्य मानते थे। उसका धवलयश पृथ्वी पर चहुँ ओर व्याप्त था। इस सचिवकुलाग्रणी दण्डाधीश इरुगप ने श्रवणबेलगोल के महाविद्वान् पीठाचार्य पण्डिताचार्य की गोम्मटेश्वर की नित्य पूजा के हेतु बेलगोल ग्राम तथा एक विशाल सरोवर बनवाकर उसे उसके तटवर्ती सुन्दर उपवन सहित 1422 ई. में उक्त आचार्य को समर्पित कर दिया था। तत्कालीन शिलालेखों में इस वीर की प्रभूत प्रशंसा प्राप्त होती है। महाराज देवराज द्वितीय के पूरे राज्यकाल में विजयनगर साम्राज्य का प्रमुख स्तम्भ बना रहा; क्योंकि 1442 ई. में वह राज्य के अति महत्त्वपूर्ण प्रान्त चन्द्रगुप्ति एवं गोआ का सर्वाधिकारी शासक था।

श्रुतोद्धारक राजकुमारी देवमति—तौलव देश की इस धर्मात्मा विदुषी राजकुमारी ने श्रुतपंचमीव्रत के उद्घापन में सुप्रसिद्ध महाविशालकाय धवल, जयधवल, महाधवल की लाङ्गपत्रीय प्रतियाँ लिखाकर मूडवित्री (वेणुपुर) की गुरु-बसदि अपरनाम सिद्धान्त बसदि में स्थापित की थी। इस विपुल द्रव्य एवं समय साध्य महान् कार्य द्वारा उसने सिद्धान्त शास्त्रों की रक्षा की थी। यह नगर उस युग में प्रसिद्ध जैन केन्द्र था और 1429 ई. के एक शिलालेख के अनुसार वह सद्धर्म के पालक पुण्य कार्यों को सहर्ष करनेवाले और धर्मकथा श्रवण के रसिक भव्य समुदाय से भरा हुआ था।

गोपचमूप—महाराज देवराज प्रथम के समय में लगभग 1400 ई. में उसका यह महाप्रधान गोपचमूप निडुगल दुर्ग का शासक था। वह जैन वीर सेनापति अपने स्वामी के राज्य की रक्षा करने में परम उत्साही था और मन्त्री पद पर आरुढ़ था। धर्मात्मा भी ऐसा था कि उसे जिनेन्द्र-समयाम्बुधिबर्धन-पूर्णचन्द्र कहा गया है। निडुगल दुर्ग राज्य का एक महत्त्वपूर्ण पहाड़ी किला था।

गोप महाप्रभु—गोपगौड़ या राजा गोपीपति (प्रथम) बान्धवपुर के शान्तिनाथ का भक्त था और उक्त नगर का शासक था। उसका पुत्र धर्मात्मा श्रीपति (सिरियण्ण) था और पौत्र उसी का नामधारी गोपीपति (द्वितीय) गोपण्ण या गोपमहाप्रभु था। वह मलेनाड का शासक था और कुप्पदूर में निवास करता था, जहाँ

उसने एक सुन्दर जिनालय बनवाया था और उसके लिए दान दिया था। कर्णाटक देश में नागरखण्ड प्रसिद्ध था और उसका तिलक यह कुप्पटूर था, क्योंकि वहाँ मुख्यतया जैनीजन निवास करते थे, अनेक चैत्यालय और कभलों से भरे सरोवर थे। वह गोप महाप्रभु (गोपीपति) देशगण के सिद्धान्ताचार्य का तजस्वी प्रिय शिष्य था। जिनेन्द्र की पूजा, जिनमन्दिरों के बनवाने, सत्पात्रों को दान देने आदि पुण्य कार्यों में रत रहता था। राजा देवराय प्रथम के राज्य में 1408 ई. में इस धर्मात्मा सामन्त ने संसार और कुटुम्ब का मोह छोड़कर जिनेन्द्र चरणों में मन लगाया और समाधिपूर्वक स्वर्ग प्राप्त किया। उसकी दोनों सती पत्नियों—गोपायि और पद्मायि—ने भी अपने पति का अनुसरण किया। सम्भव है कि निङ्गलदुर्ग के शासक गोपचम्पू से यह मलेनाड-महाप्रभु गोप अभिन्न हो।

भव्य-मायण्ण—कर्णाटक देशस्थ गंगवती नगरी के निवासो धर्मात्मा माणिक्य और उसकी भार्या बाचायी का सुपुत्र तथा चन्द्रकीर्ति मुनि का शिष्य सम्यक्त्व वृद्धामणि भव्योत्तम मायण्ण था, जिसने 1409 ई. में बेलगोल के गंगसमुद्र की दो खण्डुग भूमि क्रय करके कई व्यक्तियों की साक्षी से गोम्मटस्वामी के अष्टविधार्चन के लिए दान दी थी।

गोपगौड़—गोपीश, गोपीनाथ या गोपण महाराज वीरविजय के समय में नागरखण्ड के अन्तर्गत भारंगि का शासक था। वह बुल्लगौड़ और मालिगौड़ का परम मानुषक पुत्र था। पण्डिताचार्य और श्रुतमुनि उसके दो गुरु थे जिनमें से एक उसे अनीति के मार्ग से बचाता था और दूसरा सन्मार्ग में लगाता था। उसका पिता बुल्लगौड़ रायवादि-पितामह अभयचन्द्र सिद्धान्ति का पुराना शिष्य था। भारंगिनगर धर्मात्मा जैनों, विद्वानों, न्यायीजनों एवं श्रीमानों से भरा था और वहाँ पार्श्व जिनेश का एक उत्तम जिनालय था। गोप स्वयं बड़ा उदार, दानी और धर्मात्मा था। अन्ततः 1415 ई. में समाधिविधि से उसने शरीर का त्याग किया और उसका स्मारक स्थापित किया गया। उसके पिता बुल्लगौड़ ने भी 1406 ई. में लगभग समाधिभरण किया था। वह देवचन्द्र मुनि का शिष्य था। उसने जिनमन्दिरों को भूमिदान किया था, सरोवर आदि बनवाये थे। गोप की बहन भागीरथी ने 1456 ई. में समाधिभरण किया था।

कम्पन गौड़ और नागण्ण वोडेयर—1424 ई. में देवराज द्वितीय के समय में जब उसका पुत्र विजय-बुक्कराय प्रान्तीय शासक था और भगवत्-अर्हत् परमेश्वर के पाद-पथों का आराधक बैच-दण्डनाथ (मंगण का पुत्र और इत्तगण का भाई) उसका महाप्रधान था तो बैच के अधीन नागण्णवोडेयर नामक एक अधिकारी था जिसे होयसल राज्याधिपति कहा गया है, क्योंकि सम्भवतया वह पुराने होयसलनरेशों का वंशज था। उसके हाथों से पण्डितदेव के एक अन्य शिष्य नाल-महाप्रभु कम्पनगौड़ ने राजकुमार और महाप्रधान की सहमतिपूर्वक गोम्मटस्वामी की पूजा एवं

अंग-रंग-भोग-संरक्षण हेतु तोटहलि ग्राम का दान दिया था, जिसका नाम गुप्तरपुर रखा गया। कम्पनगौड वयिनाड का शासक (महाप्रभु) था और मत्तणहलि का निवासी था। उसने स्वर्ग-प्राप्ति के उद्देश्य से उक्त धर्म कार्य किया था। उक्त ग्राम के साथ तत्सम्यन्धी समस्त चल-अचल सम्पत्ति आय और अधिकार भी प्रदान कर दिये थे।

राजा कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव—पुराने जैन धर्मानुयायी आलुपवंश का वह नृप हरिहर द्वितीय का सामन्त एवं उपराजा था। वह इतना वैभवशाली था कि रत्न-सिंहासन पर बैठा था। वह पार्श्वनाथ का भक्त था और 1386 ई. में उसने उक्त तीर्थंकर का मन्दिर मूडविट्टी में बनवाया था और दान दिया था। नल्लूर उसकी राजधानी थी।

वीर पाण्ड्य भैरव—कार्कल का भैरववंश सम्भवतया प्राचीन सान्तर राजाओं की सन्तति में से था और प्रारम्भ से अन्त तक जैन धर्मानुयायी रहा। इस काल में ये राजे विजयनगर सम्राटों के सामन्त उपराजे थे और स्वयं को सोमवंशी तथा जिनदत्तराय का वंशज कहते थे। इस वंश के राजा भैरवेन्द्र (भैरवराज) के पुत्र राजा वीरपाण्ड्य (पाण्ड्यराय) ने 1432 ई. की फाल्गुन शुक्ल द्वादशी सोमवार के दिन कार्कल में बाहुबलिस्वामी की विशाल (41 फुट 5 इंच) उत्तुंग मनोहर प्रतिमा निर्माण कराकर प्रतिष्ठापित की थी। इस राजा के गुरु ललितकीर्ति मुनीन्द्र थे, जिनके उपदेश से उसने यह धर्मकार्य किया था। श्रवणबेलगोल के गोम्भटेश्वर के साथ उनकी यही सबसे अधिक विशाल प्रतिमा है। इस महोत्सव में विजयनगर सम्राट् देवराय द्वितीय स्वयं भी सम्मिलित हुए थे। वीरपाण्ड्य के पितामह पाण्ड्य भूपाल थे और उनके पिता वीर भैरव थे। इन दोनों पिता-पुत्रों ने भी 1408 ई. में बारकूर के पार्श्व जिनालय के लिए भूमि दान दिया था। उपर्युक्त वीरपाण्ड्य ने 1436 ई. में स्वनिर्मापित गोम्भटेश मूर्ति के सम्मुख ब्रह्मदेव स्तम्भ बनवाया था और उसपर मनोव्योहित फलदायक जिनभक्त ब्रह्मयज्ञ की प्रतिष्ठापना की थी।

देवराज द्वितीय के उत्तराधिकारियों के समय में 1451-52 ई. में बारकूर राज्य के शासक गोपण ओडेयर ने मूडविट्टी की होसावसदि में भैरादेवी मण्डप बनवाया था और 1472 ई. में महाराज विलुपाक्ष राय के प्रतिनिधि विट्टरस ओडेयर ने उसी बसदि को भूमिदान दिया था। एक सहस्र स्तम्भोंवाला वह जिनमन्दिर अत्यन्त कलापूर्ण है और त्रिभुवनतिलक-चूड़ाभूषि कहलाता है। कहते हैं कि इसके कोई भी दो स्तम्भ एक-से नहीं हैं। राज्य के कई नायकों ने 1478 ई. में इदवाणि में पार्श्वनाथ जिनालय बनवाया था और अगले वर्ष मलयलेट्ट के नेमिनाथ जिनालय के लिए दान दिया था। श्रवणबेलगोल तीर्थ की वन्दना करने के लिए उस काल में सुदूर मारवाड़ तक के यात्री आते थे। ऐसे ही एक मारवाड़ी सेठ ने 1486 ई. में वहाँ एक जिनाप्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी और 1519 ई. में ऐसे ही एक अन्य सेठ ने करवायी थी। अन्य

वर्षों के भी कई यात्रा-लेख हैं। विरूपाक्षराय की राजसभा में उद्भट विद्वान् एवं महान् वादी विशालकोटि ने अजैन वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित करके राजा से जयपत्र प्राप्त किया था। इन्हीं आचार्य ने राज्य के एक प्रमुख सामन्त, अरग के शासक, देवण्ण इण्डनाथ की सभा में जैनदर्शन पर महत्वपूर्ण व्याख्यान देकर ब्राह्मण विद्वानों की भी विनय एवं श्रद्धा प्राप्त कर ली थी। अनेक जैन गृहस्थ एवं मुनि विद्वानों द्वारा इस काल में भी साहित्य की अभिवृद्धि हुई। गोम्मदेश का महामस्तकाभिषेक 1500 ई. में असंख्य जनसमूह की उपस्थिति में बड़े समारोहपूर्वक हुआ। राज्य की ओर से उसके लिए समस्त सुविधाएँ प्रदान कर दी गयी थीं। इसी काल में 1482 ई. में हरवे के देवण्ण के पुत्र चन्दण्ण ने हरवे बसदि के अपने कुलदेवता आदि-परमेश्वर की पूजा एवं धनुर्विधान के लिए अपने कुटुम्बीजनों की अनुमति से भूमि का दान दिया था और 1492 ई. में मलेयूर के दिम्पणसेट्टि के पुत्र ने कनकगिरि पर विजयनाथदेव की दीप-आरती की सेवा के लिए द्रव्य दान दिया था और 1500 ई. में पण्डितदेव के शिष्यों नागगौड़, कलगौड़ आदि कई गौड़ों ने बेलगोल की मंगायि बसदि के लिए भूमिदान दिया था।

सम्राट् कृष्ण देवराय (1509-39 ई.)—विजयनगर के नरेशों में वह सर्वाधिक प्रसिद्ध प्रतापी और महान् समझा जाता है। उसके समय में यह साम्राज्य अपनी शक्ति, विस्तार एवं वैभव के चरमोत्कर्ष पर पहुँच गया था। अपने पूर्ववर्ती नरेशों की भाँति वह भी सर्वधर्म समदर्शी था। उसने स्वयं 1516 ई. में चिंगलापुट जिले में स्थित त्रैलोक्यनाथ बसदि को दो ग्राम भेंट दिये थे और 1519 ई. में पुनः उसी जिनालय का दान दिया था। कोल्लारगण के मुनिचन्द्रदेव के समाधिमरण के उपरान्त 1518 ई. में उनके शिष्य आदिदास ने मलेयूर में उनका स्मारक बनवाया था, विद्यानन्दोपाध्याय ने प्रशस्ति श्लोक रचे थे और वृषभदासवर्णी ने उसे लिखा था। स्वयं सम्राट् ने 1528 ई. में बेलारी जिले के एक जिनालय के लिए प्रभूत दान दिया था और तत्सम्बन्धी शिलालेख अंकित कराया था तथा मूडविदी की गुरु बसदि को भी स्थायी वृत्ति दी थी। सन् 1530 ई. के एक शिलालेख में स्याद्वादमत और जिनेन्द्र के साथ-साथ आदि-वराह और शम्भु को नमस्कार किया जाना इस नरेश द्वारा राज्य की परम्परा नीति के अनुसरण का परिचायक है। हुम्मच के पद्मावती मन्दिर में अंकित प्रायः उसी समय की वादी विद्यानन्द स्थापी की प्रशस्ति से प्रकट है कि यह जैन गुरु अपनी विद्वत्ता, वाग्मिता और प्रभाव के लिए उस काल में सर्वप्रसिद्ध थे। महाराज कृष्णदेवराय की राजसभा में विभिन्न देशों एवं मतों के विद्वानों के साथ कई बार सफल शास्त्रार्थ करके उन्होंने ख्याति अर्जित की थी। स्वयं सम्राट् उनका बड़ा आदर करता था और उनके चरणों में मस्तक झुकाता था। नंजयपट्टन के नंजभूप, श्रीरंगनगर के पेरंगि (फिरंगी-ईसाइयों), संगीतपुर के सालुवेन्द्र, मल्लिराय, सोंगिराय और देवराय, बिलिगे के कलशवंशी नरसिंह, कारकल के बैरव भूपाल इत्यादि

अन्य अनेक तत्कालीन नरेशों की सभा में वाद-विजय करके वह सम्मानित हुए थे। ये राजे विजयनगर सम्राट के सामन्त उपराजे थे और उनमें से अनेक जैनधर्मानुयायी थे। इस नरेश के आश्रय में अनेक जैन विद्वानों के कन्नड़ साहित्य की भी सराहनीय अभिवृद्धि की थी।

कृष्णदेवराय के उत्तराधिकारी अच्युतराय (1530-42 ई.) के समय में 1531 ई. में मुदगिरि की जैन बसदि को तथा 1533-34 ई. में तमिलदेश की कुछ बसदियों को दान दिये गये थे और 1539 ई. में सालुवराज ने गोम्पटेश का महा-मस्तकाभिषेक महोत्सव मनाया था जिसमें उसके आश्रित गेरुसम्पे के जैन सेठों का प्रमुख योगदान था। उस समय से श्रवणबेलगोल तीर्थ का प्रबन्ध भी उक्त सेठों के हाथ में चला गया। अच्युतराय के उत्तराधिकारी सदाशिव राय के शासनारम्भ में ही 1542-43 ई. में तुलुवदेश की कतिपय बसदियों को दान दिये गये और 1544 ई. में श्रवण-बेलगोल के आचार्य अभिनवचारुकीर्ति पण्डितदेव के शिष्य शान्तिकीर्तिदेव ने अंजनगिरि पर एक शासन अंकित कराया था, जिसके अनुसार 1531 ई. में सुवर्णवती नदी से शान्तिनाथ एवं अन्नन्तनाथ की जो प्रतिमाएँ प्रकट हुई थीं उन्हें अंजनगिरि पर एक नकड़ी की बसदि बनाकर विराजमान कर दिया गया था। अगले वर्ष वहीं पाषाण की बसदि की नींव डाली गयी जो 1543 ई. में बनकर पूर्ण हुई और तदनन्तर उक्त गुरुओं ने उसकी प्रतिष्ठा करायी थी। इन राज्यकालों में भी कन्नड़ भाषा के कई पसिद्ध जैन साहित्यकार हुए।

विजयनगर के पतनकाल में भी संगीतपुर के सालुव, कार्कल के भैरवत, बेणूर के अजिल, उल्लाल के चौट, विलिकेरे के अरसु, बारकुरु के पाण्ड्य, मैसूर के ओडेयर, नगरी के चन्द्रवंशी, बैलगडि के मूल, मूलिक के सावन्त, श्वेतपुर (विलिंगे) के राजे, इत्यादि लगभग एक दर्जन छोटे-छोटे जैन राज्यवंश कर्णाटक के विभिन्न भागों में विद्यमान थे जो उस काल में तथा आनेवाली (17वीं, 18वीं, 19वीं) शताब्दियों में भी तद्देशीय जैन तीर्थों एवं केन्द्रों का संरक्षण, बसदियों का जीर्णोद्धार, निर्माण और रक्षा, साहित्यरचना, विद्वानों और गुरुओं का पोषण-प्रश्रय करते रहे और उस देश में जैनधर्म को जीवित बनाये रहे।

संगीतपुरनरेश सालुवेन्द्र और इन्दगरस—तैलवदेश में काश्यपगोत्र और सोमकुल में उत्पन्न महाराज इन्द्रचन्द्र का पुत्र संगिराज था जिसकी रानी का नाम संकराम्बा था। इन दोनों का पुत्र यह महामण्डलेश्वर सालुवेन्द्र महाराज था जो तीर्थंकर चन्द्रप्रभु का भक्त था। वह बड़ा प्रतापी, वीर और रत्न-त्रय-मणिकरण्डायमान-अन्तःकरण था। वह शास्त्रदानादि विविध दानों के देने में सदा तत्पर रहता था। उसने अनेक भव्य एवं उत्तुंग जिनालयों, मण्डपों, घण्टियों से युक्त मानस्तम्भों, उद्यानों, प्रस्तर एवं धातुमयी जिनविम्बों का निर्माण कराके जिनधर्म का संवर्धन किया था। उसने 1487 ई. में पक्षनायक धर्मात्मा जैन को अपना मन्त्री

नियुक्त करके उसे ओगेयकंरे की समृद्ध जागीर प्रदान की थी। उसके अनुज कुमार इन्दगरस-वोडेयर अपरनाम इम्मडिसालुवेन्द्र ने 1490 ई. में संगीतपुर में निवास करते हुए उक्त पद्म द्वारा निर्मापित चैत्यालय को भूमिदान दिया था। इसी शुद्ध सम्यक्त्व रत्नाकर महामण्डलेश्वर इन्दगरस वोडेयर ने अपनी राजधानी में रहते हुए 1496 ई. में स्वकीय पुण्य के लिए वणुपुर (विदिलूर) की वर्धमान-स्वामीवसति के अंग-रंग-नैवेद्य-नित्य-नैमित्तिक-शिवपूजा आदि के लिए हिरण्योदक धारापूर्वक प्रभूत भूमिदान दिया था और पूर्वकाल में दिये गये दानों की पुनरावृत्ति की थी। वह अपनी शूरवीरता के लिए प्रसिद्ध था।

मन्त्री पद्मनाभ—पद्मसेट्टि, पदुमण या पद्मनाभ संगीतपुर के नरेशों का धर्मात्मा प्रधान मन्त्री था। वह बोप्पाण्णोडि (बुद्ध) और लाम्पारवा का पूजा था। पद्म और मल्लिका नाम की उसकी दो पतिपरायणा प्रिय पत्नियाँ थीं। महाराज सालुवेन्द्र का वह कृपापात्र एवं मुख्य मन्त्री था, भगवान् पार्श्वजिनेन्द्र का परम भक्त और श्रवणबेलगोल के पण्डिताचार्य का प्रिय शिष्य था। वह सुगुणसद्य, हितनान्त, प्रिय-सत्यवाद-निपुण, धर्मार्थ-सम्पादक, चलुर, सच्चरित्र, दयार्द्रहृदय, शास्त्रज्ञ और राजधर्म-विज्ञ था। जिनचरणों में अपना मस्तक रख, जिन-स्मिम्बदर्शन में अपने नेत्रों को लगा, जिनशास्त्रों के श्रवण में अपने कानों को उपयुक्त कर, जिनस्तवन में जिह्वा का उपयोग कर, चिन्तात्म-भावना में मन को लगा और पात्रदान में अपने हाथों को प्रयुक्त कर वह महामन्त्री पद्म स्वयं को धन्य मानता था। उसकी सेवाओं से प्रसन्न होकर महाराज सालुवेन्द्र ने 1487 ई. में उसे ओगेयकंरे का समृद्ध ग्राम जागीर में दिया था। महाराज उसे अपने परिवार का सदस्य-जैसा ही मानते थे और सम्भवतया वह राज्यवंश में ही उत्पन्न हुआ था। अपनी जागीर के उक्त ग्राम में पदुमणसेट्टि ने एक सुन्दर जिमालय बनवाकर उसमें पार्श्व तीर्थेश्वर की प्रतिष्ठापना की और उसकी नित्य त्रिकाल-अभिषेक-पूजा, कीर्ति की पूजा, नन्दीश्वर, अष्टादिक, शिवरात्रि, अक्षयतृतीया, श्रुतपंचमी, जीवदयाष्टमी, भगवान् पार्श्व के गर्भावतरण, जन्माभिषेक, दीक्षत, केवल-ज्ञान और निर्वाण-प्राप्ति नामक पंचकल्याणकों के पूजोत्सव करने, तपस्वियों के आहारदान, पूजकों की वृत्ति आदि की सुव्यवस्था के लिए उसने 1490 ई. में महाराज इन्दगरस वोडेयर से एक शासनपत्र लिखा था, जिसमें राज्य से स्वशासित ओगेयकंरे के मौलिक अधिकारों की प्राप्ति तथा उपर्युक्त उद्देश्यों से किये प्रभूत उक्त ग्राम एवं अन्य दानों की विगत थी। चैत्यालय के उत्तर की ओर एक सुदृढ़ मकान बनवाकर ये शासनपत्र उसमें सुरक्षित रखे गये और उसके अन्त में दातार ने लिखा था कि मेरी मृत्यु के एक हजार वर्ष पश्चात् ही मेरे वंशज इस मकान पर अधिकार कर सकते हैं, किन्तु तब भी प्रदत्त जायदाद की आय से उक्त धर्मकार्यों का संचालन करते रहेंगे—प्रत्येक मद का खर्च व्यवस्थित कर दिया गया है। ऐसी विचित्र पक्की वसीयत करते हुए शायद यह बुद्धिमान् मन्त्री संसार की क्षण-भंगुरता

की बात भूल गया था। मन्त्री पद्मनाभ ने पश्चात्तरपुर नाम का एक नगर भी बसाया था। इस नगर में 1498 ई. में उसने पार्श्वजिनेन्द्र का एक अन्य भव्य जिनालय बनाकर प्रतिष्ठित किया था और उसके नित्य-पूजा-दानादि के लिए प्रभूत दान देकर उत्तम व्यवस्था की थी और शासन अंकित करा दिया था।

चेन्न बोम्मरस—मण्डलेश्वर कुलोत्तुंग चंगाल्वनरेश महादेव-महोपाय का प्रधान मन्त्री केशवनाथ का सुपुत्र, कुलपवित्र एवं जिनधम्मसहायप्रतिपालक बोम्मण मन्त्री का सहोदर वह सम्यक्त्व चूडामणि-बोम्मरस था। 1510 ई. में उसने नंजरायपट्टण के भव्य श्रावकों की गोष्ठी के सहयोग से श्रवणबेलगोल में गोम्मटस्वामी के 'वेल्लिवाड' (उद्यान भवन) का जीर्णोद्धार कराया था।

सेनापति भंगरस—चंगाल्वनरेश का सुप्रसिद्ध सेनापति भंगरस और पार्श्वजिनेन्द्र का सुपुत्र कृष्ण देवराय के कई युद्धों में उसने अद्भुत वीरता दिखायी थी। अपने पिता महाप्रभु विजयपाल की ही भाँति वह परम जैन था और साथ ही विद्वान् और सुकवि भी था। उसने कई जिनमन्दिर और सरोवर निर्माण कराये थे तथा जयनृप-काव्य, प्रभञ्जन-चरित, नेमिजिनेशसंगति, सम्यक्त्वकीमुदी (1509 ई.), सूपशास्त्र आदि ग्रन्थों की कन्नड़ी भाषा में रचना करके अपना नाम अमर किया था। चंगाल्वनरेश विक्रमराय के समय में उसने बैदार नाम भयंकर जंगली जाति का दमन करके थेरुदपुर नगर बसाया था, कई स्थानों की किलाबन्दी की थी, दुर्ग बनवाये थे, कई सरोवर और जिनमन्दिर बनवाये थे। स्वनिर्मापित चमगुम्ब बसदि में उसने पार्श्वजिन, पद्मावती और चम्पिगन्नशराय की स्थापना की थी। उसकी जननी देविले भी बड़ी धर्मात्मा थी और पिता विजयपाल कल्लहल्लि का शासक और चंगाल्वनरेश का मन्त्री था तथा पितामह स्वयं एक चंगाल्वनरेश माधवराजेन्द्र था। दण्डाधिप भंगरस उस युग का एक प्रमुख जैन वीर था।

चवुडिसेट्टि—श्रवणबेलगोलस्थ विन्ध्यमिरि के अष्ट दिक्पाल मण्डप के एक स्तम्भ पर अंकित 1537 ई. के कई लेखों में गेरुसप्पे निवासी इस चवुडिसेट्टि की प्रशंसनीय धार्मिक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन प्राप्त होता है। यह उदार धनी श्रावक जिस व्यक्ति को कष्ट या आर्थिक विपत्ति में देखता उसकी सहायता करता और बदले में उससे यह लिखित स्वीकृति (धर्मसाधन) ले लेता कि वह व्यक्ति अमुक धर्म-कार्य करेगा और इस प्रकार वह उक्त उपकृत व्यक्तियों को धर्मसाधन में लगाता था। ये धर्मसाधन (धार्मिक इकरारनामे) इस प्रकार के थे कि 'गेरुसप्पे के चवुडिसेट्टि ने मेरी भूमि रहन से मुक्त करा दी है, अतएव मैं अगणिबोम्मय्य का पुत्र कम्मय्य सदैव निम्नोक्त दान का पालन करूँगा—एक संघ को आहार, त्यागद-ब्रह्म के सामने के उद्यान की देखरेख और अक्षतपुंज के लिए आवश्यक तन्दुल'—'आपने हमारे कष्ट का परिहार किया है, जिसके उपलक्ष्य में मैं देवय्य का पुत्र चिमण सदैव एक संघ को आहार-दान दूँगा।' 'कवि के पुत्र बोम्मण ने चवुडिसेट्टि को वह धर्मसाधन दिया,

क्योंकि संहि ने उसकी आपत् का निवारण किया है। वह सदैव वर्ष में छह भास एक संव को आहार देगा, 'चैन्नय्य भानी ने धर्मसाधन दिया, क्योंकि संहि ने उसकी भूमि रहन से मुक्ति कर दी है; वह अमुक धर्म-कार्य करेगा' इत्यादि।

रानी कालतदेवी—कार्कल नरेश वीर भैरस बोडेयर की छोटी बहन थी जो बगुलि सीमे की रक्षिका एवं शासिका थी। उसने 1530 ई. में अपने कुलदेवता कल्ल-वसदि के पार्श्व तीर्थकर की नित्य पूजा के लिए भूमिदान दिया था। जब उसकी पुत्री कुमारी रामादेवी की मृत्यु हो गयी तो उसने उसकी स्मृति में भूमि, चावल, तेल, धातु आदि के विविध दान दिये थे। कालतदेवी और वीर भैरस की माता का नाम बोम्मल देवी था और पिता का शायद बोम्मरस। वीर भैरस (भैरवपाल) वादी विद्यानन्द का भक्त था और सम्भवतया भव्यानन्दशास्त्र के रचयिता पाण्ड्य क्षमापति और वर्धमान द्वारा 1542 ई. में उल्लिखित पाण्ड्यराज यही था। उसकी रानी भैरवाम्बा सालुववंश की राजकुमारी थी और बड़ी जिनभक्त धर्मात्मा थी।

वीरय्य नायक—सम्राट् कृष्णादेवराय का एक सामन्त था और चामराजनगर का शासक था जो एक प्राचीन गंगवंशकालीन जैन बस्ती थी। वीरय्य नायक ने 1517 ई. में वहाँ एक जिनमन्दिर बनवाकर उसके लिए दान दिया था।

गेरुसप्पे के शासक—ये भी परम जैन थे, कृष्णादेवराय के सामन्त थे। इन्होंने 1528 ई. के लगभग उक्त नगर में कई जिनमन्दिर बनवाये थे और दान दिये थे। तोलवदेश में अम्बुनदी के दक्षिण तट पर स्थित क्षेम्पुर नगर में इन सोमवंशी काश्यप गोत्री क्षत्रियों का राज्य था। इनके कुलदेवता नेमिनाथ तीर्थकर थे और गोम्मटेश के ही वे भक्त थे। इस वंश में देवमहीपति नाम का भूपाल चूड़ामणि हुआ जिसने गोम्मटेश का महामस्तकाभिषेक कराया था। उसके वंश में कई राजाओं के उपरान्त जिनधर्मरूपी समुद्र के लिए चन्द्रमा के समान भैरव भूपति हुआ जिसके छोटे भाई भैरव, अम्ब क्षितीश और साल्वमल्ल (सालुवमल्लराय) थे। साल्वमल्ल सबसे छोटा होते हुए भी सबसे महान् था। वह सोमवंशाब्जभानु, बुधजन के लिए कामधेनु, जिनेन्द्र की रथयात्राएँ करानेवाला, सद्गुणो और चरित्रवान् था। इस राजा का उत्तराधिकारी उसका भानजा देवराय हुआ जो सप्तोपाय-विचार-चारु-चतुर था और अपने मातुल की भाँति ही राज्य एवं नगर का समर्थ रक्षक एवं शासक था। उसका भानजा साल्वमल्ल (द्वितीय) था, जिसका अनुज भैरवेन्द्र था। ये सब बड़े धर्मात्मा जिनभक्त वीर और पराक्रमी थे। राजा देवराय राजगुरु पण्डिताचार्य के सरणकमलों का भ्रमर था और अपने उक्त भानजों एवं अन्य परिवार के साथ तुलुकोंकण-हैवे प्रदेश पर 1560 ई. के लगभग सुखपूर्वक शासन कर रहा था। उस समय उसके राज्यश्रेष्ठि अम्बुयण सेठ ने मानस्तम्भ बनवाकर महान् धर्मोत्सव किया था और दान दिये थे।

योजन श्रेष्ठि—कोंकण, हैव और बनवासिपुर के अधीश्वर चन्दाउरकदम्ब-

कुलतिलक कामिदेव महाराज के दण्डाधिनाथ कामेय का पुत्र रामण हेमगढ़े था, जिसके आठ पुत्र थे। इनमें सर्वाधिक प्रसिद्ध योजण श्रेष्ठि था। तंगण और रामक नाम की उसकी दो पत्नियाँ थीं, जिनमें से प्रथम से रामण श्रेष्ठि और दूसरी से कल्लपसेहि नाम के पुत्र उत्पन्न हुए थे। अपनी इन दोनों भार्याओं के साथ क्षेमपुर में रहते हुए योजण श्रेष्ठि अत्यन्त समृद्ध हो गया और उसने राज्य-श्रेष्ठि की पदवी प्राप्त कर ली। तब उसने क्षेमपुर में अनन्तनाथ तीर्थकर का सुन्दर चैत्यालय बनवाया तथा एक नेमीश्वर चैत्यालय बनवाया और अन्य अगणित पुण्य कार्य किये। अन्ततः राजश्रेष्ठि का पद पुत्रों को सौंपकर स्वर्गगामी हुआ। कल्लपश्रेष्ठि ने पिता द्वारा निर्मापित नेमीश्वर चैत्यालय में गोम्मदेश की प्रतिकृति स्थापित की थी।

अम्बुवण श्रेष्ठि—पूर्वोक्त योजण श्रेष्ठि के पुत्र रामणसेहि का पुत्र तम्मण था, जिसका पुत्र नागसेहि हुआ। सातम और नागम नाम की उसकी दो पत्नियाँ थीं। नागम का पिता नेमणसेहि हैवे राज्य का प्रमुख सेठ था जो पार्श्व-जिनालय का निर्माता और चतुर्विधदान का दाता था। नागम स्वयं बड़ी गुणवती, शीलवती, पतिपरायणा और जिनेन्द्रपद-पूजासक्त थी। उसका पुत्र प्रस्तुत अम्बुवण श्रेष्ठि था जो अपने सख्तों से राज्यश्रेष्ठि, देवरसि और मल्लिसेहि नाम की उसकी दो धर्मात्मा प्रिय पत्नियाँ थीं और कोटणसेहि एवं मल्लिसेहि नामक दो भाई थे। एक दिन राज्यश्रेष्ठि अम्बुवण अपनी भार्या देवरसि के साथ नेमीश्वर-चैत्यालय में गये। भगवान् की स्तवन, वन्दन एवं मुनिजन का पूजा-सत्कार करके उन्होंने मुनिराज अभिनव-समन्त भद्र का धर्मोपदेश सुना और विचार किया कि उक्त जिनालय के सम्मुख मानस्तम्भ बनवायेंगे। घर आकर अपने भाइयों तथा अन्य कुटुम्बजनों की सम्मति लेकर अपने महाराज देवभूपति के सामने विचार प्रकट किया। महाराज ने सहर्ष सहमति दी। अतएव 1560 ई. में इस धर्मात्मा राज्य सेठ ने उक्त स्थान में कांस्य धातु का बड़ा उत्तुंग सुन्दर एवं कलापूर्ण मानस्तम्भ बनवाकर महाराज तथा सम्स्त संघ की उपस्थिति में बड़े समारोहपूर्वक प्रतिष्ठापित किया। इसी बीच उसकी पत्नी देवरसि ने पचरसि एवं देवरसि नामक जुड़वा पुत्रियों को जन्म दिया तो सेठ ने उन कन्याओं की ऊँचाई जितना ठोस स्वर्ण कलश उक्त मानस्तम्भ पर चढ़ाया। इस प्रकार सद्धर्म के छत्र-दण्ड-जैसा चार जिमबिम्बों से युक्त वह सुन्दर मानस्तम्भ पृथ्वी पर शोभायमान हुआ।

मध्यकाल : उत्तरार्ध (लगभग 1556-1756 ई.)

मुगल सम्राट्

यह युग प्रधानतया मुगल-साम्राज्यकाल था। सन् 1526 ई. में पानीपत के युद्ध में लोदी सुल्तानों के राज्य को समाप्त करके और दिल्ली एवं आगरा पर अधिकार करके मुगल बादशाह बाबर ने मुगल-राज्य की नींव डाली थी। प्रतिबद्ध वीर राणा साँगा ने उसे देश से निकाल बाहर करने का असफल प्रयत्न किया था। बाबर अपने अधिकार को व्यवस्थित भी न कर पाया था कि 1530 ई. में उसकी मृत्यु हो गयी। उसका उत्तराधिकारी हुमायूँ भी राज्य को सुगठित न कर पाया और 1539 ई. में शेरशाह सूरी ने उसे भारत से पलायन कर जाने के लिए बाध्य कर दिया। पन्द्रह वर्ष पश्चात् हुमायूँ पुनः आया और पानीपत के दूसरे युद्ध में सूरी सुल्तानों को पराजित करके दिल्ली का बादशाह बना किन्तु एक वर्ष के भीतर ही उसकी मृत्यु हो गयी। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुगल सम्राट् अकबर महान् था। वही मुगल साम्राज्य का वास्तविक संस्थापक था।

अकबर महान् (1556-1605 ई.)—प्रायः सर्वथा शून्य से प्रारम्भ करके इस वीर, प्रतापी, महत्वाकांक्षी, दृढ़-निश्चयी एवं उदार नरेश ने एक अति विशाल, सुगठित, सुव्यवस्थित, सुशासित, समृद्ध एवं शक्तिशाली साम्राज्य का निर्माण एवं उपभोग किया। महादेश भारतवर्ष के बहुभाग पर उसका एकाधिपत्य था और उसके शासनकाल में देश की बहुमुखी उन्नति हुई। विश्व के सर्वकालीन महान् नरेशों में मुगल सम्राट् अकबर की गणना की जाती है। उसकी सफलता के कारणों में उसकी उदार नीति, न्याय-प्रियता, धार्मिक सहिष्णुता, वीरों और विद्वानों का समादर तथा स्वयं की भारतीय एवं भारतीयों का ही समझना सम्भवतया प्रमुख थे। राजपूत राजाओं में से कई एक के साथ वैवाहिक सम्बन्ध करके और उन्हें अपने शासन-तन्त्र में उपयुक्त प्रतिष्ठा प्रदान करके उसने अधिकांश राजपूतों को अपना सहायक बना लिया था। वह महत्वाकांक्षी था तो गुण-ग्राहक और दूरदर्शी एवं कुशल नीतिज्ञ भी था। युद्धबन्दियों को गुलाम बनाने की प्रथा, हिन्दू और जैन तीर्थों पर पूर्ववर्ती

सुल्तानों द्वारा लगाये गये करों और जजिया कर को समाप्त करके उसने स्वयं को भारतीय जनों में लोकप्रिय बना लिया था। अनेक हिन्दू और जैन भी राजकीय पदों पर नियुक्त थे। भारतीय साहित्य और कला की भी प्रभूत प्रगति हुई। सम्राट् द्वारा 1579 ई. में धर्माध्यक्ष का पद भी ग्रहण करने की घोषणा से कुछ कट्टर मुस्लिम लोग उससे अवश्य रुष्ट हुए, किन्तु उसकी गैर-मुस्लिम प्रजा सन्तुष्ट ही हुई। मुसलमानी शासन में उनकी धार्मिक स्वतन्त्रता पर जो कड़ा प्रतिबन्ध था वह बहुत कुछ ढीला पड़ता दिखाई दिया। उसी वर्ष राजधानी आगरा के जैनो ने वहाँ दिगम्बर आम्नाय का मन्दिर निर्माण किया और बड़े समारोह के साथ दिम्ब-प्रतिष्ठा महोत्सव किया। आगरा के निकट शौरिपुर और हथिकन्त में तथा साम्राज्य की द्वितीय राजधानी दिल्ली में नन्दिसंघ के दिगम्बरी भट्टारकों की गहिरायें थीं। दिल्ली में काष्ठासंघ की तथा श्वेताम्बर यतियों की भी गहिरायें थीं। रणकाराव, भारमल्ल, टोडर साहू, हीरानन्द मुक्तीम, कर्मचन्द बच्छावत प्रभृति अनेक प्रतिष्ठित जैन राज्यमान्य और सम्राट् के कृपापात्र थे। उसके राज्यकाल में लगभग दो दर्जन जैन साहित्यकारों एवं कवियों ने साहित्य-सृजन किया, कई प्रभावक जैन सन्त हुए, मन्दिरों का निर्माण हुआ, जैन तीर्थ-यात्रा संघ चले और जैन जनता ने कई सौ वर्षों के पश्चात् पुनः धार्मिक सन्तोष की साँस ली। स्वयं सम्राट् ने प्रयत्नपूर्वक तत्कालीन जैन गुरुओं से सम्पर्क किया और उनके उपदेशों से लाभान्वित हुआ। आचार्य हीरविजयसूरि की प्रसिद्धि सुनकर सम्राट् ने 1581 ई. में गुजरात के सूबेदार साहबख़ाँ के द्वारा उनको आमन्त्रित किया, अतएव अपने शिष्यों सहित सूरिजी 1582 ई. में आगरा पधारे। सम्राट् ने धूमधाम के साथ उनका स्वागत किया और उनकी विद्वत्ता एवं उपदेशों से प्रभावित होकर उन्हें 'जगद्गुरु' की उपाधि दी। आचार्य और उनके शिष्य सम्राट् को यथावसर धर्मोपदेश देते थे। विजयसेनगणि ने सम्राट् के दरबार में 'ईश्वर कर्ता-हर्ता नहीं है' विषय पर अन्य धर्मों के विद्वानों से शास्त्रार्थ किये और भट्ट नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण पण्डित को वाद में पराजित करके 'सवाई' उपाधि प्राप्त की। सम्राट् ने लाहौर में भी गणिजी को अपने पास बुलाया था। यति भानुचन्द्र ने सम्राट् के लिए 'सूर्य-सहस्रनाम' की रचना की और 'यातशाह अकबर जलालुद्दीन सूर्य सहस्रनामाध्यापक' कहलाये। उनके फ़ारसी भाषा के ज्ञान से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उन्हें 'ख़शफ़हम' उपाधि भी प्रदान की थी। कहा जाता है कि एक बार सम्राट् को भयानक शिरःशूल हुआ तो उसने यतिजी को बुलवाया। उन्होंने कहा कि वह तो कोई वैद्य-हकीम नहीं हैं, किन्तु सम्राट् ने कहा कि उनपर उसका विश्वास है, वह कह देंगे तो पीड़ा दूर हो जाएगी। यतिजी ने सम्राट् के मस्तक पर हाथ रखा और उसकी पीड़ा दूर हो गयी। मुसाहबों ने इस खुशी में कुर्बानी कराने के लिए पशु एकत्र किये। सम्राट् ने सुना तो उसने तुरन्त कुर्बानी को रोकने का और पशुओं को छोड़ देने का आदेश दिया और कहा कि 'मुझे सुख हो, इस खुशी में दूसरे प्राणियों को दुख दिया जाए,

यह सर्वथा अनुचित है।' मुनि शान्तिचन्द्र ने भी सम्राट् को बड़ा प्रभावित किया था। एक वर्ष ईदुजुहा (बकरीद) के त्यौहार पर जब वह सम्राट् के पास थे तो एक दिन पूर्व उन्होंने सम्राट् से निवेदन किया कि वह उसी दिन अन्यत्र प्रस्थान कर जाएँगे, क्योंकि अगले दिन यहाँ हजारों-लाखों निरीह पशुओं का बध होनेवाला है। उन्होंने स्वयं 'कुरान' की आयतों से यह सिद्ध कर दिखाया कि 'कुर्बानी का मोस और रक्त खुदा को नहीं पहुँचता, वह इस हिंसा से प्रसन्न नहीं होता, बल्कि परहेजगारी से प्रसन्न होता है, रोटी और शाक खाने से ही रोज़े क्रबूल हो जाते हैं।' इस्लाम के अन्य अनेक धर्मग्रन्थों के हवाले देकर मुनिजी ने सम्राट् और दरबारियों के हृदय पर अपनी बात की सचाई जमा दी। अतएव सम्राट् ने धीधणा करा दी कि इस ईद पर किसी भी जीव का बध न किया जाए। बीकानेर के राज्यमन्त्री कर्मचन्द्र बच्छावत की प्रेरणा से 1592 ई. में सम्राट् ने जिनचन्द्रसूरि को खम्भात से आमन्त्रित किया और जब वह लाहौर पंधारे तो उनका उत्साह से स्वागत किया। इन सूरिजी ने सम्राट् के प्रतिबोध के लिए 'अकबर-प्रतिबोधरास' लिखा। सम्राट् ने उन्हें 'युगप्रधान' उपाधि दी और उनके कहने से दो फ़र्मान जारी किये, जिनमें से एक के अनुसार खम्भात की खाड़ी में मछली पकड़ने पर प्रतिबन्ध लगाया और दूसरे के अनुसार आषाढ़ी अष्टादहिका में पशुबध निषिद्ध किया गया। सूरिजी के साथ मानसिंह, वैपहर्ष, परमानन्द और समयसुन्दर नाम के शिष्य भी आये थे। सम्राट् की इच्छानुसार सूरिजी ने मानसिंह को जिनसिंहसूरि नाम देकर अपना उत्तराधिकार और आचार्य-पद प्रदान किया। कर्मचन्द्र बच्छावत ने सम्राट् की सहमति से यह पट्टबन्धोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया था। पट्टन के पार्श्वनाथ-मन्दिर में अंकित 1595 ई. के एक बृहत् संस्कृत शिलालेख में जिनचन्द्रसूरि विषयक यह सब प्रसंग वर्णित है। मुनि पद्यसुन्दर ने सम्भवतया इस सम्राट् के आश्रय में ही 'अकबरशाही-शृंगारदर्पण' की रचना की थी। कहा जाता है कि जब शाहजादे सलीम की एक पत्नी ने मूलनक्षत्र के प्रथम-पाद में कन्या प्रसव की तो ज्योतिषियों ने इसे बड़ा अनिष्टकर बताया और पिता के लिए उसका मुख देखने का भी निषेध किया। सम्राट् ने अबुलफ़जल आदि प्रमुख अमात्यों से परामर्श करके कर्मचन्द्र बच्छावत को जैनधर्मानुसार गृहशान्ति का उपाय करने का आदेश दिया। अस्तु, कर्मचन्द्र ने चैत्रशुक्ल पूर्णिमा के दिन स्वर्ण-रजत कलशों से तीर्थकर सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा का बड़े समारोहपूर्वक अभिषेक किया और शान्ति-विधान किया। पूजन की समाप्ति पर मंगलदीप एवं आरती के समय सम्राट् अपने पुत्रों और दरबारियों के साथ वहीं आया, अभिषेक का गन्धोदक विनयपूर्वक उसने अपने मस्तक पर चढ़ाया, अन्तःपुर में बेगमों के लिए भी भिजवाया और उक्त जिन-मन्दिर को दस सहस्र मुद्राएँ भेंट कीं। उसने गुजरात के सूबेदार आजमख़ाँ को फ़रमान भेजा था कि मेरे राज्य में जैनों के तीर्थों, मन्दिरों और मूर्तियों को कोई भी व्यक्ति किसी प्रकार की क्षति न पहुँचाए, जो इस आदेश का उल्लंघन करेगा, भीषण

दण्ड का भागी होगा। प्रायः उसी काल के मेडतादुर्ग के शिलालेखों में भी सम्राट् अकबर द्वारा जैन मुनियों को युगप्रधान पद देने, आषाढ़ी अष्टाहिका में अमारि घोषणा करने, वर्ष में सब मिलाकर लगभग डेढ़-पौने दो सौ दिनों में सम्पूर्ण राज्य में पशुवध या जीव-हिंसा बन्द करने, खम्भात की खाड़ी में मछलियों का शिकार बन्द करने, सर्वत्र गोरक्षा का प्रचार करने, शत्रुंजय आदि तीर्थों से राज्यकर उठा लेने आदि का उल्लेख है। पाण्डे राजमल्ल ने 1585 ई. के लगभग लिखा कि धर्म के प्रभाव से सम्राट् अकबर ने जज़ियाकर बन्द करके यश का उपार्जन किया, हिंसक वचन उसके मुख से भी नहीं निकलते थे, जीवहिंसा से वह सदा दूर रहता था, अपने धर्मराज्य में उसने द्यूतक्रीड़ा और मद्यपान का भी निषेध कर दिया था, क्योंकि मद्यपान से मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और वह कुमार्ग में प्रवृत्ति करता है। उसी वर्ष पाण्डे जिनदास ने भी अपने 'जम्बूस्वामीचरित्र' में अकबर की सुनीति और सुराज्य की प्रशंसा की थी। ग्वालियर निवासी कवि परिमल ने 1594 ई. में आगरा में ही रचित अपने 'श्रीपाल-चरित्र' में सम्राट् अकबर की प्रशंसा, उसके द्वारा गो-रक्षा के प्रयत्न, आगरा नगर की सुन्दरता, वहाँ जैन विद्वानों का सत्-समागम और उनकी नित्य होनेवाली विद्वद्गोष्ठियों का उल्लेख किया है। विद्याहर्षसूरि ने अपने 'अंजना-सुन्दरीरास' (1604 ई.) में अकबर द्वारा जैन गुरुओं के प्रभाव से गाय, बैल, बकरी आदि पशुओं के वध की विधि, गुरावे क्रीडियों की खेल से मुक्ति, जैन गुरुओं के प्रति आदर प्रदर्शन, दानपुण्य के कार्यों में उत्साह लेना इत्यादि का उल्लेख किया है। महाकवि बनारसीदास ने अपने आत्मचरित में लिखा है कि जब जौनपुर में अपनी किशोरावस्था में उन्होंने सम्राट् अकबर की मृत्यु का समाचार सुना था तो वह मूर्च्छित होकर गिर पड़े थे और अन्य जनता में भी सर्वत्र ब्राहि-ब्राहि मच गयी थी—यह तथ्य उस सम्राट् की लोकप्रियता का सूचक है। अकबर के मित्र एवं प्रमुख अमात्य अबुलफजल ने अपनी प्रसिद्ध 'आइने-अकबरी' में जैनों का और उनके धर्म का विवरण दिया है। इस महाग्रन्थ के निर्माण में उसने जैन विद्वानों का भी सहयोग लिया था। बंगाल आदि के नरेशों की वंशावली उन्हीं की सहायता से संकलित की गयी बतायी जाती है। हीरविजयसूरि आदि कई जैन गुरुओं का उल्लेख भी उसने इस ग्रन्थ में किया है। फ़तहपुर सीकरी के महलों में अपने जैन गुरुओं के बैठने के लिए सम्राट् ने विशिष्ट जैन कलापूर्ण सुन्दर पाषाणनिर्मित छतरी बनवायी थी जो 'ज्योतिषी की बैठक' कहलाती है। 'आइने-अकबरी' में अकबर की कुछ उक्तियाँ संकलित हैं जो उसकी मनोवृत्ति की परिचायक हैं, यथा "यह उचित नहीं है कि मनुष्य अपने उदर को पशुओं की क्रूर बनाए। मांस के अतिरिक्त बाज पक्षी का कोई अन्य भोज्य न होने पर भी उसे मांसभक्षण का दण्ड अल्पायु के रूप में मिलता है, तब मनुष्यों को जिनका प्राकृतिक भोजन मांस नहीं है, इस अपराध का क्या दण्ड नहीं मिलेगा? क़साई, बहेलिये आदि जीव-हिंसा करनेवाले व्यक्ति जब नगर से बाहर रहते

हैं तो मांसाहारियों को नगर के भीतर रहने का क्या अधिकार है? मेरे लिए यह कितने सुख की बात होती कि यदि मेरा शरीर इतना बड़ा होता कि मैं सभसे भी बड़ा होता तो मैं उसे ही खाकर सन्तुष्ट हो जाते और अन्य जीवों की हिंसा न करते। प्राणिहिंसा को रोकना अत्यन्त आवश्यक है, इसीलिए मैंने स्वयं मांस खाना छोड़ दिया है।" स्त्रियों के सम्बन्ध में वह कहा करता था "यदि युवावस्था में मेरी चित्तवृत्ति अब-जैसी होती तो कदाचित् मैं विवाह ही नहीं करता। किससे विवाह करता? जो आयु में बड़ी हैं वे मेरी माता के समान हैं, जो छोटी हैं वे पुत्री के तुल्य हैं और जो समययस्का हैं उन्हें मैं अपनी बहनें मानता हूँ।"

विन्सेण्ट स्मिथ प्रभृति इतिहासकारों का मत है कि जीवन के उत्तरार्ध में, लगभग 1580-81 ई. के उपरान्त, सम्राट् अकबर के अनेक कार्य एवं व्यवहार उसके द्वारा जैन आचार-विचार को अंशतः स्वीकार कर लेने के परिणामस्वरूप हुए। प्राणिहिंसा से उसे घृणा हो चली थी। गो-मांस छूता भी नहीं था। अन्य मांस का आहार भी जब-तब और बहुत कम करता था, अन्ततः उसका भी सर्वथा त्याग कर दिया था। वर्ष के कुछ निश्चित दिनों में पशु-पक्षियों की हिंसा को उसने मृत्युदण्ड का अपराध घोषित कर दिया था। स्मिथ कहता है कि इस प्रकार का आचरण और जीवहिंसा निषेध की कड़ी आज्ञाएँ जारी करना जैन गुरुओं के सिद्धान्तों के अनुसार चलने का प्रयत्न करने के ही परिणाम थे और पूर्वकाल के जैननरेशों के अनुरूप थे। क्या आश्चर्य है जो अनेक वर्गों में यह प्रसिद्ध हो गया कि 'अकबर ने जैनधर्म धारण कर लिया है।' पुर्तगाली जेसुइट पादरी पिन्हेरो ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव के आधार से अपने बादशाह को 1595 ई. में आगरा से भेजे गये पत्र में लिखा था कि अकबर जैनधर्म का अनुयायी हो गया है, वह जैन नियमों का पालन करता है, जैनविधि से आत्मचिन्तन और आत्मारोधन में बहुधा लीन रहता है, मद्य-मांस और द्यूत के निषेध को उसने आज्ञा प्रचारित कर दी है, इत्यादि। अनेक आधुनिक इतिहासकार भी स्वीकार करते हैं कि सम्राट् अकबर जैनधर्म पर बड़ी श्रद्धा रखता था, अथवा उस धर्म और उसके गुरुओं का बड़ा आदर करता था। कुछ तो यहाँ तक कहते हैं कि उसके अहिंसा धर्म का पालन करने के कारण ही मुल्ला-भौलवी और अनेक मुसलमान सरदार उससे असन्तुष्ट हो गये थे और उन्हीं की प्रेरणा एवं सहायता से राजकुमार खलीम (जहाँगीर) ने विद्रोह किया था। कुछ ही, इसमें सन्देह नहीं है कि मुगल सम्राट् अकबर महान् उदार, सहिष्णु और सर्वधर्मसमदर्शी नरेश था। मुसलमान, हिन्दू, जैन, पारसी, ईसाई आदि सभी धर्मों के विद्वानों के प्रवचन वह आदरपूर्वक सुनता था और जिसका जो अंश उसे रुचता उसे ग्रहण कर लेता था। वस्तुतः उसे किसी भी एक धर्म का अनुयायी कहा ही नहीं जा सकता। जैन इतिहास में उसका उल्लेखनीय स्थान इसी कारण है कि किसी भी जैनोत्तर सम्राट् से जैनधर्म, जैन गुरुओं और जैन जनता को उस युग में जो उदार सहिष्णुता, संरक्षण, पोषण और मान प्राप्त हो सकता था

यह उसके शासनकाल में हुआ। यहाँ तक कहा जाता है कि भावदेवसूरि के शिष्य श्रीलदेव से प्रभावित होकर इस सम्राट् ने 1577 ई. के लगभग एक जैन-मन्दिर के स्थान पर बनायी गयी मस्जिद को तुड़वाकर फिर से जैनमन्दिर बनवाने की आज्ञा दे दी थी। इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी हैं, यथा सहारनपुर के सिधियान मन्दिर सम्बन्धी किंवदन्ती।

अकबर के पुत्र एवं उत्तराधिकारी मुगल सम्राट् नूरुद्दीन जहाँगीर (1605-27 ई.) ने सामान्यतया अपने पिता की धार्मिक नीति का अनुसरण किया। अपने आत्मचरित्र 'तुजुक-ए-जहाँगीर' के अनुसार उसने राज्याधिकार प्राप्त करते ही घोषणा की थी कि 'मेरे जन्म-माल में सारे राज्य में मांसाहार निषिद्ध रहेगा, सप्ताह में एक-एक दिन ऐसे होंगे जिनमें सभी प्रकार के पशुबध का निषेध है, मेरे राज्याभिषेक के दिन, गुरुवार को तथा रविवार को भी कोई मांसाहार नहीं करेगा, क्योंकि उस दिन (रविवार को) सृष्टि का सृजन पूर्ण हुआ था, अतएव उस दिन किसी भी प्राणी का घात करना अन्याय है। मेरे पूज्य पिता ने ग्यारह वर्षों से अधिक समय तक इन नियमों का पालन किया है, रविवार को तो वह कभी भी मांसाहार नहीं करते थे, अतः मैं भी अपने राज्य में उपर्युक्त दिनों में जीव-हिंसा के निषेध की उद्घोषणा करता हूँ।' जिनसिंहसूरि (यति मानसिंह) आदि जैन गुरुओं के साथ भी वह घण्टों दार्शनिक चर्चा किया करता था। इन जैनगुरु को उसने 'युगप्रधान' उपाधि भी प्रदान की थी। कालान्तर में जब उन्होंने विद्रोही शाहजादे खुसरू का पक्ष लिया तो जहाँगीर उनसे अत्यन्त रुष्ट हो गया और उनके सम्प्रदाय के व्यक्तियों को अपने राज्य से भी निर्वासित कर दिया था। वैसे, उसके शासनकाल में कई नवीन जैन-मन्दिर भी बने, अपने धर्मोत्सव मनाने और तीर्थयात्रा करने की भी जैनों को स्वतन्त्रता थी। गुजरात आदि प्रान्तों के जैनियों ने उसके प्रान्तीय सूबेदारों से पशुबध-निरोध-विषयक फरमान भी जारी कराये थे। सौंभर के राजा भारमल और आगरा के हीरानन्द मुकीम-जैसे कई जैन सेठ उसके कृपापात्र थे। ब्रह्मरायमल्ल, बनकारी लाल, विद्याकमल, ब्रह्मगुलाल, गुणसागर, त्रिभुवनकीर्ति, भानुकीर्ति, सुन्दरदास, भगवतीदास, कवि विष्णु, कवि नन्द आदि अनेक जैन गृहस्थ एवं साधु विद्वानों ने निराकुलतापूर्वक साहित्य रचना की थी। कवि जगत् ने तो अपने 'यशोधर-चरित्र' में आगरा नगर की सुन्दरता और 'नृपति नूरुद्दीनशाहि' (जहाँगीर) के चरित्र एवं प्रताप का तथा उसके सुख-शान्तिपूर्ण राज्य में होनेवाले धर्मकार्यों का अच्छा वर्णन किया है। पण्डित बनारसीदास की विद्वद्गोष्ठी इस काल में आगरा नगर में जम रही थी और यह जैन महाकवि अपनी उदार काव्यधारा द्वारा हिन्दू-मुसलिम एकता को प्रोत्साहन दे रहे थे तथा अध्यात्मरस प्रवाहित कर रहे थे।

जहाँगीर के उत्तराधिकारी शाहजहाँ (1628-58 ई.) के समय में प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गयी थी और अकबर की उदार धार्मिक सहिष्णुता की नीति में उत्तरोत्तर

पर्याप्त अन्तर दृष्टिगोचर होने लगा। यों तो जहाँगीर के शासनकाल में जब वह गुजरात का सूबेदार था तो उसने वहीं के जैनों की प्रार्थना पर जीवहिंसा-निषेधक कई फरमान जारी किये थे; यद्यपि यह कार्य उसने वहीं के धनी सेवों से राजकोष के लिए विपुल धन लेकर ही किया बताया जाता है। यह भी अनुश्रुति है कि आगरा के पण्डित बनारसीदास शाहजहाँ के मुसाहब थे और उसके साथ बहुधा शतरंज खेला करते थे। अपने अन्तिम वर्षों में जब कवि की चित्तवृत्ति राज-दरबार से विरक्त हुई तो सम्राट् ने उन्हें दरबार में उपस्थित न होने की सहर्ष अनुमति दे दी थी। इन पण्डितजी की आध्यात्मिक विद्वद्गोष्ठी इस काल में निरन्तर चली, जिसमें दसियों उच्चकोटि के विद्वान् सम्मिलित थे। दिल्ली, लाहौर, मुल्तान आदि प्रमुख नगरों के जैन विद्वानों से भी इस सत्संग का सम्पर्क बना रहता था। श्वेताम्बर यति, दिगम्बर भट्टारक, ऐल्लक, क्षुल्लक, ब्रह्मचारी आदि तो राज्य और राजधानी में विचरते ही रहते थे। शान्तिदास नामक एक नयन जैनमुनि का भी उस काल में आगरे में आना पाया जाता है। इस शासनकाल में स्वयं बनारसीदास, भगवतीदास, पाण्डे हेमराज, पाण्डे रूपचन्द्र, पाण्डे हरिकृष्ण, भट्टारक जगभूषण, कवि सालिवाहन, यति लुणसागर, पृथ्वीपाल, वीरदास, कवि सधाऊ, मनोहरलाल, खरगसेन, रायचन्द्र आदि अनेक जैन विद्वानों ने विपुल साहित्य सृजन किया। दिल्ली में स्वयं लालकिले के सामने शाहजहाँ के शासनकाल में ही जैनों का वह प्रसिद्ध लालमन्दिर बना था जो उर्दू-मन्दिर या लश्करी-मन्दिर भी कहलाता था, क्योंकि वह शाही सेना के जैन सैनिकों एवं अन्य राज्यकर्मचारियों की प्रार्थना पर सम्राट् के प्रश्रय में उसकी अनुमतिपूर्वक बना था (उर्दू का अर्थ सेना की छावनी है)। उसी काल में दिल्ली दरवाजे के निकट भी एक जैन-मन्दिर का निर्माण हुआ था।

औरंगजेब (1658-1707 ई.) ने अपने पूर्वजों की समदर्शिता की नीति को प्रायः पूर्णतया बदल दिया। वह कड़र मुसलमान था और धर्म के विषय में अत्यन्त असहिष्णु था। उसने मथुरा, वाराणसी आदि के अनेक प्रसिद्ध हिन्दू मन्दिरों को तुड़वाकर उनके स्थान में मस्जिदें बनवा दी थीं। किन्तु सामान्य शासनतन्त्र सुदृढ़ था। प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष पर उसका प्रभुत्व था। उसकी शक्ति और समृद्धि भी सर्वोपरि थी। सम्राज्य के केन्द्रीय भागों में सामान्यतया अराजकता नहीं थी। अतएव इस काल में भी उप्राध्याय यशोविजय, आनन्दघन, विनयविजय, देव ब्रह्मचारी, भैया भगौतीदास, जगतराय, शिरोमणिदास, जीवराज, लक्ष्मीचन्द्र, भट्टारक विश्वभूषण, सुरेन्द्रभूषण, कवि विनोदीलाल आदि अनेक श्रेष्ठ जैन साहित्यकार हुए। विनोदीलाल ने अपने 'श्रीपाल-चरित्र' (1690 ई.) में लिखा है कि 'इस समय, औरंगशाह बली का राज्य है जिसने स्वयं अपने पिता को बन्दी बनाकर सिंहासन प्राप्त किया था और चक्रवर्ती के समान समुद्र से समुद्रपर्यन्त अपने राज्य का विस्तार कर लिया।' अनुश्रुति है कि दिल्ली के उर्दू-मन्दिर में दोनों समय पूजा एवं आरती के अवसर पर

बाध बजते थे। औरंगजेब ने उनका निषेध किया, किन्तु बिना किसी मनुष्य के माध्यम के ही बाजे फिर भी बजते रहे, अतएव सम्राट् ने अपनी निषेधाज्ञा वापस ले ली। अहमदाबाद के शान्तिदास जौहरी को उसने अपना दरबारी भी नियुक्त किया था। कन्नड़ी भाषा को एक विरुदावली के अनुसार औरंगजेब ने कर्णाटक के एक दिगम्बर जैनार्च्य का भी सम्मान किया था, सम्भवतया अपने दक्षिण प्रवास के समय।

औरंगजेब मुगलवंश का अन्तिम महान् सम्राट् था, किन्तु उसकी हिन्दू-विरोधी नीति, शक्ती मनोवृत्ति, कुटिल कूटनीति और धार्मिक अनुदारता आदि के परिणामस्वरूप उसकी मृत्यु के पूर्व ही मुगल सत्ता खोखली हो गयी और उसके पश्चात् तो द्रुत वेग से पतनोन्मुख हुई। कुछ ही दशकों में साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और तदनन्तर दिल्ली के मुगल बादशाह धनहीन, शक्तिहीन, सत्ताहीन, पराश्रित, नाममात्र के ही बादशाह रहे। देश में अनेक आन्तरिक एवं बाह्य कारणों से अवनति और असंजक्ता की दौर रहा। इनमें अन्तर्गत है विख्यात मुहम्मदशाह (1719-48 ई.) ने राज्य के जैन धनिकों के आग्रह पर पशुबध पर कड़ा प्रतिबन्ध लगा दिया था। इसी बादशाह के राज्यकाल में दिल्ली में ब्रह्मवाड़ा का जैनमन्दिर 1741 ई. में बना और 1743 ई. में शाही कमसरियट के अधिकारी आशमल ने मस्जिद-खजूर मोहल्ले का पंचायती मन्दिर निर्माण करवाया था।

मुगलशासन-काल के उल्लेखनीय जैनों में जो प्रमुख हैं उनका विवरण नीचे दिया जा रहा है।

राजा भारमल—राज्या गोत्र के श्रीभाल जातीय श्रेष्ठि थे। इनके पिता रणकाराव सम्राट् अकबर की ओर से आबू प्रदेश के शासक नियुक्त थे और श्रोपुरपट्टन में निवास करते थे जहाँ से वह अपना शासनकार्य चलाते थे। स्वयं राजा भारमल सम्राट् के कृपापात्र थे और उसकी ओर से साँभर के सम्पूर्ण इलाके के शासक थे और नागौर में निवास करते थे। स्वर्ण और जवाहिरात का व्यापार भी इन दणिकपति के हाथ में था। उनकी अपनी सेना थी और अपने सिक्के चलते थे। उनकी दैनिक आय एक लाख टका (रुपये) थी और स्वयं सम्राट् के कोष में वह प्रतिदिन पचास हजार टका देते थे। सम्राट् उनका बहुत सम्मान करते थे और युवराज सलीम (जहाँगीर) तो बहुधा उनसे भेंट करने के लिए नागौर उनके दरबार में जाया करते थे। राजा भारमल धर्मात्मा, उदार और असाम्प्रदायिक मनोवृत्ति के विद्यारसिक श्रीमान् थे। धार्मिक कार्यों और दानादि में वह लाखों रुपये खर्च करते थे। काष्ठासंघी भट्टारकीय विद्वान् कविवर पाण्डे राजमल्ल (लगभग 1575-87 ई.) ने उनकी प्रेरणा से उन्हीं के लिए 'छन्दोविद्या' नामक महत्त्वपूर्ण पिंगलशास्त्र की रचना की थी। उसमें विविध छन्दों का निरूपण करते हुए कवि ने अपने आश्रयदाता राजा भारमल के प्रताप, वश, वैभव, उदारता आदि का भी सुन्दर परिचय दिया है। इन्हीं पाण्डे

राजमल्ल ने 'पंचाध्यायी', 'अध्यात्मकमलमार्तण्ड', 'समयसार की बालबोधटीका'-जैसे महत्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थों की तथा वैराटनगर निवासी साहु कामन के लिए 'लाटीसंहिता' की और आगरा के साहु टोडर के लिए 'जम्बूस्वामीचरित' की रचना की थी।

साहु टोडर—अगलिपुर (आगरा) में पासा (पाश्वर्य) साहु नामक प्रसिद्ध धर्मात्मा एवं धनी सर्गगोत्री अग्रवाल जैन थे जो क्रिया में सावधान, चरित्रवान्, संयमी और किमलगुणनिधान थे। मूलतः यह भरनियाकोल (अलीगढ़) के निवासी थे और साहु रूपचन्द के सुपुत्र थे। इन पासा साहु के कुलतिलक सुपुत्र टोडर साहु थे। वह बादशाह अकबर के एक उच्चपदस्थ अधिकारी कृष्णमंगल चौधरी के विश्वस्त मन्त्री थे और आगरा की शाही टकसाल के भी अधीक्षक थे। स्वयं सम्राट तक उनकी पहुँच थी। ऋषभदास, मोहनदास, रूपचन्द (रूपमंगद) और लछमनदास नाम के उनके चार सुयोग्य पुत्र थे और धर्मपत्नी का नाम कसूम्बी था। यह सारा परिवार अत्यन्त धार्मिक और विद्यारसिक था। साहु टोडर को तत्कालीन विद्वानों ने सकलगुणभूत, राजमान्य, सुकृति, दयालु-हृदय, भावबुद्धि-सामर्थ्य, सुलक्षण-चरित्रविशेष परदोषभाषण में भौन और महाधर्मा कहा है। उन्होंने राजाज्ञा लेकर विपुल द्रव्य व्यय करके मथुरा नगर के प्राचीन जैनतीर्थ का उद्धार किया था, वहाँ प्राचीन स्तूपों के जीर्णोद्धार हो जाने पर 514 नवीन स्तूप निर्माण कराये थे तथा 12 दिक्पाल आदि की स्थापना की थी और बड़े समारोह के साथ 1573 ई. में उनका प्रतिष्ठाोत्सव किया था जिसमें चतुर्विध संघ को आमन्त्रित किया था। उन्होंने आगरा नगर में भी एक भव्य मन्दिर बनवाया था जिसमें 1594 ई. में हमीरी बाई नामक आत्मसाधिका ब्रह्मचारिणी रहती थी। मथुरा तीर्थ के उद्धार के उपलक्ष्य में उन्होंने 1575 ई. में पाण्डे राजमल्ल से संस्कृत भाषा में 'जम्बूस्वामीचरित्र' की तथा 1585 ई. में पं. जिनदास से हिन्दी पद्य में उसी चरित्र की स्वतन्त्र रचना करायी थी। उनके ज्येष्ठ पुत्र साहु ऋषभदास या ऋषिदास भी बड़े धर्मात्मा, ज्ञानवान्, अध्यात्म और योगशास्त्र के रसिक थे। वह जिनचरणों से भक्त, दयालु-हृदय, उदारचेता, कामलीला से विरक्त, संयमी श्रावक थे। उनकी प्रेरणा से पण्डित नवविलास ने आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' नामक सुप्रसिद्ध जैन योगशास्त्र की संस्कृत टीका लिखायी थी।

हर्षचन्द्र सेठ—बाग्वर (बागड़) देश के शाकवाटपुर (सागवाड़ा) के निवासी हूमड़वंशी धर्मात्मा सेठ थे। उन्होंने तथा उनकी पत्नी दुर्गा ने अनन्तव्रत के उद्यापन के उपलक्ष्य में 1576 ई. में भट्टारक गुणचन्द्र से 'अमन्तजिनव्रतपूजा' की रचना करायी थी जो उन्हीं के पूर्वजों द्वारा निर्मापित उस नगर के आदिनाथ-चैत्यालय में लिखकर पूर्ण की गयी थी। उसी जिनालय में निवास करते हुए भट्टारक शुभचन्द्र ने 1551 ई. में अपने प्रसिद्ध 'पाण्डवपुराण' की रचना की थी।

राजकुमार शिवाभिराम—धन और धार्मिकता से युक्त जैन महाजनों से

भरे-पूरे कुम्भनगर में बृहद्गुर्जरवंशी क्षत्रिय राजा तारासिंह का राज्य था। उसका पुत्र एवं उत्तराधिकारी बलवान् रणमल्ल था जो वैरियों का दमन करनेवाला, अन्यायमार्ग-विस्त, मित्रमूर्ति था। उसका पुत्र शूरवीर, गुणवान् एवं कीर्तिवान् सामन्तसिंह नृपराज था। दिल्ली का बादशाह भी उसे मानता था। एक दिगम्बराचार्य के प्रसाद से महाराज सामन्तसिंह को जिनधर्म की प्राप्ति हुई और वह शुद्ध जिनभागी हो गया। उन्हीं के पुत्र यह राजकुमार पद्मसिंह थे, जिनका दूसरा नाम शिवाभिराम था। वह वीर, सुन्दर, प्रबुद्ध एवं संयमी राजकुमार थे। गृहस्थ में रहते ही यह ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करने लगे थे और राजकाज से अतिरिक्त अपना पूरा समय विद्याविनोद तथा जिनराज की भक्ति में व्यतीत करते थे। उनकी भार्या रानी दीणा भी शीलादिगुणोपज्वलांग, अर्हन्त भगवान् की पादपद्मों की सेविका, लक्ष्मी-जैसी थी। उसकी प्रेरणा से राजकुमार ने 'चन्द्रप्रभ-पुराण' नामक संस्कृत काव्य की रचना की थी। ऐसा लगता है कि आगे चलकर उन्होंने राज्य का परित्याग कर दिया और उदासीन श्रावक के रूप में यत्र-तत्र विचरते थे। इन्हीं ने 1582 में जब वह मालवदेश के विजयसार प्रदेश के दिविजनगरदुर्ग (सम्भवतया उत्तर प्रदेश के झाँसी जिले के सुप्रसिद्ध देवगढ़) के देवालय में ठहरे हुए थे तो उन्होंने 'षट्चतुर्थ-वर्तमान-जिनार्चन' नामक काव्य की रचना की थी। राजा सामन्तसेन का वहीं शासन था और उसके महामाया-रघुपति का पुत्र धन्यराज इन राजर्षि शिवाभिराम का परम भक्त था। उसी की प्रेरणा से उन्होंने उक्त काव्य की रचना की थी। बड़गुजर राजाओं का उपर्युक्त कुम्भनगर सम्भवतया राजस्थान के अलवर-तिजारा क्षेत्र में स्थित था।

मन्त्री खीमसी—सम्राट् अकबर ने जगन्नाथ कच्छपघात (काछवाहा) को रणधम्मौर दुर्ग का शासक नियुक्त करके उसे महाराजा की उपाधि दी थी। इस महाराज जगन्नाथ का राजमन्त्री खीमसी (क्षेमसिंह) नामक एक अग्रवाल जैन था जो बड़ा धर्मात्मा था। उसने 1591 में रणधम्मौर-दुर्ग में एक भव्य जिनालय बनवाकर प्रतिष्ठापित किया।

साहरनवीरसिंह—अग्रवाल जैन थे और सम्राट् अकबर के समय में एक शाही खजांची और एक शाही टकसाल के एक अधिकारी थे तथा सम्राट् के कृपापात्र अनुचर थे। उनकी सेवाओं से प्रसन्न होकर सम्राट् ने उन्हें पश्चिमी उत्तरप्रदेश में एक जागीर प्रदान की थी, जिसमें उन्होंने अपने नाम पर 'साहरनपुर' नगर बसाया। साहरनपुर में भी शाही टकसाल कायम हुई और उसके वही अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनके पिता राजा रामसिंह भी राज्यमान्य व्यक्ति थे। उन्होंने कई स्थानों में जैनमन्दिर बनवाये बताये जाते हैं। साहरनवीरसिंह के सुपुत्र सेठ गुलाबराय थे और पौत्र सम्भवतया सेठ मिहिरचन्द्र थे। दिल्ली के कूँआ सुखानन्द में इन दोनों सज्जनों ने एक जैनमन्दिर बनवाया था जो अब भी उनके नाम से प्रसिद्ध है।

संघपति माणिक सुराणा—निमाड़ (मध्यप्रदेश) से प्राप्त कृष्ण पाषाण की

एक महावीर-प्रतिमा के 1591 ई. के लेखानुसार सुराणावंश उदयसिंह के पुत्र संघपति साहु पालहंस की भार्या मायकदे की कुक्षि से उत्पन्न संघपति साहु माणिक ने धर्मघोषसूरि के शिष्य रत्नाकरसूरि द्वारा उस वर्ष में बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी। संघपति उपाधि से प्रतीत होता है कि साहु माणिक और उसके पिता साहु पालहंस ने यात्रासंघ भी चलाया था।

कवि परिमल—खालियर में महाराज मानसिंह तोमर के समय में चन्दन चौधरी नामक बरहिया जातीय प्रसिद्ध राज्यमान्य थावक थे। उनके पुत्र रामदास थे, जिनके पुत्र शास्त्रज्ञ विद्वान् कर्ण थे जो आगरा में आ बसे थे। उन्हीं के पुत्र कवियर परिमल थे जिन्होंने 1594 ई. में आगरा में 'श्रीपालचरित्र' नामक हिन्दी काव्य की रचना की थी, जिसमें उन्होंने आगरा नगर, बादशाह अकबर और तत्कालीन लोकदशा के सजीव वर्णन किये हैं। ब्रजभाषा के यह श्रेष्ठ कवि किसी के आश्रित नहीं थे।

संघपति डूंगर—मध्यप्रदेश में मन्दाकिनी के निकट साहू-बल्लाकाराण के मुगल सम्राट की ओर से चन्द्रावतवंशी राजपूत अचलाजी का पुत्र महाराज दुर्गभान शासन करता था। शिलालेखों में उसका उल्लेख 1559 से 1593 ई. पर्यन्त मिलता है। यह राजा जैनधर्म का पोषक रहा प्रतीत होता है। उसके समय में कमलापुर (कैवला या कौरों, भानपुरा से 7 मील दूरस्थ) में मूलसंघ-सरस्वतीगच्छ-बल्लाकाराण की आम्नाय के साहु हामा के पुत्र सिंघई खेता थे। उनके पौत्र और साहु किलहण के ज्येष्ठ पुत्र यह संघपति डूंगर थे, जो शुभात्मा, देव-गुरु-शास्त्र भक्त, चारों दानों के देने में सदा तत्पर, राज्यमान्य सेठ थे। उन्हींने 1559 ई. में कमलापुर में धर्मात्मा महाराजा दुर्गभान के सुराज्य में सुन्दर महावीर-चैत्यालय बनवाया था और अपने परिवार के समस्त स्त्री-पुरुषों सहित उनकी प्रतिष्ठा करायी थी। यह मन्दिर 'सास-बहू का मन्दिर' कहलाता है। सम्भव है कि संघपति डूंगर की माता और पत्नी ने मिलकर स्वर्द्ध्य से इसे बनवाया हो। मानपुरा, कमलापुर आदि में उस काल के अनेक जैन भग्नावशेष मिले हैं। कमलापुर में ही दुर्गभान के उत्तराधिकारी राजा चन्द्रभान के शासनकाल में 1600 ई. में साहु पदारथ श्रीमाल के पुत्रों धर्मदास और नाहरदास ने सपरिवार विजयगच्छीय भट्टारक श्रीपूज्य पद्मसागरसूरि से आदिनाथ-बिम्ब की प्रतिष्ठा करायी थी।

महामात्य नानू—आमेर के महाराज भगवानदास के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज मानसिंह सम्राट् अकबर के सर्वाधिक विश्वसनीय एवं प्रथम श्रेणी के प्रमुख सेनापतियों और सरदारों में से थे। मुगल साम्राज्य की शक्ति के वह एक सुदृढ़ स्तम्भ थे। सम्राट् ने जब 1590 ई. के लगभग उन्हें बंगाल-बिहार-उड़ीसा प्रान्त का प्रान्तीय शासक (वायसराय) नियुक्त किया तो उन्होंने उस विशाल प्रदेश में सपस्त विद्रोहियों का दमन करके वहाँ मुगल सम्राट् की सत्ता पूर्णतया स्थापित कर दी और उस देश को सुशासन प्रदान किया। वस्तुतः 1562 ई. में जब उनकी बुआ (राजा बिहारीमल

की पुत्री और भगवानदास की बहन) का विवाह सम्राट् अकबर से हुआ, मानसिंह की आयु केवल 12 वर्ष की थी और तभी से वह सम्राट् की सेवा में रहने लगे। अत्यन्त प्रियपात्र बन गये थे। अपने बंगाल-बिहार के लगभग 15 वर्ष के शासन-काल में उन्होंने अनेक भवन, मन्दिर आदि बनवाये, कई नगर बसाये और राजमहल का नाम अकबरपुर रखकर उसे अपनी प्रान्तीय राजधानी बनाया था। उनके साथ स्वदेश आमेर से अनेक जैनी भी उनके अधिकारीवर्ग के रूप में उस प्रान्त में पहुँचे थे और उन्होंने वहाँ घत्र-तत्र जिन-मन्दिर बनवाये तथा अन्य धर्म-कार्य किये थे। उनमें प्रमुख महाराज के महाभात्य साह नानू थे जो उनके सर्वाधिक विश्वसनीय मन्त्री थे। वह खण्डेलवाल जातीय, गोधागोत्रीय साहु रूपचन्द्र के पुत्र थे। रूपचन्द्र स्वयं बड़े उदार, दानी, जिनपूजा में अनुरक्त, गुणज्ञ और धर्मात्मा सज्जन थे। उनके सुपुत्र साह नानू तो वैभव में कुवेर, रूप में कामदेव, ऐश्वर्य में इन्द्र, प्रताप में सूर्य, सौम्यता में चन्द्र और जिनेन्द्रमक्ति में सर्वोपरि थे। वह मुकुटबद्ध राजाओं के समान प्रसिद्ध थे। जिस प्रकार भरत चक्रवर्ती ने युग की आदि में अष्टापद (कैलास पर्वत) पर जिनमन्दिर बनवाये थे, उसी प्रकार सम्मेदशिखर पर इस धर्मात्मा मन्त्रीवर नानू ने बीस तीर्थकरों के निर्माण-स्थलों पर बीस जिनगृह (मन्दिर या टोंक) बनवाये थे और उक्त तीर्थराज की अनेक बार संघ सहित यात्रा की थी। चम्पापुर आदि में भी जिनालय बनवाये, स्वयं अकबरपुर का आदिनाथ-जिनालय भी उन्हीं का बनवाया हुआ था। पण्डित जयवन्त-जैसे कई विद्वान् उनके आश्रय में रहते थे। साह नानू की प्रार्थना पर ईडरपट्ट के भट्टारक वादिभूषण के सधर्मा पद्मकीर्ति के शिष्य मुनि ज्ञानकीर्ति अकबरपुर पधारे थे और उसी आदिनाथ-जिनालय में ठहरे थे। वहीं उन्होंने साह नानू की प्रेरणा पर उन्हीं के नामांकित 'यशोधरचरित्र' नामक संस्कृत काव्य की 1602 ई. में रचना की थी। उसी ग्रन्थ की उसी नगर में 1604 में साह नानू ने, जो सम्भवतया साह नानू के अनुज या पुत्र थे, एक प्रतिलिपि करा कर भट्टारक चन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक शुभचन्द्र को भेंट की थी। स्वदेश आकर 1607 ई. में साह नानू ने मौजमाबाद (आमेर के निकट) में एक विशाल कलापूर्ण जिनमन्दिर बनवाकर महान् प्रतिष्ठोत्सव किया था, जिसमें दूर-दूर के श्रावक सम्मिलित हुए थे और सैकड़ों जिन-विम्ब प्रतिष्ठित हुए थे। सम्भवतया इन्हीं के वंश के साह ठाकुर और उसके पुत्र तेजपाल ने आमेर के नेमिनाथ-जिनालय में पुष्पदन्तकृत 'जसहरचरित' की 71 कलापूर्ण चित्रों से सुसज्जित बहुमूल्य प्रति 1590 में बनवायी थी।

कर्मचन्द्र बच्छावत—बीकानेर राज्य के संस्थापक राव बीका के परम सहायक एवं प्रधान मन्त्री बच्छराज के समय से ही उसके वंशज बीकानेर नरेशों के दीवान रहते आये थे और उन्होंने अनेक धर्मकार्य भी किये थे। बच्छराज के पश्चात् उसके पुत्र कर्मसिंह और वरसिंह क्रमशः राव लूणकरण और जैतसिंह के मन्त्री रहे। तदनन्तर वरसिंह का पुत्र नगराज जैतसिंह का दीवान रहा। नगराज का पुत्र संग्राम

बीकानेर-नरेश राव कल्याणसिंह का कृपापात्र दीवान था। उसने शत्रुंजय आदि की यात्रा के लिए संघ भी चलाया था जिसका चिलीड़ में राणा उदयसिंह ने स्वागत-सत्कार किया था। इस राजा की मृत्यु के उपरान्त जब उसका पुत्र रायसिंह 1578 ई. में बीकानेर की गद्दी पर बैठा तो उसने संग्राम के पुत्र कर्मचन्द्र को अपना दीवान बनाया। वह बीकानेर के बख्शवत दीवानों में अन्तिम, बड़ा वीर, साहसी, चतुर, कूटनीतिज्ञ, दूरदर्शी और मेधावी था। उसके इन गुणों ने उसकी कुरूपता को ढँक दिया था। किन्तु राजा रायसिंह बड़ा उद्धत, उच्छृंखल, फिजूलखर्च और अदूरदर्शी था। राज्य की आर्थिक अवस्था गड़बड़ाने लगी और शासन-तन्त्र बिगड़ने लगा। कर्मचन्द्र ने राजा को सुधार पर लाने का बड़ा प्रयत्न किया, किन्तु उलटे रायसिंह उससे ही ठूट हो गया और राज्यवंश के दलपतसिंह एवं समसिंह के साथ अपने विरुद्ध षड्यन्त्र करने के सन्देह में मन्त्री की जान का ग्राहक बन गया। लाचार कर्मचन्द्र ने भागकर सम्राट् अकबर की शरण ली। सम्राट् उससे और उसके गुणों से भली-भाँति परिचित था। उसने बड़े सम्मान के साथ उसे अपने ही दरबार में रख लिया और बहुत मानता था। यहाँ रहते भी कर्मचन्द्र ने रायसिंह का कोई अहित-साधन कभी नहीं किया, यद्यपि राजा ने उससे भयंकर बदला लेने की ठान ली थी। जैनधर्म और संघ के प्रभावकों में कर्मचन्द्र का नाम बीकानेर के इतिहास में सर्वप्रसिद्ध है। उसने 1575 ई. में बीकानेर में आचार्य जिनचन्द्रसूरि का स्वागत-समारोह बड़ी धूमधाम के साथ किया था। 1578 ई. के दुष्काल में राज्य की भूखी जनता के लिए उसने स्वद्रव्य से अनेक अन्नसत्र खोल दिये थे, मुसलमानों के कब्जे से बहुत-सी जिनमूर्तियाँ निकालकर उन्हें बीकानेर के चिन्तामणिजी-मन्दिर में विराजमान कर दी थीं और ओसवाल समाज में अनेक आवश्यक सुधार चालू किये थे तथा भोजकों को दी जानेवाली वृत्ति का भी नियमन किया था। उपर्युक्त मूर्तियाँ, जिनकी संख्या 1050 बतायी जाती है, तुरसानखों ने सिरोंही से लूटी थीं और वे आगरे में अकबर के शाही खजाने में रख दी गयी थीं। लाहौर में 1592 ई. में अकबर ने कर्मचन्द्र की प्रेरणा पर खम्भात से जिनचन्द्रसूरि को आमन्त्रित किया था और पधारने पर समारोहपूर्वक उनका स्वागत किया था। उसी अवसर पर सम्राट् और कर्मचन्द्र की इच्छानुसार सूरिजी ने अपने शिष्य मानसिंह यति को जिनसिंहसूरि नाम देकर उनका पट्टबन्धोत्सव किया था। सम्राट् की मृत्यु (1605 ई.) के थोड़े समय उपरान्त ही कर्मचन्द्र को भी रोग ने घर दबाया। रायसिंह उसे देखने के लिए आया, दुख और सहानुभूति प्रकट करके उससे कहा कि वह परिवार सहित बीकानेर लौट चले और पिछली बातें भूल जाए। किन्तु कर्मचन्द्र उस कपटी की बातों में नहीं आया। उसके पुत्र तो तैयार थे, किन्तु उसने मरते-मरते उन्हें बरज दिया कि भूलकर भी बीकानेर का रुख न करना। उधर रायसिंह भी 1611 ई. में मर गया और मृत्युशय्या पर अपने पुत्र एवं उत्तराधिकारी सूरसिंह से यह वचन ले लिया कि जैसे

भी हो कर्मचन्द्र के परिवार को बीकानेर लाकर उनसे प्रतिशोध अवश्य लेना। अलग्ग 1613 ई. में सूरसिंह कर्मचन्द्र के भोले पुत्रों मंगलचन्द्र और लक्ष्मीचन्द्र को फूसलाकर बीकानेर ले जाने में सफल हो गया, और एक दिन सेना लेकर उनकी हवेली को घेर लिया। बच्छावतों के परिवार के सदस्य, अनुचर, दास-दासी लगभग 500 व्यक्ति थे। वे वीरता के साथ लड़े और जब अन्य कोई उपाय न हुआ तो अर्हन्त भगवान् की पूजा करके सबसे गले मिल स्त्रियों और बच्चों को चित्त में भस्म कर केसरिया साग पहन जूझ पड़े। इन वीरों ने जीहर करके अपनी शान और मान रखा, किन्तु अन्यायी राजा के सम्मुख झुके नहीं। कुटुम्ब की एक गर्भवती महिला संयोग से अपने मायके में किशनगढ़ थी। उसी से बच्छावत वंश आज तक चला जाता है, वरना उस भीषण साका में सब समाप्त हो गया था। उनके महल-मकान आदि दुष्ट राजा ने पूर्णतया ध्वस्त करा दिये थे।

हीरानन्द मुकीम—अकबर के अन्तिम वर्षों में आगरा के ओसवाल जातीय सेठ हीरानन्द मुकीम अत्यन्त धनवान् एवं धर्मात्मा सज्जन थे। वह विशेषकर शाहजादा सलीम के व्यक्तिगत जीहरी और कृपापात्र थे। वह अरडकसोनी गोत्री साह पूना के पौत्र और साहकान्हड के उसकी भार्या भामनीबहू से उत्पन्न सुपुत्र थे। स्वयं उनके पुत्र साह निहालचन्द थे। हीरानन्द मुकीम के प्रयत्न से 1604 ई. में आगरा से एक संघ सम्मेशिखर की यात्रार्थ चला था। जब संघ प्रयाग पहुँचा तो सेठ ने शाहजादे से उस संघ के साथ जाने की अनुमति और राज्य का संरक्षण प्राप्त किया। विभिन्न स्थानों के श्रावकों को संघ में सम्मिलित होने के लिए पत्र भेजे गये। ऐसा ही एक पत्र पाकर जौनपुर से पं. बनारसीदास के पिता खरगसेन भी उस संघ के साथ यात्रार्थ गये थे। संघ के साथ हीरानन्द सेठ के अनेक हाथी, घोड़े, पैदल और तुपकदार थे। उन्हीं की ओर से पूरे संघ का प्रतिदिन भोज होता था और सब यात्रियों को सन्तुष्ट किया जाता था। यात्रा करके लगभग एक वर्ष में संघ वापस आया। सब सुविधाएँ होते हुए भी यात्रा में अनेक की मृत्यु हो गयी और बहुत से बीमार पड़ गये। जौनपुर की समाज के आग्रह पर हीरानन्दजी ने चार दिन जौनपुर में भी मुकाम किया और तदनन्तर स्वस्थान प्रयाग चले गये। अकबर की मृत्यु के उपरान्त जब जहाँगीर नाम से सलीम सम्राट् हुआ तो हीरानन्द भी उसके साथ आगरा चले आये और पूर्ववत् उसके कृपापात्र एवं जीहरी बने रहे। जहाँगीर के राज्याभिषेक के उपरान्त उसके उपलक्ष्य में 1610 ई. में हीरानन्द ने सम्राट् को अपने घर आमन्त्रित किया, अपनी हवेली की भारी सजावट की, सम्राट् को बहुत मूल्यवान् नज़राना दिया और उसकी तथा दरबारियों की शानदार दावत की। सेठ के आश्रित कवि जगत् ने इस समारोह का बड़ा अवलंकारिक एवं आकर्षक वर्णन किया है। अगले वर्ष 1611 ई. में हीरानन्द ने आगरा में खरतरगच्छी लब्धिवर्धनसूरि से एक विम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी और उसी समय उनके सुपुत्र साह निहालचन्द ने भी जिनचन्द्रसूरि से एक

पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी। एक अन्य प्रतिमालेख में, जो इसी घराने द्वारा 1631 ई. में करायी गयी प्रतिष्ठा का है, 'राजद्वार-शोभनीक सोनी थी हीरानन्द' द्वारा जहाँगीर की स्वगृह में दावत देने का संकेत प्राप्त होता है।

सबलसिंह मोठिया—नेमिदास (नेमा) साहु के पुत्र और जहाँगीर के शासनकाल में आगरे के एक अति-वैभवशाली जैन थे। पं. बनारसीदास ने अपने 'अर्थकथानक' में 1615-16 ई. के लगभग के विवरणों में इनका कई बार उल्लेख किया है। इस सेठ के राजसी वैभव और शाही ठाठ का कवि ने जो आँखों देखा वर्णन किया है उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उस काल के प्रमुख जैन साहुकार मुगलों की राजधानियों में भी कितने धन-सम्पन्न थे। उसके पूर्व 1610 ई. में आगरे के जैन संघ की ओर से तपागच्छाचार्य विज्ञप्तिपत्र भेजा गया था उसमें वहाँ के 88 श्रावकों और संघपतियों के हस्ताक्षर थे। उस सूची के संघपति सबल ही यह सबलसिंह मोठिया थे।

वर्द्धमान कुँअरजी—1610 ई. के विज्ञप्तिपत्र में उल्लिखित संघपति वर्द्धमान कुँअरजी ही वह वर्द्धमान-कुँअरजी दलाल थे, जिनके साथ 1618 ई. में बनारसीदासजी आदि ने अहिच्छत्रा और हस्तिनापुर की यात्रा की थी।

साह बन्दीदास का नाम भी 1610 ई. के विज्ञप्तिपत्र में उल्लिखित है। यह दूलहसाह के पुत्र, उत्तमचन्द जौहरी के अनुज और पं. बनारसीदास के बहनोई थे और आगरे नगर के मोतीकटरे में रहकर मोती आदि जवाहरात का व्यापार करते थे।

ताराचन्द्र साहु—विज्ञप्तिपत्र के साह ताराचन्द्र परवत-ताँबी के ज्येष्ठ पुत्र और आगरे के धनी श्रावक थे। उनके अनुज कल्याणमल की पुत्री बनारसीदासजी के साथ विवाही थी। उन्होंने 1611 ई. में बनारसीदास को अपने पास बुलाकर कुछ दिन रखा था।

दीवान धन्नाराय—सम्राट् अकबर की ओर से महाराज मानसिंह द्वारा बंगाल-बिहार पर अधिकार करने से बंगाल के पठान सुल्तान सुलेमान के साले लोदीखों के इन सौधङ्गोत्री दीवान धन्नाराय के अधीन पाँच सौ श्रीमाल वैश्य पोतदारी या खजाने की वसूली का काम करते थे। बनारसीदास के पिता खरगसेन ने भी उनके अधीन चार परगनों की पोतदारी की थी। धन्नाराय ने सम्पेदशिखर के लिए यात्रा संघ भी निकाला था।

ब्रह्म गुलाल—चन्द्रवाड के निकटस्थ टापू या टप्पल ग्राम के निवासी पचावतपुरवाल जैन थे और चन्द्रवाड के जैनधर्म पोषक चौहान राजा कीर्तिसिंह के दरबारी, कुशल लोककवि और सिद्धहस्त अभिनेता थे। हथिकन्त-अटेर के भट्टारक जमल्भूषण के यह शिष्यों में से थे। उन्होंने 1614 ई. में 'कृष्ण-जगन्मन-कथा' नामक हास्यरसमयी काव्य ब्रजभाषा में रचा था, अन्य भी कई कृतियों की रचना की थी।

कहा जाता है कि एक बार राजा ने इनसे जैनमुनि का अभिनय करने के लिए कहा, तो यह घरदार छोड़कर सच्चे मुनि बन गये। इनका कहना था कि जैनमुनि का अभिनय नहीं किया जा सकता, जो एक बार मुनि बन गया तो बन ही गया। लोकमानस में उनकी ऐसी छाप पड़ी थी कि उनके लगभग 150 वर्ष बाद कवि छत्रपति ने उनके जीवन को लेकर 'ब्रह्मगुलालचरित्र' (1877 ई.) की रचना की थी।

पण्डित बनारसीदास—(1586-1643 ई.) आगरा के मुगलकालीन सुप्रसिद्ध जैन महाकवि, अध्यात्मरस के रसिया, समाज-सुधारक, विद्वान् पण्डित और व्यापारी बनारसीदास बीहोलिया-गोत्री श्रीमाल वैश्य थे। उनके पितामह मूलदास 1551 ई. के लगभग सरदार (गवालियर) के मुगल उमराव के मोदी थे और मालामह (नाना) मदनसिंह चिन्नालिया जौनपुर के नामी जौहरी थे, तथा पिता खरगसेन ने कुछ काल बंगाल के पठान सुलतान सुलेमान के राज्य में दीवान धम्माराय के अधीन चार परगनों की पोतदारी की, तदनन्तर इलाहाबाद में शाहजादा दानियाल की सरकार में जवाहरात के लेन-देन का कार्य किया और अन्त में जौनपुर में ही बसकर जवाहरात का व्यापार करते रहे। बनारसीदास भी किशोरावस्था से ही व्यापार में पड़े। जवाहरात के अतिरिक्त उन्होंने अन्य कई व्यापार किये, किन्तु इस क्षेत्र में प्रायः असफल ही रहे, तथापि काम चलता ही रहा। अन्त में जौनपुर छोड़कर स्थायीरूप से आगरा में बस गये जहाँ उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की, एक विद्वन्मण्डली का निर्माण किया और अपनी 'शैली' या गोष्ठी प्रारम्भ की। उनकी प्रसिद्धि दूर-दूर तक फैल गयी—सुदूर सिन्ध-देशस्थ मुलतान के श्रावकों ने भी उनसे सम्पर्क रखे। लोक-प्रतिष्ठा और शासकों से भी उन्हें सम्मान मिला। जौनपुर के सूबेदार चिनकलीचखौं को उन्होंने 'श्रुतबोध' आदि पढ़ाये थे, स्वयं सम्राट् शाहजहाँ ने उन्हें अपना मुसाहब बनाया था और मित्रवत् व्यवहार करता था। ऐतिहासिक दृष्टि से बनारसीदासजी की सर्वोपरि उपलब्धि उनका अद्वितीय आत्मचरित्र 'अर्थकथानक' है जिसमें उन्होंने अपने 55 वर्ष (1586-1641) ई. का निष्कपट सजीव चित्रण किया है, साथ ही अपने पूर्वपुरुषों, शासकों, शासन व्यवस्था, लोकदशा इत्यादि का बहुमूल्य परिचय प्रदान किया है। उससे पता चलता है कि उस युग में पंजाब-सिन्धु से लेकर बंगाल पर्यन्त सम्पूर्ण उत्तर भारत में श्रीमाल, ओसवाल, अग्रवाल आदि जातियों के जैन व्यापारी फैले हुए थे और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। सम्राटों, सूबेदारों, नवाबों और स्थानीय शासकों से उनका विशेष सम्बन्ध रहता था। वे लोग अधिकांशतया सुशिक्षित भी होते थे। स्वयं बनारसीदास प्राकृत और संस्कृत के अतिरिक्त विविध देश-भाषा-प्रतिबुद्ध थे और फ़ारसी भी जानते थे।

तिहुना साहु—आगरा के अग्रवाल जैन सेठ थे। उन्होंने एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था। आगरा में तिहुना साहु के इसी देहरे (मन्दिर) में रूपचन्द्र नाम के गुणी विद्वान् 1635 ई. के लगभग बाहर से आकर कुछ दिन ठहरे थे। उनके

पाण्डित्य की प्रशंसा सुनकर बनारसीदास की मण्डली के सब अध्यात्मी उनसे जाकर मिले और विनयपूर्वक उनसे गोम्मटसार का प्रवचन कराया, जिसे सुनकर बनारसीदास और उनके साथी, जो तबतक निश्चय-एकान्त में भटक रहे थे, अपनी दृष्टि को समीचीन और स्याद्वादमयी बनाने में सफल हुए थे।

वीरजीक्षोरा (1619-1670 ई.)—सूरत का यह गुजराती जैन सेठ अपने समय का आयात-निर्यात का सर्वप्रमुख भारतीय व्यापारी था। पश्चिमी समुद्रतटवर्ती सूरत नगर उस काल में अरब सागर का प्रायः सबसे बड़ा बन्दरगाह तथा विदेशी व्यापार की प्रधान भण्डी था और वीरजीक्षोरा वहीं का सबसे बड़ा व्यापारी था। सूरत का ही नहीं, मालाबारतट का अधिकांश व्यापार उसके नियन्त्रण में था। आगरा, बुरहानपुर, गोलकुण्डा आदि सुदूर स्थित प्रमुख व्यापार केन्द्रों में उसकी गहियाँ थीं और पश्चिम में फ़ारस की खाड़ी और दक्षिणपूर्व में भारतीय द्वीपसमूह पर्यन्त उसका व्यापार फैला था। अरब, पुर्तगाली, अँगरेज़, डच, फ़्रांसीसी आदि विदेशी व्यापारी उसकी कृपा पर अवलम्बित रहते थे। उक्त विदेशियों के कथनानुसार ही यह भारतीय सेठ अपने समय में सम्पूर्ण विश्व का सबसे बड़ा धनवान् समझा जाता था। देवेनाट नामक एक तत्कालीन लेखक के अनुसार वीरजीक्षोरा का स्वयं अस्सी लाख स्वर्ण मुद्राओं का धनी था अर्थात् कोट्याधीश ही था। वह उस काल की बात है जब एक रुपये (40 दाम) में लगभग 2 मन गेहूँ, 3 मन जौ, बंगाल में 4-5 मन चावल मिलता था, और एलेप्पो से आगरा तक की 10 महीने की लम्बी यात्रा में खाने-पीने एवं सफ़र का सब खर्च कुल मिलाकर 3 सायरन (40-50 रुपये) लगता था। वीरजीक्षोरा और उसकी पुत्री फूलोंबाई लोकाशाह द्वारा स्थापित लोकागच्छ के अनुयायी हो गये थे। फूलोंबाई का दसक पुत्र लवजी था। वह पढ़ा-लिखा युवक था। उसे जब वैराग्य उत्पन्न हुआ और उसने संयम लेने के लिए अपने नाना वीरजी से आज्ञा माँगी तो वीरजी ने कहा बताया जाता है कि लोकागच्छ में दीक्षा ले तो आज्ञा देंगे। अतएव लवजी ने 1652 ई. में बजरंगजी से दीक्षा ली। उनके निकट सूत्रों का अध्ययन किया और लोकागच्छ का चौथा या पाँचवाँ पट्टधर हुआ। इन्हीं लवजी या लवणश्रुषि को हूँदियामत का प्रवर्तक कहा जाता है।

हेमराज पाटनी—बाग्वर (बागड़) देशस्थ सागपत्तन (सागवाड़ा) निवासी पाटनी गोत्री खण्डेलवाल जैन रेखा सेठ के पुत्र तेजपाल, हेमराज और धनराज थे। ये भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति की आम्नाय के श्रावक थे और मगधदेश के गंगातटवर्ती पाटलिपुत्र (पटना) नगर में निवास करते थे। हीरासेठ की भतीजी हमीरदे हेमराज की भार्या थी। हेमराज सेठ के साथ सकलचन्द्र के शिष्य भट्टारक रत्नचन्द्र ने सम्मोदशिखर की यात्रा की थी। साथ में अन्य अनेक खण्डेलवाल, अग्रवाल, जैसवाल आदि धर्मात्मा एवं दानी श्रावक थे जो भट्टारक रत्नचन्द्र के भक्त थे। यात्रा से लौटकर पटना में सुदर्शन-सेठ के मन्दिर में निवास करते हुए सेठ हेमराज की प्रार्थना पर पाण्डित

तेजपाल के सहयोग से उक्त भट्टारक रत्नचन्द्र में 1626 ई. की भाद्रपद शुक्ला पंचमी गुरुवार के दिन स्तोत्राधिप सलेमसहि (जहाँगीर) के सद्राज्य में 'सुभौम-चक्रि-चरित्र' नामक संस्कृत काव्य को रसकर पूर्ण किया था।

संघई ऋषभदास—हूमड़जातीय, लघुशाखा-खरजागोत्री संघई नाकर की भार्या नारंगदे से उत्पन्न उसके पुत्र संघई ऋषभदास ने अपनी भार्या एवं पुत्र धर्मदास सहित स्वगुरु भट्टारक पद्मनन्दि (राजकीर्ति के शिष्य) के उपदेश से वाराणसी में पार्ष्णाय-बिम्ब प्रतिष्ठा करायी थी।

संघपति रतनसी—हूमड़ जाति की बड़शाखा में उत्पन्न संघवी जाड़ा बामड़देश से आकर गुर्जरदेश (गुजरात) के अहमदाबाद नगर में बस गये थे। आने के पूर्व अपनी जन्मभूमि में उन्होंने अनेक मन्दिरों का उद्धार कराया था। उनके पौत्र संघवी लटकण और उनकी भार्या ललतादे के पुत्र, अपने कुल के सूर्य, राजा श्रेयांस-जैसे दानी, जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा एवं तीर्थयात्रादि कार्यों को करने में उत्सुकचित यह संघपति रतनसी थे। इनकी तीन पत्नियाँ थीं। संघवी रामजी इनके छोटे भाई थे, जिनके पुत्र डुगरसी और राघवजी थे। यह परिवार कुन्दकुन्दान्वय-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण के भट्टारक समकीर्ति के पट्टधर भट्टारक पद्मनन्दि का आम्नाय-शिष्य था। स्वगुरु के उपदेश से संघपति रतनसी ने अपने भाई, भतीजों और परिवार की महिलाओं सहित शत्रुंजयतीर्थ की यात्रा की थी और वहाँ बादशाह शाहजहाँ के राज्य में, 1629 ई. में दिगम्बर जैन मन्दिर में भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। सम्भवतया यह मन्दिर भी इन्हीं का बनवाया हुआ था।

संघाधिप भगवानदास—भट्टारक जगत्भूषण की आम्नाय में गोलापूर्ववंशी दिव्यनयन नामक श्रावक थे। उनकी पत्नी दुर्गा और पुत्र चक्रसेन एवं मित्रसेन थे। दुर्गा प्रोषधोपवास के नियमवाली धर्मात्मा महिला थी। चक्रसेन की पत्नी कृष्णा और केवलसेन एवं धर्मसेन नाम के पुत्र थे। मित्रसेन बड़े प्रतापवान् और धर्मात्मा थे। उनकी सुशीला प्रिय पत्नी यशोदा से भगवानदास और हरिवंश नामक दो पुत्र हुए। भगवानदास की शुभानना भार्या केशरिदे थी और महासेन, जिनदास एवं मुनिसुव्रत नाम के तीन सुपुत्र थे। भगवानदास भगवान् जिनेन्द्र के चरणों के परम भक्त, वाक्पूर्ण-प्रताप, उदार और धर्मात्मा थे। उन्होंने जिनेन्द्र भगवान् की प्रतिष्ठा करायी थी, सम्भवतया जिनमन्दिर बनवाकर बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी। उनके घर्मोत्साह के लिए समाज ने उन्हें 'संघराज' पदवी प्रदान की थी। भरतेश्वर, श्रेयांस, कर्ण, देवेन्द्र, देवगुरु और राजराज आदि से उनके प्रशंसक कवि ने उनकी उपमा दी है। परम विद्वान् पाण्डे रूपचन्द्र ने उनके आश्रय में, उनके द्वारा सम्बोधित होकर, इन्द्रप्रस्थपुर (दिल्ली) में, चतुर्दशवंशी शाहजहाँ के राज्य में, 1635 ई. में, 'भगवत्समवसरणार्चनविधान' (समवसरणपाठ) की संस्कृत भाषा में रचना की थी। पण्डित रूपचन्द्र स्वयं कुहदेशस्थ सलेमपुर निवासी गर्गगोत्री अग्रवाल श्रावक मामट के पौत्र, सबसे छोटे किन्तु

सर्वाधिक मेधावी थे। वासणसी जाकर उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। तदनन्तर दरियापुर में आ बसे, किन्तु वहाँ भी स्थिर न हुए और यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए साहित्य सृजन एवं ज्ञान का प्रसार करते रहे।

साह गागा—सिरोही के महाराज अखराज के राज्य में युवराज उदयभाण के आश्रित प्राग्वाट कुल के साह गागा और उसकी भार्या मनरंगदे के पुत्रों, पौत्रों आदि ने 1641 ई. में तपागच्छाचार्य हीरविजयसूरि के परम्पराशिष्य अमृतविजयगणि से पार्श्वनाथ एवं शान्तिनाथ की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं।

मोहनदास भौसा—आमेर के प्रसिद्ध मिर्जा राजा जयसिंह के, जो शाहजहाँ और औरंगजेब के प्रधान सरदार, सामन्त एवं सेनापति थे, मुख्यमन्त्री और आमेर नगर के शासक यह मोहनदास भौसा (भौवसा) थे। यह आमेरपट्ट के भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति की आम्नाय के श्रावक थे और उन्हीं के उपदेश से उन्होंने अम्बावती (आमेर, जयपुर राज्य की पुरानी राजधानी) में 1657 ई. में भगवान् विमलनाथ का विशाल मन्दिर निर्माण कराया था जो अब 'संघवी झूठराय का मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध है और 1659 ई. में उक्त मन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था। सम्भवतया इन्हीं मोहनदास भौसा के पुत्र राजमन्त्री अमरा भौसा थे। उन्होंने भी एक नया मन्दिर बनवाया था और तेरापन्थ शुद्धाम्नाय का संवर्धन किया था। उन्हीं भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से गोयलगोत्री अग्रवाल संघपति तेजसा उदयकरण ने गिरनार पर एक सम्यक्सारित्रयन्त्र 1652 ई. में प्रतिष्ठित कराया था, सम्भवतया वह उक्त भट्टारकजी तथा संघ को लेकर गिरनार की यात्रा के लिए गये थे। उन्हीं भट्टारकजी के एक अन्य प्रमुख भक्त गर्गगोत्री अग्रवाल साह मन्हराम के पुत्र संघाधिपति जयसिंह थे, जिन्होंने 1659 ई. में अम्बावती (आमेर) में ही एक धर्मोत्सव किया था और यन्त्रादि प्रतिष्ठित करायें थे तथा यात्रासंघ चलाया था। महामन्त्री मोहनदास भौवसा का जन्म 1593 ई. के लगभग हुआ था और विवाह 1606 ई. में हुआ था। वह जिनपूजापुरन्दर, सम्यक्त्वालकृतगात्र, विप्रदानेश्वर, जिनप्रासादोद्धारणधीर, निजयशसुधाधवलीकृत-विश्व और संघाधिपति कहलाते थे। कल्याणदास, विमलदास और अजितदास नाम के उनके तीन पुत्र थे।

अरुणमणि—ग्वालियर पट्ट के काष्ठसंघी भट्टारक श्रुतकीर्ति के शिष्य बुधराघव थे, जिन्होंने गोपाचल (ग्वालियर) में एक जिनमन्दिर बनवाया था। वह तपोधन राजाओं द्वारा सम्मानित हुए थे। उनके शिष्य रत्नपाल, वनमालि और कान्हर सिंह थे। उक्त कान्हर सिंह के शिष्य प्रस्तुत लालमणि या अरुणमणि थे, जिन्होंने, जहानाबाद नगर (दिल्ली) के पार्श्वनाथ-जिनालय में मुद्गल-अवरंगसिंह (मुगल सम्राट् औरंगजेब) के शासनकाल में 1659 ई. में 'अजित-जिन-चरित्र' नामक संस्कृत काव्य की रचना की थी।

संघपति आसकरण—धर्मावनिपुर (मध्यप्रदेश के सागर जिले का धर्मौनी ग्राम)

में समुकुटागोत्री, गोलापूर्ववंशी, जैनवैश्य संघपति आसकरण निवास करते थे। उनकी भार्या का नाम मोहनदे था और ज्येष्ठ पुत्र संघपति रतनाई था, जिसकी पत्नी का नाम साहिबा था और नरोत्तम, मण्डन, राधव, मगीरथ और नन्दि नाम के पाँच पुत्र थे। आसकरण के द्वितीय पुत्र संघपति हीरामणि की कमला एवं वासन्ती नाम की दो पत्नियाँ और बलभद्र नाम का एक पुत्र था। यह पूरा परिवार धर्मात्मा और जिनमक्त था। संघपति आसकरण ने अपने पूरे परिवार सहित 1659 ई. में दमोहपट्ट के भट्टारक ललितकीर्ति के शिष्य शुल्लकव्रतधारी ब्रह्म सुमतिदास के उपदेश से जेरठ के भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य पण्डित द्वारिकादास ने एक महान् शान्तिवज्र समारोह कराया था और उसके लिए विभिन्न स्थानों की समाजों के लिए निमन्त्रण-पत्रिकादि (विज्ञप्तिपत्र या पट्ट अभिलेख) भेजे थे। धर्मौनी पर उस काल में मुगल सम्राट् औरंगजेब के फौजदार (सूबेदार) रुबुल्लाहख़ाँ का शासन था जो संघपति आसकरण को बहुत मानता था। विधान धर्मौनी के चन्द्रप्रभ-जिनालय में किया गया था। आसकरण बड़े धन-सम्पन्न, उदार और धर्मात्मा थे। उन्होंने कई नवीन जिनमन्दिर बनवाये थे और कई पुस्तकें की-उद्धार करवा कर बाँटने के वितरण में वह राजा शेरशाह के समान थे। वह शुद्धसन्धवत्त्वालंकार-भारोद्धरणधीर थे और उस समय श्रावक के बारह व्रतों के पालक और छठीप्रतिमाधारी थे।

वर्धमान नवलखा—सिन्ध देशस्थ मुलतान नगर में आगरा के पण्डितप्रवर बनारसीदास और उनकी आध्यात्मिक शैली से प्रेरणा प्राप्त करके तथा उनके प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क से अध्यात्मरसिक श्रावकों की एक उत्तम मण्डली बन गयी थी। उसके नेता नवलखामोत्री पाहिराज साहु के पुत्र यह शाह वर्धमान नवलखा थे। इनके साथ सुखानन्द, मिठुमल भणसाली, शाह करोड़ी, नेमीदास, धर्मदास, शान्तिदास, मिठू पुत्र सूरज, चाहडमल सखेला, करमचन्द्र, जेठमल, श्रीकरण, ताराचन्द्र, ऋषभदास, पृथ्वीराज, शिवराज आदि सज्जन थे। ये लोग अपना धर्माचार्य और धर्मगुरु बनारसीदासजी को मानते थे। वे मुनिराज कुन्दकुन्द, अमृतचन्द्र और राजमल्ल के ग्रन्थों का स्वाध्याय करते थे तथा दिगम्बर आम्नाय के शास्त्रों की और श्वेताम्बर आम्नाय के (साधु) वेष को मान्य करते थे। लगभग 1650 से 1690 ई. पर्यन्त के इन मुलतानी अध्यात्मी श्रावकों के उल्लेख मिलते हैं। स्वयं शाह वर्धमान नवलखा ने अपनी वर्धमान-वचनिका 1689 ई. में रची थी। मुलतान नगर का पार्श्वनाथ-मन्दिर इस अध्यात्मिक गोष्ठी का केन्द्र था। इसके वर्धमान नवलखा आदि प्रमुख सदस्य पं. बनारसीदासजी से भेंट करने आगरा भी गये प्रतीत होते हैं।

साह हीरानन्द अग्रवाल—लोहाचार्य आम्नायी, अग्रवाल-ज्ञातीय, मीललमोत्री, टोलावंशी, 'बेडवालमति' साह हेमराज लाटौर नगर में निवास करते थे। उनकी शील-तोय-तरंगिणी भार्या लटकी थी और पुत्र शील में सेठ सुदर्शन के अवतार, सज्जनजन-सुखकार, धर्माधार साह भगवानदास थे। उनकी पतिपरायणा, रूपवती,

दानशीला और धर्मात्मा पत्नी हेवरदे थी और प्रवागदास, हीरानन्द और कुन्दनदास नाम के तीन सुपुत्र थे। तीनों भाइयों के पुत्र-पौत्रादि थे। साह हीरानन्द राजसभाशृंगार, सम्यक्त्वमूल, स्थूल-द्वादशव्रतधारक, सज्जन-जनसुखकारक, सुश्रावक, पुण्यप्रभावक, जैनसभा-मण्डन, मिथ्यानवखण्डन, दान में श्रेयांसावतार, परोपकार में युधिष्ठिरावतार, सर्वोपमायोग्य, धनीमानी और धर्मात्मा थे। उन्होंने अनेक धर्मकार्य किये थे। शाहजादी, रामों और दया नाम की उनकी तीन पत्नियाँ थीं, जिनमें सबसे छोटी दया बड़ी सुशील, दानशील, विनयी और धर्मात्मा थी। इनका पुत्र जटमल था। इन साह हीरानन्द से काष्ठासंघी भट्टारक मन्त्रीराज के शिष्य ब्रह्मचर्यसार को 1669 ई. में लामपुर (लाहौर) में 'सम्यक्त्वकौमुदी' आदि ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ कराकर भेंट की थीं।

बादिराज सोगानी—तक्षकपुर (राजस्थान के जयपुर प्रदेश का टोडानगर या टोडारायसिंह) के सोगानी-गोत्री खण्डेलवाल जैन पोयराज श्रेष्ठि के पुत्र और महाराज जयसिंह के सभान्त टोडानगर के राजा भीमसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राजा राजसिंह के मन्त्री थे। यह राजनीतिकुशल होने के साथ ही बड़े विद्वान्, कवि और शास्त्रज्ञ भी थे। इनके ज्येष्ठ भ्राता गद्य-पद्य-विद्या-विनोदाम्बुधि कविचक्रवर्ती पण्डित जगन्नाथ थे जो आमेर के भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति के मुख्य शिष्य थे और जिन्होंने 'चतुर्विंशतिसन्धानकाव्य' (1642 ई.), 'सुखमिथान' (1643 ई.), 'श्वेताम्बर-पराजय' (1646 ई.), 'नेमिनरेन्द्र-स्तोत्र', 'शृंगारसमुद्रकाव्य' 'सुषेणचरित्र' आदि संस्कृत काव्य-ग्रन्थों की रचना की थी। स्वयं मन्त्री बादिराज भी संस्कृत भाषा के प्रौढ़ विद्वान् और सुकवि थे। 'ज्ञानलोचन-स्तोत्र' तथा 'वाग्भटार्लकार' की 'कविचन्द्रिका' नाम्नी टीका, जिसे उन्होंने 1672 ई. में पूर्ण किया था, उनकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इस समय उन्होंने राज्यसेवा से अवकाश प्राप्त कर लिया था। रामचन्द्र, लालजी, नेमिदास और विमलदास नामक उनके चार पुत्र थे। उस काल में भट्टारक नरेन्द्रकीर्ति प्रायः टोडानगर में ही रहते थे और उन्होंने अपने प्रवास से उक्त नगर को उत्तम ज्ञानकेन्द्र बना दिया था।

दीवान ताराचन्द—औरंगज़ेब के शासनकाल में फतेहपुर के नवाब (फौजदार या सूबेदार) अलफ़ख़ाँ के दीवान थे। उनके पिता का नाम वस्तुपाल था। दीवान ताराचन्द विद्यारसिक भी थे। उन्होंने 1671 ई. में यति लक्ष्मीचन्द्र से शुभचन्द्राचार्य कृत 'ज्ञानार्णव' नामक ग्रन्थ का ब्रजभाषा हिन्दी में पद्यानुवाद कराया था।

शान्तिदास जौहरी—अहमदाबाद के प्रसिद्ध जौहरी थे और शाहजहाँ के राज्यकाल में जब शाहजहाँ मुराद गुजरात का सूबेदार था तो वह उसके कृपापात्र रहे थे। गद्दी पर बैठने के उपरान्त औरंगज़ेब ने उन्हें अहमदाबाद से बुलाकर अपना दरबारी नियुक्त किया था।

संघवी संग्रामसिंह—17वीं शती के पूर्वार्ध में बिहार प्रान्त के बिहार-शरीफ़

नगर के एक प्रसिद्ध जैन व्यापारी थे। यह उस नगर में बसे बारह जैन व्यापारी परिवारों के मुखिया थे। पावापुरी, राजधिर, कुण्डलपुर और गुणादा में उनके द्वारा 1629 से 1650 तक की प्रतिष्ठापित कई प्रतिमाएँ हैं। वह औरंगजेब के समय तक जीवित रहे प्रतीत होते हैं। बिहार-शरीफ के उक्त जैन परिवारों ने पावापुरी में मन्दिर भी बनवाये बताये जाते हैं।

कुँवरपाल-सोनपाल—ओसवाल जाति के ये दोनों भाई आगरा से आकर 17वीं शती ई. में बिहार की राजधानी पटना में आ बसे थे और व्यापार में अच्छी उन्नति करके अति सम्पन्न हो गये थे। उन्होंने कई मन्दिर एवं मूर्तियाँ प्रतिष्ठित करायी थीं। मिर्जापुर में भी एक मन्दिर बनवाया था। पटना नगर के बेगमपुर मोहल्ले में उस काल में जैनों की अच्छी वस्ती थी। अकबरपुर, टाका, भागलपुर, हाजीपुर, अजीमगंज, मुर्शिदाबाद, मकसूदाबाद, बिहारशरीफ आदि बंगाल और बिहार के प्रमुख नगरों में राजधानी सम्पन्न जैन व्यापारियों की अपनी वस्तियाँ थीं।

जगतसेठ घराना—17वीं शताब्दी ई. के उत्तरार्ध में, सम्भवतया 1661 ई. के लगभग, आगरा के हीरानन्द शाह नामक ओसवाल जैन सेठ बिहार प्रान्त के पटना नगर में जा बसे थे। मूलतः वह राजस्थान, सम्भवतया बीकानेर प्रदेश, से आगरा आये थे। पटना के बेगमपुर मोहल्ले में रहकर उन्होंने व्यापार में अच्छी उन्नति की, किन्तु थोड़े समय पश्चात् बंगाल-बिहार के सूबेदार की राजधानी मुर्शिदाबाद में स्थानान्तरित हो गये। यहाँ उनके नाम का एक मोहल्ला अब भी विद्यमान बताया जाता है। मकसूमाबाद में भी इनकी हवेली थी। हीरानन्द शाह 1700 ई. के लगभग तक जीवित रहे प्रतीत होते हैं। उनके पुत्र सेठ मणिकचन्द्र ने अपना प्रधान केन्द्र मकसूमाबाद को ही बनाया। उन्होंने बड़ी उन्नति की और 'राजा' की उपाधि भी प्राप्त की। राजा, प्रजा, उमराव, फौजदार, सूबेदार, नवाब आदि सब ही इस सेठ की आज्ञा को प्रणाम करते थे और स्वयं दिल्ली का बादशाह उनका बड़ा सम्मान करता था। बादशाह फ़र्रुखसियर (1713-19 ई.) ने उन्हें दिल्ली बुलाकर 'सेठ' (राज्यसेठ) का पद दरबार में जलसा करके दिया था। बंगाल देश के इस धनी की सम्पत्ति दिन-प्रतिदिन वेग से बढ़ रही थी। उनके प्रतापी पुत्र फ़तहचन्द्र ने और भी अधिक नाम कमाया। उनकी साख और वैभव की धाक सर्वत्र थी। दिल्ली के बादशाह, सम्भवतया मुहम्मदशाह रंगीले (1719-48 ई.) ने उन्हें 'जगतसेठ' की उपाधि प्रदान की थी। मुर्शिदाबाद मकसूमाबाद का यह जगतसेठ घराना उस काल का बंगाल-बिहार का सर्वाधिक प्रतिष्ठित घराना समझा जाता था। उसकी साहुकारी-महाजनी गद्दी भी देश-भर में सर्वोपरि थी। ये जगतसेठ बंगाल के नवाबों को तथा उसके राजस्व वसूल करनेवाले ठेकेदारों, बकलादारों, जमींदारों, उमरावाओं और सरदारों को तथा अंगरेज आदि विदेशी व्यापारियों को भी मनमाना ऋण देते थे। सभी उच्च वर्गों के साथ उनका लेन-देन का व्यापार चलता था। इसी कारण उस प्रदेश की राजनीति में भी

उनका बड़ा प्रभाव था। फ़तहचन्द 1741 ई. में तो विद्यमान थे ही, सम्भवतया 1757 ई. में बंगाल-बिहार के अन्तिम स्वतन्त्र शासक नवाब सिराजुद्दौला की पलासी के युद्ध में पराजय एवं मृत्यु के समय भी वह जीवित थे। नवाब और अँगरेजों के संघर्ष में उन्होंने अथवा उनके उत्तराधिकारी ने महत्त्वपूर्ण, किन्तु शायद अदूरदर्शितापूर्ण योग दिया था। फ़तहचन्द के पुत्र या पौत्र जगत्सेठ शुगनचन्द ने 1765 ई. में सम्मैदशिखर पर जलमन्दिर का निर्माण कराया था। किन्तु वह संकटकाल था। अँगरेजों के दास, शक्तिहीन एवं निकम्मे मीरजाफ़र आदि नवाबों और स्वयं अँगरेज कम्पनी के अधिकारियों एवं कर्मचारियों की व्यापक लूट-खसोट के कारण अराजकता बढ़ती गयी। जगत्सेठ भी उस लूट-खसोट से नहीं बचे। कलकत्ते और मुर्शिदाबाद की उनकी हवेलियाँ भी लूटी गयीं। व्यापार-व्यवसाय ठप्प होता चला गया और 18वीं शती ई. के बाद तो बंगाल के मुसलमान जगत्सेठों का मात्र नाम ही रह गया। अपने वैभव एवं प्रभावपूर्ण काल में वे उस प्रान्त में जैन तीर्थों और जैनो के समर्थ संरक्षक रहे थे। सन् 1811-12 ई. में बुकानन-हेमिल्टन ने जब अपना सर्वेक्षण वृत्तान्त लिखा तो जगत्सेठ अतीत की स्मृति बन चुके थे।

सेठ घासीराम—बादशाह फ़र्रुखसिखर (1713-19 ई.) के समय में शाही खज़ांची थे। कूँचा-घासीराम उन्हीं ने बसाया था। इसी काल में 1716 ई. में दिल्ली में नौधरे के भव्य एवं कलापूर्ण श्वेताम्बर-मन्दिर का निर्माण हुआ। सम्भव है इसमें जगत्सेठ माणिकचन्द का विशेष योग रहा हो।

लाला केशरीसिंह—मुग़ल बादशाह मुहम्मदशाह ने 1721-22 ई. में सादतख़ाँ बुरहानुल्मुल्क को अवध का सूबेदार नियुक्त किया था। अवध के इस प्रथम नवाब के खज़ांची लाला केशरीसिंह नाम के अग्रवाल जैन थे जो नवाब के साथ दिल्ली से अवध आये। अयोध्या ही उस काल में इस सूबे की राजधानी थी। वहीं नवाब ने अपना डेरा डाला। लाला केशरीसिंह ने 1724 ई. में अयोध्या-तीर्थ के पाँच प्राचीन जिन-मन्दिरों और टीकों का जीर्णोद्धार करवाया था और इस तीर्थ के विकास एवं जैनो के लिए उसकी यात्रा का मार्ग प्रशस्त किया था।

उत्तर मध्यकाल के राजपूत राज्य

इस काल में राजस्थान में मेवाड़ (उदयपुर), जोधपुर, बीकानेर, जयपुर, बूंदी आदि प्रमुख राजपूत राज्य थे। इन राज्यों के नरेश बहुधा उदार और धर्मसहिष्णु थे और उनके द्वारा शासित क्षेत्रों में जैनों की स्थिति अपेक्षाकृत श्रेष्ठकर थी। उन्हें धार्मिक स्वतन्त्रता भी कहीं अधिक थी। जैन मुनियों, धर्मियों और विद्वानों का राजागण आदर करते थे। मन्दिर आदि निर्माण करने और धर्मोत्सव करने की भी जैनों को खुली छूट थी। मुख्यतया साहुकारी, महाजनी, व्यापार और व्यवसाय जैनों की वृत्ति थी और इन सब क्षेत्रों में प्रायः प्रत्येक राज्य में उनकी प्रधानता थी। इसके अतिरिक्त उक्त राज्यों के मन्त्री, दीवान, भण्डारी, कोठारी आदि तथा अन्य उच्च पदों पर अनेक जैनी नियुक्त होते थे। अनेक जैनी तो भारी युद्धवीर, सेनानायक, दुर्गपाल तथा प्रान्तीय, प्रादेशिक या स्थानीय शासक भी हुए।

मेवाड़राज्य

भारमल कावड़िया—राणा साँगा का मित्र भारमल कावड़िया, जिसे राणा ने अलवर से बुलाकर रणथम्भौर का दुर्गपाल नियुक्त किया था और कालान्तर में बूंदी के सूरजमल हाड़ा के दुर्गपाल नियुक्त होने पर भी उस प्रदेश का बहुत-सा शासन-कार्य उसी के हाथ में रहा था, राणा साँगा के पुत्र राणा उदयसिंह के शासनारम्भ में ही राज्य के प्रधान मन्त्री के पद पर प्रतिष्ठित हुआ था। चित्तौड़ पर 1567 ई. में सम्राट् अकबर का अधिकार हो जाने पर राणा ने उदयपुर नगर बसाकर उसे ही अपनी राजधानी बनाया। इस नगर के निर्माण एवं उदयसिंह के राज्य को सुगठित करने में मन्त्री भारमल का पर्याप्त योग था। उसके पुत्र भामाशाह, ताराचन्द आदि भी राज्य-सेवा में नियुक्त थे।

वीर ताराचन्द—भारमल कावड़िया का पुत्र और भामाशाह का भाई ताराचन्द भारी युद्धवीर, कुशल सैन्यसंचालक और प्रशासक था। राणा उदयसिंह ने उसे गौड़वाड़ प्रदेश का शासक नियुक्त किया। उदयसिंह का पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराणा प्रतापसिंह के समय में भी कुछ वर्ष तक उस पद पर रहा। सादड़ी को उसने अपना निवासस्थान बनाया था। सम्राट् अकबर के सेनापति आमेरनरेश

करके 25 लाख रुपये और 20 हजार अश्वरफियाँ दण्डस्वरूप प्राप्त कीं और लाकर राणा को समर्पित कर दीं। राज्य के गाँव-गाँव में प्राणों का संचार कर दिया, सैनिकों को जुटाना, युद्ध-सामग्री की व्यवस्था और युद्धों में भी भाग लेना, हर प्रकार देश के उद्धार को सफल बनाने में भामाशाह ने पूर्ण योग दिया। दिवेर आदि के शाही थानों पर आक्रमण करने में भी वह राजपूतों के साथ था। इन शायों में भामाशाह की वीरता देखने का भी राणा को पर्याप्त अवसर मिला और वह उससे अत्यन्त प्रसन्न हुआ। इन प्रयत्नों का परिणाम यह हुआ कि मेवाड़ी वीरों की रणभेरी के नाद से मुगल सैनिकों के पैर उखड़ने लगे और 1586 ई. तक, दस वर्ष के भीतर ही चित्तौड़ और मोंडलगढ़ को छोड़कर सम्पूर्ण मेवाड़ पर राणा का पुनः अधिकार हो गया। अकबर ने भी उन्हें फिर नहीं छेड़ा। अपनी इस अपूर्व एवं उदार सहायता के कारण भामाशाह मेवाड़ का उद्धारकर्ता कहलाया। राणा प्रताप तो उसका बड़ा सम्मान करते ही थे। उसे लोकप्रतिष्ठा भी प्रभूत प्राप्त हुई। तभी से राजाज्ञा द्वारा राजधानी उदयपुर की पंच-पंचायत, बावनी (जाति भोज) चौके का भोजन, सिंहपूजा आदि विशेष उपलक्ष्यों में भामाशाह के मुख्य वंशधर को ही सर्वप्रथम तिलक किया जाता है और मान दिया जाता है। जब-जब इस प्रथा का भंग हुआ, राजाज्ञा से उसे पुनः स्थापित किया जाता रहा, यथा—1855 ई. के राणा सरूपसिंह के और 1895 ई. के राणा फतहसिंह के आज्ञापत्र। मेवाड़ की प्रतिष्ठा के इस पुनर्स्थापक, स्वार्थत्यागी, वीरश्रेष्ठ एवं मन्त्रीप्रद भामाशाह का जन्म सोमवार 28 जून, 1547 ई. को हुआ था और निधन लगभग 52 वर्ष की आयु में 27 जनवरी, 1600 ई. में हुआ। मृत्यु के एक दिन पूर्व उसने अपने हाथ लिखी एक बही अपनी धर्मपत्नी को देकर कहा कि इसमें मेवाड़ के राज्यकोष का सब झोरा है, जब-जब मेवाड़ का कोई राणा कष्ट में हो, इस द्रव्य से उसकी सहायता की जाए। इस प्रकार इस नररत्न ने एक सच्चे जैन के उपयुक्त आचरण द्वारा स्वधर्म, स्वसमाज एवं स्वदेश को गौरवान्वित किया। उदयपुर में भामाशाह की समाधि अभी भी विद्यमान है।

जीवाशाह—भामाशाह का सुयोग्य पुत्र था। राणा प्रताप के पुत्र एवं उत्तराधिकारी राणा अमरसिंह के राज्यकाल में भी तीन वर्ष भामाशाह जीवित रहा और पूर्ववत् राज्य का प्रधान मन्त्री बना रहा। उसकी मृत्यु के उपरान्त जीवाशाह प्रधान मन्त्री हुआ। वह भी अपनी कुल परम्परा के अनुसार राज्यभक्त, स्वामीभक्त एवं अपने कार्य में सुदक्ष था। राणा अमरसिंह आलसी, विलासी और खर्चीला था। मुगलों के साथ भी अपने वीर पिता की आन को निभाने के लिए वह 1614 ई. पर्यन्त युद्ध करता रहा। अपनी माता के पास सुरक्षित पैतृक बही में लिखे कोष से ही जीवाशाह राणा का और उसके युद्धों का खर्च चलाता रहा। जब 1614 ई. में शाहजहाँ खुर्रम ने राणा को सम्राट् जहाँगीर की अधीनता स्वीकार करने के लिए विवश कर दिया तो अजमेर में सम्राट् के सम्मुख उपस्थित होने के लिए शाहजहाँ

के साथ युवराज कर्णसिंह गया था। जीवाशाह भी उस समय अपने युवराज के साथ अजमेर गया था। अमरसिंह के पश्चात् कर्णसिंह राणा हुआ और उसके राज्यकाल में अपनी मृत्यु पर्यन्त जीवाशाह ही दीवान बना रहा।

अक्षयराज—भामाशाह का पौत्र और जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त कर्णसिंह का और तदनन्तर उसके उत्तराधिकारी राणा जगतसिंह का दीवान रहा। मन्त्रित्व के अतिरिक्त वह कुशल सेनानायक भी था। ईंगूरपुर के रावल पहले मेवाड़ के अधीन थे, फिर मुगल बादशाह के अधीन हो गये तो राणा की सत्ता को उन्होंने अमान्य कर दिया। राणा जगतसिंह ने प्रधान अक्षयराज की रावल के विरुद्ध भेजा। अक्षयराज ने उसका सफलतापूर्वक दमन किया और उसे पहाड़ों पर भागकर शरण लेने पर बाध्य किया। अक्षयराज के पश्चात् इस वंश का कोई व्यक्ति उस पद पर रहा या नहीं, पता नहीं चलता।

संघवी दयालदास—मुगल सम्राट् औरंगजेब की हिन्दू विरोधी असहिष्णु नीति, जजिया-कर का प्रचलन, मन्दिर-ध्वंसों को हुंकारा, धार्मिक कृत्याचारों से हिन्दू जनता क्रुद्ध हो उठी थी। जोधपुर के महाराज जसवंतसिंह की विधवा एवं पुत्रों के साथ किये गये अन्यायपूर्ण बरताव ने भी राजपूतों को भड़का दिया। मेवाड़ के वीर राणा राजसिंह स्वयं को हिन्दुओं और हिन्दू धर्म का संरक्षक समझते थे। उन्होंने औरंगजेब को कड़ा पत्र लिखा कि वह उपर्युक्त हिन्दू विरोधी कार्य न करे। सम्राट् ने कुपित होकर मारवाड़ पर आक्रमण करने के लिए सैन्य अजमेर में डेर डाला। राणा के नेतृत्व में राजस्थान के अधिकांश राजा उसका मुकाबला करने के लिए एकत्र हो गये। अन्ततः विवश होकर 1681 ई. में उसे राजपूतों से सन्धि करनी पड़ी। इस काल में राजा राजसिंह का प्रधान मन्त्री संघवी दयालदास नामक जैन वीर था जो भारी योद्धा और कुशल सैन्यसंचालक भी था। कर्नल टाड के कथनानुसार राणा के इस कार्यचतुर एवं अत्यन्त साहसी दीवान दयालदास के हृदय में मुगलों से बदला लेने की अग्नि सदा प्रज्वलित रहती थी। उसने शीघ्रगामी घुड़सवार सेना लेकर नर्मदा से बेतवा तक फैले हुए मालवा के सूबे को लूट लिया। उसके प्रचण्ड मुजबल के सम्मुख कोई नहीं ठहर पाता था। सारंगपुर, देवास, सिरोंज, मौड़, उज्जैन, चन्देरी आदि नगरों को लूटा और वहीं स्थित मुगल सेना को मार भगाया। उसने मुसलमानों के मुल्ला, मौलवियों, क्राजियों, कुरान और मस्जिदों को भी नहीं बख्शा। मुसलमानों में त्राहि-त्राहि मच गयी। लूट का सारा धन उसने अपने स्वामी राणा के कोष में दे दिया। उसने अपने राजकुमार जयसिंह के साथ चित्तौड़ के निकट शाहजादा आजम की सेना के साथ भयंकर युद्ध करके उसे रणधम्भीर की ओर भाग जाने पर विवश किया। इस युद्ध में भी मुगलों के धन और जन की भारी क्षति हुई। दयालदास के पूर्वज मूलतः सीसौदिया राजपूत थे और जैनधर्म अंगीकार करके ओसवालों में सम्मिलित हुए थे तथा अपने धर्मकार्यों के कारण उन्होंने संघवी उपाधि

प्राप्त की थी। अपनी सुरपुर आगीर के कारण सरुपरया भी कहलाते थे। संघवी तेजाजी के पुत्र संघवी गजूजी थे और उनके संघवी राजाजी थे जिनकी भायां रणदे से उनके चार पुत्र हुए। उनमें सबसे छोटे संघवी दयालदास थे। सूर्यदे और पाटमदे नाम की उनकी दो पत्नियाँ थीं और संघवी साँवलदास नामक पुत्र था, जिनकी भायां मृगादे थी। प्रारम्भ में दयालदास उदयपुर के एक ब्राह्मण पुरोहित के यहाँ नौकर थे। राणा के विरुद्ध उसके परिवार के ही कतिपय लोगों द्वारा किये गये एक कूट षड्यन्त्र का विस्फोट करने के कारण राणा दयालदास से अत्यन्त प्रसन्न हुए और उसे अपनी सेना में रख लिया। शनैः-शनैः उन्नति करके वह राणा के कृपापात्र एवं विश्वस्त महाप्रधान हो गये। बड़ौदा के निकटस्थ छाणी ग्राम के जिनमन्दिर की एक पाषाणमयी विशाल जिनप्रतिमा पर अंकित लेख के अनुसार उसकी प्रतिष्ठा इन्हीं संघवी दयालदास ने 1677 ई. में करायी थी। उदयपुर में राजसमन्द की पाल के निकट उन्होंने संगमरमर का विशाल नौ मंजिला चतुर्मुख आदिनाथ-जिनालय बनवाया था, जो एक पूरे किले-जैसा लगता है और जिसके निर्माण में एक पचास दस लाख रुपये लगे बताये जाते हैं। उनकी प्रेरणा पर राणा राजसिंह ने 1693 ई. में एक आज्ञापत्र भी जारी किया था, जिसके अनुसार प्राचीनकाल से जैनों के मन्दिरों एवं अन्य धर्मस्थानों को जो यह अधिकार प्राप्त है कि उनकी सीमा में कोई भी व्यक्ति जीववध न करे, वह मान्य किया गया—नर या मादा कोई भी पशु यदि वध के लिए उक्त स्थानों के समीप से ले जाया जाएगा तो वह अमर हो जाएगा अर्थात् मारा नहीं जाएगा—राजद्रोही, लुटेरे या कारागृह से भागे हुए महाअपराधी भी यदि इनके उपासरे में शरण लेते हैं तो राज्य कर्मचारी उन्हें नहीं पकड़ सकेंगे—फसल में कूँची, कराना की मुद्दी, दान की हुई भूमि और उनके उपासरे यथावत् क्रावम रहेंगे—यह क्रमवान यति मान की प्रार्थना पर जारी किया गया। उक्त यतिजी को कुछ भूमिदान भी दिया गया था। आज्ञापत्र महाराणा राजसिंह की ओर से मेवाड़ देश के दस हजार ग्रामों के सरदारों, मन्त्रियों, पटेलों को सम्बोधित था और शाह दयाल (दास) मन्त्री द्वारा हस्ताक्षरित था। राणा राजसिंह की मृत्यु के पश्चात् दयालदास राणा जयसिंह के प्रधान मन्त्री रहे और इस समय भी उन्होंने मुगलों के साथ एक सयंकर युद्ध किया था। दयालदास के पुत्र संघवी साँवलदास भी राज्य में किसी उच्च पद पर प्रतिष्ठित रहे प्रतीत होते हैं।

कोठारी भीमसी—राणा संग्रामसिंह द्वितीय के समय में जब रणवाजखों मेवाती के नेतृत्व में मुगल सेना ने मेवाड़ पर आक्रमण किया तो उसका प्रतिरोध करने के लिए राणा ने तैंगु के रावल देवीसिंह भेदावत आदि सरदारों को बुला भेजा। रावल कारणवश स्वयं न आ सका और उसने अपने कोठारी भीमसी महाजन की अध्यक्षता में अपनी सेना भेज दी। राजपूत सरदारों ने उपहास किया, 'कोठारीजी, यहाँ आटा नहीं तौलना है।' कोठारी ने उत्तर दिया, 'मैं दोनों हाथों से आटा तौलूँगा तब देखना।'

और वह घोड़े की सवार अपनी ऊँटों और भालूओं में अलखों से ससैन्य शत्रुओं पर यह कहते हुए दूट पड़े, 'सरदार, अब मेरा आटा तीलना देखो।' अनेक शत्रुओं की मृत्यु के घाट उतारकर इस शूरवीर महाजन ने उसी युद्ध में वीरगति प्राप्त की और अपना तथा अपने स्वामी का नाम उज्ज्वल किया। इन राणा संग्रामसिंह ने राज्य के जैन तीर्थ ऋषभदेव को एक ग्राम दान में दिया था।

मेहता मेधराज ड्यौड़ीवाल—पूर्वकाल में मेवाड़ के रावल करणसिंह के राहप, माहप और सरवण नाम के तीन पुत्र थे। राहप मेवाड़ के राणा हुए। माहप ने डूंगरपुर राज्य की स्थापना की और सरवणजी जैनधर्म अंगीकार करके ओसवालों में सम्मिलित हुए। राहपजी ने उन्हें ड्यौड़ी (जनानखाना या अन्तःपुर) की रक्षा का भार सौंपा और यह ड्यौड़ीवाल कहलाये। तब से यह पद इस कुल में चलता रहा। सरवणजी ने चित्तौड़ में शीतलनाथ का मन्दिर बनवाया था। उसके पुत्र सरीपत को मेहता की पदवी मिली। सरीपत के मेधराज को छोड़कर अन्य सब वंशज राणा उदयसिंह के समय में चित्तौड़ के अन्तिम युद्ध में लड़कर वीरगति को प्राप्त हुए थे। मेधराज राणा के साथ उदयपुर चले आये थे और अपने कुलक्रमागत पद पर रहे। उन्होंने उदयपुर में शीतलनाथ का मन्दिर बनवाया और 'मेहता की टीबा' नामक मोहल्ला बसाया था।

मारवाड़ (जोधपुर) राज्य

मारवाड़ (मरुदेश) में कन्नौज के जयचन्द्र गहड़वाल के पौत्र सीहाजी ने भागकर शरण ली थी और अपना छोटा-सा राज्य स्थापित कर लिया था। यह वंश राठौड़ नाम से प्रसिद्ध हुआ। मण्डौर उसकी राजधानी थी। इस वंश के रावजोधा ने 1459 ई. में जोधपुर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया। तभी से राठौड़ों का यह जोधपुर राज्य अधिक प्रसिद्ध हुआ। इस राज्य में प्रायः सदैव अनेक जैनी मन्त्री, दीवान, भण्डारी आदि पदों पर तथा अन्य राज्यकर्मचारियों के रूप में कार्य करते रहे। राज्य की जनसंख्या का कम-से-कम पाँच-छह प्रतिशत जैन थे। इस राज्य के जैन राजपुरुषों में सर्वप्रसिद्ध वंश मुहनौतों का रहा। मारवाड़ के राव रायपाल (1246 ई.) के 13 पुत्र थे जिनमें चौथे (या दूसरे) मोहनजी थे। इनकी प्रथम पत्नी जैसलमेर के भाटी राव जोरावरसिंह की पुत्री थी जिससे कुँवर भीमराज उत्पन्न हुए और उनसे राठौड़ों का भीमावल वंश चला। तदनन्तर मोहनजी ने ऋषि शिवसेन के उपदेश से जैनधर्म अंगीकार कर लिया और भिनमाल परगने के गाँव पचपदरिये के श्रीमाल जातीय जीवणोत छाजू की पुत्री से विवाह किया, जिससे सुमतसेन (सम्पत्तिसेन या सपतसेन) नामक पुत्र हुआ। उसने भी जैनधर्म अंगीकार किया और उसके वंशज मुहनौत ओसवाल हुए।

मेहता महाराजजी—मोहनजी की 9वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ और रावजोधा

के साथ मण्डोर से जोधपुर आया तथा राज्य का दीवान एवं प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर उसके लिए फतहपोल के निकट एक हवेली बनवायी थी।

मेहता रायचन्द्र—मोहनजी की 20वीं और महाराजजी की 11वीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। जोधपुर नरेश शूरसिंह के छोटे भाई कृष्णसिंह ने सम्राट अकबर की कृपा प्राप्त करके एक स्वतन्त्र जागीर 1598 ई. में पायी जहाँ 1601 ई. में उसने कृष्णगढ़ बसाया। रायचन्द्र और उसका छोटा भाई शंकरमणि जोधपुर से कृष्णसिंह के साथ ही कृष्णगढ़ चले आये थे और इस राजा के मन्त्री बने थे। राजा ने उनसे प्रसन्न होकर उनके लिए कृष्णगढ़ में दो हवेलियाँ बनवायीं जो बड़ीपोल और छोटीपोल कहलायीं। मुख्य मन्त्री मेहता रायचन्द्र ने उस नगर में चिन्तामणि-पार्श्वनाथ-जिनमन्दिर भी बनवाकर 1615 ई. में प्रतिष्ठाित कराया था। कृष्णसिंह के उत्तराधिकारी मानसिंह के समय में भी रायचन्द्र कृष्णगढ़ राज्य का मुख्य मन्त्री रहा। एक महोत्सव के अवसर पर 1659 ई. में राजा ने स्वयं मेहता की हवेली पर पधारकर तथा भोजन करके उसका मान बढ़ाया था। पारितोषिक के रूप में पालड़ी नामक ग्राम भी उसे प्रदान किया था। मेहता रायचन्द्र की मृत्यु 1666 ई. में हुई थी। मेहता वृद्धमान, जो सम्भवतया रायचन्द्र का पुत्र था, राजा मानसिंह का तन-दीवान (प्राइवेट सेक्रेटरी) था। अतः हर समय महाराज के साथ रहता था। उसकी मृत्यु 1708 ई. में हुई। उसका भाई या भतीजा मेहता कृष्णदास राजा मानसिंह का मुख्य मन्त्री था, क्योंकि राजा प्रायः दिल्ली में रहता था। राज्य का प्रायः सर्वकार्य दीवान कृष्णदास ही करता था। राजा ने 1693 ई. में उसे बुहार नामक गाँव इनाम दिया था। जब 1699 ई. में नवाब अबदुल्लाख़ाँ कृष्णगढ़ में शाही बाना स्थापित करने के लिए सेना लेकर चढ़ आया था तो मेहता कृष्णदास ने उसके साथ युद्ध करके उसे पराजित किया था। कृष्णदास की मृत्यु 1706 ई. में हुई। सम्भवतया इनका पुत्र मेहता आसकरण 1708 ई. में कृष्णगढ़ नरेश राजसिंह का मुख्य दीवान था। इनका पुत्र या भतीजा मेहता देवीचन्द्र रूपनगर के राजा सरदारसिंह का मुख्य दीवान था।

मेहता अचलोजी—मोहनजी की 18वीं और मेहता महाराजजी की 9वीं पीढ़ी में उत्पन्न अचलोजी मेहता अर्जुनजी के बड़े भाई थे और 1562 ई. में जब रायचन्द्र सेन जोधपुर की गद्दी पर बैठा तो उसने इन्हें अपना मन्त्री बनाया था। ईंगरपुर से जोधपुर आते समय सोजन परगने के सवराड़ गाँव में जब महाराज का मुगलों के साथ युद्ध हुआ तो अचलोजी भी उनके साथ थे। अन्य अनेक युद्धों में भी यह जोधपुर नरेश के साथ रहे और 1578 ई. में सवराड़ के युद्ध में ही उन्होंने वीरगति पायी थी। राज्य की ओर से उनका स्मारक (छत्री) बनवाया गया जो शायद अब तक विद्यमान है।

मेहता जयमल—मेहता अचलोजी के पौत्र थे और 1614-15 ई. में जोधपुर नरेश सूरसिंह के शासनकाल में गुजरात देशस्थ बड़नगर (वादनगर) के सूबेदार थे, तदनन्तर फलीदी के शासक नियुक्त हुए। जहाँगीर ने 1617 ई. में वह परगना बीकानेर नरेश सूरतसिंह को दे दिया तो बीकानेर को सेना उसपर अधिकार करने के लिए आयी, किन्तु मेहता ने उसे पराजित करके भगा दिया। सूरसिंह के पश्चात् गजसिंह जोधपुर का राजा हुआ। मेहता जयमल उसके भी कृपापात्र रहे। इस राजा ने 1622 ई. में जब जालौर परगने पर अधिकार किया तो मेहता उसके साथ थे और जब 1624 ई. में राजा गजसिंह सम्राट् जहाँगीर की सहायता के लिए हाजीपुर—पटना की ओर गये तो जयमल भी फौज मुसाहिब (सैनिक-परामर्शदाता) के रूप में उसके साथ गये थे। सन् 1630 ई. के दुर्भिक्ष में उन्होंने एक वर्ष तक स्वद्रव्य से अकाल पीड़ितों का भरण-पोषण किया था और 1632 ई. में सिरौही के राव अखैराज पर एक लाख 'फ़ीरोज़ी' (मुद्रा विशेष) का दण्ड निर्धारित करके उससे 75000 नक़द वसूल किये थे और 25000 बाक़ी करा दिये थे। वह सन् 1629 ई. से 1633 या 1639 ई. तक जोधपुर राज्य के दीवान एवं प्रधान मन्त्री रहे। उन्होंने 1624 ई. में जालौर, अर्जुनजय, साँचौर, मेड़ता और सिवाना नामक स्थानों में जिनमन्दिर बनवाये थे। मेहता जयमल की सरूपदे और सुहागदे नाम की दो पत्नियाँ थीं। प्रथम से नैणसी (नयनसिंह), सुन्दरदास, आसकरण और नरसिंहदास नाम के चार पुत्र थे और दूसरी से जगमाल नाम का पुत्र था।

मेहता नैणसी—मूला नैणसी या मुहनीत नैणसी (नयनसिंह) इस घराने का सर्वप्रसिद्ध व्यक्ति है। उसका जन्म 1610 ई. में हुआ था और 22 वर्ष की अवस्था के पूर्व ही वह राज्यसेवा में नियुक्त हो गया था। मगरा के मेरों का उपद्रव बढ़ता देख, 1632 ई. में जोधपुरनरेश गजसिंह ने नैणसी को सेना देकर उनका दमन करने के लिए भेजा, जिस कार्य को उसने वीरता एवं कुशलतापूर्वक सम्पादन किया। राजा ने उसे 1637 ई. में फलीदी का शासक नियुक्त किया, जहाँ उसने राज्य के शत्रु बिलोचों के साथ सफल युद्ध किया। जब 1643 में राड़धरे के महेचा महेशदास ने राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया तो गजसिंह के उत्तराधिकारी जोधपुरनरेश जसवन्तसिंह ने नैणसी को उसका दमन करने के लिए भेजा था और 1645 ई. में सोव्रत के राव नरायण का दमन करने के लिए नैणसी और उसके भाई सुन्दरदास को भेजा था। दोनों ही अभियान सफल रहे। नैणसी ने कठोरतापूर्वक विद्रोहियों का दमन किया, उनके कोट, महल, गाँव आदि नष्ट कर दिये। बादशाह शाहजहाँ ने जसवन्तसिंह को 1649 ई. में पोकरण परगना दिया था, जिसपर जैसलमेर के भाटी रावल रामचन्द्र का अधिकार था और उसने उसे छोड़ना स्वीकार नहीं किया। महाराज ने नैणसी को भेजा और उसने युद्ध करके उस परगने पर अधिकार कर लिया। रामचन्द्र का प्रतिद्वन्दी सवलसिंह जैसलमेर का राजा होना चाहता था। उसने अक्सर देख

जसवन्तसिंह से सहायता माँगी और नैगसी को भेजा गया जिसने रामचन्द्र को मार भगाया और सबलसिंह को जैसलमेर का राजा बना दिया। जसवन्तसिंह का दीवान मिर्घी फ़रासत या जिसके स्थान में 1657 ई. में महाराज ने नैगसी को अपना दीवान (प्रधान) नियुक्त किया। जिस वर्ष पर उसने 1664 ई. तक महाराज का तन-दीवान (वैयक्तिक सचिव या प्राइवेट सेक्रेटरी) रहा। उसे पंचोली बलभद्र के स्थान पर नियुक्त किया था। सन् 1656 ई. में महाराज ने सिंघलबाघ के विरुद्ध सेना की दो टुकड़ियाँ भेजीं, जिनमें से एक का नेता सुन्दरदास था और वह युद्ध में विजयी होकर लौटा था। जैसलमेर के रावल सबलसिंह ने औरंगजेब और जसवन्तसिंह की अनबन का लाभ उठाकर 1658 ई. में राज्य में लूटपाट मचायी तब भी नैगसी को ही जैसलमेर पर बढ़ाई करने के लिए भेजा गया। उसने रावल और उसके पुत्र को खदेड़कर अपने किले में बन्द होने पर विवश कर दिया और उसके 25 गाँव जलाकर और उसका एक दुर्ग लूटकर चला आया। उज्जैन के निकट औरंगजेब के साथ जसवन्तसिंह का इतिहासप्रसिद्ध युद्ध उसी समय के लगभग हुआ था। उसमें नैगसी के पुत्र करमसी ने वीरतापूर्वक लड़कर अनेक घायल खाये थे। अन्ततः औरंगजेब के सन्ध्या बनने पर जसवन्तसिंह उसके पक्ष में हो गया और 1663 ई. में उसकी ओर से महाराष्ट्र में मराठा राजा शिवाजी के प्रसिद्ध दुर्ग कुँडवा की विजय करने के लिए भेजा गया। दुर्ग पर आक्रमण करनेवालों में सुन्दरदास भी था। नैगसी महाराज के साथ ही था। मुगलों के लिए मराठों के विरुद्ध छिड़े अभियान का संचालन 1666 ई. में जसवन्तसिंह औरंगबाद से कर रहा था। किसी कारण से वह नैगसी और सुन्दरदास से रुष्ट हो गया और उन दोनों भाइयों को कैद में डाल दिया। कहा जाता है कि महाराज की अप्रसन्नता का कारण इन दोनों के द्वारा अपने सम्बन्धियों को उच्च पदों पर नियुक्त करके राज्य में मनमानी करना था। वास्तविक कारण तो इन वीरों के विद्वेषियों द्वारा इनके विरुद्ध महाराज के काम करना था। दो वर्ष बाद उन दोनों पर एक लाख रुपया दण्ड (जुर्माना) लगाकर उन्हें छोड़ दिया गया, किन्तु उन स्वाभिमानी वीरों ने ताँबे का एक टका भी देना स्वीकार नहीं किया। अतएव अगले वर्ष (1669 ई. में) उन्हें फिर बन्दीखाने में डाल दिया गया और उनके साथ अत्यन्त कठोरता का व्यवहार किया गया, किन्तु वे तब भी न झुके। दण्ड-वसूली का अन्य उपाय न देखकर महाराज ने कैदी के रूप में उन्हें कड़े पहरे में जोधपुर खाना कर दिया। मार्ग में असह्य यन्त्रणाएँ उन्हें दी गयीं। पीढ़ी दर पीढ़ी से होती आयी अपने पूर्वजों की और स्वयं अपनी व अपने पूरे परिवार की एकनिष्ठ स्वामिभक्ति और राज्यसेवा का निरंकुश शासक द्वारा यह पुरस्कार पाकर उन दोनों वीरों को जीवन से प्लानि हो गयी और मार्ग में फूलमरी नामक ग्राम में 1670 ई. की भाद्रपद कृष्ण त्रयोदशी (पर्युषणारम्भ) के दिन दोनों भाइयों ने एक साथ पेट में कटार भोंककर

इहलीला समाप्त कर दी। ये दोनों प्रबुद्ध, सुशिक्षित और सुकवि भी थे। मरने के पूर्व दोनों ने एक-एक दोहा कहा—

नैणसी—दहाड़ी जितरे देव, दहाड़े विन नहीं देव है।

सुरनर करता सेव... आवे... ॥

सुन्दरदास—नर पै नर आवत नहीं, आवत हैं धनपास।

सौ दिन केम पिछाड़िये, कहते सुन्दरदास ॥

इस घटना से महाराज जसवन्तसिंह और उसके राज्य की क्षति तो हुई ही, उसकी बदनामी भी सर्वत्र बहुत हुई। समाचार पाते ही उसे पश्चात्ताप भी हुआ और उसने नैणसी के पुत्र करमसी तथा अन्य परिजनों को क्रोध से मुक्त कर दिया, किन्तु इस भयंकर अत्याचार के पश्चात् उन्होंने जोधपुर राज्य में रहना उचित नहीं समझा और राजसिंह के पौत्र, जसवन्तसिंह के भतीजे और वीर राठौर अमरसिंह के पुत्र नागौरनरेश रामसिंह के आश्रय में चले गये। मूता नैणसी अत्यन्त कुशल राजनीतिज्ञ, प्रशासक, भारी युद्धवीर और सैन्यसंचालक ही नहीं था, वह सुकवि, बड़ा विद्यानुरागी तथा भारी इतिहासकार भी था। 'मूता नैणसी की ख्यात' नाम से प्रसिद्ध उसका महाग्रन्थ सम्पूर्ण राजस्थान का उत्तम इतिहास और जोधपुर राज्य की विस्तृत डायरेक्टरी है, जिसके कारण उसे राजस्थान का अबुलफ़जल (आईने अकबरी का लेखक) कहा जाता है। ग्रन्थ का 'ख्यात' (इतिहास) भाग बड़े आकार में मुद्रित एक हजार पृष्ठ के लगभग है और उसका 'सर्वसंग्रह' (जोधपुर राज्य का गजेटियर) भाग भी पाँच सौ पृष्ठ के लगभग है। राजस्थान के मध्यकालीन इतिहास के लिए नैणसी का महाग्रन्थ अद्वितीय साधन स्रोत है। जोधपुर के कविराज मुरारीदीन ने उसे देखकर 1902 ई. में लिखा था—

मन्त्री मरुधर तणों नैणसी मैहतो नाँमी।

ख्यात रत्न एकठा कियाकर खौल अमौमी ॥

मूता नैणसी के वंशज—नैणसी के तीन पुत्र थे—करमसी, वैरसी और समरसी। वे सुन्दरदास के पुत्रों और समस्त परिवार को लेकर नागौर में रामसिंह की सेवा में 1670 ई. में ही चले गये थे। वहाँ रामसिंह ने अपने ठिकाने (राज्य) का सारा कार्य करमसी को सौंप दिया था। वीर करमसी ने अपने पिता और चाचा के साथ तथा स्वतन्त्र भी जसवन्तसिंह और उसके राज्य की पर्याप्त सेवा की थी। वह शासनकुशल और वीर तो था ही, किन्तु भाग्य यहाँ भी विपरीत हुआ। नागौर नरेश रामसिंह की 1675 ई. में दक्षिण देशस्थ शोलापुर में अचानक मृत्यु हो गयी। राजा के मृतसदियों ने साथ के गुजराती वैद्य से पूछा कि यह कैसे हो गया तो उसने अपनी भाषा में कहा, 'करमां नो दोष छे', जिसका अर्थ लगाया गया कि मन्त्री करमसी ने विष देकर राजा की हत्या कर दी और उसे तुरन्त वहीं जीवित दीवार में चुनवाकर मार दिया गया। साथ ही नागौर आज्ञा भेज दी गयी कि उसके पूरे

परिवार को कोल्हू में पिलवा दिया जाए। अतएव करमसी के पुत्र प्रतापसी तथा परिवार के कितने ही व्यक्तियों की हत्या रामसिंह के पुत्र इन्द्रसिंह ने करवा दी। करमसी की दो विधवा पत्नियाँ अपने पुत्रों सामन्तसिंह और संग्रामसिंह के साथ किसी प्रकार बचकर भाग निकलीं और इन लोगों ने किशनगढ़ में जाकर शरण ली तथा वहाँ से बीकानेर चले गये। करमसी के परिवार के भागौर भाग जाने पर ही जसवन्तसिंह ने प्रतिज्ञा कर ली थी कि इस परिवार के किसी व्यक्ति को राजसेवा में नहीं लिया जाएगा। करमसी के भाई मेहता वैरसी (कहीं-कहीं इन्हें सुन्दरदास का पुत्र लिखा है) रूपनगर के राजा मानसिंह (1685 ई.) के तन-दीवान हो गये थे। जसवन्तसिंह के पुत्र अजीतसिंह ने जब मारवाड़ राज्य पर अपना अधिकार स्थिर कर लिया तो उसने करमसी के पुत्रों सामन्तसिंह और संग्रामसिंह को बीकानेर से बुलाकर धैर्य दिया और अपनी सेवा में पुनः ले लिया। इस राजा के समय में 1725 ई. में मेहता संग्रामसिंह जोधपुर राज्य के मारोठ, परबतसर आदि सात परगनों के और सामन्तसिंह जालोर के शासक थे, जहाँ उन्होंने 1727 ई. में सामन्तपुरा ग्राम बसाया था। अजीतसिंह के उत्तराधिकारी अभयसिंह ने पूर्वकाल में जब्त कर ली गयी इस परिवार की जागीर एवं अन्य सम्पत्ति भी उसे लौटा दी।

जोधपुर के भण्डारी

इस वंश के लोग अपनी उत्पत्ति सोंभर (अजमेर) के चौहान वंश से बताते हैं। इस वंश के राव लखमसी ने नाडोल में पृथक् राज्य स्थापित किया था। उसके वंशज प्रह्लाददेव ने 1162 ई. में नाडोल के जैनमन्दिर को बहुत-सी भूमि आदि का दान दिया था और पशुबध निषेध की राजाज्ञा जारी की थी। उपर्युक्त राव लखमसी या लाखा के 24 पुत्रों में से एक दूदा था जो भण्डारी कुल का संस्थापक हुआ। वह जैनधर्म में दीक्षित होकर ओसवालों में सम्मिलित हो गया था। राज्यभण्डार का प्रबन्धक होने से भण्डारी (भाण्डागारिक) कहलाता था। इस वंश के लोग रावजोधा (1427-89 ई.) के समय मारवाड़ में आकर बसे। इनके मुखिया नारोजी एवं समरोजी भण्डारी जोधा के वीर सेनानी थे। तभी से भण्डारी लोग जोधपुर में राज्यमान्य एवं उच्चपदों पर नियुक्त होते आये। वे लोग कलम और तलवार दोनों के धनी रहे और भारी भवन निर्माता तथा राजभक्त भी।

माना भण्डारी—इस वंश के अमर भण्डारी का पुत्र माना भण्डारी जैतारण का निवासी था और जोधपुर नरेश गजसिंह का प्रतिष्ठित राज्यकर्मचारी था। उसने 1621 ई. में कापरदा में पार्श्वनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया था जिसका शिलारोपण खरतरगच्छी जिनसेनसूरि ने किया था।

रघुनाथ भण्डारी—जोधपुर नरेश अजीतसिंह (1680-1725 ई.) के समय में राज्य का दीवान था। शासन प्रबन्ध और युद्ध संचालन दोनों ही क्षेत्र में वह अत्यन्त

दक्ष था। राजा बहुधा दिल्ली में रहता था और राज्य का समस्त कार्यभार एवं शासन रघुनाथ भण्डारी ही करता था। वह उदार और दानी भी प्रसिद्ध था। लोक-कहावत चल पड़ी थी कि 'अजीत तो दिल्ली का बादशाह हो गया और रघुनाथ जोधपुर का राजा हो गया।'

खिमसी भण्डारी—दीपचन्द्र का पौत्र और रघुसिंह का पुत्र था तथा अजीतसिंह के समय में राज्य का एक दीवान (मन्त्री) था। दिल्ली के बादशाह से उसने अपने राजा के लिए गुजरात की सूबेदारी की समद प्राप्त की थी। कहते हैं कि उसने औरंगजेब से कहकर जजिया-कर भी बन्द करवा दिया था। धानसिंह और अमरसिंह नाम के उसके दो पुत्र थे।

विजय भण्डारी—राजा अजीतसिंह जब 1715 ई. में गुजरात का 47वाँ सूबेदार बना तो उसके वहीं पहुँचने तक विजय भण्डारी ने उसकी ओर से गुजरात की सूबेदारी की थी।

अनूपसिंह भण्डारी—रघुनाथ भण्डारी का पुत्र था और 1710 ई. में जोधपुर नगर का शासनाधिकारी था। वह कुशल राजनीतिज्ञ, वीर योद्धा और निपुण सेनानी था। जब 1715 ई. में दिल्ली के बादशाह ने अजीतसिंह के पुत्र युवराज अभयसिंह को नागौर का मनसबदार नियुक्त किया तो राजा ने अनूपसिंह को राजकुमार के साथ नागौर पर अधिकार करने के लिए भेजा। नागौर का राजा इन्द्रसिंह भी युद्ध करने पर कटिबद्ध था। नागौर के बाहर घमासान युद्ध हुआ, इन्द्रसिंह की सेना भाय गयी और नागौर पर जोधपुरवालों का अधिकार हो गया। राजा ने 1720 ई. में उसे अपना स्थानापन्न बनाकर गुजरात भेजा था। वहाँ उसने बड़े अत्याचार किये और अहमदाबाद के प्रमुख सेठ कपूरचन्द भंसाली की हत्या करा दी।

पोमसिंह भण्डारी—1710 ई. में जोधपुर नरेश अजीतसिंह ने उसे जात्तौर एवं सौत्तौर का शासक नियुक्त किया था। 1715 ई. में वह मेड़ता का शासक था और अनूपसिंह भण्डारी के साथ नागौर के युद्ध में सम्मिलित हुआ था तथा 1719 ई. में बादशाह फ़र्रुखसिंघ की हत्या हो जाने पर महाराज अजीतसिंह ने उसे सेना देकर अहमदाबाद (गुजरात) भेजा था।

सूरतराम भण्डारी—1748 ई. में वह मेड़ता का प्रशासक था और राजा अभयसिंह ने उसे दो अन्य सामन्तों के साथ अजमेर पर अधिकार करने के लिए भेजा था। इन लोगों ने युद्ध करके उस नगर पर अधिकार कर लिया था।

रतनसिंह भण्डारी—1780 ई. में जब दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह (1725-50 ई.) को अजमेर और गुजरात का सूबेदार नियुक्त किया तो उसके तीन वर्ष पश्चात् ही वह रतनसिंह भण्डारी को सूबे का कार्यभार सौंपकर स्वयं दिल्ली चला गया था और तब 1788 ई. से 1787 ई. पर्यन्त उक्त भण्डारी ने ही उस सूबे का शासन किया था। इस कार्य में उसे अनेक युद्ध भी लड़ने पड़े। उस काल में सूबेदारी सरल नहीं थी, किन्तु रतनसिंह भण्डारी भी

अत्यन्त व्यवहार-कुशल, राजनीति-निपुण, युद्धवीर एवं कर्तव्यनिष्ठ सेनापति था। अपने उक्त प्रशासन काल में वह सफल ही रहा। अन्ततः एक युद्ध में ही उसने वीरगति पायी। उसके समय में ही मराठों ने बड़ौदा पर 1734 ई. में अधिकार किया था। उसी वर्ष रतनसिंह ने वीरमगाम के सामन्त भवसिंह का दमन किया था, पेतलद के शासक धनरूप भण्डारी की मृत्यु हुई और अहमदाबाद के प्रधान सेठ खुशालचन्द से लुट होकर रतनसिंह ने उसे देश से निर्वासित कर दिया। इस खुशालचन्द के पितामह शान्तिदास ने सरसपुर (अहमदाबाद) में 1638 ई. में पार्श्वनाथ जिनालय बनाया था जिसे 1644 ई. में औरंगजेब ने अपनी गुजरात की सूबदारी के काल में तुड़वाकर एक मस्जिद बनवायी थी, किन्तु सम्राट् शाहजहाँ ने फिर से उस मन्दिर को बनाने की आज्ञा दे दी थी। शान्तिदास बाद में औरंगजेब का भी कृपापात्र हो गया था। निर्वासित खुशालचन्द की मृत्यु 1748 ई. में हुई। रतनसिंह भण्डारी को 1735 ई. में धोलका की जागीर दे दी गयी थी। इस प्रसंग में उसका बादशाह के सोहराबख़ाँ, मोमिनख़ाँ आदि कई मुसलमान सरदारों के साथ काफ़ी संघर्ष हुआ, जिसमें वह प्रायः विजयी रहा। उसकी हत्या के भी षड्यन्त्र किये गये। मराठों, मुसलमानों, स्थानीय राजपूत सामन्तों आदि के साथ उसके कूटनीति और युद्ध के क्षेत्र में विरम्भर हस्त चलते रहे। उसने 1738 ई. में दूदेसर की तीर्थयात्रा भी की थी। जब 1745 ई. में बीकानेर नरेश जोरावरसिंह की मृत्यु हुई तो गद्दी के दो दावेदार हो गये जिनमें से गजसिंह सफल हो गया तो अमरसिंह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह से सहायता की याचना की। रतनसिंह भण्डारी को अधीन सेना भेजी गयी। कई भीषण युद्ध हुए जिनमें भण्डारी ने अद्भुत शौर्य प्रदर्शित किया। अन्तिम युद्ध 1747 ई. में चाहलजन नामक स्थान में हुआ था। युद्ध की समाप्ति पर जब रतनसिंह भण्डारी लौट रहा था तो एक बीकानेरी भालाबरदार ने धोखे से पीछे से उसपर आक्रमण करके उस वीर की हत्या कर दी।

डूंगरपुर-वासवाड़ा-प्रतापगढ़

इस प्रदेश में जैनधर्म के प्रचलित रहने के साक्ष्य 10वीं शती ई. से ही मिलते हैं। विगम्बर साधुओं का बागड़गच्छ यहीं से निकला था। जयानन्द की प्रवासगीतिका के अनुसार गिरिवर (डूंगरपुर) में 1370 ई. में पाँच जिनमन्दिर और जैन श्रावकों के 500 घर थे। उसी समय के लगभग सागवाड़ा (शाकपत्तन) में नन्दिसंघ की भट्टारकीय गद्दी भी स्थापित हुई। डूंगरपुर में रावल प्रतापसिंह के मन्त्री प्रह्लाद ने 1404 ई. में एक जिनमन्दिर बनवाया था। रावल गजपाल के मन्त्री आभा ने औत्तरी में शान्तिनाथ जिनालय बनवाया था और रावल सोमदास के मन्त्री साला ने पीतल की भारी-भारी जिनमूर्तियाँ बनवाकर आबू के मन्दिरों में प्रतिष्ठित करायी थीं तथा डूंगरपुर के प्राचीन पार्श्वनाथ जिनालय का पुनरुद्धार कराया था। प्रतापगढ़ राज्य में 14वीं-15वीं शती

की प्रतिष्ठित अनेक जिनमूर्तियाँ मिलती हैं। देवली के 1715 ई. के शिलालेख के अनुसार राजा पृथ्वीसिंह के राज्य में सोरया एवं जीवराज नामक जैन महाजनो की प्रेरणा से उस ग्राम के तेलियों ने वर्ष-भर में 44 दिन अपने कोल्हू बन्द रखने का निर्णय लिया था। उसी समय वहाँ मल्लिनाथ-मन्दिर निर्मापित हुआ।

कोटा-बारा

इस प्रदेश में भी 9वीं-10वीं शती से जैनधर्म के प्रचलन के चिह्न मिलते हैं। रामगढ़ (श्रीनगर) में जैन मुनियों के आवास के लिए बनायी गयी गुफाएँ हैं। कृष्णविलास, केशवधन (शेरगढ़) अटक आदि स्थानों में 8वीं से 13वीं शती तक के जैन मन्दिर विद्यमान हैं। चौदखेड़ी में राजा किशोरसिंह के राज्य में 1689 ई. में कृष्णदास नामक धनी जैन सेठ ने भगवान् महावीर का मन्दिर बनवाया था और सैकड़ों जिनप्रतिमाओं की प्रतिष्ठा करायी थी।

जैसलमेर का भाटी राज्य

यहाँ 10वीं शती में राजा सागर के पुत्रों श्रीधर और राजधर ने पार्श्वनाथ-जिनालय बनवाया था, ऐसी किंवदन्ती है। लक्ष्मणसिंह के राज्य में 1416 ई. में चिन्तामणि पार्श्वनाथ-जिनालय अपरनाम लक्ष्मणविलास बना। उसके पुत्र वैरीसिंह के समय में सम्भवनाथ का मन्दिर बना जिसके प्रतिष्ठोत्सव में राजा भी सम्मिलित हुआ। उसके उत्तराधिकारियों के समय में भी अनेक जिनमन्दिर बने तथा जैसलमेर का प्रसिद्ध शास्त्रभण्डार स्थापित हुआ। वहीं सेठ वारुणाह ने 1618 ई. में 10वीं शती के प्राचीन पार्श्वनाथ-मन्दिर का पुनर्निर्माण कराया था।

नगर (वीरमपुर) के रावल

मरुदेश (जोधपुर-मारवाड़) में ही यह छोटा-सा राज्य था। यहाँ रावल सूर्यसिंह के राज्य में 1612 ई. में वस्तुपाल नामक जैन सेठ ने पार्श्वनाथ-जिनालय की प्रतिष्ठापना करायी थी। 1626 ई. में राजा गजसिंह के शासनकाल में जयमल ने जालोर के आदिनाथ, पार्श्वनाथ एवं महावीर जिनालयों में प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं। 1629 ई. में पाली और मेड़ता में प्रतिष्ठाएँ हुईं और 1737 ई. में मारोठ के जैन दीवान रामसिंह ने जोधपुर नरेश अभयसिंह के राज्यकाल में मारोठ में 'साहों का मन्दिर' बनवाया और अनेक जिनप्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायीं।

आमेर (जयपुर) राज्य

राजस्थान का यह पश्चिमी भाग डूँगाहड़ देश कहलाता था। नरवर (ग्वालियर) के एक कच्छपघातवंशी राजकुमार सोहदेव ने 10वीं-11वीं शती ई. में यहाँ आकर

अपनी स्वयं-राज्य स्थापित किया और देश का नामकें करके अपनी राजधानी बनाया था। तदनन्तर क्रमशः खोह और रामगढ़ को राजधानी बनाया गया और 13वीं शती ई. के लगभग आमेर (अम्बावती) दुर्ग का निर्माण करके उसे राजधानी बनाया गया। सवाई जयसिंह द्वारा 1727 ई. में जयपुर नगर का निर्माण होने तक आमेर ही राजधानी बना रहा, तदुपरान्त उसका स्थान जयपुर ने ले लिया। आमेर-जयपुर के ये राजे कछवाहा (कच्छपघात का अपभ्रंश) राजपूत कहलाये। वंश संस्थापक सौंदर्य का कुलधर्म जैन था और उसका राजमन्त्री निर्भयराम (या अभयराम) नामक छावड़ागोत्री खण्डेलवाल जैन रहा बताया जाता है। इस राज्य में जैनधर्म और जैनीजन खूब फले-फूले। उनकी जनसंख्या भी अच्छी रहती रही है और महाजनों, सेठों एवं व्यापारियों के अतिरिक्त उनमें से अनेक राज्य के मन्त्री, दीवान तथा उच्चपदस्थ कर्मचारी होते आये हैं। इस राज्य के लगभग पचास-साठ जैन राजमन्त्रियों के तो स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। सैकड़ों श्रेष्ठ जैन विद्वानों, साहित्यकारों और कवियों ने भी इस राज्य के प्रथम में उत्तम कोटि का प्रभूत साहित्य रचा है। राज्य के वैराट, आमेर, जयपुर, टोडा (तक्षकपुर), सांगानेर, चाकसू (चम्पावती) या चाटसू, जोबनेर, झुंझगू, भोजमाबाद आदि अनेक नगर जैनधर्म के प्रसिद्ध केन्द्र रहे हैं और राज्य में कई प्रसिद्ध जैनतीर्थ भी हैं। सम्राट् अकबर द्वारा 1567 ई. में चित्तौड़ गढ़ का पतन होने और उस पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने पर चित्तौड़ गढ़ के तत्कालीन भट्टारक मण्डलाचार्य वर्मचन्द्र के पट्टधर भट्टारक ललितकीर्ति ने गढ़ को चित्तौड़ से आमेर में स्थानान्तरित कर दिया था। तब से आमेर गढ़ के अनेक विद्वान्, धर्मोत्साही एवं प्रभावक भट्टारकों ने भी धर्म की अच्छी सेवा की। कछवाहों के राज्य के विभिन्न नगरों एवं ग्रामों में अनगिनत जैनमन्दिर बने। अकेले जयपुर नगर में 150 से अधिक जिनमन्दिर एवं कई उत्तम जैन-संस्थाएँ हैं। आमेर के राजा बिहारीमल द्वारा 1562 ई. में अपनी पुत्री का विवाह सम्राट् अकबर के साथ कर देने से इस राज्य का अभूतपूर्व उत्कर्ष आरम्भ हुआ और उसके सर्वतोमुखी उत्कर्ष में राज्य के जैनों का प्रशंसनीय योगदान रहा है। राज्य के विभिन्न छोटे-मोटे ठिकानों (सामन्त घरानों) ने भी जैनधर्म का पोषण किया। रणथम्बीर के कछवाहा राजा जगन्नाथ के मन्त्री रवीमसी, आमेरनरेश महाराज मानसिंह (1590-1614 ई.) के महामात्य साह नानू और मिर्जा राजा जयसिंह (1621-67 ई.) के प्रधान मन्त्री मोहनदास भौवसा का परिचय अन्यत्र दिया जा चुका है। महाराज मानसिंह के राज्यकाल में ही 1591 ई. में साह थानसिंह ने एक तीर्थयात्रा संघ चलाया था और भगवान् महावीर की निर्वाणस्थली पावापुरी में जाकर षोडशकारणमन्त्र की प्रतिष्ठा करायी थी। 1605 ई. में चाटसू (चम्पावती) के जिनमन्दिर में मानस्तम्भ का निर्माण हुआ था, और 1607 ई. में भोजमाबाद में जेतासेठ ने सैकड़ों जिन-प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करायी थीं।

संघपति मल्लिदास—भौवसा गोत्री यात्रा संघ चलानेवाले संघी ऊदर के पुत्र

थे। संभार धुरन्धर, जिनपूजापुरन्दर, जिनप्रतिष्ठाकरणैकतत्पर इन धर्मात्मा सेठ ने 1602 ई. में दूधनगर में बिम्ब प्रतिष्ठा करायी थी और दूध, चूरु, बाँदर, सींदरी, सारखुरंग एवं अराई नामक स्थानों में विशाल जिनमन्दिर बनवाये थे। इन्हीं के सुपुत्र अमेर राज्य के सुप्रसिद्ध महामन्त्री मोहनदास भौवसा थे।

संघी कल्याणदास—महामन्त्री मोहनदास भौवसा के ज्येष्ठ पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरान्त मिर्जा राजा जयसिंह के दीवान हुए। यह 1666 ई. में विद्यमान थे। राज्य के तत्कालीन अभिलेखों में 'आमेर के दीवान संघी कल्याणदास' के रूप में उनका उल्लेख हुआ है। विमलदास और अजितदास उनके छोटे भाई थे। संघी अजितदास भी प्रतिष्ठित व्यक्ति थे—जयपुर का संघीजी का मन्दिर इनके (अथवा इनके पुत्र या पौत्र) द्वारा बनवाया गया कहा जाता है। संघी कल्याणदास सम्भवतया जयसिंह के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज रामसिंह (1667-88 ई.) के समय भी राज्य के दीवान रहे थे।

बल्लूशाह छाबड़ा—महाराज रामसिंह के दीवान थे। मराठा राजा शिवाजी को मुगल दरबार में लाने के सम्बन्ध में बात-चीत करने और समझाने के लिए महाराज ने बल्लूशाह को भेजा था। सम्भवतया मिर्जा जयसिंह के समय से ही वह राज्य-सेवा में उच्च पद पर नियुक्त थे।

विमलदास छाबड़ा—बल्लूदास के पुत्र थे और रामसिंह तथा उसके उत्तराधिकारी महाराज विशनसिंह (1689-1700 ई.) के समय में दीवान थे, बड़े साहसी और युद्धवीर भी थे। लालसोट के युद्ध में उन्होंने वीरगति पायी थी। इनके दो पुत्र थे, रामचन्द्र और फतहचन्द्र, जो दोनों ही अपने समय में राज्य के दीवान हुए।

दीवान रामचन्द्र छाबड़ा—बल्लूशाह के पौत्र और दीवान विमलदास छाबड़ा के पुत्र रामचन्द्र छाबड़ा सम्भवतया अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त 1690 ई. के लगभग ही राजा विशनसिंह के दीवानों में मर्ती हो गये थे और उसके उत्तराधिकारी महाराज सवाई जयसिंह (1701-1743 ई.) के समय में तो राज्य के प्रधान अमात्यों में से थे। महाराज के वह दाहिने हाथ सरीखे थे। राजनीति एवं शासन प्रबन्ध में अति दक्ष होने के साथ-साथ वह भारी युद्धवीर, कुशल सेनानी और स्वाभिमानी थे। जयपुर के जयसिंह और जोधपुर के अजीतसिंह परस्पर लाले-बहनोई थे। दिल्ली की गद्दी के लिए हुए उत्तराधिकार युद्ध में इन दोनों राजाओं ने शहजादा आज़म का पक्ष लिया था। अतएव सम्राट् बनने पर बहादुरशाह (1707-12 ई.) ने दोनों राज्यों पर चढ़ाई करके उन्हें विजय कर लिया और खालसा घोषित कर दिया। दोनों राजा भागकर उदयपुर चले गये। जयसिंह के साथ उसके दीवान रामचन्द्र भी थे। उदयपुरवालों की कोई व्यंग्यवक्ति सुनकर वह अकेले जयपुर के लिए चल पड़े। सेना एकत्र की और छलबल-कौशल से मुगलों के प्रतिनिधि सैयद हुसैन अली को अपने

राज्य से मार भगाया और आमेर पर अधिकार कर लिया। चाहते तो स्वयं राजा बन जाते, किन्तु स्वामिभक्त थे, आमेरपति जयसिंह को उदयपुर से बुलाकर उनका राज्य उन्हें सौंप दिया। इसपर बादशाह रुष्ट हो गया और दिल्ली दरबार में जयसिंह को क्षमा कर देने की कार्यवाही चल रही थी, वह स्थगित कर दी गयी तथा महाराज को आदेश दिया गया कि दीवान को तुरन्त अपनी सेवा से हटा दें। महाराज ने स्वभावतया यह शर्त स्वीकार नहीं की और 1719 ई. तक, सम्भवतया अपनी मृत्युपर्यन्त रामचन्द्र अपने पद पर बने रहे। उन्होंने अपने महाराज के आदेश पर जोधपुर से भी शाही सेना को मार भगाया और अजीतसिंह को उसके राज्य पर पुनः प्रतिष्ठित कर दिया। ये घटनाएँ 1707-1708 ई. की हैं। जब सौंभर प्रदेश के अधिकार को लेकर जयपुर और जोधपुर राज्यों में विवाद हुआ तो उसका निपटारा करने के लिए दोनों राजाओं ने दीवान रामचन्द्र को ही पंच बनाया और उन्होंने सौंभर का आधा-आधा भाग दोनों को देने का निर्णय दिया। इस सेवा के उपलक्ष्य में दीवान को भी सौंभर से प्राप्त नमक का एक भाग वार्षिक मिलता रहा। इस झगड़े के पूर्व सौंभर क्षेत्र पर भी मुगलों ने अधिकार कर लिया था और रामचन्द्र छाबड़ा ने उनके वंगुल से उसे निकाला। अपने महाराज पर बादशाह को प्रसन्न करने में भी वह सहायक हुए। उनके साथ स्वयं दिल्ली गये और जब बादशाह ने महाराज को भालवा की सूबेदारी दी तो वहाँ भी उनके साथ गये। दीवान रामचन्द्र अनेक यद्धों में सम्मिलित हुए थे। वह दुर्गार (आमेर) राज्य की काल भी कहलाते थे। महाराज ने उन्हें अनेक जमीरें प्रदान की थीं। इनके विषय में कहा जाता था कि यह टेढ़े की सीधा और सीधे की मिहाल कर देते थे। वह घर के, पृथ्वी के और प्रजा के रक्षक थे और महाराज जयसिंह कहते थे कि रामचन्द्र तू ही सच्चा दीवान है। ये धर्मनुरागी भी थे। साहीवाड़ का जिनमन्दिर, उज्जैन की नशियों और दिल्ली में जयसिंहपुरे का जैनमन्दिर इन्हीं दीवान रामचन्द्र के बनवाये हुए हैं। अन्तिम निर्माण 1724 ई. में हुआ और यह 'महावीर चैत्यालय' कहलाता था।

फतहचन्द छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के छोटे भाई थे और धार्मिक वृत्ति के सज्जन थे। उन्होंने 1708 ई. से 1724 ई. तक महाराज जयसिंह के ही शासन में दीवानगिरी की थी।

किशनचन्द्र छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के पुत्र थे। इन्हें 1710 ई. में ही किसी विशेष राज्यसेवा के उपलक्ष्य में 100 बीघा भूमि राज्य से प्राप्त हुई। वह भी अपने समय में राज्य के दीवानों में से थे। इनकी मृत्यु 1758 ई. में हुई थी। इनके पुत्र दीवान भीमचन्द्र छाबड़ा थे।

राव जगराम षण्ड्या—1717 ई. से 1733 ई. तक महाराज सवाई जयसिंह के शासनकाल में राज्य के दीवान रहे। जयपुर प्रदेश के कस्बा चाटसू के संस्थापक

इन्हीं के पूर्वज चौधरी चाहमल रहे बताये जाते हैं। राव जगराम बड़े धनी-मानी व्यक्ति थे। मुराल दरबार में भी इनकी पर्याप्त पहुँच थी।

राव कृपाराम पाण्ड्या—रावजगराम पाण्ड्या के सुयोग्य पुत्र थे और अत्यन्त प्रभावशाली, शान्ति एवं वैभवसम्पन्न राजपुरुष थे। महाराज सवाई जयसिंह की सभा के नवरत्नों में से यह एक थे। महाराज इनका बहुत सम्मान करते थे। इनका दीवान-काल 1723 ई. से 1733 ई. तक रहा, किन्तु उसके उपरान्त भी कई वर्षों तक वह राज्य की सेवा में रहते रहे। अपने महाराज के प्रतिनिधि के रूप में यह बहुधा दिल्ली दरबार में रहते थे और वहाँ बादशाह मुहम्मदशाह रंगिले के शत्रुओं के साथी थे। अनेक राजे-महाराज इनके सामने खड़े रहते थे और अपने कार्यों के लिए रावजी से ही बादशाह के हज़ूर में सिफ़ारिशें करने की प्रार्थना किया करते थे। विभिन्न उमराव यह ध्यान रखते थे कि कहीं रावजी उनसे रुष्ट न हो जाएँ। कर्नल टाड के अनुसार इन्हें बादशाह से छह-हज़ारी मनसब प्राप्त हुआ था और यह शाही कोषाध्यक्ष का पद भी सँभालते थे। महाराज द्वारा जयपुर महानगरी के निर्माण में रावजी ने स्वयं करोड़ों रुपये की सहायता दी थी। जब रावजी की कन्या का विवाह माधोपुर के नगर सेठों के यहाँ हुआ तो स्वयं महाराज ने कन्यादान दिया था। हथलेवा लुझने में दो रुपये देने की प्रथा रावजी ने ही निर्धारित की थी जो जयपुर की जैन समाज में अब तक चली आती है। शाही-मराठिब भी जो जयपुर नरेश की सकारी में लगते थे, रावजी को भी प्राप्त थे, किन्तु उन्होंने वे महाराज को ही भेंट कर दिये थे। महाराज के भाई विजयसिंह ने जब महाराज के विरुद्ध राज्य हथियाने का षड्यन्त्र किया तो रावजी ने ही महाराज को समय से सचेत कर दिया था। इस प्रकार राव कृपाराम राज्य के कुशल दीवान और मन्त्री ही नहीं, बड़े प्रतिभाशाली, प्रभावशाली, वैभवशाली और पूर्णतया स्वामिभक्त तथा धार्मिक वृत्ति के, अस्वाम्यदायिक एवं उदार विचारोंवाले महानुभाव और भारी निर्माता भी थे। उन्होंने जयपुर के चाकस चौक में स्थित विशाल जैनमन्दिर, अपना सात चौकोरवाली हवेली में दो चैत्यालय, गलता की पहाड़ी का प्रसिद्ध सूर्य-मन्दिर तथा अन्य अनेक सूर्य-मन्दिर बनवाये थे। महाराज की भाँति वह भी ज्योतिर्विज्ञान के प्रेमी रहे लगते हैं। उनका स्वर्गवास 1747 ई. में हुआ। राव कृपाराम के कोई पुत्र नहीं था। अतएव इनका अन्त्येष्टि संस्कार (क्रियाकर्म) आदि उनके छोटे भाई फतहराम पाण्ड्या ने किया था। एक अन्य भाई भगताराम पाण्ड्या थे।

फतहराम पाण्ड्या—राव कृपाराम के छोटे भाई थे और 1733 ई. से 1756 ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे। पहले सवाई जयसिंह के तदनन्तर उनके उत्तराधिकारियों—ईश्वरीसिंह और माधोसिंह के राज्यकालों में। सन् 1757 ई. में उन्हें जयपुर राज्य का वकील बनाकर दिल्ली दरबार में भेजा गया। राज्य की ओर से उन्हें कई गाँव जागीर में मिले थे और चार हज़ार रुपये वार्षिक वेतन मिलता था।

भगताराम पाण्ड्या भी राव कृपाराम और फताहाराम के सहोदर थे। यह 1735 ई. से 1743 ई. तक राज्य के दीवान रहे और अपने भाइयों की भाँति राज्य की सेवा की।

विजयराम छाबड़ा—तोलूराम के पुत्र थे, इसलिए विजयराम तोलूका भी कहलाते थे। इनके वंशजों का भी 'तोलूका' बौक पड़ गया। यह भी सवाई जयसिंह के एक दीवान थे। महाराज की एक बहन की दिल्ली के बादशाह ने माँग की, किन्तु विजयराम की बलुराई से वह बूँदी के हाड़ा राजा बुधसिंह के साथ चुपके से विवाह की मयी। जयसिंह उस समय दिल्ली में थे। बादशाह उनसे तथा बुधसिंह दोनों से रुष्ट हो गया, किन्तु रणबोँकुरा हाड़ावीर डरा नहीं। विजयराम तो साहसी और वीर थे ही। बादशाह की एक न चली। महाराज ने विजयराम की स्वाभिमानिता से प्रसन्न होकर उन्हें एक ताम्रपत्र दिया जिसमें लिखा था, 'तुम्हें शावाशी है', तुमने कठवाही के धर्म की रक्षा की है, यह राज्यवंश तुमसे कभी उद्धार नहीं हो सकता और जो पाएगा तुम्हारे साथ बौटकर खाएगा।'

किशोरदास महाजन—दीसा निवासी छाबड़ा गोत्री खण्डेलवाल जैन थे। यह 1692 ई. से 1722 ई. तक जयपुर राज्य के दीवान थे।

ताराचन्द्र बिलाला—केशवदास बिलाला के पुत्र थे और सवाई जयसिंह के समय में 1716 ई. से 1733 ई. तक के दीवान रहे थे। जयपुर नगर का लूणकरण पाण्ड्यावाला मन्दिर इन्हीं का बनवाया हुआ है। इनकी अपनी विशाल हवेली पचेवरवालों के रास्ते में थी। इन्होंने चतुर्दशीव्रत करके उसके उद्घाटनार्थ भइरक विद्यानन्दि के शिष्य पण्डित अक्षयराम से 1743 ई. में 'चतुर्दशी व्रतोद्घाटन' नामक संस्कृत पुस्तक लिखवायी थी।

नैनसुख छाबड़ा—दीसा निवासी छाबड़ागोत्री खण्डेलवाल थे और तेरहपंथ आम्नाय के अनुयायी एवं बड़ी धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे। दीसा, लालसोट, बलवा, चाकसू, टोंक, मालपुरा फागो, आमेर आदि कई स्थानों में इन्होंने जिनमन्दिर बनवाये थे। यह 1712-1713 ई. में राज्य के दीवान थे।

श्रीचन्द छाबड़ा—नैनसुख छाबड़ा के भाई थे और 1713-14 ई. में राज्य के दीवान थे।

कनीराम वैद—कठमाना ग्राम निवासी खेमकरण वैद के पुत्र थे और 1750 ई. से 1763 ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे। जयपुर में मनीरामजी की कोठी के सामने स्थित मन्दिर तथा कठमाना का विशाल जिनमन्दिर इन्हीं के बनवाये हुए हैं। इनके भाई कीरतराम ने कठमाना के निकट सोडा ग्राम में एक जिनमन्दिर बनवाया था।

कैसरीसिंह कासलीवाल—यह 1732 ई. में राज्य में एक सामान्य पद पर स्थित हुए और शनैः-शनैः उन्नति करके 1756 ई. से 1760 ई. तक दीवान के पद

पर प्रतिष्ठित रहे। जयपुर का संगमरमर में कुराई शिल्प के लिए विख्यात सिरमौरियों का जिनमन्दिर इन्हीं का बनवाया हुआ है। इस मन्दिर का शिलान्यास स्वयं जयपुर नरेश माधोसिंह ने 1756 ई. में किया था और राज्य के योगदान के रूप में 2000 रुपये उसके निर्माण के लिए भी प्रदान किये थे।

दौलतराम कासलीवाल—जयपुर राज्य के बेसवा नगर के निवासी और साह आनन्दराम कासलीवाल के पुत्र थे। यह उच्चशिक्षित, विद्याव्यसनी, भारी साहित्यकार, साथ ही नीतिपटु और राज्यकार्यकुशल थे। महाराज सवाई जयसिंह ने 1720 ई. के कुछ पूर्व ही उन्हें राज्यसेवा में नियुक्त कर लिया प्रतीत होता है और किसी राज्य कार्य से ही उन्हें आगरा भेजा था, जहाँ इन्हें आगरा के भूधरमल्ल, हेमराज, ऋषभदास आदि जैन विद्वानों के सत्संग का लाभ भी मिला और वहीं उसी वर्ष इन्होंने 'पुण्यास्रव कथाकोश' की रचना की थी। तदनन्तर कई वर्ष यह युवराज ईश्वरीसिंह के अभिभावक एवं खासदीवान (मन्त्री या सचिव) तथा जयपुर के वकील के रूप में उसके साथ उदयपुर के राणा जगतसिंह द्वितीय के दरबार में रहे। वहीं उन्होंने 1738 ई. में 'क्रियाकोश' की रचना की थी। बीच-बीच में जयपुर भी आते रहते थे। महाराज ईश्वरीसिंह के राज्यकाल में यह उसके एक दीवान के रूप में जयपुर में ही अधिक रहे प्रतीत होते हैं। उसी काल में उनके 'आदिपुराण', 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' आदि विशाल ग्रन्थों की रचना हुई लगती है। राज्यकार्य से जितना समय बचता था वह साहित्य साधना में ही लगाते थे। ईश्वरीसिंह के अन्तिम वर्षों और तदनन्तर माधोसिंह के राज्यकाल में कई वर्ष यह जयपुर राज्य के प्रतिनिधि (वकील) के रूप में उदयपुर दरबार में रहे, जहाँ सेठ बेलाजी की प्रेरणा से इन्होंने 'वसुन्धि श्रावकाचार' की भाषा-टीका लिखी थी, जिसकी प्रथम प्रतियाँ 1751 ई. में उदयपुर में ही वहाँ के सेठ कालुचालाल और सेठ सुखजी की विदुषी पत्नियाँ मोठीबाई एवं राजबाई ने अपने हाथ से लिखी थीं। राजा पृथ्वीराज सिंह के समय में 1770 ई. के लगभग राज्य की साधिक 50 वर्ष निरन्तर सेवा करने के पश्चात्, इन्होंने राज्यसेवा से अवकाश ले लिया लगता है। इनकी अन्तिम रचना 1772 ई. की है, जिसके कुछ समय पश्चात् इनका स्वर्गवास हो गया लगता है। मन्त्रीवर दौलतराम कासलीवाल का अपने समकालीन जयपुर के दीवानों के साथ प्रायः सौहार्द रहा, विशेषकर धर्मप्रेमी दीवान रतनचन्द्र साह (1756-68 ई.) का तो अपने ग्रन्थों में उल्लेख भी किया है। एक धर्मज्ञ विद्वान् के रूप में दौलतराम पण्डितप्रवर टोडरमल्लजी का बड़ा आदर करते थे और भाई रायमल्ल तो उनके कई ग्रन्थों के प्रणयन में प्रेरक रहे थे। राजा और प्रजा में उनकी प्रतिष्ठा थी ही, राज-परिवार में आते-जाते थे और 'पण्डितराय' कहलाते थे। इस सबके अतिरिक्त हिन्दी गद्य के विकास में पण्डित दौलतराम कासलीवाल का अभूतपूर्व योगदान है।

इस युग में जयपुर राज्य में अन्य अनेक व्यक्तियों ने भी विविध धर्म-कार्य किये थे, यथा—मालपुरा में 1598 ई. में भट्टारक भुवनकीर्ति की आम्नाय के गंगोत्री अग्रवाल सेठ सामा ने अपनी पुत्री नगीना के व्रत उद्घाटनार्थ षोडशकारण यन्त्र प्रतिष्ठापित किया था, 1601 ई. में चन्द्रकीर्ति की आम्नाय के सहगोत्री खण्डेलवाल सेठ गंगराज ने पार्श्व-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, 1669 ई. में गुणभद्र की आम्नाय के जैसवाल जातीय चरुगवंशी प्रधान नरायण के पुत्र संघही दलपत ने सम्यग्ज्ञान यन्त्र प्रतिष्ठापित किया था और 1694 ई. में रत्नकीर्ति की आम्नाय के ठोल्यागोत्री खण्डेलवाल साह दामोदर के पुत्र साह जैसा ने पं. वीरदास के उपदेश से धातु की आदिनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

इसी प्रकार जोधपूर के राजा विजयसिंह के राज्य में और 1722 ई. में रावकुरुसिंह के राज्य में, बिलाहा गोत्री खण्डेलवाल साह नंग के पुत्र सिंघई मलजीत ने पं. दयाराम के उपदेश से धातु की चौबीसी प्रतिष्ठित करायी थी।

1570 ई. में सागवाड़ा निवासी कसलेश्वर गोत्री हूमड़ साह भाणिक ने सपरिवार स्वगुरु भट्टारक सुमतिकीर्ति के उपदेश से धातु की चौबीसी प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, इत्यादि।

दक्षिण भारत के राज्य

विजयनगर के उत्तरवर्ती राजे—1565 ई. में तालिकोटा के युद्ध में सम्राजा की पराजय और मृत्यु तथा विजयनगर का विध्वंस हो जाने के पश्चात् उसके वंशज अपने सीमित प्रदेश (प्रेमगोंडा) पर चन्द्रगिरि से राज्य करने लगे थे। इनमें प्रथम राजा तिरुमल था। तदनन्तर रंगराय प्रथम (1573-85 ई.), वेंकट प्रथम (1586-1617 ई.), वेंकट द्वितीय (1617-41 ई.), रंगराय द्वितीय (1642-84 ई.) इत्यादि राजा क्रमशः हुए।

बल्लभराजदेव-महाअरसु—रंगराय प्रथम के महामण्डलेश्वर श्रीपतिराज का पौत्र और राजय्यदेव-महाअरसु का पुत्र कुमार बल्लभराजदेव-महाअरसु 1578 ई. भगवनाड का शासक था। उसने हेगरे की बसदि (जिनमन्दिर) के 'मान्य' की पुनः स्थापना के लिए उस वर्ष एक दानशासन जारी किया था और उक्त बसदि के लिए कुछ भूमियाँ तथा अन्य दान दिये थे। यह दान उसने गोविन्द सेट्टि नामक जैन सेठ की प्रेरणा से दिये थे।

बोम्मण श्रेष्ठि—प्रेमगोंडा के महाराज वेंकट प्रथम के अधीनस्थ आरग के शासक वेंकटाद्रि-नायक का आश्रित बोम्मण-हेगडे मुत्तूर का शासक था। उसके इलाके के मेलिगे नगर निवासी वणिकमुख्य वर्धमान और उसकी पत्नी मेमाम्बा का पुत्र बोम्मणश्रेष्ठि था, जिसने 1608 ई. में वहाँ एक भव्य जिनालय बनवाकर उसमें अनन्त जिन की प्रतिष्ठापना की थी और मन्दिर के लिए दान दिये थे। यह सेठ

जिनेन्द्र के चरण-कमलों का भ्रमर, सत्य-शौच-गुणाम्बित, धार्मिकाग्रणी या और विद्यानन्द मुनि का शिष्य था। स्वयं उसके पदुमण, चन्दन, माणिक आदि पाँच सुयोग्य श्रेष्ठ पुत्र थे।

राज-करणिक देवरस—वेंकट द्वितीय के इस महालेखाकार ने 1630 ई. के लगभग भलेयूर पर्वत की पार्श्वनाथ-बसदि के तोरणों का जीर्णोद्धार कराके उस पर जिनमुनियों के बिम्ब स्थापित किये और अपने पिता चन्द्रय की स्मृति में वहाँ एक दीपस्तम्भ बनवाया था।

कारकल के भैरव राजे

तुलुदेशस्थ कारकल जैनधर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहता आया था और उसके भैरववंशी राजाओं का कुलधर्म, राज्यधर्म और बहुधा व्यक्तिगत धर्म भी जैनधर्म ही रहा। तत्कालीन नरेश, सम्भवतया भैरव द्वितीय ने और राज्य के जैन नागरिकों ने 1579 ई. में कारकल में एक जैन दिशापाठ की स्थापना की थी और उसमें अध्ययन करनेवाले छात्रों के लिए अनेक वृत्तियों प्रदान की गयी थीं, जिनका विचारकर्ता कारकल के तत्कालीन पहाड़ीश भट्टारक ललितकीर्ति को बनाया गया था। इसी राज के भैरव द्वितीय ने जिसे भैरवेन्द्र, भैरवसोडेय और इम्मडि-भैरवस-वोडेय भी कहा गया है और भैरव प्रथम (भैरवराज) का भानज एवं उत्तराधिकारी था, 1586 ई. में कारकल की प्रसिद्ध गोम्मटदेश प्रतिमा के सामनेवाली पहाड़ी चिक्कवेट्ट पर एक भव्य एवं विशाल मन्दिर बनवाया था जो रत्नत्रय, सर्वतोभद्र या चतुर्मुख-बसदि और त्रिभुवनतिलक जिनचित्पालय कहलाया। मन्दिर में चारों ओर तीन मुख्य द्वारों की दिशाओं में तीर्थकर अरनाथ, मल्लिनाथ और मुनिसुव्रतनाथ की प्रतिमाएँ विराजमान की गयीं और पश्चिम दिशा में चौबीसी तीर्थकरों की, उनकी यक्ष-यक्षिणियों सहित स्थापना की गयी। राजा ने यह धर्मकार्य स्वगुरु ललितकीर्ति मुनीन्द्र के उपदेश से किया था, जो देशीगण के पनसोगे शाखा के आचार्य थे और कारकल की भट्टारकीय गद्दी पर विराजते थे। मन्दिर में नित्य पूजा करने के लिए स्थानिकों (पुजारियों) के 14 परिवार नियुक्त किये गये, भाली और नायक (गन्धर्व) भी नियुक्त किये गये। मन्दिर में निवास करनेवाले ब्रह्मचारियों को शीतनिवारणार्थ कम्बल, नित्य भोजन तथा आवश्यक सामग्री देने की भी व्यवस्था थी। एतदर्थ राजा ने भूमि आदि का प्रभूत दान दिया था, जिससे सब व्यवस्था सुचारु रूप से चली। सौमवंशी-काश्यपगोत्री जिनदत्तराय (प्राचीन सान्तरवंश संस्थापक) के वंश में उत्पन्न, भैरवसोडेय (भैरव प्रथम) की बहन गुम्मटाम्बा और वीरनरसिंह-वर्गनरेन्द्र का यह कुलदीपक, प्रियपुत्र इम्मडिभैरवस-वोडेय (भैरव द्वितीय) अपने शत्रुओं का दमन करनेवाला, सम्यक्त्वादि अनेक गुणगणालंकृत और जिमगन्धोदक-पवित्रीकृतोत्तमांग था। अपने अभ्युदय एवं निःश्रेयसरूप लक्ष्मी एवं सुख की प्राप्ति के लिए उसने यह

धर्मकार्य किया था। पूर्व काल में पाण्ड्यराय ने यहाँ गोम्मटेश की विशाल मूर्ति प्रतिष्ठापित की थी, इसलिए कारकल पाण्ड्यनगरी भी कहलाता था। राजा भैरव द्वितीय ने उपर्युक्त मन्दिर बनवाने और दान देने के साथ ही साथ बड़े राज महल के प्रांगण में स्थित चन्द्रनाथ-बसदि तथा गोवर्धनगिरि पर स्थित पार्श्वनाथ-बसदि में नित्यपूजन के हेतु भी उत्तम व्यवस्था कर दी थी।

1591 ई. में किन्निर भूपाल नामक युवराज ने कन्नड़ प्रान्त में स्थित एक जिनालय के लिए भूमिदान दिया था। यह युवराज सम्भवतया तमिलनाडु के किसी राज्यवंश का था।

1599 ई. में सम्भवतया कारकल के उसी भैरव द्वितीय के सामन्त पाण्ड्य नायक और उसके भाई देरेनावक ने कोप्प नामक स्थान में साधन-चैत्यालय नाम का पार्श्वमन्दिर बनवाया था और उसके लिए उन दोनों भाइयों ने तथा राजा भैरव द्वितीय और उसके उक्त उत्तराधिकारी पाण्ड्यवोडेयर ने भी भूमिदान दिये थे।

वेनूर का अजिलवंश *सन्दर्भार्थक :- अजिलवंश की स्तुतिविल्लापर की आधारित*

तुलुदेश के वेनूर (वेणुरु) नगर में राज्य करनेवाले इस सोमकुली राज्य वंश का संस्थापक तिम्मण अजित प्रथम (लगभग 1154-80 ई.) था। मूलतः यह पश्चिमी घाटवर्ती गंगवाडि का निवासी और सम्भवतया गंगवंश में ही उत्पन्न हुआ था। अजिल राजे स्वयं को गोम्मटेश प्रतिष्ठापक प्रसिद्ध गंग सेनापति चामुण्डराय का वंशज बताते हैं, किन्तु गोविन्द पै-जैसे इतिहासकारों का मत है कि अजिल राजाओं का पूर्व पुरुष चामुण्डराय बनवासी के कदम्बवंश का कोई राजकुमार था। अजिलवंश में मामा से भानजे की उत्तराधिकार चलता था और प्रारम्भ से प्रायः अन्त तक उसमें जैनधर्म की प्रवृत्ति रही। अजित प्रथम का उत्तराधिकारी उसका भानजा रायकुमार प्रथम (1186-1204 ई.) था। अनेक राजाओं के होने के उपरान्त रायकुमार द्वितीय हुआ। उसकी मृत्यु 1550 ई. में हुई और उसका उत्तराधिकारी उसका भानजा वीर तिम्मराज अजित चतुर्थ (1550-1610 ई.) हुआ जो उसका जामाता भी था। उसकी जननी का नाम पाण्ड्य देवि और पिता का पाण्ड्य भूषति था। इस वीर, प्रतापी, उदार एवं धर्मात्मा राजा ने अपनी राजधानी वेनूर में कारकल-जैसी ही एक विशाल गोम्मटेश-प्रतिमा के निर्माण का विचार किया और राजधानी के निकटस्थ कल्याणी ग्राम में मूर्ति का निर्माण-कार्य भी प्रारम्भ हो गया। कारकल के तत्कालीन नरेश इम्मडि भैरवराय को ईर्ष्या हुई और उसने सोचा कि इस मूर्ति की स्थापना से वेनूर की प्रतिष्ठा कारकल से भी अधिक हो जाएगी, अतएव उसने तिम्मराज से अपने संकल्प को त्याग देने के लिए कहा। तिम्मराज ने यह बात स्वीकार नहीं की तो भैरव ने तिम्मराज पर चढ़ाई कर दी। दोनों में तुमुल युद्ध हुआ, जिसमें वीर तिम्मराज ही विजयी हुआ। मूर्ति की सुरक्षा के लिए तिम्मराज ने युद्ध में जाने से पूर्व उसे

फाल्गु नदी के रेत में गहरे दबवा दिया। उसे वह मनोज्ञ, सुलक्षण 35 फुट उत्तुंग, खड्गासन भगवान् गोम्मटेश की प्रतिमा प्राणों से अधिक प्रिय थी। विपुल द्रव्य व्यय करके अत्यन्त कुशल मूर्तिकार शिल्पियों से उसका निर्माण कराया था। श्रवणबेलगोल के पीठाचार्य चारुकीर्ति महाराज का आशीर्वाद उसे प्राप्त था। उन्हीं के उपदेश से उसने यह शुभ संकल्प किया था। अन्ततः वीर तिमिराज का स्वप्न साकार हुआ और 1604 ई. की मार्च मास की प्रथम तिथि, गुरुवार को मध्याह्न काल में वेनूर के सुप्रसिद्ध गोम्मटेश बाहुबलि की प्रतिष्ठापना बड़े समारोहपूर्वक हुई। यह कर्णाटक की तीसरी विशाल बाहुबलि मूर्ति है। गोम्मटेश मूर्ति के सामनेवाले द्वार के दोनों पार्श्वों में दो छोटे मन्दिर हैं जो तिमिराज की दो रानियों ने बनवाये थे। इनमें से पूर्व दिशावाला चन्द्रप्रभ का है और पश्चिम दिशावाला शान्तिनाथ का है। मूर्ति के पीछे की ओर सड़क के उस पार प्राचीन पार्श्व जिनालय है। वेनूर में तिमिराज के एक पूर्वज द्वारा 1490 ई. के लगभग निर्मित ज्ञान्तीश्वर-बसदि है, जिसके सहिने और बायें दो अन्य मन्दिर हैं। दक्षिण ओर वाला मन्दिर तीर्थकर-बसदि कहलाता है। इसमें चौबीसों तीर्थकरों की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। पूरा मन्दिर ग्राष्पाण निर्मित है और उसपर उत्खनित मूर्त्तिकन दक्षिण कनारा प्रदेश में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं। इस मन्दिर के प्राकार के सम्मुख एक सुन्दर मानस्तम्भ विद्यमान है। तिमिराज स्वयं प्रतापी और कुशल प्रशासक था और उसके शासनकाल में राज्य का प्रभूत उत्कर्ष हुआ। वेनूर राज्य का प्रदेश पुंजलिके भी कहलाता था। तिमिराज के पश्चात् उसकी भानजी मधुरिकादेवी गद्दी पर बैठी और उसने 1610 से 1647 ई. तक शासन किया। अपने राज्यकाल में उसने, सम्भवतया 1634 ई. में, वेनूर के गोम्मटेश का महामस्तकाभिषेक महोत्सव किया था। इस अवसर पर भी कारकल के तत्कालीन नरेश ने विरोध किया और उत्सव को रोकने के लिए वेनूर पर चढ़ाई कर दी, किन्तु अपने पूर्वज की भौंति उसे भी विफल मनोरथ होकर लौटना पड़ा। तदनन्तर कई अन्य शासक वेनूर की गद्दी पर क्रमशः बैठे जिनमें एक धर्मात्मा रानी पद्मलादेवी थी। सन् 1764 ई. में मैसूर के नवाब हैदरअली ने इस राज्य को समाप्त करके उसपर अधिकार कर लिया, किन्तु वंश का अस्तित्व वर्तमान युग तक चलता रहा। इस वंश के कुछ लोग अँगरेज सरकार से वर्षाशन पाते रहे।

मैसूर के ओडेयर राजे

कर्णाटक देश में मैसूर (महिशूर, हौसूर) का ओडेयर वंश भी प्राचीन गंगवंश की ही एक शाखा थी—ये राजे स्वयं को गोम्मटेश प्रतिष्ठापक महाराज चामुण्डराय का वंशज भी बताते हैं। प्रारम्भ में यह छोटा-सा ही राज्य था और प्रायः पूर्णतया जैनधर्म का अनुयायी था। कालान्तर में राजाओं द्वारा शैव-वैष्णवादि हिन्दूधर्म अंगीकार कर लिये जाने पर भी मैसूर के राजे स्वयं को श्रवणबेलगोल और उसके

गोम्मटेश के रक्षक समझते रहे, उन्हीं की पूजा-भक्ति भी करते रहे और अन्य प्रकार भी जैनधर्म एवं जैनों का पोषण करते रहे।

1609 ई. के लगभग श्रवणबेलगोल में सोमनाथपुर निवासी और पण्डितदेव के शिष्य काश्यपगोत्री ब्राह्मण सेनवो सायम्प और महादेवी के प्रिय पुत्र परम जिनभवन्त हिरियम्प ने गोम्मटस्वामी के चरणारविन्द की वन्दना करके मुक्तिपथ प्राप्त किया था।

सामराज ओडेयर—मैसूर नरेश महाराज ओडेयर ने 1634 ई. में बेलगोल की भूमि के चन्नन आदि विभिन्न रहनदारों को बुलाकर उनसे उक्त भूमि की रहन से मुक्त करने के लिए तत्कालीन में बाज़िब रूपया खर्च राजा से ले लेने के लिए कहा तो उन लोगों ने वह भूमि बिना कुछ लिये ही अपने पूज्यों के पुण्य निमित्त छोड़ दी। इस धर्मिष्ठ नरेश ने उक्त भूमियों का उन रहनदारों से पुनः दान करवाया और यह शासनादेश जारी कर दिया कि जो कोई स्थानिक (पुजारी आदि) दान सम्पत्ति को रहन करेगा और जो महाजन ऐसी सम्पत्ति पर ऋण देगा, वे दोनों ही समाज से बहिष्कृत समझे जाएंगे, यह कि जिस राजा के समय में भी ऐसी घटना हो वह उसका तदनुसार न्याय करेगा तथा इस शासन का उल्लंघन करनेवाला महापाप का भागी होगा।

1673 ई. में पुडुसमि और देवी रम्भा के पुत्र चन्नन ने श्रवणबेलगोल को विन्ध्यगिरि पर समुदीश्वर (चन्द्रप्रभ स्वामी) का मण्डप, एक कुंज (उद्यान) और दो सरोवर बनवाये थे। अगले वर्ष 1674 ई. में उन सबके संरक्षण के लिए उसने जिन्नयेन हल्लिग्राम घंट कर दिया था।

देवराज ओडेयर—मैसूर नरेश महाराज देवराज ओडेयर ने 1674 ई. में जैन साधुओं को नित्य आहारदान देने के लिए बेलगोल के चारुकीर्ति पण्डिताचार्य की दानशाला को मदने नामक ग्राम का दान दिया था। इन्हीं नरेश के द्वारा प्रदत्त भूमि में, सेनसंघ के दिल्ली-कोल्हापुर-जिनकाशी-पेनुगोंडा सिंहासनाधीश लक्ष्मीसेन भट्टारक के उपदेश से पदुमणसेहि के पौत्र और दोड्डादणसेहि के पुत्र सक्करेसेहि ने बेलूर में महाराज की अनुमतिपूर्वक 1680 ई. के लगभग विमलनाथ-चैत्यालय बनवाया था।

कृष्णराज ओडेयर—इन धर्मात्मा मैसूर नरेश ने श्रवणबेलगोल आकर गोम्मटेश्वर भगवान् के भक्तिपूर्वक दर्शन किये और हर्षविभोर हो इस पुण्य तीर्थ के संरक्षण, पूजोत्सव आदि के लिए बेलगोल, अर्हनहल्लि, होसाहल्लि, जिननाथपुर, वास्तिग्राम, रायनहल्लि, उत्तनहल्लि, जिनमहल्लि, कोप्पल आदि को दान साक्षी पूर्वक दिया। लेख में दान की तिथि शक वर्ष 1621 (1699 ई.) शोभकृत संवत्सर लिखी है, किन्तु कुछ विद्वानों का कहना है कि यह शक वर्ष 1646 अर्थात् 1724 ई. होना चाहिए। कृष्णराज ने बेलगोल नगर की, जो दक्षिणकाशी भी कहलाता था, विन्ध्यगिरि पर स्थापित भगवान् गोम्मटेश के चरणकमलों की भक्तिपूर्वक पूजा-वन्दना

की थी तथा इस स्थान के अन्य मन्दिरों के भी दर्शन किये थे। इस नरेश ने इस पुण्यतीर्थ को जो सनदें दी थीं वे कालान्तर में मैसूर के राजाओं द्वारा मान्य की गयीं।

लगभग 1550 से 1750 ई. के मध्य की दो शताब्दियों में विभिन्न वर्षों में लगभग तीस-चालीस यात्रा संघों के श्रवणबेलगोल पर आने के उल्लेख वहाँ के शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। इनमें से अनेक यात्री उत्तरभारत के राजस्थान, उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश आदि स्थानों से भी आये थे। कई बार ये उत्तरभारतीय संघ अपने भट्टारक गुरुओं के नेतृत्व में भी यहाँ यात्राये आये थे।

आधुनिक युग : देशी राज्य

(लगभग 1757 से 1947 ई.)

मैसूर

1760-67 ई. में राजमन्त्री नंजराज के आश्रित हैदरअली नामक सिपाही ने, जो बढ़ते-बढ़ते राज्य का सेनापति बन गया था, मैसूर राज्य पर स्वयं अपना अधिकार कर लिया था। उसका और उसके पुत्र टीपू सुल्तान का सारा जीवन अँगरेजों के साथ युद्ध करते ही बीता। इस सुल्तानी राज्य को 1801 ई. में अँगरेजों ने समाप्त किया और पुराने राज्यवंश के राजकुमार इम्मडि कृष्णराज ओडेयर की गद्दी सौंप दी। राज्य की शक्ति, सम्पत्ति और क्षेत्र भी सीमित कर दिये गये थे। धर्मस्थल के जैन प्रमुख कोमार हेग्गडे ने इस नरेश के सम्मुख उपस्थित होकर पूर्ववर्ती कृष्णराज ओडेयर की सनद पेश की और प्रार्थना की कि जो ग्रामादि पूर्वकाल में बेलगोल की दानशाला के लिए दिये गये थे और बीच के अन्तराल में जल कर लिये गये थे, उनके लिए पुनः सनद जारी कर दी जाए। अस्तु, मार्च 28, 1810 ई. के दिन राजमन्त्री पर्णिया ने राजा की अनुमति से उपर्युक्त आशय की नवीन सनद जारी कर दी। इस नरेश के पौत्र और चामराज के पुत्र कृष्णराज ओडेयर के समय में अगस्त 9, 1830 ई. को श्रवणबेलगोल के पीठाधीश तत्कालीन चारुकीर्ति पण्डिताचार्य को राज्य की ओर से एक नवीन विस्तृत सनद प्रदान की गयी, जिसमें समस्त पूर्व प्रदत्त भूमियों, दानों आदि की पुष्टि की गयी थी। इसी नरेश ने 1828 ई. के लगभग श्रीवत्सगोत्रीय शान्तपण्डित के पुत्र की प्रार्थना पर कैलसूर के जिनमन्दिर का नवीनीकरण किया, उसे चित्रांकनों अथवा भित्तिचित्रादि से सज्जित किया और उसमें तीर्थंकर चन्द्रप्रभु, विजयदेव (पार्श्व) और ज्योतिर्नोदेवी की प्रतिमाएँ पुनः प्रतिष्ठित करायीं थीं। जब यही नरेश मैसूर के अपने रत्नजटित सिंहासन पर बैठा हुआ शासन कर रहा था तो 1829 ई. में राज्य का एक प्रसिद्ध गजराज जंगल में भाग गया। कोई भी उसे पकड़कर नहीं ला पा रहा था। तब जैन धर्मानुयायी देवनकोटे के अमलदार शान्तय्य के वीरपुत्र देवचन्द ने यह कार्य सम्पादन करके महाराज से एक गाँव की भूमि पुरस्कारस्वरूप प्राप्त की थी।

राजा देवराज अरसु—चामुण्डराय के वंशज, काश्यपगोत्री, बिलिकेर के अनन्तराज अरसु (राजा) के प्रपौत्र, तोट के राज देवराज के पौत्र और सत्यमंगल के शासक चतुर्वैअरसु के पुत्र तथा मैसूर नरेश महाराज (इम्मडि) कृष्णराज ओडेवर के प्रधान अंगरक्षक यह राजा देवराज अरसु दुर्धर्ष सम्पन्नविजयी, उद्भट सभा-विजेता, विद्यारसिक, विद्वान्, धर्मज्ञ, सदाचारी, धर्मात्मा और राज्यमान्य वीर थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में वह राज्यसेवा से अवकाश लेकर श्रवणबेलगोल में भगवान् गोम्मटेश के चरणों में रहने लगे थे। वहीं उन्होंने अपने प्रसिद्ध दार्शनिक ग्रन्थ 'आत्मतत्त्वपरीक्षण' की संस्कृत भाषा में रचना की थी और उसी पुण्य भूमि में शक 1748 सन् 1826 ई. की फाल्गुन कृष्ण पंचमी रविवार के दिन, जबकि गोम्मटस्वामी का द्वादशवर्षीय महामस्तकाभिषेक हो रहा था, वह स्वर्गस्थ हुए। इस उपलक्ष्य में उनके पुत्र पुट्ट देवराज अरसु ने गोम्मटस्वामी की वार्षिक षाढपूजा के लिए एक सौ बारह (स्वर्णमुद्रा) भेंट की थी। गोम्मटस्वामी के आवधिक महामस्तकाभिषेक को मैसूर के राजे सदैव से अपना एक महान् राजकीय उत्सव एवं मेला मानते रहे हैं। उसमें बहुधा स्वयं भी उपस्थित हुए हैं और राज्य की ओर से सर्व प्रकार सहयोग-सहायता, सुविधा आदि तो प्राप्त होते ही रहे हैं।

महारानी रम्भा—पूर्वोक्त मैसूर नरेश कृष्णराज के पुत्र एवं उत्तराधिकारी महाराज चामराज की महिषी थी। वह बड़ी विदुषी, इतिहास की रसिक, विद्वानों की प्रश्रयदाता और जैनधर्म की पोषक थी। पण्डित देवचन्द्र ने अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'राजावलिकवे' इसी महारानी को 1841 ई. में समर्पित किया था।

देवचन्द्र पण्डित—19वीं शती के पूर्वार्ध में मैसूर राज्य के प्रसिद्ध विद्वान् जैन पण्डित थे। इतिहास इनका प्रिय विषय था। वह राज्य में करणिक (लेखाधिकारी या एकाउण्टेण्ट) के पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके पितामह का नाम भी देवचन्द्र था और पिता का नाम देवप्प था। पद्मराज और चन्द्रपार्य इनके दो सहोदर थे। देवचन्द्र पण्डित कनकपुर (मलेयूर) के निवासी थे और कनकगिरि के भगवान् पार्श्वनाथ इनकी कुलदेवता थे। अंगरेज विद्वान् कर्नल मेकेन्जी जब 1804 ई. में लक्ष्मणराव के साथ कनकगिरि का सर्वेक्षण करने आया था तो यह देवचन्द्र उसके सम्पर्क में आये और उन्होंने कर्नल को स्वरचित 'पूज्यपादचरिते' की प्रति भेंट की। वह इनकी विद्वत्ता एवं बहुविज्ञता से इतना प्रभावित हुआ कि उसने राजा से उन्हें अपने सहयोगी एवं सहायक के रूप में माँग लिया। अतः इतिहास में वह 'कर्नल मेकेन्जी के पण्डित' के नाम से प्रसिद्ध हुए। सुप्रसिद्ध 'मेकेन्जी कलेक्शन्स' (मेकेन्जी संग्रह) के संकलन एवं निर्माण में इनका प्रभूत योगदान था, प्रायः वैसा ही जैसा कि उसी काल में राजस्थान में कर्नल जेम्सटाड के सहायक जैन यति ज्ञानचन्द का था। इन्हीं देवचन्द्र ने 1838 ई. में अपनी जन्मभूमि मलेयूर में पवित्र कनकगिरि पहाड़ी स्थित चन्द्रप्रभवस्तदि के पश्चिम ओर की शिला पर अपने पूर्वजों की वंशावली उत्कीर्ण

करायी थी। मैसूर नरेश मुम्मूडि कृष्णराज ओडेयर के आश्रित वैद्यसूरि पण्डित की प्रेरणा से इन्होंने कन्नड़ी भाषा का अपना प्रसिद्ध इतिहास ग्रन्थ 'राजावलिकवे' लिखना प्रारम्भ किया और 1841 ई. में महारानी रम्भा को समर्पित किया था। दक्षिण देश में प्रचलित शक संवत् को विक्रम संवत् मानकर महावीर निर्वाण संवत् के वर्षों में 135 की वृद्धि करनेवाली मान्यता के प्रमुख पोषकों में यह देवचन्द्र पण्डित भी थे।

1856 ई. में श्रवणबेलगोल के मठ में मठाधीश चारुकीर्ति गुरु की अन्तेवासी सन्मति सागर वर्णी ने धर्मेन्द्र शास्त्री द्वारा तीर्थंकर अनन्तनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी, जैसा कि उक्त प्रतिमा के प्रभामण्डल की पीठ पर अंकित लेख से प्रकट है। उक्त वर्णीजी ने 1858 ई. में तंजोरनिवासी श्रावकों आदिनाथ एवं गोपाल से बाहुबलि की एक प्रतिमा, वहीं के श्रावक पेरुमाल से पंचपरमेष्ठि की प्रतिमा, श्रावक शन्तिरण्या से चौदह तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ आदि प्रतिष्ठित करायी थीं।

कुमार वीरप्य—पैनगोंडा के सेनसंघाचार्य लक्ष्मीसेन के गृहस्थ-शिष्य, यिदगूर के पट्टणसेट्टि (नगरसेठ) वीरप्य का पौत्र और अन्नय्य सेठ का पुत्र कुमार वीरप्य हजूर-भोलीखाने (मैसूरनरेश के मुक्ताभण्डार) का अध्यक्ष था। उसका छोटा भाई तिमप्प था। इन दोनों भाइयों ने 1878 ई. में शालिग्राम में एक नवीन जिनालय बनवाकर उसमें भगवान् अनन्तनाथ की प्रतिष्ठापना की थी।

उदयपुर (मेवाड़)

मेहता अगरचन्द बच्छावत—मेवाड़ोद्धारक भामाशाह बीकानेर के प्रसिद्ध मन्त्री कर्मचन्द बच्छावत के समधी थे। उनकी पुत्री कर्मचन्द के एक पुत्र के साथ विवाही थी। जब बीकानेर में बच्छावतों का संहार हुआ तो वह अपने मायके उदयपुर में थी और उसके पुत्र भोजराज की पत्नी अपने मायके किशनगढ़ में थी। भोजराज का पुत्र भाण था जो अपनी पितामही के पास उदयपुर चला आया। उसका पुत्र जीवराज हुआ जिसका पुत्र लालचन्द था। इसका प्रपौत्र पृथ्वीराज हुआ जिसके अगरचन्द और हंसराज नाम के दो पुत्र हुए। यह दोनों भाई उदयपुरराज्य में उच्च पदों पर प्रतिष्ठित हुए। राणा अरिसिंह द्वितीय ने अगरचन्द बच्छावत को माण्डलगढ़ का दुर्गपाल तथा उस जिले का शासनाधिकारी भी नियुक्त किया। उसके वंशज भी उस महत्त्वपूर्ण दुर्ग के क्रमागत किलेदार होते रहे। किन्तु वह स्वयं उक्त पद से उन्मत्ति करते-करते राणा का एक प्रमुख मन्त्री बन गया। सिन्धिया के साथ हुए राणा के युद्ध में अगरचन्द ने भाग लिया, घायल हुआ और मराठों के हाथों बन्दी हुआ, किन्तु अपने हिन्दू बावरी लोगों की चतुराई से उस कैद से निकल भागा। सिन्धिया ने जब उदयपुर का घेरा डाला तब भी वह राणा के साथ युद्ध में सबसे आगे था।

अन्य अनेक युद्धों में उसने भाग लिया और अपनी शूरवीरता का परिचय दिया। अरिसिंह द्वितीय के उत्तराधिकारी राणा हमीरसिंह द्वितीय के राज्यकाल में आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार के संकटों के बीच राज्य की परिस्थिति बड़ी विकट हो गयी थी। उसके सँभालने में अंगरघन्द बच्छावत का प्रशंसनीय योग रहा। हमीरसिंह के उत्तराधिकारी राणा भीमसिंह के समय में तो वह राज्य का प्रधान बन गया था। लगभग आधी शती पर्यन्त राज्य की और उसके तीन नरेशों की निष्ठापूर्वक सेवा करके अच्छी वृद्धावस्था में यह कुशल राजनीतिज्ञ, प्रचण्ड युद्धवीर और स्वामिभक्त राजपुरुष 1800 ई. में स्वर्गस्थ हुआ। कहते हैं कि मृत्यु के कुछ पूर्व उसके पुत्र देवीचन्द ने अपने रहने के लिए एक सुन्दर आलीशान महल बनवाना शुरू किया था। मेहता की जब यह सूचना मिली तो तुरन्त पुत्र को पत्र लिखा कि “बेटा सच्चे शूरवीर तो रण क्षेत्र में क्रीड़ा किया करते हैं, वहीं क्षयन करते हैं, तब तुमने यह विपरीत मार्ग क्यों अपनाया? क्या तुम्हारे हृदय में अपने वीर पूर्वजों की भाँति जीने और मरने की झींस नहीं है? यदि तुम उनका अनुकरण करना चाहते हो और स्वदेश की प्रतिष्ठा बनाये रखने के इच्छुक हो तो इस महल का त्याग कर दो। घोड़े की पीठ पर बैठे-बैठे रोटी खाओ और नौद आये तो घोड़े की जीन पर ही सोने की आदत डालो, तभी तुम अपनी कीर्ति की रक्षा कर सकोगे। हमारे पुरखों का पुरातन काल से यही ढंग रहता चला आया है” ऐसा उद्बोधन एक सच्चा कर्मठ वीरपुरुष ही दे सकता है।

मेहता देवीचन्द—अंगरघन्द बच्छावत का ज्येष्ठ पुत्र था और उसकी मृत्यु के उपरान्त राजमन्त्री तथा जहाजपुर दुर्ग का शासक नियुक्त हुआ। कुछ दिन वह प्रधान भी रहा। उस युग में राजस्थान के राजपूत राज्यों में पेशवाओं के मराठे सरदार बड़ा हस्तक्षेप कर रहे थे, निरन्तर कूटनीतिज्ञ दौवपेंच और छुटपुट युद्ध होते रहते थे। ऐसे ही एक चक्कर में शक्तावतों के सहायक मराठा बालेराव ने देवीचन्द को चूड़ावतों का पक्षपाती मानकर पकड़ लिया और बन्दीगृह में डाल दिया। राणा भीमसिंह ने यह सूचना पाते ही उसे छुड़ा लिया, क्योंकि उस समय प्रधान या राजमन्त्री पद पर न होते हुए भी वह स्वामिभक्त वीर था और राणा उसका बहुत आदर एवं विश्वास करता था। एक बार जालिमसिंह झाला और मराठों के आगे विवश होकर राणा ने माण्डलगढ़ दुर्ग झाला के नाम लिख तो दिया, किन्तु साथ ही एक डाल और तलवार देकर एक सवार को तुरन्त दुर्गपाल मेहता देवीचन्द के पास माण्डलगढ़ भी भेज दिया। मेहता समझ गया कि राणा ने दबाव में आकर तो दुर्ग को उन लोगों को सौंप देने की लिखित आज्ञा दी है, किन्तु डाल और तलवार भेजकर अपनी वास्तविक इच्छा का भी संकेत कर दिया कि मुद्ध किया जाए। अतएव देवीचन्द ने दुर्ग की रक्षा एवं सम्भावित युद्ध की पूरी तैयारी कर ली और दुर्ग को हाथ से न निकलने दिया। झाला सरदार विफलमनोरथ हुआ। जब 1820 ई. के लगभग कर्नल टाड ने

अँगरेज कम्पनी के प्रतिनिधियों के साथ में आकर उदयपुर की सीमा पर व्यवस्था की। तब तो देवीचन्द बच्छावत को पुनः राज्य का प्रधान बनाया गया। किन्तु दोहरे प्रबन्ध से सन्तुष्ट नहीं होने से उसने त्यागपत्र दे दिया था।

मेहता शेरसिंह—अगरचन्द बच्छावत का पौत्र, देवीचन्द का भतीजा और सीताराम का पुत्र था, राणा जवानसिंह ने उसे अपना प्रधान बनाया था, किन्तु एक वर्ष पश्चात् ही उसके स्थान में मेहता रामसिंह को उस पद पर नियुक्त कर दिया गया, क्योंकि शेरसिंह राज्य की आर्थिक स्थिति नहीं सुधार सका था। शेरसिंह को 1831 ई. में पुनः प्रधान बनाया गया। किन्तु इस बार भी इस पद पर वह अधिक समय नहीं रह सका। जवानसिंह की मृत्यु हो गयी थी और उसके उत्तराधिकारी राणा सरदारसिंह ने मेहता शेरसिंह को पदच्युत करके बन्दीगृह में डाल दिया, क्योंकि उसपर अन्य राजकुमारों के साथ मिलकर इस राणा के विरुद्ध षड्यन्त्र करने का सन्देह था। कैद में भी उसके साथ कठोर व्यवहार किया गया था। अँगरेज पोलिटिकल एजेंट की सिफारिश भी काम न आयी। अन्ततः दस लाख रुपये देने का वचन देकर मुक्त हुआ और प्राणरक्षा के लिए जोधपुर चला गया। सरदारसिंह के उत्तराधिकारी राणा सरूपसिंह ने 1844 ई. में मेहता को मारवाड़ से बुलाकर पुनः उदयपुर राज्य का प्रधान बनाया। उसी वर्ष राणा ने शासन प्रबन्ध के सम्बन्ध में पोलिटिकल एजेंट से जो इकरारनामा किया था उसपर राज्य के अन्य प्रमुख उमरावों के साथ मेहता शेरसिंह के भी हस्ताक्षर हैं। शेरसिंह का पुत्र जालिमसिंह, जो देवीचन्द के मझले भाई उदयराम की गोद था, इस समय राज्य की सेवा में नियुक्त हो चुका था। राणा ने 1847 ई. में उसे लावागढ़ पर अधिकार करने के लिए भेजा था, किन्तु वह असफल रहा तो स्वयं शेरसिंह ने जाकर उसपर अधिकार किया और विद्रोहियों के सरदार चतरसिंह को बन्दी के रूप में लाकर राणा के सामने उपस्थित किया। राणा ने प्रसन्न होकर खिलअत, बीड़ा, ताजीम का अधिकार आदि से पुरस्कृत किया। इस राणा की इच्छापूर्ति के लिए अँगरेजों से लिखापट्टी करके मेहता ने सरूपसाही रुपया भी चलावाया। शेरसिंह के ज्येष्ठ पुत्र मेहता सवाईसिंह ने राणा के लिए 1850 और 1855 ई. में विद्रोही भीलों का दमन किया था। शेरसिंह के पौत्र अजीतसिंह ने 1851 ई. में सरकारी डाक को लूट लेने के अपराधी भीनों से युद्ध किया। अजीतसिंह उस समय जहाजपुर का किलेदार था। स्वातन्त्र्य संग्राम (1857 ई.) में राणा ने अँगरेजों का पक्ष लिया था और प्रधान शेरसिंह को पोलिटिकल एजेंट की सहायताार्थ उसके साथ लगा दिया था, किन्तु स्वयं मेहता से असन्तुष्ट ही रहा, विशेषकर उसके स्वाभिमानी स्वभाव एवं स्पष्टोक्तियों के कारण। अतएव उसने 1860 ई. में अँगरेज एजेंट के विरोध करने पर भी शेरसिंह की जागीर खत्म कर ली और जुर्माना लगा दिया था, किन्तु उसे ये आज्ञाएँ वापस लेनी पड़ीं। सरूपसिंह के उत्तराधिकारी बालक राणा शम्भूसिंह की रीजेन्सी कौंसिल का सदस्य शेरसिंह ही

था। नये राणा से भी उसकी नहीं पटी। इसी प्रकार चलता रहा और कुछ ही समय पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी।

मेहता गोकुलचन्द—मेहता देवीचन्द का पौत्र और सरूपचन्द का पुत्र था। प्रारम्भ में राणा सरूपसिंह ने उसके चचा शेरसिंह को हटाकर इसे प्रधान बनाया था और 1859 ई. तक वह उस पद पर रहा। जब राणा शम्भूसिंह के समय में 1863 ई. में राणा सन्निमाख्वास का राजा तो गोकुलचन्द को तब तक प्रधान था। माण्डलगढ़ की किलेदारी तो इस वंश की कुल-क्रमागत थी, जब-जब और कोई पद या कार्य न होता तो इस वंश के लोग माण्डलगढ़ ही चले जाते थे। ऐसा ही 1866 ई. में गोकुलचन्द ने किया, किन्तु 1869 ई. में राणा ने उसे बुलाकर अपना प्रधान नियुक्त किया और उस पद पर 1874-75 ई. तक रहा। तदनन्तर माण्डलगढ़ चला गया और वहीं उसकी मृत्यु हुई।

मेहता पन्नालाल—अगरचन्द बच्छावत के छोटे भाई हंसराज के ज्येष्ठ पुत्र दीपचन्द का प्रपौत्र था। खास कचहरी के नायब से उन्नति करके वह 1869 ई. में राणा शम्भूसिंह के समय महकमे खास का सचिव बना, जिसके अधिकार और कर्तव्य प्रायः वही थे जो पूर्वकाल में प्रधान के होते थे। प्रधान का पद अब समाप्त कर दिया गया था। किन्तु उसने अनेक शत्रु पैदा कर लिये थे, जिनकी शिकायतों पर विश्वास करके राणा ने 1874 ई. में उसे कुछ समय के लिए कर्णविलास महल में कैद भी कर दिया था। राणा की दाहक्रिया के समय मेहता की हत्या का भी प्रयत्न हुआ। अतएव वह उदयपुर को छोड़कर अजमेर चला गया। नये राणा सज्जनसिंह ने 1875 ई. में उसे अजमेर से बुलाकर फिर से महकमाखास का कार्य सौंप दिया। लार्ड लिटन के 1877 ई. के दिल्ली दरबार में मेहता पन्नालाल को 'राय' का खिताब मिला और 1880 ई. में वह महाराजसभा का सदस्य बना। सज्जनसिंह के राज्यकाल के अन्त तक वह राज्य का प्रधान (महकमेखास का सैक्रेटरी) बना रहा और उसके उत्तराधिकारी राणा फतहसिंह को गद्दी पर बैठाने में उसका पूरा हाथ था। इस राणा के राज्यारम्भ में ही 1887 ई. में मलका विक्टोरिया की जुबिली के अवसर पर मेहता पन्नालाल को सी.आई.ई. उपाधि प्रदान की गयी। तीर्थयात्रा के विचार से 1894 ई. में उसने राज्यसेवा से अवकाश लिया और कुछ वर्ष पश्चात् उसकी मृत्यु हो गयी। उसकी कार्यकुशलता एवं व्यवहार से राजा-प्रजा, सामन्त-सरदार और जंगरेज अधिकारी सभी प्रायः सन्तुष्ट रहे। पन्नालाल का पुत्र फतेलाल राणा फतहसिंह का कुछ काल तक विश्वासपात्र रहा, और फतेलाल का पुत्र देवीलाल महकमा देवस्थान का अध्यक्ष भी रहा। इस प्रकार उदयपुर के बच्छावत वंश के अनेक पुरुषों ने मेवाड़ राज्य की प्रशंसनीय सेवा की। उनमें से जो अत्युच्च पद पर पहुँचे और विशेष उल्लेखनीय थे, उन्हीं का परिचय दिया गया है।

सोमचन्द गौधी—1768 ई. में राणा भीमसिंह गद्दी पर बैठे और तदनन्तर

चूड़ावत सरदारों ने उसको अपने कब्जे में कर लिया। जब राणा को द्रव्य की आवश्यकता होती तो कांष में नहीं है, यह कहकर मना कर देते थे। राजमाता ने राणा का जन्मोत्सव मनाने के लिए रुपया माँगा तो उसे भी यही उत्तर दे दिया। इसपर सोमचन्द गाँधी ने, जो अन्तःपुर की ड्योढ़ी पर काम करता था, राजमाता से कहा कि यदि उसे प्रधान बना दिया जाए तो सब प्रबन्ध कर देगा। अतएव उसे राज्य का प्रधान बना दिया गया। वह बहुत कुशल और चतुर था। उसने चूड़ावतों के शत्रु शक्तावतों और झाला सरदार को अपनी ओर मिला लिया और राणा पर चूड़ावतों का प्रभाव समाप्त करने में सफल हुआ। जयपुर और जोधपुर के नरेशों को उसने मराठों के विरुद्ध भड़काकर उनकी सहायता से 1787 ई. में तालसोठ के युद्ध में मराठों को पराजित किया। किन्तु 24 अक्टूबर 1789 ई. में कातिपय विद्रोही सरदारों ने सोमचन्द को सज्जिपुर में ही हत्या कर दी। इस प्रकार इस राजनिष्ठ, लोकप्रिय, दूरदर्शी और नीतिकुशल मन्त्री सोमचन्द गाँधी का अन्त हुआ। उसके भाई सतीदास और शिवदास इस घटना का समाचार मिलते ही राणा के पास शिकायत करने गये। राणा सोमचन्द के हत्यारे रावत अर्जुनसिंह को कोई दण्ड तो नहीं दे सका, किन्तु उसे बुरा-भला कहकर अपने सामने से हटा दिया। राणा की आज्ञा से सोमचन्द का दाहकर्म पीछोले की बड़ी पाल पर किया गया और वहाँ उसकी छत्री बनायी गयी।

सतीदास और शिवदास गाँधी—सोमचन्द की मृत्यु के उपरान्त राणा ने उसके भाई सतीदास गाँधी को प्रधान बनाया और शिवदास उसके सहायक के पद पर नियुक्त हुआ। इन्होंने अपने भाई का बदला लेने का संकल्प किया। सतीदास ने अपने सहायक भीडर के सामन्त की सेना लेकर उक्त रावत और चूड़ावतों की सेना के साथ अकोला में भीषण युद्ध किया, शत्रुओं को पराजित किया और सोमचन्द के हत्यारे रावत अर्जुनसिंह को पकड़कर मार डाला।

मेहता मालदास ड्योढ़ीवाल—राणा उदयसिंह के मन्त्री मेहता मेधराज ड्योढ़ीवाल की चौथी या पाँचवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुआ था। मराठों को 1787 ई. में तालसोठ के युद्ध में पराजित करके राज्य के प्रधान सोमचन्द गाँधी ने मेहता मालदास को मेवाड़ और कोटा की संयुक्त सेना का अध्यक्ष बनाकर मराठों के विरुद्ध भेजा। मालदास ने वीरता एवं कुशलतापूर्वक कई युद्धों में मराठों को पराजित करके उन्हें मेवाड़ की सीमा से बाहर निकाल दिया। इसपर अहल्याबाई होल्कर और सिन्धिया की सेनाओं ने मेवाड़ पर चढ़ाई की तो उनके विरुद्ध अभियान में मालदास को ही पुनः सेना का अध्यक्ष बनाया गया। उस समय वह राज्य का प्रधान भी बन गया था, किन्तु 1788 ई. के मराठों के साथ हुए इस भीषण युद्ध में उसने वीरगति पायी। कर्नल टाड के अनुसार यह प्रधान मेहता मालदास और उसका नायब मौजीराम दोनों बुद्धिमान् और वीर थे। सम्भवतया मौजीराम भी जैन था।

मेहता नाथजी—इसके पूर्वज मूलतः सोलंकी राजपूत थे जो 11वीं शती के लगभग जैनधर्म अंगीकार करके भण्डसालीगोत्री ओसवाल हुए। इस वंश में थिरुशाह भण्डसाली प्रसिद्ध हुआ। उसके एक वंशज चीलजी को महत्वपूर्ण राज्यसेवा के उपलक्ष्य में मेहता की पदवी मिली। उसका वंशज जालजी मेहता राजा हमीर की रानी का कामदार (निजी सचिव) था और उसके मायके से ही उसके साथ आया था। यहाँ आकर उसने और उसके वंशजों ने राज्य की बड़ी सेवा की और पुरस्कार स्वरूप जागीरें भी मिलीं जो वंश में परम्परागत चलती रही। नाथजी मेहता उदयपुर के निकटस्थ देवाली गाँव में रहता था जहाँ से वह कोटा चला गया और वहाँ के राजा की सेवा में रहते हुए कोटाराज्य से कुछ भूमियाँ, कुएँ आदि प्राप्त किये। तदनन्तर 1850 ई. के लगभग वह उदयपुर राज्य के माण्डलगढ़ दुर्ग में चला आया और दुर्गरक्षक सेना का अधिकारी हुआ तथा नवलपुरा ग्राम जागीर में पाया। दुर्ग की कोट पर उसने एक दुर्ग बनवायी थी जो नाथबुर्ज कहलाती है और दुर्ग में एक जिनमन्दिर भी बनवाया था। नाथजी बड़ा वीर और साहसी था और अनेक युद्धों में उसने भाग लिया था।

मेहता लक्ष्मीचन्द—नाथजी का वीर पुत्र और सम्भवतया माण्डलगढ़ में उसका सहायक, तदनन्तर उत्तराधिकारी रहा। अपने पिता के साथ उसने कई युद्धों में भाग लिया था और अन्त में खासगढ़ के युद्ध (घाटे) में वीरगति पायी थी।

मेहता जोरावरसिंह और जवानसिंह—मेहता लक्ष्मीचन्द की मृत्यु के समय उसके नन्हे बालक पुत्र थे। घर में धनाभाव था किन्तु उनकी माता बड़ी बुद्धिमती, कर्मठ और स्वाभिमानिनी थी। उसके भाई ने बहन और भानजों को अपने घर ले जाने का आग्रह किया तो उस वीरपत्नी ने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि यहाँ अपने घर रहने पर तो उसके पुत्र अपने पिता के नाम से पुकारे जाएँगे और मामा के घर रहने से 'अमुक के भानजे हैं' इस रूप में पुकारे जाएँगे जो उसके श्वसुर के कुल-गौरव के विपरीत होगा। बड़ा कष्ट उठाकर उसने अपने पुत्रों का पालन-पोषण किया और बड़े होकर वे राज्यसेवा में नियुक्त हुए। जोरावरसिंह तो उदयपुर के दीवान मेहता रामसिंह की नाराजगी के कारण ब्यावर चला गया, वहीं उसकी मृत्यु हो गयी, उसका अनुज जवानसिंह बड़ा बुद्धिमान् और पुरुषार्थी था। राज्यसेवा में उसने प्रभूत उन्नति की। कहते हैं कि दस-बीस व्यक्तियों को साथ लिये बिना उसने कभी भोजन नहीं किया। कई राजपूत सरदार उसके साथ रहते थे। राजा से भी उसने कई बार सिरोपाव आदि प्राप्त किये थे और अपनी नवलपुरा की पैतृक जागीर भी, जो बीच में जप्त हो गयी थी, पुनः प्राप्त कर ली। वह माण्डलगढ़ में अपने पैतृक पद पर प्रतिष्ठित था। एक बार उसने अनेक सशस्त्र डाकुओं को उनकी बनी में जाकर और भीषण युद्ध करके अकेले ही कुचल दिया था। मात्र 39 वर्ष

की आयु में इस वीर की मृत्यु हो गयी। उसके पुत्र चत्रसिंह और कृष्णलाल भी साहसी थे, किन्तु धार्मिक प्रवृत्ति के सज्जन थे।

मेहता चत्रसिंह—भक्त और धर्मात्मा माने जाते थे। राणा शम्भूसिंह ने उन्हें मेवाड़ के प्रसिद्ध एकलिंगजी-मन्दिर का दारोगा नियुक्त किया था, जिसके लिए उन्हें 90 रुपये मासिक वेतन, निःशुल्क हथेली और सवारी के लिए घोड़ा मिला था। किन्तु देवद्रव्य समझकर उन्होंने वेतन का एक पैसा भी नहीं लिया। शम्भूसिंह की मृत्यु के उपरान्त ये विधवा रानी के कामदार नियुक्त हो गये। राज्य में इनकी पर्याप्त प्रतिष्ठा थी। इनकी मृत्यु 1916 ई. में हुई।

इस प्रकार मेवाड़ (उदयपुर) राज्य में राणा फतहसिंह (मृत्यु 1931 ई.) के समय तक अनेक राजमन्त्री और उच्च पदस्थ कर्मचारी जैनी होते रहे और उदयपुर के नगर सेठ भी प्रायः जैनी ही होते रहे।

जोधपुर राज्य

राव सूरतराम—सुप्रसिद्ध मुहानोत नैणसी के प्रपौत्र, करमसी के पौत्र और मेहता संग्रामसिंह के पुत्र भगवन्तसिंह के पुत्र थे तथा नागीर नरेश बख्तसिंह के फौज-बख्शी थे। जब 1751 ई. में बख्तसिंह (विजयसिंह) को जोधपुर का सिंहासन भी मिला गया तो यह उसके साथ जोधपुर चले आये और उस उपलक्ष्य में इन्हें दो ग्राम और तीन हजार रुपये पुरस्कार स्वरूप मिले। वह राज्यसेवा में बराबर बने रहे और 1763 से 1766 ई. तक राज्य के दीवान (प्रधान मन्त्री) रहे। उस काल में राज्य से पन्द्रह हजार रुपये की जागीर और प्राप्त की। इस बीच 1765 ई. में इन्होंने मराठा सरदार खाजू के साथ युद्ध करके उसे पराजित किया और उसकी सैन्य-सामग्री को लूट लिया। दीवानगिरी से अवकाश प्राप्त कर लेने पर भी राव सूरतराम की प्रतिष्ठा पूर्ववत् बनी रही और 1773 ई. में इन्हें मुसाहिबी का अधिकार, 'राव' की पदवी, हाथी, पालकी और शिरोपाव तथा 21000 रुपये की अन्य जागीर राज्य से प्राप्त हुए। अगले वर्ष इनकी मृत्यु हो गयी।

मेहता सवाईराम—राव सूरतराम के पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरान्त 1774 ई. में इन्हें पिता के समस्त अधिकार, मुसाहिबी तथा जागीरों के पट्टे आदि मिले, जिनका इन्होंने 1792 ई. पर्यन्त उपभोग किया। ज्ञानमल, सवाईकरण, शुभकरण और फतहकरण नाम के उनके चार छोटे भाई थे।

मेहता सरदारमल—मेहता सवाईराम के पुत्र थे और 1799-1800 ई. में जोधपुर राज्य के दीवान रहे तथा 2000 रुपये आय का एक ग्राम जागीर में प्राप्त किया था।

मेहता ज्ञानमल—राव सूरतराम के छोटे पुत्र थे और जोधपुर नरेश विजयसिंह और मानसिंह के दीवान रहे तथा महाराज की ओर से गींगोली के युद्ध में वीरतापूर्वक

लड़े थे। राजा मानसिंह उनका बहुत विश्वास करता था। राजकीय प्रपञ्चों से दूर रहते हुए वह अपना कार्य 1820 ई. में अपनी मृत्युपर्वन्त प्रतिष्ठापूर्वक करते रहे।

मेहता नवलमल—मेहता ज्ञानमल के पुत्र थे और 1804 ई. में इन्होंने अपने राजा के लिए सीरोही को विजय किया था। अल्पावस्था में ही इनकी मृत्यु, अपने पिता के सामने ही, 1819 ई. में हो गयी थी।

मेहता रामदास—मेहता नवलमल का पुत्र था और 1820 ई. में अपने पितामह ज्ञानमल का उत्तराधिकारी हुआ था।

मेहता चैनसिंह—मेहता चैनसिंह भी मुहानोल वंश में ही उत्पन्न हुए थे और रूपनगर नरेश सरदारसिंह के मुख्य दीवान मेहता देवीचन्द के पुत्र या भतीजे थे। यह स्वयं 1796 ई. में कृष्णगढ़ नरेश प्रतापसिंह के मुख्य दीवान बने थे और उसके उत्तराधिकारी कल्याणसिंह के पूरे राज्यकाल में उस पद पर बने रहे। यह ऐसे देशभक्त, स्वामिभक्त, कर्तव्यनिष्ठ और ईमानदार थे कि महाराज प्रतापसिंह कहा करते थे कि 'चैनसिंह बिना सब चोर मुसदी'। इनकी दीवानगिरी के समय में मराठों ने अनेक बार इनके राज्य पर आक्रमण किये, किन्तु इनकी दृढ़ता, वीरता और राजनीति के सम्मुख उन्हें सदैव मुँह की खानी पड़ी। इनकी मृत्यु 1804 ई. में हुई।

गंगाराम भण्डारी—जोधपुर के प्रसिद्ध भण्डारी वंश में उत्पन्न गंगाराम भण्डारी कुशल राजनीतिज्ञ और वीर सेनानी था। वह महाराज विजयसिंह (1752-92 ई.) के राज्यकाल में हुआ था और 1790 ई. में मराठों के साथ हुए मेड़ता के युद्ध में उसने बड़ी वीरता प्रदर्शित की थी।

लक्ष्मीचन्द्र भण्डारी—जोधपुर नरेश भीमसिंह (1792-1803 ई.) के उत्तराधिकारी भानसिंह (1803-43 ई.) के समय में राज्य का दीवान रहा। इसे 2000 रुपये आय की जागीर मिली थी।

पृथ्वीराज भण्डारी—महाराज मानसिंह के समय में जालौर का शासक था।

बहादुरमल भण्डारी—महाराज तख्तसिंह (1843-73 ई.) के समय में राजा और प्रजा के भरसक हितसाधन में वह सदा संलग्न रहता था, इसी से राजा और प्रजा दोनों ही उससे प्रसन्न थे। नमक के ठेके के सम्बन्ध में उसने जो व्यवस्था की थी उससे भारवाड़ की जनता उसकी चिर-उपकृत हुई। इस लोकप्रिय राज्य सुतसदी का सत्तर वर्ष की आयु में 1885 ई. में स्वर्गवास हुआ।

किशनमल भण्डारी—बहादुरमल भण्डारी का पुत्र था और अर्थव्यवस्था में अत्यन्त निपुण था। महाराज तख्तसिंह के समय में ही वह जोधपुर राज्य का कोषाध्यक्ष नियुक्त हो गया और महाराज सरदारसिंह के प्रायः पूरे राज्यकाल में उस पद पर बना रहा। वह अपने समय का बड़ा लोकप्रिय अर्थमन्त्री था।

सिंधवी इन्द्रराज—जोधपुर नरेश मानसिंह अस्थिरचित्त व्यक्ति था। उसके राज्यकाल के प्रायः प्रारम्भ में 1804 ई. में ही जोधपुर राज्य आन्तरिक कलह, फूट

और घड़यन्त्रों में ग्रस्त हो गया। घर की फूट सदैव विनाशकारी सिद्ध हुई है। इस फूट के प्रताप से न जाने कितने घर बिगड़ गये, सम्पन्न प्रतिष्ठित परिवार नष्ट हो गये, शक्तिशाली महाराज्य स्वाहा हो गये और स्वतन्त्र देश पराधीनता की बेड़ियों में जकड़ गये। उदयपुर के राणा भीमसिंह की रूपसी सुशीला राजकुमारी कृष्णा की मैंगनी मानसिंह के पूर्ववर्ती जोधपुर नरेश भीमसिंह के साथ हो गयी थी, किन्तु उसकी मृत्यु हो गयी और जोधपुर के ही एक कुचक्री के प्रयत्न से उस राजकुमारी का सम्बन्ध जयपुर नरेश जगतसिंह के साथ निश्चित हो गया। इसपर उन्हीं कुचक्री सामन्तों ने मानसिंह को भड़काया कि 'सिंह का शिकार क्या स्यार ले जाएगा?' मानसिंह ने जगतसिंह को पत्र लिखा कि वह राजकुमारी के साथ सम्बन्ध तोड़ दे, क्योंकि उसकी मैंगनी जोधपुर नरेश से हो चुकी है, अतएव जोधपुरवाले ही उसे विवाह कर लाएँगे। जगतसिंह ने पत्र की अवहेलना की तो उन्हीं सरदारों के भड़काने से मूर्ख मानसिंह ने सेना लेकर जयपुर पर आक्रमण कर दिया, किन्तु ऐन युद्ध के समय जोधपुर के वे सरदार तथा मानसिंह का कुदुम्भी बीकानेर का राजा भी अपनी-अपनी सेनाओं के साथ जयपुर की सेना में जा मिले। यह देखकर मानसिंह के दुख और आश्चर्य की-सीमा न रही और युद्धक्षेत्र में पीठ दिखा, थोड़े से सरदारों और सैनिकों के साथ वह भागकर बीकानेर पहुँचा। उसका विचार जालौर में शरण लेने का था, किन्तु उसके एक जैन कर्मचारी चैनमल संघवी ने उसे समझाया कि सोचे जोधपुर जाकर राजधानी में ही अपने सिंहासन, राज्य और प्राणों की रक्षा करें, अन्यत्र भटकने से सबसे हाथ धोना पड़ेगा। अतएव जोधपुर ही आकर राजा रक्षा के प्रयत्न में लगा, किन्तु शंकालुचित्त हो उठा था और जो बचे-खुचे विश्वस्त और राज्यभक्त सामन्त-सरदार थे उनपर भी सन्देह करने लगा था। उसने उनमें से भी अनेक को दुर्ग से बाहर निकाल दिया। इन्हीं लोगों में इन्द्रराज सिंघवी भी था जो उसके पूर्ववर्ती दो राजाओं, विजयसिंह और भीमसिंह के समय में भी राजमन्त्री (दीवान) के पद पर रह चुका था। इसी बीच जयपुर नरेश जगतसिंह ने एक बड़ी सेना लेकर जोधपुर पर आक्रमण कर दिया था और राजधानी का घेरा डाल दिया था। जोधपुर के कई सरदार तो पहले ही ससैन्य उसके साथ थे, इन नवागन्तुकों को पाकर वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ, किन्तु यहीं वह धोखा खा गया। इन्द्रराज और उसके साथी अपने राजा द्वारा किये गये अपमान से क्षुब्ध तो हुए, किन्तु वे देशद्रोही नहीं थे। उन्होंने शत्रु-सैन्य में रहकर उसकी समस्त गतिविधि जान ली। जगतसिंह के प्रमुख सहायक अमीरखाँ पिण्डारी को फोड़ लिया और चुपके से एक दिन वहाँ से पलायन कर और कुछ सेना एकत्र करके स्वयं जयपुर पर आक्रमण कर दिया और उसे लूटा। समाचार मिलते ही भौचक्का हुआ जगतसिंह अपने राज्य की रक्षा के लिए दौड़ा। मार्ग में ही इन्द्रराज के दल से भुठभेड़ हुई। जगतसिंह पराजित होकर जयपुर भाग गया और इन्द्रराज उससे जोधपुर राज्य की लूटी हुई सब सम्पत्ति एवं

सामग्री छीनकर विजय-दुन्दुभि बजाता हुआ जोधपुर आया। मानसिंह अपनी भूल पर पछताया, जोधपुर में वीर इन्द्रराज का अपूर्व स्वागत किया, स्वयं दिल खोलकर उसकी छन्दबद्ध प्रभूत प्रशंसा की और उसे मारवाड़ के प्रधान सेनापति पद पर प्रतिष्ठित किया। इस समस्त घटना का एक अत्यन्त दुःखद प्रसंग यह था कि मेवाड़ राज्य की जयपुर-जोधपुर और पिण्डारियों से रक्षा करने के लिए राजकुमारी कृष्णा ने विधवापन करके अपना बलिदान दे दिया। मानसिंह ने अब बीकानेर के राजा से मदद लेने के लिए इन्द्रराज के नेतृत्व में एक बड़ी सेना और अन्य सरदारों को लेकर स्वयं प्रस्थान किया और बापरी के युद्ध में बीकानेर की सेना को पराजित किया। वह राजा भागकर बीकानेर की ओर चला गया तो इन्द्रराज ने उसका वहीं भी पीछा किया और राजनेर में उसे पुनः युद्ध करने पर तथा पराजित करने के बाद सन्धि करने पर विवश किया और युद्ध की क्षतिपूर्ति के रूप में फलौदी परगना तथा दो लाख रुपये उससे वसूल किये। मानसिंह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और उसने राज्य के प्रायः सम्पूर्ण अधिकार इन्द्रराज को ही सौंप दिये। वह कहा करता था—'वैरी मारन मीरख़ाँ, राज काज इन्द्रराज, महतो शरणोनाथ रे, नाथ सँवारे काज।' परन्तु इन्द्रराज के इस उत्कर्ष से उसके पुराने शत्रु अत्यन्त विशुब्ध हुए और उसका नाश करने के षड्यन्त्र करने लगे। अन्ततः महाराज के मुँहलगे अमीरख़ाँ पिण्डारी को भड़काकर उसके पठानों द्वारा किले के भीतर झूठे झगड़े के मिस दिन दहाड़े वीर इन्द्रराज सिंघवी की हत्या करा देने में वे सफल हो गये। इस देशभक्त, स्वामिभक्त, युद्धवीर, कुशल राजनीतिज्ञ, राज्य के सर्वाधिकारी और अपने परमप्रियपात्र राज्यस्तम्भ की 1816 ई. की चैत्र शुक्ल अष्टमी के दिन हुई इस हत्या से महाराज मानसिंह पर वज्रपात हुआ और वह राज्यकार्य से उदासीन हो एकान्तवास करने लगा। काफ़ी समय पश्चात् स्थस्थ हो उसने राज्यकार्य में पुनः मन दिया लगता है, क्योंकि उसका राज्यकाल तो 1843 ई. तक रहा।

धनराज सिंघवी—जयपुर के निकट टोंगा के युद्ध में सिन्धिया को पराजित करके जोधपुर नरेश विजयसिंह के सेनापति भीमराज सिंघवी ने 1787 ई. में अजमेर के मराठा सूबेदार अनवरबेग से अजमेर छीन लिया और उस क्षेत्र पर अपने राजा का अधिकार स्थापित कर दिया था। राजा ने साहसी वीर सेनानी धनराज सिंघवी को, जो सम्भवतया भीमराज का भाई या पुत्र था, अजमेर का सूबेदार नियुक्त किया। मराठों ने अपनी शक्ति संगठित करके 1791 ई. में पुनः मारवाड़ पर भीषण आक्रमण किया और मेड़ता एवं पाटन के घोर युद्धों में मारवाड़ियों को पराजित किया। इसी बीच मराठों के सेनापति डीबोइन ने अजमेर पर आक्रमण करके उसका घेरा डाल दिया। किन्तु वीर धनराज ने डटकर मुकाबला किया और सफलतापूर्वक अजमेर की रक्षा करता रहा। उसके सामने डीबोइन की एक न चली। किन्तु पाटन की पराजय के बाद उसके राजा विजयसिंह ने उसे आदेश भेज दिया कि अजमेर को खाली करके

जोधपुर लौट आए। स्वाभिमानी वीररत्न धनराज ऐसे अप्रतिष्ठाकारक समर्पण के लिए तैयार नहीं हुआ। अन्ततः उसने अपनी अँगूठी के धीरे को चाटकर आत्महत्या कर ली और दम तोड़ने से पूर्व अपने साथियों से चिल्लाकर कहा कि महाराज से जाकर कह दो कि धनराज राजाज्ञा का इसी रूप में पालन कर सकता था, उसके शव के ऊपर ही मराठे अजमेर में प्रवेश कर सकते थे, उसके जीवित रहते नहीं। पूर्वोक्त सिंधवी इन्द्रराज सम्भवतया वीर धनराज सिंधवी का ही पुत्र या निकट सम्बन्धी था।

बीकानेर राज्य

महाराज अपूपसिंह (1669-98 ई.)—यह बीकानेर-नरेश बड़े विद्वानुत्तमी, उदार एवं युद्धवीर थे। इनके समय में खरसरगच्छाचार्य जिनचन्द्रसुरि (1654-1706 ई.) का बीकानेर से बड़ा सम्पर्क रहा और यह नरेश उनका बहुत आदर करते थे। इन दोनों के बीच पत्र-व्यवहार भी होता था। अतएव राज्य में विचार्य और जैनों की उत्तम स्थिति थी। राज्य से जैन गुरुओं आदि को अनेक पट्टे-परवाने आदि भी मिलते रहे हैं।

अमरचन्द सुराना—बीकानेर के एक प्रतिष्ठित ओसवाल कुल में उत्पन्न हुए थे और बीकानेर नरेश सूरतसिंह (1787-1828 ई.) के राज्यकाल में विशेष उत्कर्ष को प्राप्त हुए। महाराज ने 1804 ई. में इन्हें भटनेर के भट्टी सरदार जांबा खी के विरुद्ध सेना देकर भेजा था, अतएव अमरचन्द ने भटनेर पर आक्रमण किया और पाँच मास तक उस दुर्ग का घेरा डाले पड़े रहे। अन्ततः विवश होकर खान ने दुर्ग इन्हें सौंप दिया और अपने साथियों के साथ अन्ध्र चला गया। उनकी इस सफलता से प्रसन्न होकर महाराज ने इन्हें राज्य का दीवान बना दिया। जब 1808 ई. में जोधपुर नरेश के सेनापति इन्द्रराज सिंधवी ने बीकानेर पर आक्रमण किया तो उसका प्रतिरोध करने के लिए सूरतसिंह ने अमरचन्द सुराना के नेतृत्व में सेना भेजी, किन्तु बापरी के उस युद्ध में इन्द्रराज विजयी हुआ। तथापि उक्त दोनों राज्यों में गजनेर में जो सन्धि हुई और जिसके अनुसार उक्त दोनों नरेशों में पूर्ववत् सौहार्द हुआ उसमें दोनों जैन सेनापतियों की उदारशयता एवं दूरदर्शिता ही कार्यकारी हुई थी। अगले चार वर्ष अमरचन्द सुराना बीकानेर राज्य के उन विभिन्न ठाकुरों (सामन्तों) का दमन करने में व्यस्त रहा जो राजाज्ञा की अवहेलना करते थे और राजा की सत्ता की उपेक्षा करते थे। इस कार्य में दीवान ने आवश्यकता से अधिक कठोरता से कार्य लिया। अनेक को मृत्यु के घाट उतारा, अनेक को बन्दीगृह में डाला, अनेक से कड़ा जुर्माना वसूल किया। राजा अवश्य बहुत प्रसन्न हुआ और उसे राजमहल में अपने साथ भोजन करने की प्रतिष्ठा प्रदान की। चूरु के ठाकुर शिवसिंह ने सिर उठाया तो 1815 ई. में राजाज्ञा से अमरचन्द ने जाकर उसकी गद्दी को घेर लिया, उसकी रसद बन्द

कर दी और उसे अन्य प्रकार से प्रस्त किया। स्वाभिमानी ठाकुर ने झुकने के बजाय आत्महत्या कर ली और उसके दुर्ग पर दीवान का अधिकार हुआ। राजा ने प्रसन्न होकर उसे 'राव' की उपाधि, शिरोषाच और हाथी प्रदान करके पुरस्कृत किया। इसके बाद ही अमरचन्द के दुर्भाग्य का आरम्भ हुआ। उसने अनेक शत्रु उत्पन्न कर लिये थे, जिन्होंने एक भारी षड्यन्त्र रचकर उसे अपराधी सिद्ध किया और फलस्वरूप पदच्युत एवं भारी अर्धदण्ड से दण्डित कराया। इतना ही नहीं, 1817 ई. में उसपर यह झूठा आरोप लगाकर कि वह अमीरख़ाँ पिण्डारी से मिलकर राज्य के विरुद्ध षड्यन्त्र कर रहा है, उसे मृत्युदण्ड दिलाया गया।

जैसलमेर राज्य

मेहता स्वरूपसिंह—जैसलमेर के भाटी राजपूत वंश का राजा मूलराज (मूलसिंह) 1761 ई. में गद्दी पर बैठा। उसने जैनधर्मानुयायी मेहता स्वरूपसिंह को अपना प्रधान मन्त्री बनाया। वह राजा का कृपापात्र, साहसी, पराक्रमी, शक्तिशाली, नीतिनिपुण, कुशल मन्त्री था। किन्तु इसी कारण अनेक लोग उससे ईर्ष्या करते थे, उसके शत्रु हो गये और उसका पराभव करने के लिए प्रयत्नशील हो गये। मन्त्री ने युवराज रायसिंह का जेबखर्च नियमित कर दिया तो वह भी उसके शत्रुओं के दल में मिल गया। अन्ततः कुचक्रियों का चक्र चल गया और एक दिन सरे दरबार मेहता की हत्या कर दी गयी। राजा यह देखकर दुख और क्रोध से अधीर हो उठा, किन्तु आततायियों को कोई दण्ड न दे सका, उल्टे उनसे भयभीत होकर महलों में चला गया। अब युवराज और उसके साथी सामन्तों की बन आयी और उन्होंने राजा को ही कारागार में डाल युवराज को गद्दी पर बैठा दिया। किन्तु लगभग तीन मास के उपरान्त ही एक वीर महिला की सहायता से राजा बन्दीगृह से मुक्त हुआ और पुनः अपने सिंहासन पर आरुढ़ हुआ। उसने तत्काल युवराज तथा उसके साथी सामन्तों को राज्य से निर्वासित कर दिया।

मेहता सालिमसिंह—मेहता स्वरूपसिंह का पुत्र था जो अपने पिता की मृत्यु के समय केवल 11 वर्ष का किशोर था, तथापि राजा मूलराज ने पुनः राज्याधिकार प्राप्त करते ही होनहार सालिमसिंह को ही अपना मन्त्री बनाया। अल्प वय में ही सालिमसिंह बड़ा चतुर, साहसी, मितभाषी और नीतिकुशल था। अपने पिता की हत्या को वह नहीं भूला और शत्रुओं से प्रतिशोध लेने के अवसर की ताक में रहने लगा। शत्रु भी उससे चौकन्ने थे। जोधपुर नरेश के राज्याभिषेक के अवसर पर वह अपने राजा की ओर से उसका अभिनन्दन करने के लिए जोधपुर गया था। वापसी में उसके पिता के शत्रुओं ने उसकी हत्या के उद्देश्य से छल से उसे पकड़ लिया, किन्तु अपनी चतुराई के बल पर वह उनके चंगुल से निकल आया और सुरक्षित जैसलमेर जा पहुँचा। फिर भी साम की नीति का प्रयोग करने के लिए उसने निर्वासित सामन्तों

को वापस बुलवाकर राजा मूलराज से उनकी ज़ब्त की गयी जागीरें और अन्य सम्पत्ति पुनः दिलवायी। वे दुष्ट अब भी चुप न बैठे और राजा के पुत्र एवं पौत्रों का पक्ष लेकर राजा के विरुद्ध विद्रोहाग्नि प्रज्वलित करने और मेहता सालिमसिंह को नष्ट करने के लिए षड्यन्त्र रचने लगे। अब मेहता अधिक सहन न कर सका और उसने उक्त शत्रुओं को चुन-चुनकर मौत के घाट उतारकर अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लिया। इसी मन्त्री सालिमसिंह ने राजा मूलराज के अँगरेजों के साथ सन्धि करने का विरोध किया था।

जयपुर राज्य

दीवान रतनचन्द साह—साहगोत्री खण्डेलवाल जैन सदाराम के पुत्र और साह बधीचन्द्र के अनुज थे। यह 1756 ई. से 1768 ई. तक जयपुर राज्य के दीवान रहे। कुशल राजमन्त्री होने के साथ ही साथ यह बड़े धर्मात्मा और विद्यानुरागी थे। आचार्यकल्प पण्डित टोडरमल्लजी इस समय जयपुर में ही निवास करते थे और अपने महान् साहित्य की रचना में संलग्न थे। दीवानजी उनके बड़े भक्त थे और उनके कार्यों के प्रशंसक थे। सन् 1761 ई. में जब पानीपत के रणक्षेत्र में मराठों के भाग्य का निर्णय हो रहा था तो जयपुर राजा के एक मुहल्ले पुरोहित श्याम तिवारी ने बड़ा साम्प्रदायिक उपद्रव मचाया और आमेर एवं जयपुर के कई जिनमन्दिरों को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। उपद्रव की शान्ति पर दीवान रतनचन्द ने आमेर का मन्दिर पुनः बनवाया और जयपुर में एक विशाल मन्दिर अपने भाई बधीचन्द्र के नाम से बनवाया। इस मन्दिर के गुम्बद में स्वर्ण का दर्शनीय काम बना है, शास्त्रभण्डार भी समृद्ध है। यह मन्दिर शुद्धाम्नाय का बड़ा पंचायती मन्दिर है। जब 1764 ई. में पण्डित टोडरमल्लजी भाई रायमल्लजी आदि की प्रेरणा से जयपुर में विशाल पैमाने पर इन्द्रध्वज पूजा-महोत्सव किया गया तो रतनचन्द और उनके साथी एक अन्य जैन दीवान बालचन्द उक्त महोत्सव के अग्रेसर थे। उन्होंने राज्य-दरबार से सब सुविधाएँ और बहुमूल्य सामान भी उत्सव के लिए सुलभ करा दिया था। सम्भव है कि उनके ज्येष्ठ भ्राता बधीचन्द भी कुछ काल दीवान रहे हों।

आरतराम बिन्दूका—नेवटाग्राम के निवासी थे और 1757 ई. से 1778 ई. तक राज्य के दीवान रहे। उन्होंने नेवटा में एक जिनमन्दिर बनवाया था और जयपुर की अपनी हवेली में भी वीत्यालय बनवाया था। उनके पिता का नाम ऋषभदास था।

बालचन्द छाबड़ा—1761 से 1772 ई. तक राज्य के दीवान रहे। यह भी बड़े धर्मप्रेमी थे। श्याम तिवारी के 1761 ई. के उपद्रवों से जिनायतनों की जो लूट-पाट और क्षति हुई थी उसकी पूर्ति इन्होंने प्रयत्नपूर्वक करायी और अगले वर्ष 1762 ई. में राज्य की ओर से राज्य के 33 परगनों के नाम यह आदेश जारी करा दिया कि जैन लोग निश्चिन्तता से अपने मन्दिर बनाएँ, देव-शास्त्र-गुरु की इच्छानुसार पूजा

करें, कोई व्यक्ति किसी प्रकार उसमें बाधक नहीं होगा और मन्दिरों की सम्पत्ति जो कोई लूटकर ले गया हो वह सब उन्हें वापस करा दी जाए। अस्तु, इसके उपरान्त कई नये जिनमन्दिर बने, उत्सव आदि हुए, विशेषकर 1764 ई. का इन्द्रध्वज-पूजोत्सव, जिसमें यह अपने सहयोगी दीवान रतनचन्द के साथ अग्रणी थे। दुर्भाग्य से इन्हीं के समय में किन्तु इनके बिना जाने कतिपय धर्म विद्वेषियों ने 1769-70 ई. में जैन जंगल की विभूति पण्डितप्रवर खेडरसिंह की दुपट्टे से दुर्गिह लेव डे हत्या कर दी। उसका प्रतिकार तो कुछ न हो सका, किन्तु पुनर्निर्माण और उत्सव आदि होते रहे, यथा—1769 ई. में माधोपुर की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा। उसमें भी विद्वेषियों ने लूटमार मचायी। श्याम तिवारी को भी इन्हीं के कहने से राजा ने राज्य से निर्वासित कर दिया बताया जाता है। इनके पूर्व सम्भवतया इनके पिता मौजोराम छाबड़ा भी राज्य के दीवान रहे।

नैनसुख खिन्दूका—मुकुन्ददास खिन्दूका के पुत्र थे और 1757 ई. से 1778 ई. तक राज्य के दीवान रहे प्रतीत होते हैं।

संघी नन्दलाल गोधा—महाराज मानसिंह के महामात्य और मौजभावाद के प्रसिद्ध निर्माता साह नानू के वंशज तथा अनूपचन्द गोधा के पुत्र थे और 1766 ई. से 1771 ई. तक राज्य के दीवान रहे। इन्होंने 1769 ई. में माधोपुर में विशाल बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

जयचन्द साह—दीवान रतनचन्द साह के पुत्र थे और 1767 ई. तक राज्य के दीवान रहे थे।

संघी मोतीराम गोधा—दीवान नन्दलाल गोधा के पुत्र थे और 1768 से 1777 ई. तक राज्य में दीवान रहे। इन्होंने 1769 ई. में राजा पृथ्वीसिंह के राज्य में माधोपुर में महारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

भीरुचन्द छाबड़ा—दीवान किशनचन्द छाबड़ा के पुत्र थे और 1769 ई. से ही राज्य की सेवा में एक उच्च पद पर नियुक्त थे तथा 1798 से 1802 ई. तक दीवान भी रहे। इनकी मृत्यु 1810 ई. में हुई।

जयचन्द छाबड़ा—दीवान बालचन्द छाबड़ा के पाँच पुत्रों में सबसे बड़े थे और 1772 ई. से 1798 ई. तक दीवान रहे। यह बड़े धर्मात्मा एवं प्रभावशाली सज्जन थे।

अमरचन्द सोगानी—भयाराम के पुत्र थे और 1772 ई. से 1777 ई. तक दीवान रहे।

जीवराज संघी—1773 से 1783 ई. तक दीवान रहे।

मोहनराम संघी—जीवराज संघी के पुत्र थे और 1777 ई. से 1780 ई. तक दीवान रहे।

श्याजीलाल पाटनी खिन्दूका—दीवान रतनचन्द साह के पुत्र और दीवान

अमरचन्द के पिता थे। यह 1777 से 1810 ई. तक राज्य के दीवान रहे। बड़े वीर, धर्मात्मा, शास्त्रज्ञ और साहित्यप्रेमी सज्जन थे। जयपुर में मनिहारों के रास्ते का 'बड़े दीवान जी का मन्दिर' इन्हीं के द्वारा 1792 ई. में बनवाया गया था। अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ भी इन्होंने करायी थीं।

गंगाराम महाजन—कालुराम महाजन के पुत्र थे और 1783 से 1788 ई. तक दीवान रहे।

मागचन्द—सीताराम के पुत्र थे और 1785 से 1789 ई. तक दीवान रहे।

भगताराम बगड़ा—सुखराम बगड़ा के पुत्र थे और 1785 से 1828 ई. तक दीवान रहे। यह बड़े उदार सज्जन थे। इन्होंने पहाड़ी पर शान्तिनाथजी की छोह में लगभग तीन लाख रुपये लगाकर अनेक निर्माण-कार्य कराये थे, जिनमें तिवारा-भर्तृहरि एवं शिवालय भी थे और 1807 ई. में एक सुन्दर बावड़ी भी बनवायी थी।

राव भवानीराम—राव कृपाराम के भतीजे और फत्तहराम के पुत्र थे तथा 1786 से 1798 ई. तक दीवान रहे। साहित्यिक रुचि, चतुरविन्दोद के रचयिता और ज्योतिर्विज्ञ थे।

राव जाखीराम—राव भवानीराम के पुत्र थे। इन्होंने राज्य की काफ़ी सेवा की, दीवान भी रहे प्रतीत होते हैं।

पण्डित सदासुख कासलीवाल—जयपुर निवासी डेडराज के वंशज दुलीचन्द के सुपुत्र थे। इनका जन्म 1795 ई. के लगभग हुआ था। यह थे तो राज्य की सेवा में, किन्तु किसी साधारण से पद पर अल्प वेतन में ही सन्तुष्ट रहकर कार्य करते थे। राज्यकार्य के अतिरिक्त इनका प्रायः पूरा समय जिनवाणी के पठन-पाठन, सैद्धांतिक चर्चाओं, साहित्य के सृजन और धर्म एवं समाज की सेवा में ही व्यतीत होता था। इनकी शास्त्र-प्रवचन शैली इतनी मृदु, सरल और प्रभावक होती थी कि श्रोता मन्त्रमुग्ध हो जाते थे। रत्नकरण्ड-श्रावकाचार-वचनिका और अर्थ-प्रकाशिका (तत्त्वार्थसूत्र की भाषावचनिका) इनकी प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय कृतियाँ हैं। पण्डितप्रवर जयचन्द छाबड़ा और मुन्नालाल साँगा इनके गुरु थे और पण्डित पन्नालाल संधी दुनीवाले, नाथूलाल दोसी, पारसदास निगोल्या, सेठ मूलचन्द सोनी आदि इनके भक्त शिष्य थे। सन्तोषी ऐसे थे कि राजा माधोसिंह ने इनके वेतन में वृद्धि करने का विचार प्रकट किया तो इन्होंने कहा कि महाराज, वेतन वृद्धि न करके यदि उन्हें समय से एक दो घण्टा पूर्व चले जाने की अनुमति प्रदान कर दें तो बड़ी कृपा होगी, क्योंकि उस समय का आत्मसाधन और साहित्य सृजन में उपयोग किया जा सकेगा। राजा आश्चर्यचकित रह गये, प्रसन्न भी हुए, उनकी वेतन-वृद्धि भी कर दी और समय से पूर्व चले जाने की अनुमति भी दे दी। वृद्धावस्था में 1864 ई. में इनके इकलौते सुयोग्य बीसवर्षीय पुत्र गणेशलाल का असामयिक निधन हो गया तो इन्हें बड़ा धक्का लगा। ऐसे में इनके भक्त अजमेर के सेठ मूलचन्द सोनी इन्हें अपने

साथ अजमेर ले गये, जहाँ यह उदासीन वृत्ति से धर्म और साहित्य की साधना में पुनः लग गये, किन्तु कुछ ही समय के उपरान्त इनका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हो गया। मृत्यु से पूर्व जयपुर से अपने शिष्यों पन्नालाल संधी और भैबरलाल सेठी को बुलाकर कहा कि साहित्य का देश-देशान्तरों में प्रचार करने का प्रयत्न करो और एक उत्तम संस्कृत पाठशाला की भी स्थापना करो। मृत्यु की इच्छानुसार उन्होंने जयपुर में शास्त्रों की बड़े पैमाने पर प्रतिलिपियाँ करने का कारखाना स्थापित किया और पाठशाला भी। परिणामस्वरूप कुछ ही वर्षों में जयपुर के विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थों की सहस्रों प्रतियाँ दूर-दूर तक पहुँच गयीं।

संघई धर्मदास ने 1795 ई. में आमेर दुर्ग में भट्टारक भुवनकीर्ति के उपदेश से बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी थी।

सदासुख छावड़ा—जयचन्द छावड़ा के पुत्र थे और 1800 से 1807 ई. तक जयपुर राज्य में दीवान रहे।

अमरचन्द्र पाटनी—दीवान रतनचन्द साह के पौत्र और दीवान श्योजीलाल पाटनी के सुपुत्र थे तथा 1803 से 1835 ई. तक जयपुर राज्य के प्रसिद्ध दीवान रहे। यह बड़े धर्मात्मा, बख्शी, दयालु और शही थे। अपनी लखौली के निकट इन्होंने एक विशाल जैनमन्दिर और उसके सम्मुख धर्मशाला बनवायी। मन्दिर का निर्माण-कार्य 1815 से 1827 ई. तक बारह वर्ष चला, जिसमें उस युग में चौदह हजार रुपये व्यय हुए बताये जाते हैं। लकड़ी पर सोने के काम की सुन्दर समवसरण रचना भी बनवायी। इनका मन्दिर 'छोटे दीवानजी का मन्दिर' नाम से प्रसिद्ध है। जरूरतमन्दों के घर, अन्न-वस्त्र आदि चुपचाप भिजवा दिया करते थे, पानेवाले को यह मालूम ही नहीं होता कि किसने यह कृपा की है। बहुधा लहूओं में मोहर (स्वर्णमुद्रा) रखकर निर्धन व्यक्तियों के घर भिजवा देते थे। मन्दिर में स्वयं अपने हाथ से झाड़ू लगाते थे। नित्य देवपूजा का ती नियम था। अनेक व्यक्तियों को स्वाध्याय के नियम तथा व्रत आदि दिलवाये थे। पण्डित जयचन्द छावड़ा के सुपुत्र पण्डित नन्दलाल से मूलाचार की द्धनिका लिखायी। अनेक ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करायीं और स्वयं भी अच्छा शास्त्र-संग्रह किया। अनेक सामाजिक रुढ़ियों एवं प्रथाओं में भी सुधार किया। इनके दीवानकाल के अन्तिम वर्षों में जब जयपुर का राजा, सम्भवतया जगतसिंह का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सवाई मानसिंह नाबालिग था तो अनेक राजनीतिक षड्यन्त्र चले। इसी प्रसंग में जनता ने एक अँगरेज अधिकारी को भ्रमवश मार दिया। परिणामस्वरूप अँगरेजों का प्रकोप राजधानी पर दूटा। दीवानजी को भय हुआ कि प्रजा का व्यव संहार होगा। उन्होंने वीरतापूर्वक सारा अपराध अपने सिर ले लिया। अँगरेजों द्वारा गठित न्याय समिति ने इन्हें मृत्युदण्ड दिया और यह परोपकारी धर्मात्मा वीर पुरुष आत्मचिन्तन में लीन हो शान्तचित्त से फाँसी के तख्ते पर चढ़ गये और मृत्यु को आलिंगन कर अमर हो गये।

रामचन्द (रायचन्द) छाबड़ा—दीवान बालचन्द छाबड़ा के तृतीय पुत्र और दीवान जयचन्द छाबड़ा के छोटे भाई थे और बड़े वीर, कुशल राजनीतिज्ञ, धर्मात्मा एवं प्रभावशाली व्यक्ति थे। उदयपुर के राजा भीमसिंह की सुन्दरी कन्या कृष्णकुमारी के सम्बन्ध को लेकर जयपुर नरेश जगतसिंह और जोधपुर नरेश मानसिंह में संघर्ष हुआ तो दीवान रामचन्द ने जोधपुर के दीवान इन्द्रराज सिंघवी से मिलकर उसे शान्त करने का भरसक प्रयत्न किया था। किन्तु जोधपुर और जयपुर के कुचक्रों सामन्तों ने जगतसिंह को उकसाकर जोधपुर पर आक्रमण करा दिया। दीवान भी राजा के साथ थे और परामर्श दिया था कि जोधपुरवालों से न उलझकर उदयपुर चले चलें और राजकुमारी से विवर्ह कर लें। किन्तु राजा ने जोधपुर की ओर दृष्टि डाल पाकर इन्द्रराज और अमीरखों पिण्डारी ने जयपुर पर आक्रमण कर दिया। अब दीवान ने सलाह दी कि जयपुर चलकर पहले अपनी राजधानी की रक्षा करें। राजा चला तो किन्तु सेना थकी हुई थी, अतएव दीवान रामचन्द ने एक लाख रुपया देकर आक्रमणकारियों से पिण्ड छुड़ाया। दीवान रामचन्द (रायचन्द) बड़ी धार्मिक वृत्ति के भी थे। उन्होंने अनेक यात्रासंग चलाकर 'संघई' उपाधि प्राप्ति की और दो लाख रुपये की लागत से जयपुर में तीन सुन्दर जिनमन्दिर बनवाये तथा 1804 ई. में एक बहुत भारी बिम्ब-प्रतिष्ठा करायी, जिसमें प्रतिष्ठित सहस्रों प्रतिमाएँ उत्तर भारत के जिनमन्दिरों में दूर-दूर तक पहुँचीं। यह प्रतिष्ठा आमेर के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से सम्भवतया उन्हीं के द्वारा करायी गयी थी। जूनागढ़ में भी उन्होंने प्रतिष्ठा करायी बतायी जाती है। रामचन्द के एक बड़े भाई हरिश्चन्द थे और दो छोटे भाई विष्णुचन्द और कृष्णचन्द थे, तथा उनकी अपनी भार्या का नाम रायादे था। राजा जगतसिंह रसिक प्रकृति का विलासी व्यक्ति था। रसकपूर नामक वेश्या पर अत्यधिक अनुरक्त था। श्याम तिवारी का एक वंशज शिवनारायण मिश्र अपने पूर्वज के अपमान का बदला भूतपूर्व दीवान बालचन्द छाबड़ा के पुत्र (रामचन्द के भतीजे) रूपचन्द से लेना चाहता था। वह उस गणिका का भाई बनकर राजा का कुम्पापात्र बना और अक्सर देखकर एक दिन नशे में चूर राजा से आज्ञा दिला दी कि दीवान रामचन्द को पकड़कर जयगढ़ के किले में भेज दिया जाए और जीवित न आने दिया जाए। जब राजा को होश आया तो वह पछताया और दीवान को तुरन्त लाने की आज्ञा दी, किन्तु अपनी बात रखने के लिए यह भी कह दिया कि पहाड़ी के पीछे की ओर से रस्से के द्वारा उसे बाहर निकाल लाया जाए। किन्तु शत्रु वहाँ भी लगे थे। जब दीवान रस्से के सहारे उत्तर रहा था तो रस्से को बीच में ही काट दिया गया और इस प्रकार 1807 ई. में उस धर्मात्मा दीवान रामचन्द की अपमृत्यु हुई। इन्होंने अपने समकालीन पण्डित जयचन्द छाबड़ा को जीविकोपार्जन आदि अर्थचिन्ता से सर्वथा मुक्त करके सर्वार्थसिद्धि-वचनिका-जैसे ग्रन्थों की रचना करायी थी।

श्याजीलाल छाबड़ा—चैनराम छाबड़ा के पुत्र थे और 1808 ई. तक राज्य

में दीवान रहे। वह राजस्व वसूली के कार्य में अतिदक्ष थे, संस्कृत भाषा और ज्योतिषशास्त्र के भी विद्वान् थे। इनकी हवेली के सामने का मार्ग आज भी 'श्याजीलाल का रास्ता' कहलाता है।

बखतराम—यह भी राजा जगतसिंह के समय में दीवान थे। जयपुर के चौड़े रास्ते में यशोदानन्दजी का जैनमन्दिर इन्होंने बनवाया था।

मन्नालाल छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के पुत्र थे और 1809 से 1812 ई. तक राज्य में दीवान रहे।

कृपाराम छाबड़ा—दीवान रामचन्द्र छाबड़ा के भतीजे थे और 1812 से 1818 ई. तक राज्य के दीवान थे। यह कुशल नीतिज्ञ और उच्चकोटि के सैन्य प्रशासक थे। राज्य के लिए इन्होंने एक बड़ी और शक्तिशाली सेना संगठित की थी, जिसमें दस हजार अच्छे सैनिक थे। इसी सेना को लक्ष्य करके कर्नल टाड ने लिखा है कि जगतसिंह के पास जितनी और जैसी सेना थी, किसी अन्य जयपुर नरेश के पास नहीं रही। शेखावटी प्रदेश के असन्तुष्ट सामन्तों को वश में करने के लिए दीवान रामचन्द्र ने इन्हें वहीं भेजा था और इन्होंने बड़ी नीतिमत्ता के साथ सामन्तों का असन्तोष दूर करके उन्हें वश में कर लिया था। कृपाराम के पुत्र शिवजीलाल भी कुछ समय तक दीवान रहे।

लिखमीचन्द्र छाबड़ा—दीसा निवासी जीवनराम छाबड़ा के पुत्र थे और 1812 से 1817 ई. तक राज्य में दीवान रहे।

नोनदराम खिन्दूका—दीवान आतराम खिन्दूका के पौत्र थे और 1817 से 1824 ई. तक राज्य के दीवान रहे।

लिखमीचन्द्र गोधा—भगताराम गोधा के पुत्र थे। यह भी 1817 से 1824 ई. तक दीवान रहे।

संधी झूंधा राम—1824 से 1834 तक जयपुर राज्य के दीवान थे। यह कुशल राजनीतिज्ञ, प्रतिभाशाली, सूझबूझवाले, दृढ़निश्चयी राजपुरुष और कठोर प्रशासक थे। साथ ही स्वदेशभक्त एवं स्वतन्त्रताप्रेमी भी थे। इस युग में देशी राज्यों में अँगरेज लोग अपने पैर जमा रहे थे। और उचित-अनुचित हस्तक्षेप करते रहते थे। संधीजी नहीं चाहते थे कि राज्य अँगरेजों की दासता की बेड़ियों में जकड़ जाए। अँगरेजों को धन देकर वे उनके अनुचित हस्तक्षेप से राज्य की रक्षा करते रहे। राज्य की अरक्षित सीमाओं की सुरक्षा का भी उन्होंने प्रबन्ध किया और शेखावटी प्रान्त को भी, जो क़ाबू से बाहर होता जा रहा था, वश में रखने का प्रयत्न किया। किन्तु भारत में और विशेषकर देशी राज्यों में वह एक ऐसा सार्वभौमिक नैतिक पतन और स्वार्थपरता का युग था कि जब कोई सच्चा ईमानदार देशभक्त और कुशल राजमन्त्री होता उसके अनेक विरोधी और शत्रु उत्पन्न हो जाते और उसके पतन के लिए षड्यन्त्र होने लगते। ऐसे ही षड्यन्त्रों का शिकार दीवान झूंधाराम संधी भी हुए और

मिथ्या आरोप लगाकर उन्हें बन्दीगृह में डाल दिया गया। यह महाराज जयसिंह के प्रसिद्ध महामन्त्री मोहनदास के वंशज थे।

संधी हुकुमचन्द—यह दीवान संधी झुंधाराम के बड़े भाई थे और उन्हीं के साथ-साथ 1824 से 1834 ई. तक राज्य के दीवान रहे। इनके पूर्वजों में महाराज जयसिंह के मुख्य मन्त्री मोहनदास के उपरान्त और भी कई व्यक्ति राज्य के दीवान रहे थे। संधी हुकुमचन्द सेना के मुसाहब थे और इन्हें राव बहादुर की उपाधि मिली थी। सम्भवतया झुंधाराम के साथ ही यह भी पदच्युत हुए। उन्होंने लक्ष्मण झूगरी के निकट तीन नशियों के स्थान पर एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जो संधीजी की नशियों के नाम से प्रसिद्ध है।

विरधीचन्द—संधी हुकुमचन्द के पुत्र थे और अपने पिता के समय में ही उन्होंने लगभग तीन वर्ष दीवानगीरी की थी।

चम्पाराम भी इसी समय के लगभग जयपुर राज्य के दीवान थे, किन्तु शायद कारणवश पद का त्याग करके वृन्दावन में जाकर रहने लगे थे। इन्होंने 1825 में मूर्तिपूजा-पोषक जैन-वैद्य-स्तव की रचना की थी और 1826 ई. में वृन्दावन के धरगराम से उसकी प्रतिलिपि करायी थी। उनके भानजे लालजीमल ने तो पुस्तक की प्रति उसकी रचना के दो मास बाद ही करा ली थी।

अमोलकचन्द खिन्दूकर—दीवान नोनदराम के पुत्र थे और 1825 से 1829 ई. तक राज्य के दीवान रहे।

सम्पतराम खिन्दूका—दीवान आरतराम के पुत्र थे और 1834 से 1839 ई. तक राज्य के दीवान रहे।

मानकचन्द ओसवाल—1849 से 1855 ई. तक राजा के दीवान थे।

मुंशी प्यारेलाल कासलीवाल—जयपुर राज्य में कई उच्च पदों पर रहे और 1919 से 1922 ई. पर्यन्त तीन वर्ष राज्य के राजस्व मन्त्री (रेवेन्यू मिनिस्टर) रहे।

भरतपुर राज्य

संघई फतहचन्द—भरतपुर में जाटों का राज्य था, जिसने राजा सूरजमल के समय में बड़ी उन्नति की। उस काल में भरतपुर में चौदुवाड़गोत्री संघई केशोदास के पुत्र संघई मयाराम राज्य के पोतदार (खज़ांची) और महाराज के मोदी थे। उनके पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र संघई फतहचन्द उन पदों पर रहे। फतहचन्द के छोटे भाई पृथ्वीराज थे और जसरूप एवं जगन्नाथ नाम के दो पुत्र थे। सेठ फतहचन्द के आश्रित एवं सहायक पोतदार पण्डित नथमल विलाला थे। इनके पितामह साह जेठमल आगरे के जैसिंहपुर मोहल्ले में रहते थे और पिता सोमाचन्द एवं चचा गोकलचन्द भरतपुर में आ बसे थे। नथमल विलाला ने 1767 से 1778 ई. पर्यन्त गोकलचन्द भरतपुर में आ बसे थे। इनमें से सिद्धान्तसारदीपक की रचना इन्होंने 1767

ई. में उक्त सेठ फतहचन्द के छोटे पुत्र जगन्नाथ की प्रेरणा से उसी के प्रबोध के लिए की थी। इसी समय के लगभग उन्होंने महावीरजी क्षेत्र (जयपुर राज्य का भाग) में जैनधर्म के संस्थापक महावीरजी की स्मृति के लिए एक मठ की स्थापना की। २०००

सागवाड़ा के महारावल

वाम्बर (बागड़) देश का शाकपत्तनपुर (शाकवाट, सागवाड़ा) जैनधर्म का केन्द्र मध्यकाल के प्रायः प्रारम्भ से ही रहता आया है और 13वीं शती से तो वहाँ मूलसंघी भद्रारकों की गद्दी भी चली आ रही है। सागवाड़ा के महारावल जसवन्तसिंह ने 1836 ई. में सागवाड़ा के नोगामी आटेकचन्द्र सुखचन्द तथा अन्य समस्त जैन महाजनों के आवेदन पर दो आज्ञापत्र (परवाने) जारी किये थे जिनमें से एक के अनुसार राज्य के समस्त धानिकों को आदेश दिया गया था कि अपने कोल्हू और धानियाँ प्रत्येक पक्ष की द्वितीया, पंचमी, अष्टमी, एकादशी और चतुर्दशी तिथियों में बन्द रखेंगे, क्योंकि उनके चलाये जाने में हिंसा होती है। दूसरे परवाने के अनुसार राज्य के समस्त कलवारों (कलालों) को आदेश दिया गया था कि प्रत्येक अष्टमी और चतुर्दशी को वे अपनी शराब निकालने की भट्टियाँ बन्द रखेंगे, क्योंकि उनके कार्य में जीवहिंसा होती है। आज्ञा का उल्लंघन करने का दण्ड 250 रुपये जुर्माना निर्धारित किया गया। महारावल उदयसिंह ने, जो सम्भवतया जसवन्तसिंह के उत्तराधिकारी थे, साह माणकदास नोगामी, आदलीचन्द आदि सागवाड़ा के समस्त जैन महाजनों की प्रार्थना पर यह आदेशपत्र 31 अगस्त 1854 ई. के दिन जारी किया था कि भाद्रपद मास में पर्युषण के 18 दिनों में अर्थात् भाद्रपद कृष्ण द्वादशी से भाद्रपद शुक्ल चतुर्दशी पर्यन्त राज्य-भर में कोई भी व्यक्ति जीवहिंसा नहीं करेगा। बैलों आदि पर बोझ लादना और इन पशुओं को समय पर दाना-पानी न देना भी हिंसा में सम्मिलित किये गये।

इस प्रकार के राजकीय परवाने अन्य अनेक राजपूत राज्यों और ठिकानों में बदा-कदा प्रचारित होते रहते थे।

आधुनिक युग : अँगरेजों द्वारा शासित प्रदेश

जगत्सेठ शुगनचन्द

मुर्शिदाबाद घराने के बंगाल के सुप्रसिद्ध जगत्सेठ फतहचन्द के पुत्र या पौत्र जगत्सेठ शुगनचन्द 1765 ई. में विद्यमान थे। उसके पश्चात् वह कितने वर्ष और जीवित रहे तथा उनके वंशजों के सम्बन्ध में निश्चित रूप से ज्ञात नहीं है, क्योंकि उस समय के कुछ ही वर्षों के भीतर इस प्रसिद्ध सेठ वंश का पतन हो गया। शुगनचन्द के पुत्र या पौत्र सम्भवतया डालचन्द थे, जिनका मुर्शिदाबाद के नवाब से कुछ झगड़ा हो गया, और वह जन्मभूमि का त्याग करके बाराणसी में आ बसे। उनकी धर्मपत्नी बीबी रतनकुँवर (जन्म 1777 ई.) का मायका भी मुर्शिदाबाद में ही था। वह बड़ी विदुषी एवं श्रेष्ठ कवयित्री थीं और उन्होंने 'प्रेमरत्न' नामक काव्य ग्रन्थ की रचना की थी।

शाह मानिकचन्द—गंगिगोत्री ओसवाल शाह बुलाकीदास के पुत्र और हुगली नगर के निवासी थे। इन्होंने 1772 ई. में राजगृह (राजगिरि) के रत्नगिरि पर्वत पर स्थित प्राचीन मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया था और वहाँ पार्श्वनाथ भगवान् के कमल सद्गुरु चरण-युगल (चरण-चिह्नों) की स्थापना की थी।

कटक के मंजु चौधरी

बुन्देलखण्ड के औसी जिले की महरौनी तहसील में स्थित कुम्हेडी अपरनाम चन्द्रापुरी ग्राम में 1720 ई. के लगभग एक अति साधारण स्थिति के परिवार जातीय जैन परिवार में मंजु का जन्म हुआ था। बाल्यावस्था में ही माता-पिता का निधन हो गया। शिक्षा-दीक्षा कुछ हुई नहीं थी और जो कुछ घर में था, जुए के खेल में समाप्त कर दिया। नाते-रिश्तेदारों ने कोई सहारा नहीं दिया, किन्तु हीम आदि के वणिज-व्यापार के लिए दूर-दूर परदेशों में जानेवाले कुम्हेडी के बनजारों का रक्त नसों में प्रवाहित था, साहस की कमी न थी। अतएव भाग्यपरीक्षा के लिए अकेले ही पाव-पयादे परदेश के लिए निकल पड़े। मार्ग में मेहनत-मजदूरी करते और एक दिन के अन्तर से दूसरे-दिन केवल दो खूबी रोटी खाकर महीनों निर्वाह करते हुए

1740-45 ई. के लगभग अन्ततः नागपुर जा पहुँचे। वहाँ छोटा-मोटा घन्था शुरू किया। भाग्य ने पुरुषार्थ का साथ दिया, अच्छी स्थिति बना ली और कटक के राजा मुकुन्ददेव के दरबार में भी पैठ होने लगी। जब 1750 ई. के लगभग मराठा सरदार रघुजी भोंसले ने नागपुर पर अधिकार कर लिया और 1751 ई. में बंगाल के नवाब पर चढ़ाई करके पूरा उड़ीसा प्रान्त उससे खींच लिया तो मंजु भोंसले के भरोसे बन गये और शीघ्र ही उनके रसद विभाग के अध्यक्ष भी। अपनी कार्यकुशलता से भोंसले के वह इतने विश्वासपात्र बन गये कि उसने इन्हें कटक के राजा के दरबार में अपना चौधरी नियुक्त कर दिया। अब मंजु चौधरी ने स्वदेश जाकर अपना विवाह किया—पत्नी का नाम नगीनाबाई था। बंगाल के नवाब अलीवर्दीखान को उड़ीसा प्रान्त का हाथ से निकल जाना बहुत अखर रहा था और भोंसला राजा इस समय अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण के सभाचारों से अन्यत्र व्यस्त था। अतएव नवाब ने उड़ीसा पर चढ़ाई कर दी। कटक के राजा ने दरबार में बीड़ा रखा कि नवाब के आक्रमण का कौन निवारण करेगा। कोई भी राजपूत या मराठा सरदार तैयार नहीं हुआ। तब वीर मंजु चौधरी ने बीड़ा उठा लिया और सेना संगठित करके नवाब के प्रतिरोध के लिए चल पड़े। इस सदलबल दृढ़ विरोध को देख नवाब हताश हो वापस लौट गया। इस घटना से रघुजी भोंसला और राजा मुकुन्ददेव दोनों ही चौधरी से अत्यन्त प्रसन्न हुए और परिणामस्वरूप मंजु चौधरी राज्य के दीवान और वास्तविक कार्य-संचालक बन गये। राज्य की आय पचास लाख थी, जिसमें से बीस लाख वह नागपुर के भोंसला दरबार को भेजते और शेष में अपने कटक राज्य का कार्य कुशलता के साथ चलाते थे। राज्य की ओर से इन्हें जागीर भी मिली थी और नगर में उन्होंने एक नया बड़ा बाजार बसाया जो आज पर्यन्त चौधरी-बाजार कहलाता है। इन्होंने 1760 ई. के लगभग निकटवर्ती प्राचीन जैन तीर्थ खण्डगिरि पर एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था और स्वदेश से अपने तीन भानजों—भवानी, तुलसी और मोती—को भी अपने पास बुला लिया। भवानी दास तो इनके राज्यकार्य में भी इन्हें अच्छा सहयोग देने लगा। आमेर के भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति की प्रसिद्धि सुनकर चौधरी ने 1780 ई. में उन्हें कटक में आमन्त्रित किया और वहाँ उन्होंने उसकी विदुषी एवं तुलक्षणा धर्मपत्नी की प्रेरणा से 'ज्योष्ठ-जिनवर-पूजा-व्रतकथा' की रचना की। सम्भवतया सेठानी ने उनके उपदेश से वह व्रत पूरा करके उसका उद्यापन भी किया था। दो वर्ष बाद जब चौधरी जन्मभूमि कुम्हेडी गये तो वहाँ भी उन्होंने 1782 ई. में अचलसिंह प्रधान से 'पुण्यास्रव कथाकोश' की प्रति लिखायी थी। अपने धर्मकायों के कारण मंजु चौधरी ने 'पुण्याधिकारी' उपाधि प्राप्त की थी। अपने अभ्युदय में वह न अपनी जन्मभूमि को भूले, न नाते-रिश्तेदारों को और न निज धर्म को ही। कटक के इन प्रसिद्ध 'पुण्याधिकारी' मंजु चौधरी का निधन 1785 ई. के लगभग हुआ लगता है।

भवानीदास चौधरी—उपनाम भवानी दादू मंजु चौधरी का भानजा था और उनके पद पर उनके उपरान्त प्रतिष्ठित हुआ। मंजु चौधरी का एकमात्र पुत्र लक्ष्मण अयोग्य और निकम्मा था, अतएव नागपुर और कटक के दरबारों ने भवानी दादू को ही चौधरी का उत्तराधिकारी नियुक्त किया था। यद्यपि जीति-कुशल, कार्यदक्ष और विद्याप्रेमी था, मामा की 'पुण्याधिकारी' उपाधि भी इसके नाम के साथ प्रयुक्त होती थी। उसने अपने दक्षिणी ब्राह्मण अनुचर गोपाल पण्डित से 1787 ई. में 'पुण्यासव कथाकोश' की प्रति लिखायी थी। चौधरी के पुत्र लक्ष्मण ने अपना हक मारा जाने से क्षुब्ध होकर अँगरेजों की सहायता लेने का प्रयत्न किया। इन दिनों अँगरेजों की शक्ति और प्रभाव द्रुत वेग से फैलते जा रहे थे, किन्तु लक्ष्मण के सकल प्रयत्न होने के पूर्व ही उसकी मृत्यु हो गयी। कहते हैं कि भवानी दादू ने विष द्वारा उसकी हत्या करा दी थी। स्वयं भवानी दादू की भी 1800 ई. के कुछ पूर्व ही निस्सन्तान मृत्यु हो गयी और उसका छोटा भाई तुलसी दादू चौधरी हुआ, किन्तु वह मंजु और भवानी जैसा योग्य नहीं था। सन् 1803 ई. के अन्त के लगभग अँगरेजों द्वारा उड़ीसा दखल कर लिये जाने पर भोंसला राजा और कटक के मुकुन्ददेव के अधिकारों का अन्त हुआ और साथ ही तुलसी चौधरी की चौधराहट का भी अन्त हो गया। चम्पो बाई ने जो भवानी दादू या तुलसी दादू की पत्नी थी, 1784 और 1805 ई. में लला-बजाज द्वारा दो ग्रन्थों की प्रतिलिपियाँ करायी थीं। जिनदास कवि ने 1805 ई. में खण्डगिरि की संसंध यात्रा और चौधरी परिवार द्वारा वहाँ कराये वार्षिक उत्सव का तथा मंजु चौधरी द्वारा निर्मापित शिखरबन्द मन्दिर का सुन्दर वर्णन किया था। तुलसी दादू की दो पुत्रियाँ थीं, जिनमें से छोटी मुक्ताबाई थी। उसकी पुत्री सोनाबाई का विवाह हीरालाल पोदी के साथ हुआ था, जिसने 1840 ई. में पचास धार्मिक रचनाओं के संग्रह की प्रतिलिपि करायी थी। उसकी भावज धूमाबाई ने उसी समय के लगभग खण्डगिरि का छोटा मन्दिर बनवाया था। हीरालाल की मृत्यु के पश्चात् सोनाबाई ने अपने देवर मल्लूबाबू के पुत्र ईश्वरलाल को गोद लिया। ईश्वरलाल और उनके पुत्र कपूरचन्द 1912 ई. में विद्यमान थे और कपूरचन्द के पुत्र या पीत्र कुंजलाल चौधरी हुए।

राजा बच्छराज नाहटा—अवध के चौथे नवाब आसफुद्दौला (1775-1797 ई.) ने अपने पूर्वजों की राजधानी फैजाबाद का परित्याग करके लखनऊ को अपनी राजधानी बनाया था। तभी से लखनऊ के विस्तार, सौन्दर्य, वैभव और व्यापार की वृद्धि प्रारम्भ हुई और कुछ ही वर्षों में उसकी गणना भारतवर्ष के प्रसिद्ध एवं दर्शनीय नगरों में होने लगी। महानगरी दिल्ली की चकाचौंध भी उसके सामने फीकी पड़ने लगी। स्वभावतः अनेक अग्रवाल एवं ओसवाल जैन व्यापारी, जौहरी आदि भी बाहर से आकर यहाँ बसने लगे। सम्भवतया इन्हीं ओसवाल जौहरियों में बच्छराज नाहटा थे जो शीघ्र ही अपनी समाज के प्रमुखों में तथा राज्यमान्य भी हो गये और 'राजा'

की पदवी से विभूषित हुए। सम्भव है कि वह नवाब के खास जौहरी तथा किसी उच्च पद पर भी प्रतिष्ठित हुए हों। उसी समय के लगभग खरतरगञ्जचार्य जिनचन्द्रसूरि की परम्परा के जिनअक्षयसूरि ने सोधाटोली के यतिछत्ता में अपनी गद्दी स्थापित की और पार्श्वनाथ स्वामी का मन्दिर बनवाया जो इस नगर का सर्वप्राचीन श्वेताम्बर-मन्दिर है। इन कार्यों में राजा बच्छराज नाहटा का पूरा प्रयत्न एवं सहयोग रहा प्रतीत होता है। इसी राज्यकाल के अन्त के लगभग लखनऊ नगर के श्रीसंघ ने, जिसमें 36 श्वेताम्बर श्रावक-श्राविकाएँ सम्मिलित थे, एक सचित्र विज्ञप्ति-पत्र भेजकर दिल्ली से उक्त जिनअक्षयसूरि के गुरु भट्टारक जिनचन्द्रसूरि को सादर आमन्त्रित किया था। सम्भव है इस समय भी लखनऊ के श्रीसंघ के प्रमुखों में उक्त राजा बच्छराज नाहटा रहे हों।

राजा हरसुखराय—दिल्ली के मुगल बादशाह शाहआलम द्वितीय (1759-1806 ई.) के समय शाही खजान्ची और बादशाह के जौहरी नियुक्त हुए थे। बादशाही तो नाममात्र की ही रह गयी थी, किन्तु उसकी पद-प्रतिष्ठा अभी भी बहुत कुछ बनी थी, अतः शाही खजान्ची के पद की भी काफी प्रतिष्ठा थी। यों राजा साहब का मुख्य व्यवसाय अनेक छोटी-बड़ी रियासतों के साथ लेन-देन और साहुकारे का था। विशेष बात यह थी कि वह बड़े धर्मात्मा, भारी मन्दिर निर्माता, निरभिमानी, उदार और दानी सज्जन थे। अनेक अभावग्रस्त साधर्मि बन्धुओं को वधोचित सहायता देकर उनका स्थितिकरण करने की, गुप्तदान देने की, सामाजिक मर्यादाओं और नैतिकता को प्रोत्साहन देने की, निज की ख्याति-मान से दूर रहने आदि की अनेक क्लिंवदन्तियाँ उनके सम्बन्ध से प्रचलित हैं। उनके पूर्वज अग्रवाल जैन साह दीपचन्द हिसार नगर के प्रसिद्ध सेठ थे। मुगल सम्राट् शाहजहाँ (1627-58 ई.) के समय में स्वयं बादशाह के निमन्त्रण पर वह दिल्ली (शाहजहानाबाद) में आकर बस गये थे। बादशाह ने उन्हें सात-पाच की खिलअत (शिरोपाव) देकर सम्मानित किया था और दरिबे के सामने चार-पाँच बीघे भूमि प्रदान की थी, जिसपर उन्होंने अपने सोलह पुत्रों के लिए पृथक्-पृथक् हवेलियाँ बनवायी थीं। साह दीपचन्द की पाँचवीं या छठी पीढ़ी में राजा हरसुखराय हुए थे। इन्होंने बादशाह अकबर द्वितीय (1806-36 ई.) के समय, 1807 ई. में, दिल्ली के धर्मपुरे मोहल्ले का वह अत्यन्त चव्य, कलापूर्ण एवं मनोरम जिनमन्दिर निर्माण कराया था जो सात वर्ष में बनकर तैयार हुआ था और जिसमें उस समय लगभग आठ लाख रुपये लागत आयी थी। यह मन्दिर नये मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है। सबसे बड़ी बात यह है कि उन्होंने उक्त मन्दिर पर कहीं भी अपना नाम अंकित नहीं कराया, अपितु उसमें बहुत साधारण-सा निर्माण-कार्य शेष छोड़कर मसलहत से उसके लिए समाज से सार्वजनिक चन्दा किया और मन्दिर को पंचायती बना दिया। प्रायः इसी घटना की पुनरावृत्ति उन्होंने उसी समय के लगभग अपने द्वारा निर्मापित हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र के विशाल जैन-मन्दिर के सम्बन्ध में की

थी। वह स्थान घोर वन के मध्य उजाड़ एवं उपेक्षित पड़ा था। चारों ओर बहसूक्ष्मपरीक्षितगढ़ के गूजरों, नीलोहे के जाटों, गणेशपुर के तगाओं और मीरापुर के रांगड़ों का प्राबल्य था, जो बहुधा सरकश लुटेरे थे। जैनधर्म और जैनों के साथ उनकी कोई सहानुभूति नहीं थी। राजा हरसुखराय ने आड़े समय में गूजर राजा नैनसिंह को एक लाख रुपये क़ण दिये थे। वह लौटाने आया तो लेने से इनकार कर दिया और कह दिया कि यह रुपया श्री हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र के उद्धार के नाम लिख दिया गया है, अतएव राजा साहब उद्धार होना चाहें तो अपने संरक्षण में वहाँ जैन-मन्दिर बनाने दें। राजा सहर्ष तैयार हो गया और मन्दिर बन गया। पूर्ण होने पर सेठजी ने पूरे प्रदेश की समाज को एकत्रित किया, भारी मेला किया और नाममात्र का चन्दा करके मन्दिर समाज को समर्पित कर दिया। उन्होंने अन्य अनेक मन्दिर यत्र-तत्र बनवाये, किन्तु किसी को अपना नाम सम्बद्ध नहीं किया। बहुधा लोग राजा के लिए धर्म करते हैं, किन्तु कीर्ति ऐसे ही उदारमना महानुभावों की अपर होती है जो निःस्वार्थ समर्पण भाव से ऐसे कार्य करते हैं।

राजा सुगनचन्द्र—राजा हरसुखराय के स्वनाम-धन्य सुपुत्र थे, उन्हीं-जैसे धर्मनिष्ठ, समाजनिष्ठ, निर्माता, उदारमना और दानवीर थे। कहते हैं कि इन दोनों पिता-पुत्रों ने विभिन्न स्थानों में कोई साठ-सत्तर तिनमन्दिर बनवाये थे। हस्तिनापुर का मन्दिर सम्भवतया लाला हरसुखराय के निधन के उपरान्त सेठ सुगनचन्द्र ने ही पूरा कराया था, बनाना उनके पिता के समय में 1805 ई. के लगभग ही शुरू हो गया था। पिता के निधन के बाद सेठ सुगनचन्द्र को राजा की उपाधि मिली और शाही खज़ांची पद भी चलता रहा। उन्होंने भी किसी मन्दिर के साथ अपना नाम सम्बद्ध नहीं किया। इस काल में बादशाह की बादशाही लालकिले के भीतर ही सीमित हो चली थी और वह अँगरेजों का पेंशनदार सरीखे ही था। नगर पर अँगरेज अधिकारियों का शासन था, किन्तु राजा सुगनचन्द्र उस समय भी शाही खज़ांची बने रहे और अँगरेज अधिकारी भी उन्हें मानते थे। स्वातन्त्र्य-समर (1857 ई.) के कुछ पूर्व ही उनका स्वर्गवास हो गया लगता है। उनकी उदारता, साधर्म्य-वात्सल्य, दानशीलता एवं समाजनिष्ठा के सम्बन्ध में भी अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। कहा जाता है कि धर्मपुरे के मन्दिर के पूर्ण होने के उपरान्त जब समारोहपूर्वक उसकी प्रतिष्ठा की गयी तो मुसलमानों ने हमला करके सारा क्रीमती सामान लूट लिया, किन्तु इन सेठ द्वय के प्रभाव से बादशाह ने अपने हुक्म से वह सब सामान लुटेरों से वापस दिला दिया था। उस मन्दिर की संगमरमर की वेदी में पत्थरीकारी का क्रीमती काम और उसकी सूक्ष्म तक्षणकला आज भी दर्शकों का मन मोह लेती है। दिल्ली का प्रथम शिखरबन्द जैन-मन्दिर भी यही है। मुगलकाल में शिखरबन्द मन्दिर बनाने का निषेध था, विशेष शाही अनुमति प्राप्त करके ही सेठ साहब ऐसा कर सके थे। इसके अतिरिक्त दिल्ली के अन्य तीन मन्दिर और हिसार, पानीपत, आमेर,

सांगानेर, सोनागिरि आदि स्थानों में इन सेओं में सुन्दर जिन-मन्दिर बनवाये थे। अवध के नवाब शहिदअली शाह ने सेठ सुगनचन्द्र का एक विशाल स्वर्णजटित चित्र बनवाकर उन्हें भेंट किया था।

चौधरी हिरदैसहाय—राजस्थान के किशनगढ़ राज्य के चौधरी रत्नपाल नामक जैन सामन्त अपने राजा से किसी कारण रुष्ट होकर बुन्देलखण्ड के चन्देरी नगर में आ बसे थे। कुछ का कहना है कि वह जयपुर राज्य के हिण्डौन नगर से आये थे। चन्देरी (चन्द्रगिरि, चन्द्रवती या चन्द्रावती) चन्देलकालीन प्राचीन नगर था और इस काल में वीरसिंह बुन्देले के भाई रामशाह के वंशज बुन्देले राजपूतों के एक छोटे-से राज्य की राजधानी थी। रत्नपाल बौहरागोत्री खण्डेलवाल जैन थे और चन्देरी के राजा की सेवा में नियुक्त हो गये थे, तथा उसे प्रसन्न करके उन्होंने उससे जागीर भी प्राप्त की थी। उनके दो पुत्र थे जिनमें छोटा ताराचन्द मुसलमान होकर सम्राट् औरंगजेब का कृपापात्र हो गया और चन्देरी का फौजदार नियुक्त हो गया, किन्तु निस्सन्तान ही मर गया। उसके बड़े भाई के वंशज चन्देरी के बुन्देले ठाकुरों के चौधरी चलते रहे। इनमें 19वीं शती के प्रारम्भ के लगभग चौधरी हिरदैसहाय हुए जिनकी 'चौधरी' के अतिरिक्त 'सवाई' और 'राजधर' उपाधियाँ भी थीं। जब 1806 ई. में दौलतराय सिन्धिया ने चन्देरी पर अधिकार कर लिया तो उसने भी इन्हें इनके पैतृक पद पर प्रतिष्ठित रखा और नयी जागीरें भी दीं। फतहसिंह और मर्दनसिंह सम्भवतया हिरदैसहाय के छोटे भाई या पुत्र थे और इनके साथ इनके राजकीय कार्यों में योग देते थे। फतहसिंह तो शायद फौजदार भी नियुक्त हो गये थे। इस चौधरी परिवार के कार्यवाहक (कारिन्दा या गुमास्ता) लाला सभासिंह थे, जिन्होंने 1816 से 1836 ई. के बीच अनेक धर्मकार्य एवं निर्माण किये। उनमें भी इन चौधरियों का पूरा सहयोग था। स्वर्ण चौधरी हिरदैसहाय ने रामनगर में एक महान् पूजोत्सव एवं रथोत्सव कराया बताया जाता है।

सिंघई सभासिंह—बजगोत्री खण्डेलवाल जैन थे और चन्देरी के चौधरी सवाई राजधर, हिरदैसहाय तथा चौधरी फतहसिंह और चौधरी मर्दनसिंह के प्रधान कारकुन थे। इनकी धर्मपत्नी का नाम कमला था और यह बड़े कार्यकुशल, उदार और धर्मोत्साही थे। इन्होंने 1816 ई. में चन्देरी से आठ मील दूर अतिशयक्षेत्र धूर्बौनजी (तपोवन) में एक विशाल जिनमन्दिर बनवाया था जिसमें भगवान् आदिनाथ की देशी पाषाण की 35 फुट उस्तुंग खड्गासन प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी। उस प्रतिमा पर अंकित लेख में दौलतराय सिन्धिया, उसके फिरंगी सेनापति कर्नल जीन बौटिस्ट, चौधरी सवाई राजधर हिरदैसहाय, चौधरी फतहसिंह, उनके गुमास्ते इन सभासिंह और उनकी भार्या कमला के नाम अंकित हैं। यह मूलसंघ-सरस्वतीगच्छ-बलात्कारगण-कुन्दकुन्दाग्रामाय के अनुयायी थे। इन्होंने सभासिंह ने 1827 ई. में ग्वालियर के भट्टारक सुरेन्द्रभूषण के अधीन सोनागिरि (स्वर्णगिरि, श्रमणगिरि) के भट्टारक विजयकीर्ति के

शिष्य पण्डित परमसुख एवं पण्डित भागीरथ के उपदेश से उक्त सिद्धेश्वर सोनागिरि पर समारोहपूर्वक पंचकल्याणक प्रतिष्ठा करायी थी। कहते हैं कि दतिया के राजा ने, जिसके राज्य में सोनागिरि स्थित था, इनकी वेशभूषा देखकर इन्हें साधारण बनिया समझ उपेक्षा की तो इन्होंने मिट्टी के बर्तनों, दोना, पत्तलों आदि से ही भरकर सैकड़ों बैलगाड़ियों का लौंता लगा दिया। राजा को भूल मालूम हुई, खेद प्रकट किया और पूर्ण सहयोग का वचन दिया। सभासिंह बोले, 'महाराज मैं तराजू तोलनेवाला बनिया नहीं हूँ, मैं तो राजा-रईसों को तोलता हूँ।' इन्होंने सोनागिरि में एक मन्दिर बनवाया था और 1836 ई. में सोनागिरि के भट्टारक हरचन्द्रभूषण के उपदेश से चन्देरी में सुप्रसिद्ध चौबीसी-मन्दिर बनवाया, जिसमें चौबीस गर्भगृह हैं और प्रत्येक में एक-एक तीर्थंकर की पुराणोक्तवर्णा (दो श्याम, दो हरित, दो रक्त और सोलह तप्तस्वर्ण) की सम्मान माप की, प्रायः पुरुषाकर, पद्मासन, पाषाणमयी, कलापूर्ण एवं मनोज्ञ प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित कीं। चन्देरी की यह चौबीसी अभूतपूर्व है। कहते हैं कि अपनी प्रतिष्ठा में उन्होंने ही सर्वप्रथम गजरथ चलाया था और संघाधिपति या सिंघई उपाधि प्राप्त की थी। तभी से बुन्देलखण्ड में यह प्रथा चली। चन्देरी को लेकर वर्षों से बुन्देलों और मराठों का विग्रह चल रहा था, जिसका अन्त 1836 ई. की सन्धि द्वारा हुआ और सन्धि के कराने में चौधरी फतहसिंह के प्रतिनिधि यह सभासिंह प्रमुख थे।

बाबू शंकरलाल—आरामनगर (आरा) निवासी, भट्टारक महेन्द्रभूषण की आम्नाय के, कनिल (कंसल) गोत्री अग्रवाल जैन साह दशनावरीसिंह के पुत्र थे। स्वयं इनके रत्नचन्द्र, कीर्तिचन्द्र, गुपालचन्द्र और प्यारीलाल नाम के चार पुत्र थे। अँगरेजी राज्य था, जब 1819 ई. में उस कारुण्यदेश (बिहार का भोजपुरी प्रदेश) के मसाढ़नगर के जिनमन्दिर में इन बाबू शंकरलाल ने अपने चारों पुत्रों सहित भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रतिष्ठापित की थी।

साहु होरीलाल—प्रयाग (इलाहाबाद) निवासी, काष्ठासंघी भट्टारक ललितकीर्ति की आम्नाय के, गोयलगोत्री अग्रवाल-जैन सेठ रायजीमल के अनुज फेरुमल के पौत्र, मेहरचन्द्र और सुमेरचन्द्र के भतीजे तथा माणिकचन्द्र के पुत्र साहु होरीलाल ने अँगरेजबहादुर के राज्य में कौशाम्बीनगर के बाहर जिनेन्द्र पद्मप्रभु के दीक्षा-कल्याणक-स्थल प्रभास-पर्वत पर 1824 ई. में पार्श्वनाथ-प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी थी।

सालिगराम खजांची—राजा रामसिंह के पुत्र और सहारनपुर नगर के संस्थापक सहारनवीरसिंह के वंशज थे और दिल्ली के अँगरेज अधिकारियों द्वारा 1825 ई. में सरकारी खजांची नियुक्त हुए थे, साथ ही ग्वालियर एवं अलवर राज्यों के भी खजांची थे। उनकी मृत्यु के उपरान्त उनके पुत्र धर्मदास भी सरकारी खजांची रहे।

मथुरा के सेठ—मुर्शिदाबाद (बंगाल) के जगत्-सेठों का जिस काल में प्रायः नामशेष हो रहा था, उसी के लगभग मथुरा के सेठ घराने का उदय प्रारम्भ हुआ।

जयपुर राज्य के मालपुरा गाँव में जिनदास नामक एक अति साधारण स्थिति के खण्डेलवाल श्रावक रहते थे। फतहचन्द और मनीराम उनके दो पुत्र थे जो जीविका की खोज में जयपुर चले गये। मनीराम वहाँ भी न टिके और परदेश के लिए निकल पड़े। मार्ग में एक धर्मशाला में एक साधारण-से लगनेवाले सज्जन को अत्यन्त रुग्ण अवस्था में छटपटाते देखकर इन्होंने मानवता के नाते उनकी सेवा-शुश्रूषा और सधाशय्य परिचर्या करके उन्हें अकाल-मृत्यु के मुख से बचा लिया। वह सज्जन वास्तव में ग्वालियर के सिन्धिया नरेश के राज्यमान्य गुजराती सेठ राधामोहन पारीख थे। उनके स्वार्थी मौकर-चाकर उनकी दुरवस्था में उन्हें वहाँ छोड़ और उनका सब मालमत्ता लेकर चम्पत हो गये थे। पारीखजी मनीराम से अत्यन्त उपकृत एवं प्रसन्न हो और उनका वृत्तान्त जान उन्हें अपने साथ ग्वालियर लिया ले गये और उन्हें कपड़े के व्यवसाय में लगा दिया। सिन्धिया राजा की महारानी बैजाबाई के पारीखजी विश्वस्त कृपापात्र और निजी जौहरी थे। उसने सेना द्वारा उज्जैन की लूट में प्राप्त विपुल द्रव्य इन्हें देकर मथुरा में मन्दिर बनवाने के लिए कहा, अतएव पारीखजी मनीराम को साथ लेकर मथुरा आ गये और वहीं बसकर साहूकारे का कारबार शुरू कर दिया और सब भार मनीराम पर डालकर स्वयं भगवद्भजन में लग गये। वह वैष्णव थे, अतएव महारानी की और उनकी इच्छानुसार रानी द्वारा प्रदत्त द्रव्य से सेठ मनीराम ने मथुरा में द्वारकाधीश का सुप्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। शौरासी पर जम्बूस्वामी का मन्दिर भी इन्होंने बनवाया था, और 1825 ई. में 'छहढाला' के कर्ता पण्डित दीलतराम को अपने पास बुलाकर रखा था। पारीखजी निस्सन्तान थे, अतएव उन्होंने सेठ मनीराम के ज्येष्ठ पुत्र लक्ष्मीचन्द को अपना उत्तराधिकारी बनाया। सेठ लक्ष्मीचन्द बड़े प्रतापी, प्रभावशाली, उदार, धार्मिक और व्यवसायचतुर थे। उनके समय में मथुरा के सेठ घराने का वैभव और प्रतिष्ठा अपने चरमोत्कर्ष पर थे। दूर-दूर उनकी ख्याति थी और उनकी हुण्डी सर्वत्र निस्संकोच सकारी जाती है। इस प्रदेश में अँगरेज कम्पनी का शासन जम चुका था और उसके सभी छोटे-बड़े अधिकारी सेठजी का बड़ा सम्मान करते थे। उनके बलपौरुष, साहस, निरभिमानता एवं आन-ब. की कई किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। सन् 1857 ई. के विप्लव में सेठजी ने एक ओर अँगरेजों की रक्षा और सहायता की तो दूसरी ओर विप्लवियों और अँगरेजों के उखोड़न से मथुरा की जनता की भी भरसक रक्षा की। उस काल में कुछ समय तक तो मथुरा नगर और आसपास के क्षेत्र पर सेठों का ही एकछत्र शासन रहा। शान्ति स्थापित होने पर अँगरेज सरकार ने भी उनकी सराहना की और जनता में भी वह और अधिक लोकप्रिय हो गये। सेठ लक्ष्मीचन्द स्वयं जैनधर्म के परम श्रद्धालु थे, किन्तु उनके भाई सधाकिशन और गोविन्ददास वैष्णव गुरुओं के भक्त थे और उन्होंने वृन्दावन निवासी रंगाचार्य की प्रेरणा से, जब सेठ लक्ष्मीचन्द विशाल संघ लेकर तीर्थयात्रा के लिए गये हुए थे, वृन्दावन में रंगजी का अति विशाल

वैष्णव-मन्दिर बनवाना शुरू कर दिया। यात्रा से लौटने पर सेठजी ने सब समाचार जानकर भी कुछ न कहा और अपने भाइयों की बात रखने के लिए मन्दिर का कार्य स्वयं अपनी देखरेख में शुरू कराया और उसके लक्ष्य-द्वारकाधीश के मन्दिर के रखरखाव के लिए जागीरें भी लगा दीं। उनके सुपुत्र एवं उत्तराधिकारी सेठ रघुनाथदास भी प्रतिभासम्पन्न और जैनधर्म के परम श्रद्धालु थे। चौरासी के मन्दिर में भगवान् अजितनाथ की विशाल प्रतिमा इन्होंने ग्वालियर से लाकर प्रतिष्ठित की थी। चौरासी क्षेत्र का अष्ट-दिवसीय कार्तिकी मेला और रथोत्सव भी इन्होंने ही प्रारम्भ किया था।

राजा लक्ष्मणदास—मथुरा के सेठ रघुनाथदास की निस्सन्तान मृत्यु होने पर उनके उत्तराधिकारी हुए। यह उनके चचा राधाकिशन के पुत्र थे और रघुनाथदास की गोद हो गये थे। इनका जन्म 1853 ई. में हुआ था। धर्म के विषय में इन्होंने अपने जन्म-पिता राधाकिशन के बजाय धर्मपिता सेठ रघुनाथदास का अनुकरण किया। अपने समय में आप जैन समाज के प्रमुख नेता थे। इन्होंने 1884 ई. में भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा की स्थापना की। मथुरा में उसके कई अधिवेशन किये और उक्त अवसरों एवं कार्तिकी मेले पर समस्त आगत अतिथियों का वह प्रेमपूर्ण आतिथ्य करते थे। बड़े साधर्मिवत्सल थे। इनकी प्रेरणा से महासभा ने चौरासी क्षेत्र पर अपना महाविद्यालय भी स्थापित किया था। जैंगरेज सरकार ने उन्हें 'राजा' और सी.आई.ई. की उपाधियों से विभूषित किया था। स्वयं वायसरॉय लार्ड कर्जन ने एक बार मथुरा आकर इनका आतिथ्य ग्रहण किया था। जयपुर, भरतपुर, ग्वालियर, धौलपुर, रामपुर आदि रियासतों के नरेशों से इनके मैत्री सम्बन्ध थे। जनसामान्य में भी लोकप्रिय थे, क्योंकि बिना किसी धार्मिक या जातीय भेदभाव के सभी उत्तरतमन्दी की वह उदारतापूर्वक सहायता करते थे। बड़े राज्योचित ठाटबाट से रहते थे। ज्ञान-बान, मान-प्रतिष्ठा पूर्वजों से कुछ अधिक ही थी, किन्तु अनेक कारणों से जिनमें सरकार की नीति भी थी, इनकी आर्थिक स्थिति कुछ खोखली हो चली थी, बल्कि कलकत्ते की गद्दी के मुनीम की पूर्खता के कारण तो इनका व्यवसाय प्रायः फेल ही हो गया। किन्तु राजा साहब ने अपने जीते जी ही सभी देनदारों का पैसा-पैसा चुकता कर दिया। फिर भी लाखों की सम्पत्ति बच रही। मात्र 47 वर्ष की आयु में 1900 ई. में राजा लक्ष्मणदास का निधन हुआ। इनके पुत्र सेठ द्वारिकादास और दामोदरदास थे। द्वारिकादास की भी अल्पायु में मृत्यु हो गयी थी तो उनके उत्तराधिकारी छोटे भाई दामोदरदास हुए। उनके पुत्र सेठ मथुरादास थे, किन्तु द्वारिकादास की सेठानी ने गोपालदास को अपना दत्तक पुत्र बनाया जिनके पुत्र भगवानदास हुए। मथुरा के सेठ घराने का पतन हो चुका था।

राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द—प्रसिद्ध जगत्सेठ के वंशज डालचन्द और उनकी विदुषी भार्या बीबी रतनकुँवरि के पौत्र और उत्तमचन्द के सुपुत्र थे। इनके

पितामह के समय से वाराणसी ही इस परिवार का निवास-स्थान था। शिवप्रसाद बड़े मेधावी, सुशिक्षित, बहुभाषाविद, विविध विषयपटु एवं राजमान्य महानुभाव थे। काशीनरेश ईश्वरीनारायणसिंह, अवध के नवाब याजिदअलीशाह आदि कई तत्कालीन नरेश इनका बड़ा मान करते थे। वह वायसराय की लेजिस्लेटिव कौंसिल के सदस्य नियुक्त हुए और 1874 ई. में 'राजा' एवं सी.आई.ई. (सितारेहिन्द) उपाधियों से विभूषित किये गये। पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान उत्तरप्रदेश) में राजकीय शिक्षा विभाग की स्थापना होने पर वह पूरे प्रान्त के लिए सर्वप्रथम विद्यालय निरीक्षक (इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल्स) नियुक्त हुए। प्रान्त के प्रारम्भिक मजेटियरों के निर्माण में अँगरेज अधिकारियों ने इनसे सहायता ली थी और जर्नल कमिश्नर-जैसे पुरतत्त्व सर्वेक्षक इन्हें अपना 'मेहताब दोस्त' कहते थे। 'हिन्दु शासित वाशक' आदि कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। अदालतों में हिन्दी का प्रवेश कराना, स्कूलों में हिन्दी शिक्षा की उचित व्यवस्था करना, हिन्दी में छात्रोपयोगी एवं लोकोपयोगी पुस्तकों का निर्माण करना व कराना इत्यादि अपने कार्यों के कारण वह आधुनिक काल में हिन्दी प्रचार के सर्वप्रथम पुरस्कर्ता थे। स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र उन्हें अपना गुरु मानते थे।

राय बट्टीदास—भूलतः लखनऊ के प्रसिद्ध जौहरियों के श्रीमाल वंश में उत्पन्न हुए थे। लखनऊ की नवाबी की डौवाडोल स्थिति और अँगरेजों के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर 1853 ई. के लगभग यह सपरिवार कलकत्ता चले गये और वहाँ कुछ ही वर्षों में अपनी ईमानदारी, साख, व्यवसाय-पटुता एवं अध्यवसाय के बल पर उस महानगरी के प्रमुख जौहरियों में गिने जाने लगे। सन् 1871 ई. में वायसराय लार्ड मेयो ने इन्हें अपना 'मुकीम' नियुक्त किया और यह 'रायबहादुर' उपाधि से विभूषित किये गये। यह और इनका परिवार बड़ा धार्मिक था। यह बहुधा कलकत्ता की दादाबाड़ी में ठहरे यतियों के दर्शनार्थ जाया करते थे। उस स्थान के निकट ही एक बड़ा तालाब था जिसमें लोग मछलियों का शिकार किया करते थे। यह देखकर दयाधर्म के पालक इन श्रावकों को बड़ी ग्लानि होती थी। एक दिन इनकी धर्मप्राण जननी ने इनसे कहा कि यह जीव-हिंसा बन्द होनी चाहिए, और बस इन्होंने वह पूरा क्षेत्र मुँह-माँगे दाम देकर खरीद लिया। इतना ही नहीं, उन्होंने उस स्थान की भरायी कराके वहाँ एक सुन्दर विशाल उद्यान लगाया जिसमें वह भव्य कलापूर्ण एवं मनोरम जिनमन्दिर बनाया जो 'गार्डन-टेम्पल' (उद्यान मन्दिर) के नाम से प्रसिद्ध है और तभी से देश-विदेश के पर्यटकों के लिए दर्शनीय आकर्षण केन्द्र बना हुआ है। मन्दिर का निर्माण 1867 ई. में पूर्ण हुआ और स्वगुरु कल्याणसूरि के उपदेश से उन्होंने उसमें शीतलनाथ भगवान् की उपयुक्त प्रतिमा प्रतिष्ठित करने का निश्चय किया। ऐसी प्रतिमा की खोज में राय बट्टीदास ने दूर-दूर की यात्रा की। अन्ततः एक चमत्कार के परिणामस्वरूप आगरा में एक स्थान की खुदाई कराने पर एक भूमिस्थ प्राचीन देहरे में वह प्रतिमा प्राप्त हुई। हर्षविभोर हो वह उस प्रतिमा को

कलकत्ता लाये और स्वगुरु से उसे उक्त मन्दिर में प्रतिष्ठित कराया, अतएव यह मन्दिर शीतलनाथ-मन्दिर के नाम से भी प्रसिद्ध है। राय बदीदास नहीं रहे और उनके कुल में भी कोई है या नहीं, किन्तु इस मन्दिर ने उनकी कीर्ति को अमर कर दिया। बम्बई के सेठ माणिकचन्द्र की प्रेरणा और सहयोग से उन्होंने एक अँगरेज द्वारा शिखरजी पर खोला गया सूअर का कारखाना बन्द करवा दिया था। उस युग के दिगम्बर एवं श्वेताम्बर, उभयसमाजों के नेताओं के परस्पर सौहार्द एवं सहयोग का यह एक उदाहरण है।

डिप्टी कालेराय—सुल्तानपुर (जिला सहारनपुर) निवासी मर्गमोत्री अग्रवाल जैन दूदराज के वंशज कूडेमल के तीन पुत्रों में से मझले पुत्र थे। 1804 ई. में इनका जन्म हुआ था। इनके पूर्वज पन्द्रहवीं शती में उस कस्बे में आ बसे थे और सम्राट् अकबर के समय से इस वंश के लोग कानूनगो होते आये थे, जमींदारी भी बना ली थी। इनके पिता कूडेमल को 1803 ई. में अँगरेज अधिकारियों ने परगने का कानूनगो एवं चौधरी बनाया था और अन्त में तहसीलदार होकर 1828 ई. में उनकी मृत्यु हो गयी थी। उनके पुत्र कालेराय ने दस रुपये की साधारण सरकारी नौकरी से जीवन आरम्भ किया और उन्नति करते-करते डिप्टी-कलक्टर बन गये तथा अन्त में पाँच सौ रुपया वेतन पाते थे। इन्होंने काफी जमींदारी पदों की, अनेक मकान, बाग आदि बनाये, कई जगह मन्दिर और धर्मशाला भी बनवायी। उत्तर प्रदेश और पंजाब के कई जिलों में इन्होंने राजस्व का बन्दोबस्त किया। बड़े ठाटबाट से रहते थे और अपने परिवारवालों एवं नाते-रिश्वेदारों की बराबर सहायता करते थे। सन् 1857 ई. में राजकीय सेवा से अवकाश लिया और 1860 ई. में इनका निधन हुआ।

आजकल डिप्टी-कलक्टर का पद विशेष महत्त्व नहीं रखता, किन्तु उस युग में और बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ पर्यन्त एक भारतीय के लिए इस पद पर पहुँचना बड़ी बात समझी जाती थी। अतएव जैन डिप्टी-कलक्टरों की परम्परा में कालेराय के बाद मेरठ के डिप्टी उजागरमल, नहटौर के डिप्टी मन्दकिशोर, कानपुर के डिप्टी चम्पतराय आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

पण्डित प्रभुदास—बिहार प्रान्तस्थ आरामनगर के अग्रवाल जैन सम्पन्न जमींदार थे, साथ ही बड़े धर्मनिष्ठ, संस्कृतज्ञ, शास्त्रज्ञ, चरित्रवान्, दानी और उदारमना सज्जन थे। अपनी विद्वत्ता के कारण बाबू के स्थान में पण्डित कहलाने लगे थे। इन्होंने 1856 ई. में वाराणसी में गंगानदी के भदौनी घाट पर सुषार्श्वनाथ का मन्दिर और धर्मशाला बनवायी थी और उसी समय के लगभग भगवान् चन्द्रप्रभु की जन्मभूमि चन्द्रपुरी में भी गंगातट पर जिनमन्दिर बनवाया था। छहदाला (1834) के रघुपिता प्रसिद्ध आध्यात्मिक सन्त पण्डित दौलतरामजी (1800-1866 ई.) के भी सम्पर्क में आये और उनका बहुत आदर करते थे। प्रभुदासजी इतने दृढ़व्रती थे कि चालीस वर्ष पर्यन्त निरन्तर एकाहारी रहे। उनका निधन चौंसठ वर्ष की आयु में हुआ। उनके एकमात्र

पुत्र बाबू चन्द्रकुमार थे, जिन्होंने कौशाम्बी में जिनमन्दिर बनवाया था, किन्तु 31 (34) वर्ष की अल्पायु में ही उनका देहान्त हो गया था।

सेठ मूलचन्द सोनी—अजमेर के खण्डेलवाल सोनीवंश में उत्पन्न यह एक सम्पन्न, प्रतिष्ठित, उदारमना, विद्वत्जनप्रेमी और धर्मिष्ठ सेठ थे। जयपुर के पण्डित सदासुखजी के वह भक्त-शिष्य थे और पुत्र-वियोग से सन्त्रस्त वृद्ध गुरुजी को 1864 ई. में अपने साथ ले आकर अजमेर में आदरपूर्वक रखा था। आगरा के पण्डित बलदेवदास पाटनी का भी सेठजी बड़ा आदर करते थे और उनके निमन्त्रण पर पण्डितजी बहुधा अजमेर जाते रहते थे। इस युग में उनका सोनी घराने का सम्बन्ध इनके समय में विशेष हुआ। महासभा के 1893 ई. के मयुरा अधिवेशन के समय सेठ मूलचन्द्र विद्यमान थे। इसके सुपुत्र राय बहादुर नेमीचन्द्र भी बड़े धर्मात्मा और प्रभावशाली थे। अजमेर की कलापूर्ण सुन्दर सेठों की नशियों का निर्माण सेठ मूलचन्द ने 1864 ई. में प्रारम्भ किया था और सेठ नेमीचन्द्र ने उसे पूरा कराया था। उनके सुपुत्र रायबहादुर टीकमचन्द्र सोनी भी बड़े धर्मात्मा थे और महासभा के प्रमुखों में से थे। इन्होंने अनेक धर्मकार्य किये। इन्हीं के सुपुत्र वर्तमान सर सेठ भागचन्द सोनी हैं।

सेठ विनोदीराम सेठी—झालरापाटन के सेठी घराने के प्रमुख प्रसिद्ध व्यापारी और धर्मात्मा सज्जन थे। इनके सुपुत्र सेठ बालचन्द सेठी उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में जैन समाज के एक प्रसिद्ध राजमान्य, विद्याप्रेमी और धर्मिष्ठ व्यवसायी थे। विनोदीराम-बालचन्द मिलकर के निर्माता और झालरापाटन में सरस्वती भण्डार के संस्थापक थे। आगरा के पण्डित बलदेवदास पाटनी के भक्त और उनके शास्त्र-प्रवचनों के प्रमुख श्रोताओं में से थे। पण्डितजी की 'आत्मसार-प्रबोधशतक' पुस्तक उन्होंने ही 1893 ई. में प्रकाशित करायी थी। उक्त पुस्तक में एक रेखाचित्र है जिसमें पण्डितजी शास्त्र-प्रवचन कर रहे हैं और उनके सम्मुख चार श्रोता विनयपूर्वक बैठे सुन रहे हैं, जिनमें से एक पर 'सेठ बालचन्दजी' अंकित है। सेठ बालचन्द के सुपुत्र रायबहादुर ताजिरुल्मुल्क तथा मानिकपुर (झालावाड़ राज्य) के जागीरदार सेठ मानिकचन्द सेठी और सेठ नेमिचन्द सेठी झालरापाटन बम्बई आदि के ऐल्लक-पन्नालाल-सरस्वती-भण्डारों के संस्थापक, धर्म और विद्याप्रेमी यह सेठी बन्धु रहे हैं।

सेठ माणिकचन्द जे.पी. (1851-1914 ई.)—मेवाड़देश के भीड़र राज्य के निवासी मन्त्रेश्वरगोत्री बीसाहूमड़ शाह गुमानजी 1783 ई. में जन्मभूमि को छोड़कर सूरत नगर में आ बसे थे और वहाँ उन्होंने अफ्रीम का अपना पैतृक व्यापार शुरू कर दिया। यह धार्मिक एवं सात्विक वृत्ति के पुरुषार्थी व्यक्ति थे। हीराचन्द और बख्तचन्द इनके दो पुत्र हुए। साह हीराचन्द ने व्यापार में अच्छी उन्नति की और समाज में भी अच्छी प्रतिष्ठा बना ली। उन्हीं के प्रयत्न एवं सक्रिय सहयोग से सूरत

कै चन्द्रप्रभु-मन्दिर का जीर्णोद्धार होकर 1842 ई. में प्रतिष्ठा हुई थी। यह मन्दिर पूर्णतया ध्वस्त हो गया था और बड़ा मन्दिर कहलाता है। उनकी सुशीला एवं धर्मात्मा पत्नी बिजलीबाई थी, जिससे उनके मोतीचन्द, पानाचन्द, माणिकचन्द और नवलचन्द नामक चार पुत्र और हेमुकुमारी एवं मंछाकुमारी नाम की दो पुत्रियाँ हुईं। इनमें से सेठ माणिकचन्द का जन्म 1851 ई. की धनतेरस के दिन हुआ था। सूरत में व्यापार मन्दा पड़ गया तो 1863 ई. में हीराचन्द सपरिवार बम्बई चले आये। यहाँ इनके चारों पुत्र मोती पिराने का कार्य करने लगे और शनैः-शनैः उसमें दक्ष हो गये। इनमें भी माणिकचन्द सर्वाधिक दक्ष हुए और 1864 ई. में ही इन लोगों ने बम्बई में अपना स्वतन्त्र मोतियों एवं जवाहरात का व्यापार जमा लिया। दो वर्ष के भीतर ही माणिकचन्द-पानाचन्द जीहरी नाम की फ़र्म प्रसिद्ध हो चली। अपनी मितव्ययिता, ईमानदारी, साख, कार्यकुशलता, व्यापार-चातुर्य और अध्यवसाय के बल पर फ़र्म ने अतिशय उन्नति की और विदेशों से सीधे व्यापार करने लगी। अब सेठ माणिकचन्द बम्बई के प्रधान जीहरी थे, अटूट धन था, अँगरेज सरकार से भी सम्मान मिला और यह आनरेरी 'जस्टिस ऑफ़ दी पीस' (जे.पी.) बना दिये गये। पूरा परिवार परम धार्मिक था और वह स्वयं तो अपने समय के प्रायः सर्वमहान् संस्कृति-संरक्षक, समाज-सुधारक, विद्या-प्रचारक, उदार, दानवीर और धर्मिष्ठ थे। उन्होंने समाज में जागृति उत्पन्न करने के लिए पूरे देश का भ्रमण किया, स्थान-स्थान में स्वयं आर्थिक सहयोग और प्रेरणा देकर बोर्डिंग-हाउस (जैन छात्रावास) स्थापित करवाये। अनेक छात्रवृत्तियाँ दीं। बम्बई प्रान्तिक महासभा, माणिकचन्द-परीक्षालय, माणिकचन्द जैन-ग्रन्थमाला, साप्ताहिक जैनमित्र आदि की स्थापना की। तीर्थों के उद्धार एवं संरक्षण में भी योग दिया, मन्दिर और धर्मशालाएँ भी बनवायीं, समाज की कुसूरियों को दूर करने के लिए अभियान चलवाये, जिनघाणी के उद्धार के प्रयत्न किये, अनेक विद्वानों को प्रश्रय दिया और 1914 ई. में 'दियम्बर जैन डायरेक्टरी' प्रकाशित करायो। महान् कर्मठ धर्मसेवी एवं समाजसेवी सच्चे जैन मिशनरी ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और अपनी सुपुत्री महिलारत्न मगनबेन के निर्माण का श्रेय सेठ माणिकचन्द को ही है। पण्डितप्रवर गोपालदास बैर्या के विद्योत्कर्ष में भी उनका हाथ था। लगभग आठ लाख रुपये का दान उन्होंने अपने जीवन में किया। यह उदारमना साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर थे। दिनांक 16 जुलाई 1914 ई. को सत्रि के दो बजे इन दानवीर सेठ माणिकचन्द जे.पी. का देहान्त हुआ। स्व. पण्डित नाथूराम प्रेमी के शब्दों में 'भारत के आकाश से चमकता हुआ तारा दूट पड़ा। जैनियों के हाथ से चिन्तामणि रत्न खो गया। समाज मन्दिर का एक सुदृढ़ स्तम्भ गिर गया।' यह वास्तव में उस काल के युग-प्रवर्तक जैन महापुरुष थे।

राजा चन्दैया हेग्गड़े—मैसूर राज्य के दक्षिण कनारा प्रान्त में स्थित धर्मस्थल नामक कस्बे के निवासी बड़े धनवान् एवं धर्मात्मा श्रेष्ठी थे। वह राज्य में

‘धर्माधिकारी’ के अवतार प्रतीकित हैं और राजा की उपाधि थी। वह वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भ तक विद्यमान थे। उनके सुपुत्र धर्माधिकारी रत्नवर्म हेंगड़े थे। उन्होंने भगवान् बाहुबलि की 39 फुट उत्तुंग विशालकाय खड्गासन मनोज्ञ प्रतिमा का निर्माण कराया है जिसे सुदक्ष शिलाकार रंजाल गोपालकृष्ण श्रेणी के नेतृत्व में 25 से 100 शिल्पकारों ने बनाया है। मूर्ति के बनाने में एक लाख रुपये की लागत आई और उसे निर्माणस्थान से धर्मस्थल तक लाने में, जहाँ उसे प्रतिष्ठित किया जाना है, तीन लाख रुपये व्यय हुए हैं। बीच में रत्नवर्मजी का देहान्त हो जाने से अब उनके सुयोग्य पुत्र धर्माधिकारी वीरेन्द्र हेंगड़े पिता के अधूरे कार्य को पूरा करने के लिए प्रयत्नशील हैं। गोम्मटेश की दक्षिण देशस्थ विशालकाय प्रतिमाओं में यह क्रम की दृष्टि से छठी और विशालता की दृष्टि से तीसरी मूर्ति होगी।

रा.ब. द्वारकादास—नहटौर (जिला बिजनौर) निवासी सेठ छोटामल के पौत्र और ला. धानसिंह के ज्येष्ठ पुत्र थे। धानसिंह बड़े धर्मात्मा, दयालु और दानी सज्जन थे। मृत्यु के समय उन्होंने सुपुत्र द्वारकादास को तीन शिक्षाएँ दी थीं—नित्य व्यायाम करना, कभी भी किसी से भी कुछ उधार न लेना और न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना। द्वारकादास का जन्म 1859 ई. में हुआ था। पिता की शिक्षाएँ उन्होंने गौंठ बौंध ली थीं और रुड़की कॉलेज से परिश्रमपूर्वक इंजीनियरिंग पास करके सरकारी इंजीनियर नियुक्त हो गये थे। उत्तर प्रदेश के कई जिलों में तथा कलकत्ता में उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य किया। उनकी योग्यता एवं ईमानदारी की प्रशंसा राजा-प्रजा में सर्वत्र थी और वह अपने समय के अत्यन्त कुशल भारतीय अभियन्ता समझे जाते थे। फलस्वरूप 1901 ई. में ‘रायसाहब’ और तदनन्तर ‘रायबहादुर’ उपाधियाँ मिलीं। बड़े दानी और धर्मात्मा थे, अनेक निर्धन छात्रों को छात्रवृत्तियाँ देते थे और अपने बंगाली आदि अनेक जैन मित्रों को साहित्य देकर उन्होंने जैनधर्म के प्रति आकृष्ट किया था। अनेक से मंज-मंदिरा लेवन का आजन्म त्याग कराया था। महासभा के भी वर्षों सभापति रहे। उनके पुत्र नन्दकिशोर डिप्टी कलक्टर हुए और होनहार समाजसेवी पौत्र चन्द्रकिशोर थे, जिनका मात्र 38 वर्ष की आयु में 1950 ई. में एक दुर्घटना में देहान्त हो गया।

ला. गिरधरलाल—शाही खजांची राजा हरसुखराय के पौत्र और सेठ सुगनचन्द के पुत्र थे। सन् 1857 ई. के विप्लव के उपरान्त यह सरकारी खजांची हुए तथा गवर्नर-जनरल और पंजाब के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर के दरबारी रहे। दिल्ली की प्राचीन दिगम्बर जैन पंचायत के संस्थापक ने और धर्मपुरे के अपने पूर्वजों द्वारा निर्मापित नये मन्दिर में नित्य शास्त्र सभा किया करते थे। इनके वंशज दिल्ली में अभी भी विद्यमान हैं।

ला. ईशरीप्रसाद—दिल्ली के सरकारी खजांची ला. सानिगराम के वंशज और धर्मदास खजांची के पुत्र या अनुज थे। सरकार की ओर से यह 1877 ई. में ओल्ड

दिल्ली डिप्टीजन के खजांची नियुक्त हुए थे। वह दिल्ली बैंक व लन्दन बैंक के भी खजांची थे। नगरपालिका के सदस्य एवं कोषाध्यक्ष, आनरेरी मजिस्ट्रेट और वायसरोयल दरबारी भी थे। उनके उपरान्त 1878 ई. में उनके छोटे भाई अयोध्याप्रसाद भी सरकारी खजांची रहे। तदनन्तर ला. ईशरीप्रसाद के सुपुत्र रायबहादुर फारसदास ने भी अपने पिता के समस्त पदों का उपभोग किया और अपने समय के दिल्ली के प्रमुख प्रतिष्ठित सज्जनों में से थे। उन्होंने एक जैन-सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची भी प्रकाशित की थी।

गुरु गोपालदास बरैया—आगरा निवासी एठियागोत्री बरैया-जातीय लक्ष्मणदास के सुपुत्र थे। घर की आर्थिक स्थिति अत्यन्त साधारण थी और प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा भी नाममात्र की थी। इनका जन्म 1866 ई. में हुआ था और 19 वर्ष की आयु में अजमेर में रेलवे में साधारण-सी नौकरी कर ली। दो वर्ष के बाद (1887 ई. में) अजमेर के सेठ मूलचन्द नेमीचन्द सोनी के यहाँ उनके भवन निर्माण कार्य की देखभाल की नौकरी की जो छह या सात वर्ष चलती रही। इसी बीच विद्याव्यसन लगा, पण्डित बलदेवदासजी आदि विद्वानों का सम्पर्क मिला। शनैः-शनैः अपनी मेधा एवं अध्यवसाय के बल पर प्रकाण्ड पण्डित और उद्भट विद्वान् बन गये। कुछ वर्ष बम्बई रहे। वहाँ भी प्रारम्भ में नौकरी की। किन्तु स्वतन्त्र मनोवृत्ति के स्वाभिमानी थे अतः व्यापार में पड़ गये। कई प्रयोगों के बाद ग्वालियर राज्य के मोरेना में आकर स्थायी रूप से बस गये। आर्थिक स्थिति भी सर्वोत्तम बन गई। राज्य और सरकार में प्रतिष्ठा बढ़ती गयी। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी नियुक्त हो गये और मोरेना में अपने विद्यालय की स्थापना कर दी। स्वनिर्मित व्यक्तित्व के धनी बरैयाजी की धाक जैन-जैन विद्वज्जगत् में जम गयी। सार्वजनिक अभिनन्दन हुए, स्वाय-वाचस्पति, वादिगजकेसरी और स्वाध्यादवारिधि-जैसी उपाधियाँ मिलीं। अनेक उद्भट विद्वान् शिष्य तैयार कर दिये। समाज के प्रायः सभी गण्यमान्य विद्वानों एवं श्रीमानों की श्रद्धा के पात्र बने। अद्भुत विद्याव्यसनी, अगाध पण्डित्य के धनी, प्रभावक शक्ता एवं शास्त्रार्थी, कई ग्रन्थों के रचयिता, कुशल-शिक्षक, प्रगाढ़ श्रद्धा से युक्त एवं दृढ़चारित्र्य, धर्म एवं समाजसेवी, निर्भीक, अटूट उत्साह और लगनवाले, कुशल पत्रकार (जैन मित्र के वर्षों सम्पादक रहे), प्रबुद्ध समाज-सुधारक, साथ ही स्वतन्त्रजीवी, सफल व्यापारी भी और आधुनिक युग में जैन जागृति के समर्थ पुरस्कर्ताओं में परिगणित गुरु गोपालदास बरैया का मात्र 51 वर्ष की आयु में 1917 ई. में निधन हुआ।

सेठ मथुरादास टडैया—ललितपुर जिला झोंसी के परिवार जातीय टडैयागोत्री सेठ मुन्नालाल के सुपुत्र थे। जन्म 1872 ई. में और स्वर्गवास 1918 ई. में हुआ। अपने परिश्रम, नेकनीयती, मधुर स्वभाव एवं व्यापार-पटुता के कारण व्यापार में बड़ी उन्नति की, दसियों मण्डियों में इनकी गहरी थी। साथ ही बड़े धर्मात्मा, साधर्म्यवत्सल,

अतिथिसेवी, दानी और निरभिमानी थे। अतएव बुन्देलखण्ड में तो लोकप्रिय हुए ही, समाज में दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो गये और अँगरेज अधिकारी भी आदर करते थे। देते रहना और धनवानों के पास ही कुछ आशा के कारण उन्होंने अपने जीवन में दान देने का सतत प्रयत्न किया। उनके सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं।

सर सेठ हुस्मचन्द—दानवीर, तीर्थभक्त-शिरोमणि, जैनधर्मभूषण, जैन-दिवाकर, जैन सम्राट्, राय बहादुर, राज्यभूषण, रावराजा, श्रीमन्त सेठ, के.टी.आई. आदि विविध सार्थक उपाधियों से विभूषित और अपने जीवन में लगभग 80 लाख रुपये का दान करने तथा अनेक धार्मिक एवं सार्वजनिक संस्थाओं के जन्मदाता इन्दौर के सर्वप्रसिद्ध सर सेठ हुस्मचन्द का जन्म 1874 ई. में और स्वर्गवास लगभग 85 वर्ष की वृद्धावस्था में 1959 ई. में हुआ। अत्यन्त कुशल व्यापारी, उद्योगी एवं व्यवसायी, अनेक देशी राज्यों के नरेशों के मान्य मित्र और वायसराय आदि अँगरेज अधिकारियों के आदर के पात्र, राजसी ठाट-बाट से जीवन बितानेवाले और अन्तिम कई वर्षों में उदासीन व्रती श्रावक के रूप में आत्मसाधन में लीन इन स्वनामधन्य, इस युग के राजर्षि का जीवन प्रायः पूरी अर्धशताब्दी पर्यन्त जैन समाज के जीवन में ओतप्रोत रहा है। मारवाड़ के लाडलू प्रदेश के मेंडसिल गाँव के निवासी पुस्तजी अपने श्यामाजी एवं कुशलाजी नामक दो पुत्रों के साथ जन्मभूमि का त्याग करके 1787 ई. में अहल्याबाई होलकर के राज्यकाल में इन्दौर में आ बसे थे और यहाँ सराफे, अफ्रीम और लेन-देन का व्यापार प्रारम्भ किया था। श्यामाजी के तीन पुत्रों में ज्येष्ठ सेठ मानिकचन्द थे जिनके पाँच पुत्रों में से द्वितीय पुत्र सेठ सरूपचन्द थे। इन सरूपचन्द के ही सुपुत्र सर सेठ हुस्मचन्द थे। इनके पुत्र रायबहादुर सेठ राजकुमारसिंह हैं और चचेरे भाई कल्याणमल के दत्तक पुत्र राय बहादुर कैप्टन सेठ हीरालाल हैं।

बाबू देवकुमार—आरा के प्रसिद्ध विद्वान् जमींदार पण्डित प्रभुदास के पौत्र और बाबू चन्द्रकुमार के सुपुत्र बाबू देवकुमार का जन्म 1876 ई. में हुआ और निधन मात्र 31 वर्ष की अल्पवय में 1908 ई. में हो गया। पिता की मृत्यु के समय इनकी आयु मात्र 11 वर्ष की थी और जमींदारी एवं परिवार का बोझ कंधों पर आ पड़ा था; तथापि साहस से काम लिया। बड़े सुशिक्षित, प्रबुद्ध, सरलचित्त, उदारमना, विद्याप्रेमी, धर्म और समाज के निस्वार्थसेवी, बड़ी लगनवाले, चरित्रवान् एवं धर्मिष्ठ सज्जन थे। जिनवाणी के उद्धार और प्रचार की उत्कट भावना थी। जब 1895 ई. में वि. जैन महासभा ने अपना मुखपत्र 'जैनगजट' चालू किया तो यही उसके सम्पादक हुए और अपनी मृत्यु पर्यन्त बने रहे। इन्होंने 1905 ई. में वाराणसी के भदेली घाट पर स्थित अपनी धर्मशाला में स्याद्वाद पाठशाला की स्थापना की जो आगे चलकर स्याद्वाद-महाविद्यालय के रूप में विकसित हुई। उसी वर्ष उन्होंने आरा में अपने सुप्रसिद्ध जैन सिद्धान्त भवन की स्थापना की, जिसकी गणना देश के प्रमुख प्राच्य पुस्तकालयों में हुई। इसी संस्था की द्वैभाषिक पत्रिका जैन-सिद्धान्त-भास्कर-

जैनएण्टीक्वेरी है। महासभा के कुण्डनपुर अधिवेशन की 1907 ई. में उन्होंने अध्यक्षता की और उसी वर्ष दक्षिण के जैन तीर्थों की यात्रा की और वहीं हस्तलिखित ग्रन्थों के संरक्षण, ध्वजादि महाग्रन्थों के उद्धार का संकल्प किया तथा संकल्प पूरा होने तक के लिए ब्रह्मचर्यव्रत अंगीकार किया। उन्होंने आरा में प्राथमिक पाठशाला और शिखरजी पर एक धर्मार्थ औषधालय भी स्थापित किया था। सरकार ने उन्हें आनरेरी मजिस्ट्रेट नियुक्त किया था। उनके होनहार प्रिय अनुज धर्मकुमार का 1900 ई. में असामयिक निधन हो गया था, जिसका उन्हें बड़ा सदमा पहुँचा। धर्मकुमार की विधवा फली बालिका चन्दाबाई को, उन्होंने योग्य पण्डित नियुक्त करके संस्कृत भाषा तथा धर्मशास्त्रों की उत्तम शिक्षा दिलायी और आगे चलकर ब्रह्मचारिणी पण्डिता चन्दाबाईजी आरा के प्रसिद्ध बालविश्राम की संस्थापिका (1921 ई.) एवं संचालिका हुई। यह बृद्धा तपस्विनी आज भी एकनिष्ठता के साथ स्त्रीशिक्षा एवं समाज-सेवा में रत है। बाबू देवकुमार के निर्मलकुमार और चक्रेश्वरकुमार नाम के दो सुपुत्र हुए। बाबू निर्मलकुमार ने अपने देवतुल्य स्वर्गीय पिता के स्वप्नों को साकार करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया।

साहु चण्डीप्रसाद—धामपुर जिला बिजनौर निवासी प्रतिष्ठित, सम्पन्न एवं समाजसेवी सज्जन थे। इनका जन्म 1872 ई. में हुआ। वह बीस वर्ष तक बराबर धामपुर की नगरपालिका के अध्यक्ष रहे। आनरेरी मजिस्ट्रेट भी पन्द्रह वर्ष रहे। किन्तु स्वदेशी आन्दोलन के प्रभाव में उस पद से त्यागपत्र दे दिया और स्वातन्त्र्य आन्दोलन को सदा आर्थिक सहायता भी प्रदान करते रहे। धामपुर के चैत्यालय का शिखरचन्द मन्दिर के रूप में निर्माण कराया और एक कन्या पाठशाला की भी स्थापना की। अनेक लोकोपकारी कार्य किये। रा.ब. द्वारकादास, साहु जुगमन्दरदास, ला. जम्बूप्रसाद, ला. हुलासराय, ला. शिव्वामल आदि समाज के उस युग के प्रभावक सज्जनों के साथ मिलकर समाजसेवा करते रहे। उनके सुपुत्र देवकीनन्दन भी नगरपालिका और अहिच्छन्नातीर्थ की प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष रहे।

लाला मुन्नेलाल कागजी—लखनऊ निवासी नंगूमल के पौत्र और वंशीधर के पुत्र लाला मुन्नेलाल कागजी का जन्म 1869 ई. में और निधन 1944 ई. में हुआ। वह बड़े कुशल व्यापारी, व्यवहार-चतुर और धर्मिष्ठ सज्जन थे। स्वपुरुषार्थ द्वारा अत्यन्त साधारण स्थिति से उठकर उन्होंने पर्याप्त सम्पत्ति अर्जित की और धन का सदुपयोग भी किया। लखनऊ में एक विशाल धर्मशाला एवं जिनमन्दिर तथा एक चैत्यालय बनवाया। 1936 ई. के दक्षिण यात्रासंघ, 1939 ई. में लखनऊ की पंचकल्याणक प्रतिष्ठा और 1944 ई. के परिषद् के लखनऊ अधिवेशन के आयोजकों में वह प्रमुख थे।

रायबहादुर सुलतानसिंह—तहसील सोनीपत के कस्बे कोताना निवासी श्यामसिंहराय के पौत्र और निहालचन्द के पुत्र थे। यह प्रसिद्ध रईस एवं जमींदार

धराना था। इनका जन्म 1876 ई. में हुआ था। पिता की मृत्यु इनके शैशव में ही हो गयी थी, अतः पितामह ने लालन-पालन किया। बचस्क होने पर 1898 ई. में इन्होंने कारवार स्वयं सँभाल लिया, दिल्ली को निवास बनाया और अपनी कार्य-कुशलता द्वारा पैतृक सम्पत्ति को इतना बढ़ाया कि कुछ ही वर्षों में दिल्ली के तत्कालीन साहुकारों में अग्रणी स्थान प्राप्त कर लिया, तथा दिल्ली, मेरठ, शिमला आदि अनेक स्थानों की इम्पीरियल बैंक की शाखाओं के खजांची हो गये। 1902 ई. में दिल्ली नगरपालिका के सदस्य, 1905 ई. में आनरेरी मजिस्ट्रेट, 1910 ई. में पंजाब लेजिस्लेटिव कौंसिल के मनोनीत सदस्य और रायबहादुर हो गये। इतने राज्य-मान्य होते हुए भी देशभक्त और कांग्रेस के मूक सेवक भी थे। उनके घर पर वायसराय, चीफ कमिश्नर, राज-महाराज आदि अतिथि होते थे तो स्वयं महात्मा गाँधी, मोतीलाल नेहरू, सरोजनी नायडू-जैसे सर्वोच्च नेता भी वहीं ठहरते थे। कांग्रेस वर्किंग कमेटी की बैठकें भी उनकी कोठी पर कई बार हुई। बड़े भद्र-प्रकृति, अतिथि-सेवी, उदार, परोपकारी और लोकप्रिय थे। उनका निधन 1930 ई. में हुआ था। उनके सुपुत्र रघुवीरसिंह ने अपनी विशाल कोठी में एक आदर्श नर्सरी एवं मोण्टेसरी शाला स्थापित की थी। रायबहादुर तुलतानसिंह ने लाखों की पैतृक सम्पत्ति को बढ़ाकर करोड़ों की कर दिया था। बड़े ठाट से रहते थे, अँगरेज उन्हें 'किंग ऑफ़ कश्मीरी गेट' कहते थे, तो 1921 ई. में महात्मा गाँधी ने अपना प्रथम उपवास इन्हीं की कोठी में किया था। धर्म से भी लगाव था। 1900 ई. में चार सौ यात्रियों का संघ लेकर तीर्थयात्रा की थी और 1928 ई. की दिल्ली की विम्ब-प्रतिष्ठा की व्यवस्था में अग्रणी थे। बिना साम्प्रदायिक भेदभाव के दिल्ली की अनेक शिक्षा-संस्थाओं को प्रथम दिया। उनकी धर्मपत्नी सुशीलादेवी ने 1930 ई. आदि के कांग्रेस आन्दोलनों में सक्रिय भाग लिया, पुलिस की लाठियों खायीं, अखिल भारतीय महिला सम्मेलन की अध्यक्ष रही और दिल्ली में सरस्वती-भवन नाम की आदर्श महिलापकारी संस्था स्थापित की।

दीवान बहादुर ए.बी. लहरे—महाराष्ट्र प्रदेश के प्रमुख जैन जन-नेता थे। अँगरेजी शासन में उन्नति करके उन्होंने दीवान-बहादुर की उपाधि पायी तो देश-सेवा एवं कांग्रेस आन्दोलन में भाग लेकर बम्बई राज्य के प्रथम मन्त्रिमण्डल में सम्मिलित हुए। जैनधर्म पर अँगरेजी में कुछ पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं।

लाला जम्बूप्रसाद—सहारनपुर के प्रसिद्ध धर्मनिष्ठ एवं समाजसेवी उदारमनस रईस लाला जम्बूप्रसाद का जन्म 1877 ई. में हुआ था और 1900 ई. में वह लाला उग्रसेन के उत्तक पुत्र के रूप में सहारनपुर की इस प्रसिद्ध जमींदारी स्टेट के स्वामी बने। लाला उग्रसेन भी धर्मात्मा थे और महात्मा के संस्थापकों में से थे। प्रारम्भ में कुछ वर्ष जम्बूप्रसाद उत्तक स्टेट के लिए हुई लम्बी मुकदमेबाजी में उलझे रहे। उससे निवृत्त होकर 1907 ई. में उन्होंने धर्म और समाज की सेवा में पूर्ण योग दिया।

शिखरजी के मुकुटमे का तो उन्होंने बीड़ा ही उठा लिया था। सहारनपुर में एक मन्दिर बनवाया, संस्कृत-विद्यालय स्थापित किया जिसमें न्यायाचार्य पण्डित माणिकचन्द्र ने वर्षों अध्यापन किया और जो अब एक उन्नत डिग्री-कॉलेज है। 1923 ई. में दिल्ली की पूजा में सम्मिलित होकर हाथी की सवारी और सच्चिताहार का आजन्म त्याग कर दिया। ब्रह्मचर्यव्रत 1921 ई. में ही ले चुके थे। नित्य देव पूजा का नियम था। सरकार ने रायबहादुर आदि उपाधि देनी चाही तो अस्वीकार कर दी। किसी अफसर से मिलने नहीं जाते थे। पण्डित पन्नालाल न्यायदिवाकर और मेरठ के लाला धूमसिंह उनके अभिन्न साथी थे। उनकी तीर्थसेवा के लिए समाज ने उन्हें तीर्थ-भक्त-शिरोमणि की उपाधि प्रदान की थी। बड़े सुदर्शन तेजस्वी और धर्मात्मा सज्जन थे। उनका निधन 1923 ई. में हुआ। उनके भाई दीपचन्द भी बड़े धर्मात्मा थे तथा धर्मप्रेमी मोहरसिंह खजांची के भतीजे और धूमसिंह के पुत्र रा.ब. अजितप्रसाद भी वार्षिक सज्जन थे। रायबहादुर हुलासराय भी लाला जम्बूप्रसाद के कुटुम्बी थे।

राजा बहादुरसिंह सिंघी—कलकत्ते के सेठ डालचन्द सिंघी के सुपुत्र प्रसिद्ध जौहरी, रईस और जमींदार थे, साथ ही बड़े धर्मप्रेमी एवं विद्याप्रेमी भी थे। इन्होंने सिंघी-ग्रन्थमाला की स्थापना की तथा अनेक धार्मिक एवं लोकोपयोगी कार्य किये। इन्हें सरकार से राजा की उपाधि प्राप्त हुई थी।

महिलारत्न मगनबेन—बम्बई के सुप्रसिद्ध समाज-हितैषी, दानवीर सेठ माणिकचन्द जे.पी. की सुशीला, मेधावी एवं अत्यन्त प्रिय पुत्री थीं। इनका जन्म 1879 ई. में हुआ, विवाह 1892 ई. में खेमचन्द के साथ हुआ, 1897 ई. में पुत्री केशरबेन का जन्म हुआ और दैवदुर्विपाक से 1898 ई. में मात्र 19 वर्ष की आयु में वह विधवा हो गयीं। किन्तु सुयोग्य पिता की सुयोग्य सन्तान थीं। पिता के सहयोग से विद्याध्ययन में मन लगाया, धर्म को सम्बल बनाया और नारी-जगत की शिक्षा, सेवा एवं उद्धार में जीवन अर्पण कर दिया। पण्डित लालन और लखनऊ के ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद ने उनके विद्याभ्यास में सहायता की और समाजसेवा की भावना को प्रोत्साहित किया। फल यह हुआ कि 1906 ई. में उन्होंने बम्बई में सुव्यवस्थित श्राविकाश्रम स्थापित किया और तदनन्तर भिन्न-भिन्न स्थानों में तीसियों श्राविकाश्रम स्थापित कराये और महिला-परिषदें स्थापित कीं। ललिताबाई और कंकुबाई इनकी सहयोगिनी थीं। काशी के 1913 ई. के महोत्सव में इन्हें 'जैन-महिलारत्न' की उपाधि समाज ने प्रदान की, बम्बई प्रशासन ने आनरेरी जे.पी. बनाया; और 1930 ई. में इस जैन-महिलारत्न का स्वर्गवास हुआ। ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद और बैरिस्टर चम्पतराय इनकी अन्त्येष्टि में सम्मिलित हुए थे।

सर मोतीसागर—दिल्ली के प्रसिद्ध रईस एवं अपने समय के वर्चस्वी शिक्षा-शास्त्री रायबहादुर सागरचन्द के सुपुत्र मोतीसागर दिल्ली के एक सामान्य वकील के रूप में जीवन प्रारम्भ करके अपने परिश्रम, नेकनीयती एवं सदा-जात

प्रतिभा के बल पर उस पेशे की चोटी पर पहुँच गये। रायसाहब, रायबहादुर, सर, डॉक्टर आफ़ लॉ, दिल्ली विश्वविद्यालय के वाइसचान्सलर (उपकुलपति), दिल्ली और पंजाब हाईकोर्टों के प्रमुख वकील, अन्ततः पंजाब हाईकोर्ट के जज हुए। सफलता, लक्ष्मी और यश तीनों का ही प्रभूत उपयोग किया। सन् 1880 ई. के लगभग उनका जन्म हुआ था और 1930 ई. में उनका देहान्त हुआ।

रायसाहब प्यारेलाल—वर्तमान शताब्दी में दिल्ली के सर्वोच्च कोर्ट के वकील, महान् शिक्षा-शास्त्री, जननेता और जैन समाज के प्रमुख नेताओं में से थे। सरकारी क्षेत्रों में भी उनका विशिष्ट मान था। रायबहादुर पारसदास, रायबहादुर सुलतानसिंह, सर मोतीसागर, रायबहादुर नन्दकिशोर, जो उत्तरप्रदेश श्वसन के सर्वप्रथम जैन सम्भवतया भारतीय भी सुपरिण्टेण्डिंग इंजीनियर थे, रायबहादुर जगत्-प्रकाश, जो भारत सरकार के सर्वप्रथम भारतीय डिप्टी आडीटर-जनरल तथा एकाउण्टेण्ट-जनरल हुए इत्यादि विभूतियों ने प्रायः उसी युग को सुशोभित किया था।

कर्णचन्द नाहर—कलकत्ता के प्रसिद्ध वकील, जैन पुरातत्त्व के प्रेमी एवं अन्वेषक, जैन लेखसंग्रह, एपीटोम ऑफ़ जैनियम आदि कई ग्रन्थों के प्रणेता, तीर्थ भक्त और समाजसेवी हैं। उनके सुपुत्र विजयसिंह नाहर स्वातन्त्र्य संग्राम के सेनानी और पश्चिमी बंगाल के मन्त्रिमण्डल के वर्षों तक सदस्य रहनेवाले समाजसेवी सज्जन हैं। उनका जन्म 1875 ई. और निधन 1936 ई. में हुआ था।

जगमन्दरलाल जैनी—सहारनपुर के सम्पन्न अग्रवाल जैन परिवार में 1881 में इनका जन्म हुआ था। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा प्राप्त की और 1902 ई. में वहीं से अँगरेजी साहित्य में प्रथम श्रेणी में एम.ए. परीक्षा पास करके उसी विश्वविद्यालय में अँगरेजी के प्राध्यापक और छात्रावास के बार्डन नियुक्त हो गये। तीन वर्ष पश्चात् 1906 ई. में इंगलिस्तान चले गये और चार वर्ष पर्यन्त वहाँ के प्रसिद्ध ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अध्ययन किया। अन्य योग्यताओं के साथ वैरिस्ट्रो ऐसी चमकी कि एक मुकदमे की पैरवी प्रिवी-कौन्सिल में करने के लिए उन्हें लन्दन भेजा गया। तदनन्तर 1914 ई. से 1927 ई. में अपनी मृत्यु पर्यन्त वह इन्दौर राज्य के न्यायाधीश एवं व्यवस्था-विधि-विधायिनी-सभा के अध्यक्ष रहे। बीच में 1920-1922 ई. तक दो वर्ष वह इन्दौर नहीं रहे थे, तो अँगरेजी सरकार ने उन्हें रायबहादुर की उपाधि और आनरेरी असिस्टेण्ट कलक्टर आदि प्रदान की थी। राज्यकार्य के अतिरिक्त वह अपना सारा समय जैन साहित्य की साधना में लगाते थे। अँगरेजी जैन-नाजट के उसके जन्मकाल 1904 से लेकर अपनी मृत्यु पर्यन्त सम्पादक बने रहे। तत्त्वार्थसूत्र, आत्मानुशासन, पंचास्तिकाय, समयसार, गोम्मटसार जैसे महान् सैद्धान्तिक ग्रन्थों का अँगरेजी में उत्तम अनुवाद किया, अन्य भी कई पुस्तकें लिखीं। सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, जैन लायब्रेरी (लन्दन) आदि की उन्होंने

स्थापना की और मृत्यु से एक वर्ष पूर्व अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति जनहितार्थ तथा जैनधर्म की रक्षा एवं प्रचार के लिए ट्रस्ट कर गये। प्रसिद्ध कर्मवीर, जैन समाज के कर्मठ सेनानी आरा के कुमार देवेन्द्रप्रसाद, जैनधर्म के समर्पित प्रचारक ब्रह्मचारी शीलप्रसाद और लखनऊ के पण्डित अजितप्रसाद वकील उनके कार्यों में विशेष सहयोगी एवं सहायक रहे।

सेठ बालचन्द दोसी—शोलापुर के सेठ हीराचन्द दोसी के सुपुत्र सेठ बालचन्द दोसी का जन्म 1882 ई. में अति साधारण आर्थिक स्थिति में हुआ था, किन्तु 1953 ई. में अपनी मृत्यु के समय वह करोड़ों की सम्पत्ति के स्वामी थे। भारतीय उद्योग के यह महान् स्वयंसिद्ध पुरुष भारतीय जहाज-उद्योग के पिता माने जाते हैं। आर्थिक अभ्युदय के ऐसे अध्ययु इतिहास में कम ही देखने में आते हैं। वह निस्सन्तान थे, अतएव अपनी समस्त निजी सम्पत्ति का लोकहितार्थ ट्रस्ट भी कर गये। उनके भाई सेठ रत्नचन्द आदि बम्बई के प्रसिद्ध व्यवसायी हैं।

राजा ध्यानचन्द—मेरठ का एक प्रायः निर्धन किन्तु साहसी युवक उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग बम्बई चला गया। फोटोग्राफी का शौक था, उसे ही जीविका का साधन बनाया। लखनऊ से हिन्दुओं के विनाशकारी दृष्टि में आ गया तो न केवल अपनी कला और व्यवसाय में ही अद्भुत उन्नति की, निजाम से 'मुसकिरहौला' और 'राजा' के खिताब प्राप्त कर लिये।

सर फूलचन्द मोघा—उत्तर प्रदेश के अँगरेजी शासन की सेवा में उन्नति करते-करते उस प्रान्त के सर्वप्रथम भारतीय लीगल रिमेन्नेन्सर हुए और तदनन्तर कश्मीर नरेश ने उनकी सेवाएँ उधार लेकर उन्हें अपना मन्त्री बनाया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के कुछ पूर्व ही उनकी मृत्यु हुई।

साहु सलेखचन्द के वंशज—साहु सलेखचन्द नजीबाबाद जिला बिजनौर के ख्याति प्राप्त, सम्पन्न जमींदार, साहुकार, धर्मात्मा एवं दानशील सज्जन थे। लगभग 75 वर्ष की आयु में अपनी मृत्यु पर्यन्त नीरोग, स्वस्थ और कर्मठ रहे। नियम-धर्म के पक्के और उच्चकोटि के धर्मग्रन्थों के सतत स्वाध्यायी थे। जरूरतमन्दों की बहुधा गुप्त सहायता किया करते थे। जिले के प्रमुख सम्मानित व्यक्तियों में थे। उनके ही एक पौत्र नजीबाबाद के प्रसिद्ध रायबहादुर साहु जुगमन्दरदास थे, जिनका जन्म 1884 ई. में हुआ था और निधन 1933 ई. में मसूरी में हुआ था। छह वर्ष तक वह जिलाबोर्ड के अध्यक्ष रहे, वर्षों दिगम्बर जैन महासभा के मन्त्री और दिगम्बर जैन परिषद् के कोषाध्यक्ष रहे। परिषद् के सहारनपुर अधिवेशन के सभापति भी हुए। हस्तिनापुर तीर्थक्षेत्र कमेटी के भी बराबर कोषाध्यक्ष रहे। प्रायः सभी अखिल भारतीय जैन संस्थाओं, जैन नेताओं, विद्वानों और श्रीमानों से उनका सम्पर्क या सम्बन्ध था। स्थितिपालक भी थे और सुधारक भी, राज्यभक्त थे और स्वदेशप्रेमी भी। बड़े

व्यवहार-कुशल, प्रतापी, प्रभावक, शानदार, मिलनसार और अतिथिसेवी थे। उनके सुपुत्र साहु रमेशचन्द्र टाइम्स आफ इण्डिया के मैनेजर हैं और भतीजे साहु शीतलप्रसाद हैं। इसी परिवार में साहु सलेखचन्द्र के पौत्र और साहु दीवानचन्द्र के सुपुत्र अद्यावधि बम्बई के सुप्रसिद्ध एवं प्रतिष्ठित उद्योगपति तथा धर्मानुरागी एवं विद्याप्रेमी साधुजीवत्सल साहु श्रेयांसप्रसाद हैं तथा वर्तमान जैन समाज के लोकप्रिय एवं सर्वोपरि नेता, धर्म, संस्कृति और साहित्य के समर्थ संरक्षक, दानवीर, प्रबुद्धचेता, वर्तमान युग के शीर्ष स्थानीय जैन उद्योगपति साहु शान्तिप्रसाद जैन हैं।

साहित्यिक :- आचार्य श्री सुविद्यारामजी क्लाराज .

उपसंहार

‘कला, कला के लिए’ के अनुकरण पर ‘इतिहास, इतिहास के लिए’ कहनेवाले लोग भी हैं, किन्तु ‘कला’ और ‘इतिहास’ में भारी अन्तर है। जब कि कला अधिकांशतया कल्पना प्रसूत होती है, इतिहास प्रमाणित अथवा विश्वसनीय तथ्यों पर आधारित होता है। उन तथ्यों को सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाने में इतिहासकार की कला का उपयोग हो सकता है। तथ्यों की व्याख्या और उनका मूल्यांकन करने में भी वह एक सीमा तक स्वतन्त्र होता है। कला मनोरंजन के लिए होती है, किन्तु इतिहास का लक्ष्य मात्र मनोरंजन नहीं होता। उसकी उपयोगिता मनोरंजन से कहीं अधिक है। यह सादृश्य होता है।

वस्तुतः जातीय स्मृति का नाम ही इतिहास है। यदि कोई जाति अपने इतिहास से अनभिज्ञ रहती है तो इसका अर्थ है कि उसने अपनी स्मृति खो दी है, अतएव अपना अस्तित्व भी भुला दिया है। ऐसी स्थिति में उसे एक नयी जाति के रूप में प्रकट होना पड़ता है जिसे सब कुछ नये सिरे से सीखना होता है। जातीयता की वास्तविक अनुभूति उसमें हो नहीं सकती। उसका इतिहास ही एक ऐसी वस्तु है जो उसे जातीयता की भावना की कुंजी प्रदान कर सकती है, क्योंकि ‘वर्तमान’ आकाश में से अकस्मात् नहीं टपक पड़ता—अतीत में से ही उसका उदय होता है। अतीत का विकसित मूर्त रूप ही वर्तमान है। अतएव वर्तमान को जानने, समझने और भोगने के लिए अतीत का, अर्थात् इतिहास का ज्ञान अनिवार्यतः आवश्यक है।

इतिहास के चित्रपट पर अतीत के जो चित्र उभरकर आते हैं वे प्रायः किसी न किसी महान् व्यक्ति पर केन्द्रित होते हैं। जैसा कि कार्यालय का कथन है ‘विश्व का इतिहास, अर्थात् मनुष्य ने संसार में जो कुछ सम्पादन किया है उसका इतिहास, मूलतः उन महापुरुषों का ऐतिह्य है जो उक्त इतिहास के निर्माता रहे हैं।’ प्रत्येक युग में जो महानुभाव अपने अध्यवसाय, दृढ़चरित्र, प्रतिभा एवं प्रभावक व्यक्तित्व के बल पर अपने समय के अन्य मनुष्यों से पर्याप्त ऊपर उठ सकें, वही जन-सामान्य या जनसमूह की आकांक्षाओं, अभिलाषाओं एवं लक्ष्यों के नियोजक, नियामक और शिल्पी बने, उन्हें मूर्तरूप प्रदान कर सकें और उनकी वधाशक्य पूर्ति कर सकें।

इसीलिए इमर्सन-जैसे विस्तार ने कहा था कि किसी भी इतिहास का विश्लेषण करें तो वस्तुतः एवं स्वभावतः वह कुछ एक दृढ़ निश्चयी, कर्मठ, सच्चे, ध्येयनिष्ठ एवं कर्तव्यनिष्ठ व्यक्तियों का जीवन चरित्र ही सिद्ध होता है।

इन महान् पुरुषों के चरित्र पढ़ने और जानने का एक सुफल यह होता है कि हमारे मानस-पटल पर अनेक मध्य, भद्र, अनुकरणीय, महान् व्यक्ति मूर्तकार एवं सजीव हो उठते हैं। वे हमारे जीवन और व्यक्तित्व का अंग बन जाते हैं। काल और क्षेत्र के व्यवधान समाप्त हो जाते हैं। उनके और हमारे मध्य एक अद्भुत निकटता, एक सुखद एकत्व एवं अपनत्व स्थापित हो जाता है। उनकी सफलता और अभ्युदय पर हम हर्षित होते हैं, उनकी महत् उपलब्धियों से स्वयं को गौरवान्वित हुआ अनुभव करते हैं, उनके जीवन से शिक्षा, प्रेरणा और पथप्रदर्शन प्राप्त करते हैं, और उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करते हैं। इतना ही नहीं, उनकी त्रुटियों, कमजोरियों, गलतियों, असफलताओं, कष्टों और विपत्तियों पर हमारा घिस संवेदना और सहानुभूति से भर उठता है। परिणाम यह होता है कि हम मनुष्यमात्र में, समग्र मानवता में गहरी दिलचस्पी लेने लगते हैं, जो स्वयं में एक बड़ी भारी उपलब्धि है। इस प्रकार इतिहास का ज्ञान मनुष्य की स्वार्थपरता, अहंमन्यता, एकाकीपन और कूपमण्डूकता को समाप्त करके उसे संवेदनशील और सहिष्णु बना देता है। वह स्वयं को समग्र एवं वैकालिक जातीय जीवन का अभिन्न अंग समझने लगता है।

कुछ ऐसी ही भावनाओं से प्रेरित होकर तीर्थंकर भगवान् महावीर के समय (ईसा पूर्व 600) से लेकर 1947 ई. में इस महादेश द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति पर्यन्त, लगभग अढ़ाई सहस्र वर्षों में हुए कतिपय उल्लेखनीय महत्त्ववाले पुरुषों एवं महिलाओं के संक्षिप्त परिचय, युगानुसारी एवं क्षेत्रानुसारी योजना के अन्तर्गत कालक्रम से निबद्ध करने का विगत पृष्ठों में प्रयास किया गया है। लौकिक क्षेत्र में, अपनी-अपनी परिस्थितियों में उल्लेखनीय अभ्युदय प्राप्त करने तथा देश, जाति, धर्म, संस्कृति, साहित्य और कला के संरक्षण एवं अभिवृद्धि में यथाशक्य और यथावसर योग देने के कारण वे जैन इतिहास के, अतएव अखिल भारतीय इतिहास के भी सुदृढ़ स्तम्भ हैं। इनमें बड़े-बड़े चक्रवर्त्युपम सम्राट्, राजे-महाराजे, सामन्त-सरदार, प्रचण्ड युद्धवीर और सैन्य-संघालक, विचक्षण राजमन्त्री और कुशल प्रशासक, धनकुबेर सेठ, सारथवाह, व्यापारी और व्यवसायी, धर्मप्राण राजमहिलाएँ एवं अन्य नारीरत्न, कलापूर्ण विशाल मन्दिरों के निर्माता, संधपति, दानवीर और धर्मात्मा गृहीजन सम्मिलित हैं। उनकी यह परिचयावलि संक्षिप्त और अनेक बार सांकेतिक एवं अपर्याप्त होते हुए भी, जानने योग्य, रुचिकर और उपयोगी होगी। अजैन तथा स्वयं जैन पाठकों की जैनों और उनके इतिहास तथा भारतीय इतिहास में जैनों के योगदानविषयक अनेक भ्रान्तियों का निरसन भी होगा।

अज्ञानवश कई इतिहासकार, अतएव उनके पाठक सामान्यजन भी, जैनो पर यह आरोप लगाते रहे हैं कि भारतवर्ष के पतन और गुलामी के लिए जैन लोग उत्तरदायी हैं, क्योंकि इनका अहिंसाधर्म मनुष्य को कायर, डरपोक और निःसत्त्व बना देता है। परन्तु जो इतिहास के जानकार हैं वह जानते हैं कि सम्पूर्ण भारतीय इतिहास में शायद एक भी ऐसा उल्लेखनीय उदाहरण नहीं है जब किसी जैन नरेश, सेनापतियों या मन्त्री के कारण किसी विदेशी शत्रु का उसके राज्य पर अधिकार हुआ हो। ऐसा भी शायद ही कोई दृष्टान्त मिले जब किसी प्रसिद्ध जैन सेनानी ने युद्ध में पीठ दिखायी हो। अपितु देशरक्षा के लिए मर मिटनेवाले जैनवीरों के उदाहरण इसी पुस्तक में अनेक मिलेंगे। स्वधर्म पर दृढ़ रहते हुए, देश पर तन-मन-धन सहर्ष न्यौछावर करनेवाले जैन वीरों की यशोगाथा, इतिहाससिद्ध होते हुए भी, सामान्य इतिहास पुस्तकों में ऐसी रली-मिली होती है कि उसे चीन्हना बहुधा अति दुष्कर होता है।

यह भी ध्यातव्य है कि भारत के प्रमुख अजैन राज्यवंशों में से बहुभाग के अत्युन्नत एवं उत्कर्ष में उनके जैन अधिकारियों, सेना एवं प्रशासन का विशेष योग रहा। मध्य एवं मध्योत्तरकाल में तो अनेक देशी राज्यों का अस्तित्व, विशेषकर राजस्थान में, उनके कुल-क्रमगत जैन मन्त्रियों, दीवानों, सेनानियों और सेठों के कारण ही बना रहा। और जब जहाँ जैनो की उपेक्षा या अनादर हुआ, राज्य की अवनति और पतन भी शीघ्र ही हो गया।

सम्भवतया इसका मुख्य कारण यह रहा कि धर्मप्राण होते हुए भी एक जैन गृहस्थ राजनीति को धर्म से पृथक् रखता रहा। एक मुसलमान सुल्तान या बादशाह का नारा या दीन की रक्षा या तरक्की के लिए जेहाद (युद्ध) करो, एक हिन्दू नरेश गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिए युद्ध करता था, किन्तु एक जैनवीर, यद्यपि धर्मरक्षा उसे भी इष्ट होती थी, देश की रक्षा, शत्रु के दमन या राज्य के उत्कर्ष के लिए युद्ध करता था। वह राजनीति को धर्म का रूप देने का ढोंग नहीं करता था, उसे गृहस्थ का एक परम कर्तव्य मानकर ग्रहण करता था। अतएव धर्म के लिए जैनो ने कभी युद्ध किया, धर्म और साधर्मियों पर किये गये भीषण अत्याचारों के प्रतीकारस्वरूप भी इतिहास में ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता।

वास्तव में यह एक भ्रान्ति है कि जैनधर्म या उसकी अहिंसा मनुष्य को कायर, डरपोक, भीरु या निर्बल बनाती है। अहिंसा तो वीरों का धर्म है। यह तो निडरता, निर्भयता की पोषक है। मनुष्य के जीवन को संयमित, नियमित एवं अनुशासित बनाकर वह उसे पुरुषार्थी, कर्मठ, निडर, दृढ़निश्चयी, सात्त्विक और कर्तव्य-परायण बना देती है, साथ ही उदार, दयालु, परोपकारी और क्षमाशील भी। वर्तमान युग के राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने भी अहिंसा के बल पर ही देश में अभूतपूर्व जागृति उत्पन्न की थी और अन्ततः उसे स्वतन्त्र करा दिया था। हिंसा को प्रश्रय देने से तो मनुष्य

क्रूर, डरपोक, क्लिष्ट, प्रमाद और अस्थिरचित्त बन जाता है। हिंसा से हिंसा फनफनी है, और अहिंसा से अहिंसा एवं शान्ति।

पूर्वोक्त व्यक्ति-परिचर्यों में कहीं-कहीं कतिपय मूल रहे हो सकते हैं और अनेक ऐसे महानुभाव भी रहे हो सकते हैं, जिनका समावेश इस पुस्तक में होना चाहिए था और नहीं हो पाया। किन्तु इन दोनों कमियों का प्रधान कारण आवश्यक साधनों का अभाव रहा, और किन्हीं अंशों में समवाभाव भी। विशेषकर आधुनिक युग सम्बन्धी परिचर्यों में, क्योंकि वे अति निकट समय के हैं, ऐसा लग सकता है कि जिन महानुभावों का परिचय दिया गया, उन्हीं जैसे अनेक उल्लेखनीय व्यक्ति छूट गये हैं। इस सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ रही हैं। एक तो यह कि जो सज्जन 19वीं शती में जन्मे और स्वतन्त्रता प्राप्ति (1947 ई.) के पूर्व ही दिवंगत हो गये, अथवा उनका कार्यकाल मुख्यतया उसी अवधि के भीतर समाप्त हो गया, उनका ही उल्लेख किया गया है। दूसरे, पुस्तक की मूल योजना के अनुसार साधु-सन्तों, शुद्ध साहित्यकारों, कलाकारों, समाज-सेवियों आदि का समावेश नहीं किया गया। लौकिक क्षेत्र में विशेष अभ्युदय प्राप्त करनेवाले सज्जनों तक ही सीमित रहने का प्रयत्न किया गया। तथापि जिन महानुभावों का परिचय साधनाभाव या असावधानी के कारण समाविष्ट नहीं हो पाया, उन्हें किसी प्रकार की गौणता प्रदान करने का लेखक का अभिप्राय कदापि नहीं है। अतएव ऐसे किसी भी अभाव को किसी भी सज्जन को अन्यथा भाव से नहीं ग्रहण करना चाहिए।

ध्यातव्य यह है कि विगत अढ़ाई सहस्र वर्षों में हुए जिन ऐतिहासिक पुरुषों और महिलाओं का परिचय पुस्तक में दिया गया है, वे जैन संस्कृति और जैन जाति के संरक्षकों, प्राणदाताओं और उन्हें गौरवान्वित बनाये रखनेवाले असंख्य जनों के उदाहरण मात्र हैं। जैन परम्परा और उसका इतिहास संप्राण एवं सचेतन है। वर्तमान जैन समाज में भी शिक्षा का अनुपात प्रायः सर्वाधिक और अपराध का प्रायः न्यूनतम है। उसका स्त्री समाज भी जाग्रत, सुशिक्षित और प्रगतिशील है। देश के स्वतन्त्रता संग्राम में सहस्रों आकाश-वृद्ध स्त्री-पुरुषों ने सक्रिय योग दिया, तन-मन-धन अर्पण कर दिया और प्रशंसनीय बलिदान किये हैं। वर्तमान में भी जैन समाज में सहस्रों सन्त, साधु-साध्वियाँ और लोक-सेवाव्रती हैं, उच्छकोटि के साहित्यकार, पत्रकार और कलाकार हैं, शिक्षा-शास्त्री, शिक्षा-संस्थाओं के संस्थापक, संचालक, व्यवस्थापक, प्राध्यापक और अध्यापक हैं, शीर्षस्थानीय चिकित्सक और वकील, बैरिस्टर एवं अभियन्ता हैं, प्रशासन के विविध वर्गों में केन्द्र एवं राज्यों के मन्त्रियों, विधायकों आदि से लेकर उच्चोच्च पदों पर तथा सामान्य पदों पर कार्य करनेवाले अधिकारी हैं, सेना के भी जल-थल-नभ तीनों ही विभागों में सेवा करनेवाले वीर सैनिक हैं, कृषक, शिल्पी और दस्तकार हैं तथा लाखों व्यापारी, व्यवसायी एवं उद्योगी हैं, जिनमें से अनेक अपने क्षेत्रों में शीर्षस्थानीय हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त के लगभग

(1897 ई. में) तो एक अधिकृत अँगरेज लेखक ने कहा था कि इस देश का आधा व्यापार जैनों के ही हाथ में है और उनकी दानशीलता भी असीम है। स्वभावतः आज देश में जैनों द्वारा स्थापित एवं संचालित सहस्रों शिक्षा-संस्थाएँ, विद्यालय, महाविद्यालय, शोध-संस्थान, छात्रालय, छात्रवृत्ति-फण्ड, श्रुतभण्डार, पुस्तकालय, प्रकाशन संस्थाएँ, ग्रन्थमालाएँ, विविध भाषाओं की पत्र-पत्रिकाएँ, चिकित्सालय, औषधालय, पशु-पक्षी चिकित्सालय, पिंजरापोल, गोशालाएँ, अनायालय, महिला-आश्रम, धर्मशालाएँ, रिलीफ सोसाइटियाँ आदि लोकोपकारी सार्वजनिक संस्थाएँ विद्यमान हैं। और ये सब उपलब्धियाँ वर्तमान में अनेक कारणों से अपेक्षाकृत अत्यन्त अल्पसंख्यक समाज रह जाते हुए भी अनुपात में प्रायः अन्य समस्त समाजों से कहीं अधिक हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्वकाल की भाँति ही वर्तमान भारतीय जन-जीवन में जैनीजन प्रायः अग्रिम पंक्ति में हैं। उनका इतिहास उन्हें प्रेरणा देता रहेगा कि वह अग्रिम पंक्ति में बने रहें तथा प्रगतिपथ पर उत्तरोत्तर अग्रसर होते रहें।

□

सन्दर्भ :- आचार्य श्री सुरेंद्रलाल सारंग जी

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

- अगरचन्द भैरलाल नाहटा
—बीकानेर जैन लेखसंग्रह, (कलकत्ता, 1955)
—युगप्रधान श्री जिनदत्तसूरि (कलकत्ता, 1946)
—मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि (कलकत्ता, 1970)
—राष्ट्रकूटाज एण्ड देयर टाइम्स (पूना, 1934)
—राजपूताने के जैनवीर (दिल्ली, 1933)
—जैन जागरण के आग्रदूत (वाराणसी, 1952)
—(अहमदाबाद)
—सम डिस्टिग्विंशड जैन्स (आगरा, 1918)
—पट्टावली-परम संग्रह (जालौर, 1966)
—राजस्थान के जैन भण्डारों की ग्रन्थसूची, 5 भाग, (म. शो. सं., जयपुर)
—संक्षिप्त जैन इतिहास, 4 भाग (सूरत, 1949)
—भगवान् महावीर (दिल्ली, 1951)
—दी रिलीजन ऑफ तीर्थंकराज (अलीगंज 1964)
—सम हिस्टोरिकल जैन किंग्स एण्ड हीरोज (दिल्ली, 1941)
—ए कम्प्रीहेन्सिव हिस्टरी ऑफ इण्डिया, भाग-2 (मद्रास)
—प्रशस्ति संग्रह, (आरा, 1942)
—दक्षिण भारत में जैन धर्म, (वाराणसी, 1967)
—जैनिज्म इन राजस्थान (शीलापुर, 1963)
- अनन्त सदाशिव अल्तेकर
अयोध्याप्रसाद भौयसीय
उपासकदशांग सूत्र
उमराव सिंह टंक
कल्याणविजय मुनि
कस्तूरचन्द कासलीवाल
कामताप्रसाद जैन
के. नीलकण्ठ शास्त्री
के. भुजबलि शास्त्री
कैलाशचन्द्र शास्त्री
कैलाशचन्द्र जैन

कृष्णदत्त वाजपेयी
गुलाबचन्द्र चौधरी

गौरीशंकर हीराचन्द ओझा

चिमनलाल जे. शाह

जिनविजय मुनि

जुगलकिशोर मुख्तार एवं

परमानन्द शास्त्री

जेम्स टाड

जैन शिलालेख संग्रह, 5 भाग

ज्योतिप्रसाद जैन

—ब्रज का इतिहास, भाग-2 (मथुरा)

—पॉलिटिकल हिस्टरी आफ़ नर्दन इण्डिया

क्राम जैना सोर्सेज (अमृतसर, 1954)

—राजपूताने का इतिहास, 4 भाग

—जैनिज्म इन नर्दन इण्डिया (बम्बई, 1932)

—राजर्षि कभारपाल (वाराणसी, 1949)

—जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, 2 भाग (वी.से.मं.,
दिल्ली)

—एनल्स एण्ड एन्टीक्विटीज आफ़ राजस्थान

—(मा.च.ग्र., बम्बई)

—जैना सोर्सेज आफ़ दी हिस्टरी आफ़ एन्ड्रेंट
इण्डिया (दिल्ली, 1964); जैनिज्म दी ओल्डेस्ट
लिविंग रिलीजन (वाराणसी, 1951); जैनियों
की साहित्यसेवा और प्रकाशित जैन साहित्य
(दिल्ली, 1958); भारतीय इतिहास : एक
दृष्टि, द्वि.सं. (वाराणसी, 1966); युग-युग
में जैनधर्म (प्रेस में); जैनिज्म थू दी एजेंट
(प्रेस में); रिलीजन एण्ड कल्चर आफ़ दी
जैनुस (प्रेस में); रुहेलखण्ड-कुमायूँ जैन
डायरेक्टरी (काशीपुर, 1970); हस्तिनापुर,
(शि. वि., लखनऊ, 1955); तथा शताधिक
ऐतिहासिक लेख-निबन्धादि।

त्रिभुवनलाल टी. शाह

शामस, ई.

—एन्ड्रेंट इण्डिया।

—दी जर्ली फ़ेथ आफ़ अशोक, जैनिज्म
(लन्दन, 1877)

—पट्टावलि-समुच्चय (बीरमगाम, 1933)

—(बम्बई, 1914)

—(दिल्ली, 1961 एवं 1970)

दर्शनविजय मुनि

दिगम्बर जैन डायरेक्टरी

दिल्ली जैन डायरेक्टरी,

दी कैम्ब्रिज हिस्टरी आफ़

इण्डिया, 6 भाग

दी हिस्टरी एण्ड कल्चर आफ़

इण्डियन पीपुल 7 भाग

—(भा. वि. भवन, बम्बई)

नाथूराम ग्रेमी	—जैन साहित्य और इतिहास (बम्बई, 1956)
पी.बी. देशाई	अर्ध-कथानक (बम्बई, 1957)
पी.सी. राय चौधरी	—जैनिज्म इन साउथ इण्डिया (श्रीलंकापुर, 1957)
पूर्ण	—जैनिज्म इन बिहार (पटना, 1956)
वी.एस. राइस	—जैन लेख संग्रह, 3 भाग (कलकत्ता, 1918-29)
भास्कर आनन्द साल्वा	—मैसूर एण्ड कुर्ग फ्रॉम इन्सक्रिप्शन्स (लन्दन, 1909)
भोगीलाल सण्डेसरा	मेडिटल जैनिज्म (बम्बई, 1938)
एम.बी. कृष्णराय	—वस्तुपाल का विद्यामण्डल (वाराणसी)
महावीर जयन्ती स्मारिका	—गंगाज आफ तलकाड (मद्रास, 1936)
मुहम्मद मैणसी की खजत	—(जयपुर, 1962)
एम.एस. रामस्वामी आयरंगर	—(ना. प्र. स., वाराणसी, 1925-34)
राधाकमल मुकर्जी	—स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म (मद्रास, 1922)
विन्सेण्ट स्मिथ	—अकबर एण्ड जैनिज्म (मद्रास)
शशिकान्त	—दी एकोनॉमिक हिस्टरी आफ इण्डिया
शेषांगिरि राओ	—ऑक्सफोर्ड हिस्टरी आफ इण्डिया
एस.बी. देव	(ऑक्सफोर्ड, 1920)
एस.आर. शर्मा	—खारबेल एण्ड अशोक (प्रिण्ट्स इण्डिया, दिल्ली)
सत्यकेतु विद्यालंकार	—आन्ध्रकर्नाटक जैनिज्म (मद्रास, 1922)
शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी	—हिस्टरी आफ जैनोमोनाचिज्म (पना, 1956)
सूरजमल जैन	—जैनिज्म एण्ड कर्नाटक कल्चर (धारवाड़, 1940)
हस्तिमल भुनि	—मीर्य साम्राज्य का इतिहास
	—दानवीर माणिकचन्द (बम्बई 1919)
	—प्राचीन जैन स्मारक (सुरत)
	—प्राचीन जैन इतिहास (सुरत, 1938)
	—जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग-1 (जयपुर, 1971)

हीरालाल जैन

—जैन इतिहास की पूर्वपीठिका (बम्बई, 1939)

—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
(भोपाल, 1962)

जैन हितैषी, जैन सिद्धान्त मास्कर

—जैन एण्टीक्वेरी, अनेकान्त, जैन-सन्देश-
शोधक, अँगरेज़ी जैन राजट, जैन-जर्नल,
वीरवाणी, श्रमण आदि पत्रिका (पुणे, 1949)

ग्रह, 2 भाग (डी से मं.,
पुणे)

भाषादर्शक :- आचार्य श्री तुमिधिराभाट जी म्हाताज